भारतीय कृषि का अर्थतन्त्र

(भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा
डॉ० राजेन्द्रप्रसाद पुरस्कार 1978 से पुरस्कृत)

लेखक

डॉ० एन० एल० अग्रवाल

कृषि अर्थशास्त्र विभाग

राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय

श्री क० न० कृषि महाविद्यालय

जोबनेर (जयपुर-राजस्थान)

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण 1977
द्वितीय संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण 1983
तृतीय संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण 1986
चतुर्थ संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण 1990
पंचम संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण, 1993
Bhartiya Krishi Ka Arthatantra
I S B N 81-7137-114-0

मूल्य 120 00 रुपये

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-302 004

मुद्रक
जैक प्रिन्टर्स
पी. 47, मधुवन पश्चिम द्वितीय
किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर ।

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 24 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1993 को 25वें वर्ष मे प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि मे विश्व साहित्य के विभिन्न विषयो के उत्कृष्ट ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थो को हिन्दी मे प्रकाशित कर अकादमी ने शिक्षको, छात्रो एव अन्य पाठको की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी मे शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी मे ऐसे ग्रन्थो का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो के अनुकूल हो। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड मे अपना समुचित स्थान नही पा सकते हो, और ऐसे ग्रन्थ भी जो अग्रजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हो, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान विज्ञान के हर विषय मे उन दुर्लभ मानक ग्रन्थो को प्रकाशित कर रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही गौरवान्वित भी हो सकें। हमे यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 375 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन किया है जिनमे एकाधिक केन्द्र राज्यो के बोर्डो एव अन्य सस्थाओ द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा अनुससित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अत अकादमी अपने लक्ष्यो की प्राप्ति मे दोनो सरकारो की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

'भारतीय कृषि का अर्थतत्र' के सशोधित व परिवर्द्धित पचम सस्करण को प्रकाशित करते हुए हमे अत्यधिक प्रसन्नता है। पुस्तक के प्रथम सस्करण का अच्छा स्वागत हुआ और इसे भारतीय कृषि अनुसधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा 'डॉ० राजेन्द्रप्रसाद पुरस्कार' से पुरस्कृत किया गया। प्रस्तुत पुस्तक अर्थशास्त्र, कृषि अर्थशास्त्र आदि विषयो के स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों, राष्ट्रीय स्तर की

विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वाले छात्रों एवं अध्यापकों हेतु पर्याप्त लाभप्रद सिद्ध हुई है तथा हमें आशा है कि अपने नवीन रूप में और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक में कृषि क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं उनके निराकरण के उपाय, सम्बन्धित सरकारी नीतियों आदि का विवेचन तर्कसंगत एवं सुबोध शैली में किया गया है।

हम इसके लेखक डॉ० एन० एल० अग्रवाल, जोबनेर के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

(डॉ. वेदप्रकाश)
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

पंचम संस्करण की भूमिका

पुस्तक के चतुर्थ सस्करण को कृषि के स्नातक, अर्थशास्त्र के स्नातकोत्तर एव विभिन्न राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगी परीक्षाओ मे सम्मिलित छात्रो एव अध्यापको द्वारा उत्साहपूर्वक स्वागत के कारण प्रस्तुत पचम सस्करण अतिशीघ्र बाजार मे आ सका है। पुस्तक के इस सस्करण मे नवीनतम आंकड़ो का समावेश करके अनेक अध्यायो मे आवश्यक सशोधन किए गए हैं। कुछ अध्यायों मे नवीनतम सामग्री–नई कृषि नीति, आठवी पचवर्षीय योजना, बेरोजगारो के लिए रूडसेट ऋण व्यवस्थापन के 'पी' सिद्धान्त एव कृषि उत्पादो के वैज्ञानिक विपणन नियम सम्मिलित की गई है। आशा है पुस्तक के इस सस्करण का भी विभिन्न स्तर की परीक्षाओ म सम्मिलित होने वाले छात्रो द्वारा उत्साहपूर्वक स्वागत किया जावेगा।

—एन. एल अग्रवाल

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पुस्तक के तृतीय सस्करण का भी विद्यार्थियो एव शिक्षका द्वारा उत्साह-पूर्वक स्वागत के कारण अल्पकाल मे सशोधित करके चतुर्थ सस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। पुस्तक के इस सस्करण मे नवीनतम आंकडों एव सरकार की घोषित नीति के अनुसार सशोधन करने के अतिरिक्त अनेक अध्यायो मे नवीनतम सामग्री भी सम्मिलित की गई है, जैसे–जवाहर रोजगार योजना, लागत सकल्पना के नए आधार, कृषि लागत एव कीमत आयोग, हरित क्रांति आदि। 'भारत मे गरीबो' का नया अध्याय जोडा गया है। आशा है पुस्तक के इस सस्करण का भी कृषि स्नातको एव विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओ मे बैठने वाले छात्रो तथा कृषि विकास एव नीति से सम्बन्धित व्यक्तियो द्वारा स्वागत किया जावेगा।

एन. एल अग्रवाल

मई, 1990

तृतीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक के द्वितीय सस्करण का विद्यार्थियो एव शिक्षको द्वारा उत्साहपूर्वक स्वागत करने के कारण पुस्तक का यह सस्करण दो वर्ष के अल्पकाल मे ही समाप्त हो जाने के फलस्वरूप आवश्यक सशोधन करके तृतीय सस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। पुस्तक के इस सस्करण मे नवीनतम आँकडो एव सरकार की वर्तमान नीति को सम्मिलित करके पाठको की आवश्यकता एव आशा के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया है। बीस सूत्री आर्थिक कार्यक्रम का नया अध्याय भी जोडा गया है।

आशा है कि पुस्तक के इस सस्करण का भी बी० एस-सी० कृषि, एम०एस-सी० कृषि, अर्थशास्त्र, एम०ए० अर्थशास्त्र, विभिन्न राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगी परीक्षाओं तथा वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि वित्त अधिकारी के चयन के लिए प्रतियोगी परीक्षा मे बैठने वाले तथा कृषि विकास एव कृषि नीति से सम्बन्धित व्यक्तियो द्वारा स्वागत किया जावेगा।

एन. एल. अग्रवाल

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्यार्थियो एव शिक्षको द्वारा उत्साहपूर्वक स्वागत करने के परिणामस्वरूप, पुस्तक का प्रथम संस्करण अल्पकाल मे ही समाप्त हो गया। पुस्तक के प्रथम संस्करण को विश्वविद्यालय स्तर के कृषि विषय का मानक ग्रन्थ हिन्दी भाषा मे उच्चकोटि का स्वीकार करते हुए, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली द्वारा डा० राजेन्द्रप्रसाद पुरस्कार 1978 प्रदान किया गया है। विद्यार्थियो के उत्साह एव भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् से राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त पुरस्कार से प्रेरित होकर पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठको को आवश्यकतानुसार संशोधित करके प्रस्तुत कर रहा हूँ।

पुस्तक के इस संस्करण मे कृषि क्षेत्र मे हो रहे द्रुतगति से विकास, उपलब्ध साहित्य एव विश्वविद्यालयो एव राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगी परीक्षाओ के पाठ्यक्रम के अनुकूल संशोधन किया गया है। पुस्तक मे नवीनतम आँकड़ो को सम्मिलित करके भी पाठ्य-सामग्री को पाठको की आवश्यकता एव आशा के अनुकूल बनाया गया है। पुस्तक के विभिन्न अध्यायो मे नए विषयो—वायदा बाजार, वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र मे अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराने हेतु शुरू की गई योजनाएँ जैसे ग्राम अभिग्रहण योजना, बहुअभिकरण पहुँच, अन्तरीय ब्याज दर नीति, कृषक सेवा समितियाँ, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, नाबार्ड, राष्ट्रीय कृषि आयोग की विभिन्न क्षेत्रों मे की गई सिफारिशें, कृषि श्रमिको के विकास के लिए शुरू की गई योजनाएँ एव छठी पचवर्षीय योजना के लक्ष्य एव परिव्यय को समाविष्ट किया गया है। कृषि क्षेत्र म तकनीकी ज्ञान के उपयोग से बढ़ती हुई जोखिम एव कृषि के क्षेत्र म मिलजुल कर कार्य करने के महत्व के परिप्रेक्ष्य मे पुस्तक मे 'कृषि बीमा' एव 'भारत मे सहकारिता' अध्याय जोड़े गए हैं। पुस्तक के अध्याय 2, 3, 4, 10 एव 20 को नवीनतम ज्ञान परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ मे पुन लिखा गया है।

आशा है कि पुस्तक के इस संस्करण का भी शिक्षको, बी० एस-सी० कृषि, एम० ए० अर्थशास्त्र, एव विभिन्न राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगी परीक्षाओ—भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय वन सेवा, भारतीय आर्थिक सेवाओ मे कृषि अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो एव कृषि-विकास व कृषि नीति से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा स्वागत किया जाएगा।

जनवरी, 1983 — एन. एल अग्रवाल

प्रथम संस्करण की भूमिका

भारत जैसे विकासोन्मुख देश के आर्थिक विकास के लिए कृषि का विकास आवश्यक है। कृषि-विकास द्वारा ही ग्रामीण क्षेत्रों की उन्नति एवं औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का निर्माण सम्भव है। कृषि विकास का स्तर ही देश की उन्नति का सूचकांक एवं आर्थिक संवृद्धि का प्रतीक होता है। वर्तमान मे कृषि-परिवर्तनो के सन्दर्भ मे कृषि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओ के प्रामाणिक साहित्य का हिन्दी भाषा मे अभाव है। राष्ट्रभाषा के माध्यम से कृषि-शिक्षा प्रदान करने मे पाठ्य-पुस्तको का यह अभाव विद्यार्थियो एव प्राध्यापको के सम्मुख प्रमुख समस्या है।

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय कृषि का अर्थतन्त्र' स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओ के विद्यार्थियों की पाठ्यपुस्तक सम्बन्धी आवश्यकता को ध्यान मे रखकर लिखी गई है। इसमे भारतीय कृषि की विभिन्न समस्याओ एव उनके समाधान से सम्बन्धित प्रामाणिक तथ्यो एव सरकार की नीतियो का तर्कपूर्ण विवेचन किया गया है। कृषि समस्याओ से सम्बन्धित शोध-परिणामो को भी पुस्तक मे समाविष्ट किया गया है, जिससे आधुनिक प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे विद्यार्थियो को सही जानकारी प्राप्त हो सके। नवीनतम उपलब्ध आंकडो का उपयोग करते हुए पाठ्यसामग्री को तर्कसगत, सुसम्बद्ध एव व्यावहारिक रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

देश के सभी विश्वविद्यालयो मे कृषि अर्थशास्त्र एव फार्म-व्यवस्थापन विषय कृषि-स्नातक एव कृषि-अर्थशास्त्र स्नातकोत्तर कक्षाओ के पाठ्यक्रमो मे अनिवार्य विषय तथा एम ए अर्थशास्त्र मे वैकल्पिक विषय के रूप मे सम्मिलित है। भार-तीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय वन सेवा, भारतीय आर्थिक सेवा, राजस्थान प्रशास-निक सेवा आदि प्रतियोगी परीक्षाओ मे भी कृषि-अर्थशास्त्र एक वैकल्पिक विषय होता है। प्रस्तुत रचना कृषि-अर्थशास्त्र, फार्म व्यवस्थापन, कृषि-वित्त एव कृषि विपणन व कीमतें विषय पर हिन्दी मे उपलब्ध साहित्य के अभाव की पूर्ति की ओर एक प्रयास है। आशा है, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार एव हरियाणा राज्यो के विद्यार्थियो के लिए जहा हिन्दी माध्यम से स्नातक एव स्नातकोत्तर स्तर पर कृषि-अर्थशास्त्र, फार्म-व्यवस्थापन, कृषि वित्त एव कृषि विपणन व कीमतें विषय का अध्ययन-अध्यापन किया जाता है, वहा यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक मे सरल हिन्दी का प्रयोग किया गया है जिससे पाठ्यसामग्री को सहज में ही समझा जा सके। साथ ही विषय-ज्ञान मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को निर-न्तर बनाये रखने का पूरा ध्यान रखा गया है। तकनीकी शब्दो का हिन्दी रूपान्तर

भारत सरकार के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित शब्दावली के अनुरूप किया गया है। अन्य शब्दो का हिन्दी रूपान्तर 'फादर कामिल बुल्के' के अंग्रेजी-हिन्दी कोष के आधार पर किया गया है। पाठको की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त मे पारिभाषिक शब्दावली दी गई है।

पुस्तक लेखन की अनुज्ञा प्रदान करने एव आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए उदयपुर विश्वविद्यालय (वर्तमान मे राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय) के कुलपति का मैं हृदय से आभारी हूँ। डा० आर एम सिंह एव डा० आर एस. रावत अधिष्ठाता, कृषि महाविद्यालय, जोबनेर द्वारा प्रदत्त मार्ग-दर्शन एव प्रेरणा के लिए मैं कृतज्ञता ज्ञापन कर उऋण नही हो सकता। मैं डॉ० एस एस आचार्य, सह-प्राध्यापक एव विभागाध्यक्ष, कृषि अर्थशास्त्र का विशेष आभारी हूँ जिन्होने पाण्डुलिपि के कई अध्यायो मे अपने सुझावो से मुझे लाभान्वित किया है।

उन सभी विशेषज्ञो एव साथियो, विशेष रूप मे डॉ० बी एस राठौड प्राध्यापक, श्रीगिरीशचन्द्र, सहायक प्राध्यापक, श्री आर वी सिंह, सहायक निदेशक अनुसन्धान के निष्काम सहयोग, प्रोत्साहन एव रचनात्मक सुझावो के लिए भी कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। लेखन मे सहयोग के लिए श्री सीताराम पारीक, डॉ० रामचन्द्र वर्मा, डॉ० मोहनलाल पुरोहित एव अनेक विद्यार्थी भी धन्यवाद के पात्र है। पुस्तक लेखन मे जिन विद्वानो की कृतियो का उपयोग किया गया है उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

पुस्तक के समीक्षक डा सी. एस बरला, अर्थशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनके सुझावो से मुझे बहुत लाभ हुआ।

मैं अपने परिवार के सभी सदस्यो का ऋणी हूँ जिन्होने इस कार्य को समय पर पूरा करने एव कार्य मे आई कठिनाइयो मे बचाने के लिए मुझे हर सम्भव सहयोग देकर मुसीबतो का स्वय सामना किया है।

पुस्तक मे कुछ कमियो एव त्रुटियो का रह जाना स्वाभाविक है। प्रबुद्ध पाठको से अनुरोध है कि इस रचना को अधिक उपयोगी बनाने एव कमियो/त्रुटियो को दूर करने के लिए रचनात्मक सुझाव देकर अनुगृहीत करें।

जोबनेर
ज्येष्ठ पूर्णिमा, 2034
जून, 1, 1977

एन. एल. अग्रवाल

□□□

अध्याय 1

कृषि-अर्थशास्त्र की परिभाषा एवं क्षेत्र

अर्थशास्त्र की एक प्रमुख शाखा कृषि-अर्थशास्त्र है। पृथक् विषय के रूप मे कृषि-अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे प्रारम्भ हुआ था। आधुनिक कृषि एक व्यवसाय है। इसमे वे सभी उद्योग सम्मिलित किये जाते हैं, जो कृषि के विकास के लिए उत्पादन-साधनो को निर्मित करते है तथा कृषि-गत पदार्थों का परिष्करण (प्रोसेसिंग) के द्वारा रूप परिवर्तित करते हैं।

अर्थशास्त्र मे मनुष्य की धन से सम्बन्धित समस्त क्रियाओ का समावेश होता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र को विभिन्न शब्दो मे परिभाषित किया है। एडमस्मिथ ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहा है। वाकर के अनुसार अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्धित है। मार्शल ने मनुष्य की धनोपार्जन एव धन के व्यय से सम्बन्धित समस्त क्रियाओ के अध्ययन का समावेश अर्थशास्त्र मे किया है। उपर्युक्त परिभाषाएँ सकुचित हैं क्योकि अर्थशास्त्र मे आर्थिक क्रियाओ के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का तथा सामाजिक मनुष्य के अतिरिक्त समाज के बाहर रहने वाले मनुष्य का अध्ययन भी होता है। वर्तमान मे रोबिन्स द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा का ही सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। रोबिन्स[1] के अनुसार, "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उद्देश्यो एव वैकल्पिक उपयोगो वाले दुर्लभ साधनो के परस्पर सम्बन्ध के रूप मे मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है।"

अर्थशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं, आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन सीमित होते हैं और सीमित साधनो के

1 "Economics in the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses "
-L. Robbins, Nature and Significance of Economic Science, p 1.

अनेक उपयोग होते है। अतः अर्थशास्त्र की प्रमुख समस्या है कि सीमित साधनों का कौनसी आवश्यकताओ की पूर्ति मे उपयोग किया जाये जिससे मनुष्य को अधिक से अधिक सन्तोष की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार अर्थशास्त्र समस्त मानवीय क्रियाओ के आर्थिक पहलुओं का अध्ययन करता है। विभिन्न आर्थिक पहलुओं के विकास के साथ-साथ अर्थशास्त्र मे भी नयी-नयी शाखाएँ उत्पन्न हुई है, जिनमे से कृषि अर्थशास्त्र एक है।

कृषि-अर्थव्यवस्था की परिभाषा:

कृषि-अर्थशास्त्र को विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न शब्दो मे परिभाषित किया है। प्रमुख विशेषज्ञो द्वारा दी गई कृषि-अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ निम्नाकित हैं-

जौजियर[2] "कृषि अर्थशास्त्र कृषि-विज्ञान की शाखा है जो कृषको के यहा उपलब्ध विभिन्न उत्पादन साधनो के पारस्परिक एव मानवगत सम्बन्धों को नियमित करने की विधि का विचार करती है, जिसमे उद्यमो मे अधिकतम समृद्धि प्राप्त की जा सके।"

उपर्युक्त परिभाषा की अन्य लेखकों द्वारा की गई आलोचना मे कहा गया है कि लेखक ने कृषक के 'दुर्लभ साधनो से अधिकतम सन्तोष प्राप्ति' के स्थान पर 'अधिकतम समृद्धि' का उपयोग किया है जो अनावश्यक है। साथ ही इसमे ग्रामीण समाज के आर्थिक विकास को उचित महत्त्व नही दिया गया है।

टेलर[3] "कृषि अर्थशास्त्र मे फार्म के लिए भूमि, श्रम, औजारो का चयन, फसलो एव पशु-उद्यमो का चुनाव और विभिन्न उद्यमो के उचित अनुपात मे सयोजन का अध्ययन किया जाता है। मुख्यतया लागत एव प्राप्त मूल्यो के आधार पर उपर्युक्त प्रश्नो का हल खोजा जाता है।"

2 "Agricultural economics is that branch of agricultural science which treats of the manner of regulating the relations of the different elements comprising the resources of the farmer, wheather it be the relations to each other or to human being in order to secure the greatest degree of prosperity to the enterprise.'
Jouzier, Economic Rurale, Paris, 1920.

3. "Agricultural economics treats of the selection of land, Labour and equipment for a farm, the choice of crops to be grown The selection of livestock enterprises to bo carried on and whole question of the proportions in which all these agencies should be combined. These questions are treated primarily from the point of view of costs and prices "
-H. C. Taylor, Outlines of Agricultural Economics, The Macmillan Company, Newyork, 1931.

अन्य लेखको ने उपर्युक्त परिभाषा की आलोचना करते हुए लिखा है कि लेखक ने कृषि अर्थशास्त्र की सूक्ष्म-स्तर पर फार्म-प्रबन्ध के रूप मे विवेचना की है, जबकि कृषि अर्थशास्त्र की व्याख्या वृहत् स्तर पर की जानी चाहिए। साथ ही लेखक ने कृषि अर्थशास्त्र की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ, जैसे-कराधान, मुद्रा, भू-धृति आदि का विवेचन भी नहीं किया है।

ग्रे[4] "कृषि-अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमे कृषि उद्योग की विशेष परिस्थितियो मे अर्थशास्त्र के सिद्धान्त एव विधियो का प्रयोग किया जाता है।"

रोस[5] "कृषि-अर्थशास्त्र का अध्ययन दो विस्तृत दृष्टिकोणो मे किया जा सकता है, प्रथम के अन्तर्गत सामान्य कृषि का अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धो का समावेश होता है जबकि द्वितीय दृष्टिकोण में एकल फार्म इकाइयो के प्रबन्ध एव संचालन पर विचार किया जाता है।"

लेखक ने कृषि-अर्थशास्त्र की परिभाषा मे कृषि-अर्थशास्त्र एवं फार्म-प्रबन्ध दोनों ही दृष्टिकोणो को सम्मिलित कर दिया है, जबकि दोनो के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

फिलिप टेलर[6] "कृषि-अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसमे कृषि-वस्तुओ के उत्पादन एवं वितरण की क्रियाओं और कृषि उद्योग से सम्बन्धित संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है।"

4. "Agricultural economics may be defind as the science in which the principles and methods of economics are applied to the special conditions of agricultural industry."
   -L. C. Gray, Introduction to Agricultural Economics, The Macmillan Company, Newyork, 1922, Chapter I

5. "Agricultural economics may be approached from two broader aspects, the first involves the general economic relationship of agriculture to other groups, the second applies to the management and operations of individual farm units."
   -R. C. Ross, An Introduction to Agricultural Economics, McGraw Hill Book Company, INC, Newyork, 1951 p 4

6. "Agricultural economics is the branch of economics dealing with the production and distribution of agricultural commodities and the institutions associated with agriculture."
   -Philip Taylor, A New Dictionary of Economics, Routledge and Kegan Paul, 1966

हिब्बार्ड[7] "कृषि-अर्थशास्त्र मनुष्य की कृषि-क्रियाओं मे धन के उपार्जन एवं उसके व्यय के सम्बन्धो का अध्ययन है।"

यद्यपि विभिन्न लेखको ने कृषि-अर्थशास्त्र की भिन्न-भिन्न शब्दो मे परिभाषा की है, लेकिन सभी लेखकों ने कृषि अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए निम्नलिखित पहलुओ पर ध्यान केन्द्रित किया है–

(अ) कृषि-अर्थशास्त्र मे कृषकों की धन से सम्बन्धित सामाजिक एव अन्य क्रियाओ के अध्ययन का समावेश होता है।

(ब) कृषि-अर्थशास्त्र मे कृषको की उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण एव सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी सभी क्रियाओं का अध्ययन सम्मिलित होता है।

(स) कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य कृषको को सीमित उत्पादन साधनो द्वारा अधिकतम सन्तोष की प्राप्ति कराना है।

कृषि-अर्थशास्त्र का क्षेत्र

कृषि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की कृषि-क्रियाओ और कृषि-उत्पादन के भौतिक, जैविक, आर्थिक व सामाजिक पहलुओ के सम्बन्धो का कृषि व्यवसाय के रूप मे अध्ययन किया जाता है। कृषि-अर्थशास्त्र मे कृषि की निम्न क्रियाओ का अध्ययन सम्मिलित होता है–

(अ) विभिन्न उद्यमो के समूह-फसल उत्पादन, पशुपालन, फल उत्पादन तथा विभिन्न उद्यमो मे आपसी सम्बन्ध का अध्ययन जिससे उद्यमो के सही चुनाव द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।

(ब) उत्पादन के सीमित साधनो का विभिन्न उद्यमो मे अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए अनुकूलतम प्रयोग, उत्पादन साधनो का प्रतिस्थापन एव विभिन्न साधनो का उचित मात्रा मे सयोजन।

(स) उत्पादक एव उपभोक्ताओ के बीच क्रय-विक्रय के लिए उचित सम्बन्ध बनाये रखना।

(द) विभिन्न उत्पादन साधनो एव उत्पादित वस्तुओ की लागत एव आय के सम्बन्धों पर विचार करना।

7. "Agricultural economics is the study of relationships arising from the wealth getting and wealth using activity of man in agriculture"
-B H. Hibbard, Agricultural Economics, Mcgraw Hill Book Company, INC, Newyork, 1948, p 5

कृषि-अर्थशास्त्र मे अर्थशास्त्र के चारो विभागो—उत्पादन, उपभोग, विनिमय एव वितरण के अध्ययन का समावेश होता है । कृषि-अर्थशास्त्र मे उत्पादन करने से सम्बन्धित निर्णय—क्या, कितना और कैसे, उपभोग सम्बन्धित निर्णय—कितनी मात्रा मे एव किस समय करें, विनिमय सम्बन्धित निर्णय—वस्तुओ का क्रय-विक्रय का समय, स्थान एव क्रय-विक्रय पद्धति मे सुधार कैसे करें, वितरण सम्बन्धित निर्णय-प्राप्त लाभ को उत्पादन साधनो के स्वामियो मे किस प्रकार व किस अनुपात मे वितरण करें, आदि समस्याओं का समावेश होता है । इसके अतिरिक्त कृषि-अर्थशास्त्र मे कृषि से राज्य को प्राप्त आय एव राज्य की ओर से कृषि सुधार पर किये जाने वाले व्यय का अध्ययन भी सम्मिलित होता है । यह अध्ययन सार्वजनिक वित्त (Public Finance) के अन्तर्गत किया जाता है ।

कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण समुदाय को सामाजिक कल्याण उपलब्ध कराना है । अनुसधान के प्रसार से कृषि अर्थशास्त्र का क्षेत्र और भी व्यापक होता जा रहा है । इसके अन्तर्गत कृषि क्षेत्र मे आने वाली सभी आर्थिक एव सामाजिक समस्याओं की विवेचना की जाने लगी है ।

कृषि-अर्थशास्त्र की प्रकृति

कृषि-अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान ? धनात्मक या यथार्थमूलक विज्ञान (Positive Science) है या आदर्श-मूलक विज्ञान (Normative Science) ? व्यावहारिक विज्ञान है या सामाजिक विज्ञान ? आदि प्रश्नो का विवेचन कृषि-अर्थशास्त्र की प्रकृति के अन्तर्गत आता है। फलत कृषि-अर्थशास्त्र की प्रकृति मे निम्न बातो की विवेचना की जाती है :—

(अ) कृषि-अर्थशास्त्र विज्ञान है । विज्ञान से यहा तात्पर्य सुव्यवस्थित ज्ञान (Systematised body of knowledge) से है । कृषि-अर्थशास्त्र, विज्ञान की भाति ही, जाच, वर्णन एव विवेचन करता है । कृषि-अर्थशास्त्र कला भी है । कला से तात्पर्य सुव्यवस्थित क्रिया (Systematised action) से है । सुव्यवस्थित विधि से कार्य करने का ज्ञान भी कृषि-अर्थशास्त्र प्रदान करता है ।

(ब) कृषि-अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है जिसमे कृषि के क्षेत्र मे क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का प्रयोग किया जाता है । इसके अतिरिक्त कृषि-अर्थशास्त्र विज्ञान केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही नहीं है, बल्कि वह प्राप्त ज्ञान का अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कृषि मे उपयोग करने की विधि भी प्रदर्शित करता है ।

(स) कृषि-अर्थशास्त्र सही रूप में एक विशिष्ट विज्ञान है।

(द) कृषि-अर्थशास्त्र का अध्ययन सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों ही प्रकार का है। सैद्धान्तिक रूप में इसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन होता है एवं प्रायोगिक रूप में प्राप्त परिणामों का विभिन्न समस्याओं के अध्ययन में प्रयोग किया जाता है।

(य) कृषि-अर्थशास्त्र एक समष्टिमूलक अध्ययन है। इसके अन्तर्गत विभिन्न जोतों के समूह का एक साथ अध्ययन किया जाता है।

(र) कृषि अर्थशास्त्र सामाजिक अध्ययन भी है क्योंकि इसमें मनुष्यों के व्यवहार एवं सीमित साधनों में उनके विविध उद्देश्यों की प्राप्ति का अध्ययन भी सम्मिलित होता है।

(ल) कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन में भूमि-अर्थशास्त्र, श्रम-अर्थशास्त्र, उत्पादन-अर्थशास्त्र, फार्म-प्रबन्ध, कृषि-वित्त, कृषि-विपणन कृषि-कीमतें, कृषि-नीतियां आदि सम्मिलित होते हैं।

कृषि-अर्थशास्त्र के विभाग

अध्ययन की दृष्टि से कृषि-अर्थशास्त्र को कई विभागों में विभक्त किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र के प्रमुख विभाग निम्नांकित हैं, जो परस्पर घनिष्ठत सम्बन्धित भी हैं[8] —

1 **उत्पादन-अर्थशास्त्र**—इसमें उत्पादन के विभिन्न साधनों द्वारा अधिकतम उत्पादन मात्रा की प्राप्ति की प्राप्ति का अध्ययन किया जाता है।

2 **फार्म-प्रबन्ध**—इसके अन्तर्गत प्रत्यक कृषक की उत्पादन, सचालन एव प्रबन्ध सम्बन्धी क्रियाओं में अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए अध्ययन अपेक्षित है।

3 **भूमि-अर्थशास्त्र**—भू-धृति, भूमि सुधार एव जोत सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।

4 **श्रम-अर्थशास्त्र**—इसमें श्रमिकों की समस्याए, मजदूरी, श्रमिको में व्याप्त बेरोजगारी, श्रम-सम्बन्धी कानूनों के अध्ययन का समावेश होता है।

5. **कृषि-वित्त**—कृषकों की ऋण आवश्यकता, ऋण के स्रोत, ऋण प्रबन्ध एव ऋण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन इसमें होता है।

8. B. P. Pal, Economic Survey of Agriculture, Kitab Mahal Prakashan, Allahabad, 1961.

6 कृषि-विपणन—इसके अन्तर्गत कृषि से प्राप्त उत्पादो का विपणन, विपणन-कार्य, विपणन-सस्थाए एव उत्पादक कृषको की क्रय-विक्रय सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन सम्मिलित होता है ।

7. कृषि-सवृद्धि, विकास एवं योजना—इसके अन्तर्गत कृषि की सामान्य समस्याओ जैसे, कृषि मे सवृद्धि, कृषि-विकास नीति, कृषि-योजनाओ आदि का समावेश होना है ।

8. ग्राम्य समाजशास्त्र—इसमे समाज की समस्याए जैसे, गरीबी, समाज मे व्याप्त बाधक कारको के अध्ययन का समावेश होता है ।

कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन की सीमाएं

कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की सीमाए निम्नलिखित है —

1 कृषि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कृषको की कृषि-परक आर्थिक क्रियाओ का ही अध्ययन किया जाता है । कृषको की अन्य समस्याए, जो धन से सम्बन्धित नही होती हैं, इसमे सम्मिलित नही की जाती हैं ।

2 कृषि-अर्थशास्त्र मे कृषक समाज या कृषक-समूह की कृषिगत समस्याओ की ही विवेचना की जाती है । इसमे कृषको की वैयक्तिक समस्याओं का समावेश नही होता है ।

3 कृषि-अर्थशास्त्र का मापदण्ड मुद्रा है । क्रियाओ के करने से प्राप्त परिणामो को मुद्रा के रूप मे ही प्रकट किया जाता है ।

कृषि एवं औद्योगिक अर्थव्यवस्था में अन्तर

कृषि एव औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था मे कार्यों एव उत्पादो की प्रकृति मे विभिन्नता के अनुसार निम्नाकित अन्तर पाये जाते हैं :—

1. कृषि कार्यों एवं औद्योगिक कार्यों की प्रकृति मे भिन्नता का होना

कृषि एव अन्य उद्योगो की क्रियाओ मे निम्न अन्तर हैं—

1. प्रतिफल का सिद्धान्त—कृषि मे ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त व उद्योगो मे वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धात लागू होता है । कृषि मे उद्योगो की अपेक्षा ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धात निम्न कारणो से अधिक प्रबल होता है —

(अ) कृषि-व्यवसाय पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर है । प्रकृति मे परिवर्तन लाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है । उद्योगो मे उत्पादन पूणतया प्रकृति पर निर्भर नही होता है । अतः उद्योगो मे उत्पादन-साधनो की

मात्रा को निरन्तर बढाकर पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है ।

(ब) भूमि पर निरन्तर कृषि-उत्पादन करने के कारण भूमि की उर्वरता-शक्ति कम होती जाती है । परिणामतः कृषि क्षेत्र में ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त लागू होता है ।

(स) कृषि में यन्त्रीकरण के प्रयोग का क्षेत्र उद्योगों की भाँति विस्तृत नहीं है । फलस्वरूप कृषि में उत्पादन वृद्धि उद्योगो के समकक्ष नहीं हो पाती है ।

(द) कृषि का क्षेत्र सीमित न होकर विस्तृत है । इस कारण व्यवसाय की सुचारु रूप से देखभाल नहीं हो पाती है ।

(य) कृषि व्यवसाय में श्रम-विभाजन का क्षेत्र सीमित होने के कारण उत्पादन में वर्द्धमान दर से प्रगति नही हो पाती है ।

2. प्रकृति पर निर्भरता—कृषि मे उत्पादन मुख्यतया प्रकृति की देन है । जिस वर्ष मौसम अनुकूल होता है, कृषि-उत्पादन अधिक होता है और प्रतिकूल मौसम वाले वर्ष में उत्पादन कम होता है । मौसम की अनुकूलता व प्रतिकूलता का उद्योगों के उत्पादन पर विशेष प्रभाव नहीं पडता है ।

3 अनिश्चितता कृषि मे उत्पादन, कीमतें एव क्रियाएं अनिश्चित होती हैं । उद्योगों मे ये क्रियाएं अपेक्षाकृत अधिक निश्चित होती हैं । इसलिए उद्योगों मे कृषि की अपेक्षा जोखिम कम होती है । कृषि व्यवसाय मे अनिश्चितता निम्न कारणों से बनी रहती है :—

(अ) कृषि मे उत्पादन की होने वाली मात्रा एव कृषि-क्रियाओं का समय पर हो पाना मौसम की अनुकूलता/प्रतिकूलता पर निर्भर है । असामयिक वर्षा, सूखा, ओले, अतिवृष्टि, शीतलहर, तूफान आदि के कारण कृषि उत्पादन कम होता है, जिससे उत्पादो को विपणन की जाने वाली मात्रा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है एव कीमतो मे भी अनिश्चितता आ जाती है ।

(ब) कृषि के क्षेत्र मे असख्य उत्पादक होने के कारण कृषि के क्षेत्र में कुल उत्पादन, पूर्ति आदि की मात्रा का सही आकलन कृषकों के लिए सम्भव नही हो पाता है जबकि उद्योगों मे उत्पादकों की सख्या एव उनकी उत्पादन क्षमता का अन्य उत्पादकों को पूर्ण ज्ञान होता है । अतः कृषकों को उत्पाद के विक्रय से प्राप्त होने वाली कीमतों की अनिश्चितता बनी रहती है ।

(स) कृषि वस्तुए देश के उपभोक्ताओ की प्रमुख आवश्यकता की वस्तुए होने के कारण सरकार समय-समय पर इनके उत्पादन व कीमतो के निर्धारण की नीति मे परिवर्तन करती है। इस कारण भी कृषि के क्षेत्र मे अनिश्चितता बनी रहती है।

4 उत्पादन का पैमाना—कृषि व्यवसाय मे असख्य कृषको के कारण जोत का आकार छोटा होता है। इसलिए उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है। उद्योगो मे उत्पादन बडे पैमाने पर होने से उत्पादन की मात्रा अधिक होती है।

5. उत्पादन में समय पश्चता (Time lag in Production)—कृषि वस्तुओ के उत्पादन का एक निश्चित मौसम होता है तथा उनके उत्पादन मे भी एक निश्चित समय लगता है। कृषि-वस्तुओ के उत्पादन-मौसम एव उत्पादन-काल मे विशेष परिवर्तन करना सम्भव नही है, जबकि औद्योगिक वस्तुओ के उत्पादन मे लगने वाला समय मनुष्य के नियन्त्रण मे होता है, जिसकी न्यूनाधिकता से उत्पादन मे आवश्यकतानुसार कमी व वृद्धि की जा सकती है। कुछ कृषि वस्तुओ मे समय पश्चता के कारण पूर्तिफलन कॉबवेब प्रमेय (Cob-Web Theorem) के अनुरूप होता है। पशुधन तथा फलो वाली फसलो के उत्पादन मे एक निश्चित समय लगता है, जिसमे कीमतो मे चक्रीय उतार-चढाव पाया जाता है। विभिन्न उत्पादो मे यह चक्र विभिन्न समय का होता है। कॉबवेब प्रमेय स्पष्ट करता है कि कुछ कृषि वस्तुओ की माग एव पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर निर्धारित नही होकर इसके आस-पास परिवर्तित होती रहती हैं।

कॉबवेब प्रमेय की विभिन्न स्थितिया [उपसारी (Convergent), अभिसारी (Divergent) एव सतत (Continuous)] बहुत कुछ मकडी के जाल के समान होती है। इस प्रमेय की मुख्य कल्पना है कि किसी विशेष उत्पाद से अधिक कीमत प्राप्त होने पर कृषक उस उत्पाद हेतु अधिक क्षेत्र का सयोजन करता है जिसके कारण अगले वर्ष उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि होती है और कीमते गिर जाती हैं। कीमतो के गिर जाने के कारण कृषक आने वाले वर्ष मे उस फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल कम कर देते हैं। इस प्रकार उत्पादन मे कमी होती है और कीमतें बढनी शुरू होती हैं। *कीमतों के बढने के कारण कृषक फसल के उत्पादन में वृद्धि करने की* पुन कोशिश करते हैं लेकिन उत्पादन वृद्धि मे समय अधिक लगता है। जैसे–सुअर पालने मे 2 वर्ष, दुधारू पशुओ मे 4 वर्ष, फलो मे 5 से 10 वर्ष आदि। इस उत्पादन काल मे कीमतो मे फिर से परिवर्तन हो जाते हैं। अत वस्तु के उत्पादन व कीमतो का चक्र चलता रहता है जिससे कीमतो का सन्तुलन बिन्दु स्थापित नही हो पाता है।

6. कीमतो के परिवर्तन के साथ उत्पादन के समजन की सम्भावना—कृषि वस्तुओ की कीमतो मे औद्योगिक वस्तुओ की अपेक्षा उतार-चढाव अधिक होता है। कृषि उत्पादो के उत्पादन मे, कीमतो मे परिवर्तन के साथ वृद्धि या कमी करना सम्भव नही है, जिससे उनके उत्पादन मे कीमतो के साथ समजन नही हो पाता है। लेकिन औद्योगिक वस्तुओ के उत्पादन मे कीमतो के परिवर्तन के साथ वृद्धि या कमी की जा सकती है। इस कारण औद्योगिक वस्तुओ के उत्पादन मे कीमतो के परिवर्तन के साथ समजन करना सरल है।

7. श्रम विभाजन—कृषि व्यवसाय मे श्रमिको को विभिन्न कृषि-कार्य फार्म पर करने होते है। छोटे पैमाने पर होने के कारण कृषि व्यवसाय मे अधिक मात्रा मे श्रम-विभाजन करना सम्भव नही होता है। औद्योगिक व्यवसायो मे उनकी विशालता के कारण श्रम-विभाजन सम्भव होता है।

8. व्यवसाय का प्रारूप—कृषक प्राय कृषि को व्यवसाय के रूप मे न लेकर जीवनयापन के रूप मे अपनाते है, लेकिन उद्योगपति उद्योग को व्यवसाय के रूप मे लेते हैं।

9 वित्त पूर्ति—कृषि व्यवसाय मे पूंजी के अधिक समय तक निवेश होने तथा जोखिम की अधिकता के कारण ऋणदात्री संस्थाए ऋण स्वीकृत करना नही चाहती हैं। उद्योगो मे जोखिम कम होने के कारण ऋणदात्री संस्थाए आवश्यक मात्रा मे ऋण स्वीकृत करने को तैयार होती है जिससे उद्योगो की वित्त आवश्यकता पूर्ण हो जाती है।

10 जोखिम बीमा सुविधा—कृषि क्षेत्र मे होने वाली जोखिम का बीमा कराना सम्भव नही होता है जबकि औद्योगिक व्यवसायो मे होने वाली सभी प्रकार की जोखिमे—आग, दुर्घटना आदि का बीमा, बीमा कम्पनी के यहा कराया जा सकता है और उद्योग, व्यवसायी सम्भावित नुकसान से बच जाते हैं। कृषको को प्राकृतिक प्रकोपो के कारण होने वाला नुकसान स्वय को वहन करना होता है।

11 निर्णय की शीघ्रता—कृषि व्यवसाय मे निर्णय शीघ्रता से लेने होते है। निर्णयो के शीघ्रता से नही लेने की अवस्था मे कृषि व्यवसाय के चौपट होने की सम्भावना हो जाती है। उद्योगो में कृषि क्षेत्र के समान शीघ्रता से निर्णय लेने की आवश्यकता नही होती है। एक बार लिया गया निर्णय अनेक वर्षों तक उद्योगो में चलता रहता है।

II. कृषि एव औद्योगिक उत्पादों की प्रकृति मे भिन्नता का होना :

उत्पादो की प्रकृति मे भिन्नता के अनुसार कृषि व औद्योगिक व्यवसाय मे निम्न अन्तर पाये जाते है—

1. सयुक्त उत्पाद—कृषि क्षेत्र मे मुख्यतया सयुक्त उत्पाद प्राप्त होते हैं अर्थात् मुख्य उत्पाद के साथ साथ उपोत्पाद (By products) भी प्राप्त होते हैं, जैसे—गेहू के साथ भूसा, कपास के साथ कपास की लकडिया, चावल के साथ भूसी आदि। औद्योगिक क्षेत्र मे सयुक्त उत्पाद कम होते है। अत कृषि व्यवसाय मे मुख्य उत्पाद की उत्पादन लागत ज्ञात करने का कार्य कठिन होता है।

2 वस्तुओं के गुणों में भिन्नता—कृषि क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न खेतो एव एक ही खेत से प्राप्त उत्पाद के गुणो मे भिन्नता पायी जाती है। औद्योगिक व्यवसायो मे प्राय समान गुण वाली वस्तुएँ उत्पादित होती हैं।

3 विपणन लागत की विभिन्नता—कृषि व्यवसाय मे कृषक फार्म पर विभिन्न उत्पाद उत्पन्न करते है। प्रत्येक उत्पाद की विक्रय अधिशेष की मात्रा के कम होने के कारण उत्पाद की प्रति इकाई पर विपणन लागत अधिक आती है। औद्योगिक व्यवसायो मे एक ही वस्तु के अधिक मात्रा मे उत्पादित होने से उत्पाद की विक्रय अधिशेष की मात्रा अधिक होती है जिससे प्रति इकाई उत्पाद की विपणन-लागत कम आती है।

4 उत्पादन मौसम की निश्चितता—कृषि वस्तुओ के उत्पादन का निश्चित मौसम होने के कारण मौसम विशेष मे कृषि वस्तुओ की पूर्ति अधिक होती है। औद्योगिक वस्तुओ के उत्पादन का निश्चित मौसम नही होता है। वे निरन्तर उत्पादित किये जा सकते है, जिससे उनकी पूर्ति वर्ष भर होती है।

5 उत्पादो में विनाशशीलता का गुण—कृषि वस्तुओ मे शीघ्र नष्ट होने के गुण के कारण उन्हें अधिक समय तक सगृहीत नही किया जा सकता है। उद्योगो से प्राप्त उत्पादो मे प्राय शीघ्र नष्ट होने का गुण विद्यमान नही होता है। फलत उन्हे अधिक समय तक सगृहीत किया जा सकता है।

6 वस्तुओं का भार—कृषि वस्तुएँ बहुधा भारी होती हैं। वे अधिक स्थान घेरती है, जैसे—कपास, जूट, मिर्च, मूगफली चारा, आदि। औद्योगिक वस्तुओ का भार कम होता है। वे स्थान कम घेरती है। अत कृषि वस्तुओ मे सग्रहण एव परिवहन लागत अधिक आती है।

7 उत्पादों की माग की लोच—कृषि उत्पाद आवश्यकता की प्रमुख वस्तुएँ होने के कारण उनकी माँग प्राय बेलोचदार (Inelastic) होती है, लेकिन औद्योगिक वस्तुओ की माग प्राय लोचदार (Elastic) होती है।

8 उत्पादो की पूर्ति-कृषि उत्पादो की पूर्ति की मात्रा अनिश्चित एव अनियमित होती है, जबकि औद्योगिक वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा निश्चित एव नियमित होती है।

9. **उत्पादों की कीमतों में परिवर्तन**-कृषि-उत्पादों की कीमतों में परिवर्तन औद्योगिक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होता है। कृषि उत्पादों की कीमतें भिन्न-भिन्न समय एवं स्थान पर विभिन्न होती हैं जबकि औद्योगिक वस्तुओं की कीमतें प्रायः सभी स्थानों एवं समयों में समान होती हैं। कृषि वस्तुओं की कीमतों में औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होने के साथ साथ कृषि वस्तुओं की कीमतों में मौसमी एवं चक्रीय परिवर्तन (Seasonal and Cyclical price movements) भी पाये जाते हैं जो औद्योगिक वस्तुओं में कम पाये जाते हैं। कृषि वस्तुओं के उत्पादन का एक विशेष मौसम होने के कारण कीमतों में उतार-चढ़ाव पाये जाते है। मौसम विशेष में उत्पादन अधिक होने के कारण कीमतें कम एवं अन्य मौसम में पूर्ति के कम होने के कारण कीमतें अधिक होती हैं। शीघ्रनाशी वस्तुओं में कीमतों के मौसमी परिवर्तन संगृहीत की जा सकने वाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं। कुछ कृषि वस्तुओं की कीमतों में चक्रीय कीमत-परिवर्तन भी पाये जाते हैं, क्योंकि उनके उत्पादन में एक निश्चित समय लगता है जिसके कारण कीमतों में परिवर्तन के साथ साथ पूर्ति में समन्वय नहीं हो पाता है। चक्रीय कीमत परिवर्तन उन्हीं वस्तुओं में पाये जाते हैं जिनकी मांग एवं पूर्ति में शीघ्रता से समन्वय स्थापित नहीं हो पाता है। औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन मौसमी नहीं होकर वर्षभर निरन्तर होता रहता है जिससे उनकी मांग एवं पूर्ति में समन्वय शीघ्रता से स्थापित किया जा सकता है। स्पष्टतः उनमें मौसमी एवं चक्रीय कीमत परिवर्तन के लिए अवकाश ही नहीं होता है।

कृषि उद्योग में असंख्य, अशिक्षित, असंगठित, रूढ़िवादी कृषक हैं जो उत्पादन हेतु अन्य साधनों की अपेक्षा श्रम-साधन का अधिक उपयोग करके जीविकोपार्जन करते हैं। साथ ही कृषि उद्योग में प्रकृति पर निर्भरता के कारण जोखिम अधिक होती है। औद्योगिक व्यवसाय संगठित होता है जिसमें अनिश्चितता एवं जोखिम कम पाई जाती है। अतः सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्त कृषि-उद्योग की विशेषताओं के अनुसार परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होकर ही लागू हो सकते हैं।

□□□

अध्याय 2

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि

प्राचीनकाल से ही भारत कृषि-प्रधान देश रहा है। उस समय देश में विस्तृत कृषि पद्धति प्रचलित थी। ग्रामवासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वावलम्बी थे। जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण स्वतन्त्रता के समय से ही खाद्यान्नों की कमी प्रतीत होनी शुरू हुई। खाद्यान्नों का भारी मात्रा में प्रतिवर्ष आयात किया गया। खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए देश की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि विकास को प्राथमिकता दी गई। कृषि विकास के लिए देश में सामुदायिक विकास कार्यक्रम सघन कृषि योजना, उन्नत बीजों का आविष्कार एवं उपयोग, उर्वरकों व कीटनाशी दवाईयों का अधिक उत्पादन एवं उनका उपयोग, कृषि की उन्नत विधियों का आविष्कार, लघु एवं सीमान्त कृषक विकास योजनाएँ, कृषि क्षेत्र में आवश्यक ऋण की उपलब्धि हेतु बैंकों का राष्ट्रीयकरण कृषि बीमा आदि कार्यक्रम शुरू किये गये। कृषि विकास के इन कार्यक्रमों के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि हुई, लेकिन देश अनेक कृषि उत्पादों के उत्पादन में आत्म-निर्भर नहीं हो सका। भारत कृषि-प्रधान देश होते हुए भी कृषि के क्षेत्र में अन्य विकसित देशों के समान प्रगति नहीं कर सका। इसका प्रमुख कारण भारतीय कृषि की अपनी ही कुछ विशेषताओं का होना है।

भारतीय कृषि की विशेषताएँ

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएँ हैं–

(1) जोतों की संख्या एवं जोत का आकार कम होना :

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषता जोत इकाइयों की संख्या बहुत अधिक होना एवं अधिकांश जोतों का आकार कम होना है। कृषि जनगणना 1970 71 के अनुसार देश में कार्यशील जोतों की संख्या 71 01 मिलियन थी। कृषि जनगणना 1985-86 के अनुसार जोतों की संख्या बढ़कर 97 73 मिलियन हो गई। इस काल में प्रति जोत औसत क्षेत्रफल 2 28 हैक्टर से कम होकर 1 68 हैक्टर ही रह गया। देश में जोतों के आकार के अनुसार कार्यशील जोतों की संख्या व उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल सारणी 2.1 व 2 2 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 2.1

भारत मे कार्यशील जोतो की संख्या

(संख्या मिलियन में)

जोत का आकार	1970–71 कृषि जन-गणना	1976–77 कृषि जन-गणना	1980–81 कृषि जन-गणना	1985–86 कृषि जन-गणना
1. सीमान्त जोत (एक हैक्टर से कम)	36 20 (51.0)	44 52 (54 6)	50 12 (56 4)	56.75 (58 1)
2. लघु जोत (1 से 2 हैक्टर)	13 43 (18 9)	14 73 (18 1)	16.07 (18.1)	17.88 (18.3)
3. अर्द्ध मध्यम जोत (2 से 4 हैक्टर)	10 68 (15 0)	11 67 (14.3)	12.45 (14 0)	13 25 (13 5)
4 मध्यम जोत (4 से 10 हैक्टर)	7 93 (11.2)	8 21 (10.0)	8.07 (9 1)	7 92 (8.1)
5. दीर्घ जोत (10 हैक्टर से अधिक)	2 77 (3 9)	2.44 (3 0)	2 17 (2 4)	1 93 (2 0)
कुल जोत	71 01 (100)	81 57 (100)	88 88 (100)	97 73 (100)

कोष्ठक मे दिए गए आकड़े कुल जोत संख्या का प्रतिशत है।

स्रोत :—V M. Rao, Land Reform Experiences, Economic and Political weekly-Review of Agriculture, 27 June 1992. P. A–51.

सारणी 2 2

भारत में कार्यशील जोतो के अन्तर्गत क्षेत्रफल (क्षेत्रफल मिलियन हैक्टर में)

जोत का आकार	कृषि जन-गणना 1970-71	कृषि जन-गणना 1976-77	कृषि जन-गणना 1980-81	कृषि जन-गणना 1985-86	औसत जोत आकार 1985-86 मे
1 सीमान्त जोत (1 हैक्टर से कम)	14 56 (9 0)	17 51 (10 7)	19 74 (12 1)	21 60 (13 2)	0 38
2 लघु जोत (1 से 2 हैक्टर)	19 28 (11 9)	20 90 (12 8)	23 16 (14 1)	25 53 (15 6)	1 43
3 अर्द्ध मध्यम जोत (2 से 4 हैक्टर)	30 00 (18 5)	32 43 (19 9)	34 65 (21.1)	36 58 (22 3)	2 76
4 मध्यम जोत (4 से 10 हैक्टर)	48 24 (29 7)	49 63 (30 4)	48 54 (29 6)	47 01 (28 7)	5.94
5 दीघ जोत (10 हैक्टर से अधिक)	50 06 (30 0)	42 87 (26 2)	37 71 (23 0)	33 19 (20 2)	17 20
कुल	1ल2 14 (100)	163 34 (100)	163 80 (100)	163 91 (100)	1168

कोष्ठक म दिए गए आकडे कुल जोत क्षेत्रफल का प्रतिशत है।

स्रोत —V M Rao Land Reform Experiences, Economic and Political weekly Review of Agriculture, June 27, 1992 P—A 51

देश मे दो हैक्टर क्षेत्र तक की जोतें, कुल जोत संख्या का 76 4 प्रतिशत हैं तथा इनके पास जोते गए कृषि क्षेत्र का मात्र 28 8 प्रतिशत भाग ही है। दूसरी ओर 10 1 प्रतिशत दीर्घक्षेत्र की जोतो (4 हैक्टर क्षेत्र से अधिक) के पास कुल कृषि क्षेत्र का 48 9 प्रतिशत भाग है। देश में मात्र 2.0 प्रतिशत जोता का आकार 10 10 हैक्टर से अधिक है, लेकिन इनके पास कुल भूमि का 20 2 प्रतिशत भाग है। अत स्पष्ट है कि देश मे भू-स्वामित्व का असमान स्वरूप विद्यमान है, जो देश मे विभिन्न भूमि-सुधार के कार्यक्रम अपनाने के बावजूद वर्तमान मे भी प्रचलित है।

वर्ष 1970-71 की तुलना म वर्ष 1980-81 एव 1985-86 मे सभी जोतो (दीर्घ एव मध्यम जोत के अतिरिक्त) की सख्या म वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि सर्वाधिक सीमान्त जोत के अन्तर्गत हुई है। पिछले 15 वर्षो मे कुल 26 72 मिलियन जोत सख्या मे वृद्धि हुई है, इनमे स 20 55 मिलियन की वृद्धि सीमान्त जोतो की सख्या म हुई है। इस काल मे जोतो के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र मे मात्र 1 80 मिलियन हैक्टर की ही वृद्धि हुई है। इस कारण विभिन्न जोता के औसत आकार मे कमी हुई है। अत स्पष्ट है कि देश मे जोतों की सख्या अधिक है एव उनकी सख्या मे निरन्तर तीव्र गति मे वृद्धि हो रही है। साथ ही उनके अन्तर्गत भूमि के क्षेत्र मे असमानता बढती जा रही है। लघु एव सीमान्त जोतो पर उन्नत कृषि विधियो एव मशीनो का उपयोग करना सम्भव नही होता है। परिणामत जोत के प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन की मात्रा कम प्राप्त होती है एव उत्पादन की प्रति इकाई मात्रा पर उत्पादन लागत अधिक आती है।

भारत म जोत का औसत आकार अन्य देशो की अपेक्षा बहुत कम है। वर्ष 1970-71 की कृषि जनगणना के अनुसार देश म जोत का औसत आकार 2 28 हैक्टर था, जो कम होकर वर्ष 1976-77 मे 2.0 हैक्टर वर्ष 1980-81 मे 1.82 हैक्टर एव 1985-86 मे 1 68 हैक्टर ही रह गया। जोत का यह औसत आकार अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है। वर्ष 1970 म जोत का औसत आकार आस्ट्रेलिया देश मे 1992 58 हैक्टर, अर्जेन्टाइना मे 270 '3 हैक्टर, कनाडा मे 187 54 हैक्टर, अमेरिका मे 157 61 हैक्टर, मैक्सिको म 142 28 हैक्टर, इगलैण्ड म 55.07 हैक्टर, फ्रान्स मे 22 07 हैक्टर, नार्वे मे 17.64 हैक्टर एव बेल्जियम म 8 35 हैक्टर था।[1]

2 जोत-अपखण्डन

भारतीय कृषि की दूसरी विशेषता जोत के अन्तर्गत कुल भूमि का क्षेत्रफल एक खण्ड मे नहीं होकर अनेक खण्डो मे विभक्त होना है। भूमि के यह खण्ड एक-

1. F. A. O Production Year Book 1975,

दूसरे से बहुत दूरी पर स्थित होते हैं। जोत के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र विभिन्न खण्डो मे विभक्त होने एव उन भू-खण्डो का एक-दूसरे से दूर स्थित होने के कारण कृषक सभी भू-खण्डो पर सिचाई की सुविधा उपलब्ध नही करा पाते हैं। विभिन्न खण्डो की देख रेख भी ठीक प्रकार से नही हो पाती है। प्रत्येक भू-खण्ड पर बहुत-सा क्षेत्रफल मेड, नालियो, भवन, सडक बनाने मे निकल जाता है, जिससे कृषक की जोत का कृषित क्षेत्र कम हो जाता है। भारत मे कृषको की जोत औसतन 4 04 खण्डो मे विभक्त है, जबकि अन्य देशो मे कृषको की जोत एक या दो खण्डो मे ही होती है। भारत मे जोत के बिखरे हुए खण्डो को एक खण्ड मे लाने का प्रयास चकबन्दी विधि द्वारा किया जा रहा है।

3 भारतीय कृषि मे पूंजी निवेश कम होना :

भारतीय कृषि की तीसरी प्रमुख विशेषता कृषि क्षेत्र मे पूंजी निवेश का कम होना है। भारतीय कृषक मुख्यतया गरीब हैं। गरीबी के कारण कृषि व्यवसाय मे पूंजी निवेश कम मात्रा मे कर पाते हैं। पूंजी के अभाव मे कृषक फार्म पर कृषि उत्पादन मे उन्नत तकनीकी विधियो एव प्रस्तावित मात्रा मे उत्पादन-साधनो का उपयोग कर पाने मे सक्षम नही होते हैं। इससे उनकी भूमि की उत्पादकता का स्तर कम प्राप्त होता है। वर्ष 1950–51 मे कृषि क्षेत्र मे निवेश की गई पूंजी, कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय की 6 3 प्रतिशत थी, जो वर्ष 1960–61 तक समान प्रतिशत मे बनी रही। पूंजी निवेश की राशि कम होकर वर्ष 1961–62 मे 5 3 प्रतिशत, 1963–64 मे 5 0 प्रतिशत व 1967–68 मे मात्र 4 9 प्रतिशत ही रह गई।[2] कृषको द्वारा सामाजिक उत्सवों पर अधिक व्यय करने एव कृषि मे उन्नत तकनीकी ज्ञान के स्तर का कम उपयोग करने से उनको कृषि व्यवसाय से बचत की राशि कम प्राप्त होती है। अन्य देशो मे कृषि व्यवसाय मे बचत की राशि अधिक होने से वहाँ के कृषक निरन्तर कृषि व्यवसाय मे पूंजी अधिक निवेश करते हैं। कृषि म पूंजी निवेश की राशि एव उत्पादकता मे धनात्मक सम्बन्ध होता है।

4. खाद्यान्न उत्पादन को प्राथमिकता प्रदान करना :

भारतीय कृषक खाद्यान्न वाली फसलो के अन्तर्गत गैर खाद्यान्नो वाणिज्यिक एव नकदी फसलो की अपेक्षा अधिक क्षेत्रफल फार्म पर लेते हैं। इसका प्रमुख कारण कृषको द्वारा पारिवारिक आवश्यकता वाले उत्पादो के उत्पादन को प्राथमिकता देना एव वाणिज्यिक तथा नकदी फसलो के उत्पादन की विधि एव उनसे प्राप्त होने वाले लाभ की अज्ञानता का होना है। खाद्यान्नो के अन्तर्गत अधिक क्षेत्रफल लेने से कृषकों

2. Baldev Kumar, Capital Formation in Agriculture, Inidan Journal of Agricultural Economics, Vol. XXIV, No. 4, October-December, 1969, pp 13 17.

को प्रति हैक्टर भूमि के क्षेत्र एव कुल फार्म क्षेत्र से लाभ कम प्राप्त होता है । नकदी फसलो से प्रति हैक्टर लाभ खाद्यान्नो की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है । भारत मे खाद्यान्नों की फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल वर्ष 1950-51 से निरन्तर 70 से 75 प्रतिशत के मध्य रहा है । भारतीय कृषि प्रमुखतया खाद्यान्न आधारित है ।

5. भूमि पर जनसख्या का अधिक भार .

भारत की अधिकाश जनसख्या प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप मे कृषि पर निर्भर है । कृषि मे अधिक जनसख्या के होने से भूमि पर जनसख्या का भार अधिक होता है और प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषित क्षेत्र कम होता जाता है । विकसित देशो मे विकासशील देशो की अपेक्षा कम जनसख्या कृषि क्षेत्र पर आश्रित होती है । वर्ष 1980 मे भारत की कुल कार्यरत जनसख्या की 63 2 प्रतिशत जनसख्या प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से कृषि पर आधारित थी । विकसित देश जैसे-अमेरिका एव इगलैण्ड मे 2 0 प्रतिशत पश्चिमी जर्मनी मे 4 प्रतिशत, फ्रास मे 8 6 प्रतिशत एव जापान मे 11 प्रतिशत जनसख्या ही कृषि पर आधारित थी ।[3] विकसित देशो मे कृषि क्षेत्र पर आधारित जनसख्या का भार निरन्तर कम होता जा रहा है, जबकि विकासोन्मुख देशो मे यह प्रतिशत बढा है । भारत म यह प्रतिशत पिछले दशक मे 60 से 70 के मध्य मे बनी हुई है । यह विशेषता भारत के लिए अभिशाप है ।

6 कृषि उत्पादन का प्रकृति पर निर्भर होना

भारत मे कृषि उत्पादन प्रकृति की अनुकूलता पर निर्भर है । प्रकृति की अनुकूलता वाले वर्ष मे देश मे खाद्यान्नों का उत्पादन अधिक होता है तथा प्रतिकूलता वाले वर्ष मे खाद्यान्नों का उत्पादन कम होता है । भारतीय कृषि का प्रकृति पर निर्भरता का मुख्य कारण देश मे सिचाई के पानी की पर्याप्त सुविधा का नहीं होना है । भारत मे वर्ष 1951-52 मे 23 2 मिलियन हैक्टर क्षेत्र (कुल कृषित क्षेत्र का 17 4 प्रतिशित) मे सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी । योजना काल मे सिचाई सुविधाओ के निरन्तर विस्तार के फलस्वरूप सिंचित क्षेत्र वर्ष 1988-89 मे 69 7 मिलियन हैक्टर (कुल कृषित क्षेत्र का 36 5 प्रतिशत) हो गया । अतः सिंचाई सुविधाओ के विकास पर बहुत धन व्यय करने के बाद आज भी देश का 63.5 प्रतिशत क्षेत्रफल कृषि उत्पादन के लिए वर्षा पर निर्भर है । इससे कृषि उत्पादन मे अनिश्चितता होती है । देश म सूखा का प्रकोप निरन्तर होता रहता है । वर्ष 1965 से 1987 के मध्य मे 12 वर्ष विभिन्न स्तर के सूखा वाले वर्ष थे ।

7. भारतीय कृषि में पशु शक्ति का प्रमुख स्थान :

भारतीय कृषि मे अधिकाश कृषि कार्य जैसे—जुताई, बुवाई, सिंचाई, खाद

3. NABARD News Review, NABARD, Bombay Vol, 1, No. 3, July-September, 1984, pp. 8-9.

डालना, उत्पाद का गायटा, उत्पाद की ढुलाई आदि पशुओं की सहायता से ही किये जाते हैं। पशु-शक्ति के उपयोग के कारण उत्पादन लागत अधिक आती है तथा कार्य भी समय पर पूरा कर पाना सम्भव नहीं होता है। विकसित देशो मे कृषि क्षेत्र मे पशु-शक्ति के स्थान पर यान्त्रिक-शक्ति ट्रैक्टर, सिंचाई के लिए डीजल एव विद्युत-इ जन, रीपर, सीड ड्रील आदि) का उपयोग अधिक होता है। भारत मे प्रति एक लाख हैक्टर समग्र कृषित क्षेत्र पर वर्ष 1950–51 मे 7 ट्रैक्टर, 50 तेल चलित इन्जिन, 16 विद्युत पम्पसेट या ट्यूबवैल थे, जो बढकर 1984-85 मे क्रमशः 450, 2,240 व 2,980 हो गये। लेकिन कृषि यन्त्रीकरण का यह स्तर विकसित देशो की अपेक्षा बहुत कम है।[4]

8 देश में भू-धृति की दोषयुक्त पद्धति का प्रचलित होना

भारतीय कृषि मे भू-धृति की दोषयुक्त पद्धति प्रचलित है, जिससे कृषक भूमि से उत्पादकता बढाने मे इच्छुक नही होते हैं। प्रचलित दोषयुक्त पद्धतियो मे कृषक एव सरकार के मध्य मध्यस्थो का होना, जोत अपखण्डन, जोत का क्षेत्रफल कम व असमान होना, भू-राजस्व की अधिक राशि वसूल करना, आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार की दोषयुक्त भू धृति पद्धतियो के होते से कृषि विकास मे बाधा पहुँचती है। सरकार ने स्वतन्त्रता के पश्चात् इन पद्धतियों की समाप्ति के लिए अनेक भूमि-सुधार कार्यक्रम अपनाए है।

9 कृषि जीवन निर्वाह का साधन :

भारत मे कृषको द्वारा कृषि को व्यवसाय के रूप मे न अपनाकर जीवन-निर्वाह के रूप मे अपनाया जाता है। कृषक कृषि मे होने वाले आय-व्यय का लेखा नही रखते हैं और न ही उत्पादन, आय मे वृद्धि के लिए व्यावसायिक सिद्धान्तो का उपयोग करते हैं। अन्य देशो में कृषि को भी अन्य उद्योगो के समान व्यवसाय के रूप मे अपनाया जाता है और व्यवसाय से व्यापारिक बुद्धिमत्ता के आधार पर अधिक लाभ कमाने का प्रयास किया जाता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व

निम्न तथ्य भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कृषि का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं :

(1) कृषि क्षेत्र राष्ट्रीय आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। वर्ष 1990–91 मे कृषि क्षेत्र ने समग्र घरेलू उत्पाद का 24 8 प्रतिशत अश प्रदान किया है। कृषि के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रो से सम्मिलित रूप मे शेष 75.2 प्रतिशत समग्र घरेलू उत्पाद की राशि प्राप्त हुई है। कृषि क्षेत्र

4. N Murari Ballal, Indian Agricultural Growth can it Cope with the Population Explosion ? Pigmy Economic Review, vol. 30, No. 11 June 1985, p. 3.

के अशदान मे वर्ष 1950–51 से निरन्तर गिरावट आई है, लेकिन अभी भी यह क्षेत्र प्रथम स्थान पर है ।

(2) कृषि क्षेत्र देश के 84.39 करोड नागरिको एव 36 98 करोड पशुओं के लिए आवश्यक भोजन-खाद्यान्न एव चारे के रूप मे उपलब्ध कराता है ।

(3) देश की 70 प्रतिशत जनसख्या कृषि क्षेत्र पर प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप मे जीवन-निर्वाह के लिए निर्भर है । अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्र सम्मिलित रूप से शेष 30 प्रतिशत जनसख्या को जीवन-निर्वाह के साधन उपलब्ध कराते है ।

कृषि क्षेत्र कुल रोजगार उपलब्धि का लगभग आधा भाग उपलब्ध कराता है ।

(4) देश को निर्यात मे प्राप्त कुल आय मे से लगभग एक तिहाई (33 प्रतिशत) अश कृषि-क्षेत्र से प्राप्त उत्पादो के निर्यात से प्राप्त होता है । कृषि क्षेत्र से निर्यात की जाने वाली वस्तुओ मे चाय, काफी, तम्बाकू, काजू, जूट कपास, ऊन बादाम, खाद्य तेल, सुपारी, गोंद, किशमिस, चमडा, मसाले, खली एव फल प्रमुख हैं ।

(5) कृषि क्षेत्र देश के प्रमुख उद्योगो—कपडा. जूट, चीनी, तिलहन, वनस्पति, चाय, रबर, कागज आदि के लिए आवश्यक कच्चा माल प्रदान करता है । इन उद्योगो के विकास मे कृषि क्षेत्र महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

(6) देश के आन्तरिक व्यापार, परिवहन, सचार, सग्रहण, ससाधन, बैंकिग एव अन्य सहायक क्षेत्रो के विकास मे कृषि-क्षेत्र महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इन क्षेत्रो को व्यवसाय मुख्यतया कृषि-क्षेत्र से प्राप्त होता है । कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन अधिक होने से इन आधारित उद्योगो को भी व्यवसाय अधिक प्राप्त होता है ।

(7) देश के अनेक उद्योगो से निर्मित वस्तुएँ—जैसे—उर्वरक, कीटनाशक दवाईयाँ, कृषि-यन्त्र एव मशीने बीज आदि का उपयोग कृषि क्षेत्र मे ही होता हैं । अत इन उद्योगो का विकास कृषि क्षेत्र के विकास पर ही निर्भर करता है । कृषि एव उद्योग एक-दूसरे के पूरक कहलाते हैं क्योकि एक उद्योग का विकास दूसरे उद्योग के विकास मे सहायक होता है ।

(8) देश मे व्याप्त निर्धनता के स्तर की प्रतिशतता को कम करने मे भी कृषि-क्षेत्र महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है । देश मे गरीबी को

रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही जनसंख्या का प्रतिशतता में कमी भी कृषि-क्षेत्र के विकास द्वारा ही हो पाना सम्भव है ।

(9) देश के उपभोक्ताओं की आय का लगभग 70 से 80 प्रतिशत भाग कृषि वस्तुओं के क्रय पर ही व्यय होता है। अत उपभोक्ताओं को उचित जीवन स्तर प्रदान करने में कृषि क्षेत्र महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

खाद्यान्नों की माँग की लोच (Income elasticity of demand for foodgrains) के अधिक होने के कारण कीमतों में उतार-चढाव का प्रभाव उपभोक्ताओं के रहन-सहन के स्तर को प्रभावित करता है ।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को विकसित, अर्द्ध-विकसित एव विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्था की श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है। विकसित अर्थ-व्यवस्था से तात्पर्य उस अर्थ-व्यवस्था से है जिसमे देश मे उपलब्ध उत्पादन के साधन पूर्ण रूप से उपयोग में आ रहे है। ऐसी अर्थव्यवस्था वाले क्षेत्रों के निवासियो की आय अधिक एव रहन सहन का स्तर ऊँचा होता है। अर्द्ध विकसित अर्थ-व्यवस्था से तात्पर्य उस अर्थ-व्यवस्था से है जिनमे उपलब्ध उत्पादन-साधनो का पूर्ण उपयोग नहीं होता है। ऐसे क्षेत्रों के निवासियो की आय कम होती है जिनसे उनके रहन सहन का स्तर भी नीचा होता है। इन दोनो श्रेणियो के बीच की अर्थव्यवस्था जिसमें उपलब्ध उत्पादन-साधनो का निरन्तर उपयोग विकास के लिए हो रहा होता है तथा वहाँ के निवासियों की आय का स्तर मध्यम श्रेणी मे आता है, उनको विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था कहते हैं। अमेरिका, इग्लैन्ड, कनाडा, फ्रास, आस्ट्रेलिया एव रूस विकसित अर्थव्यवस्था की श्रेणी मे वर्गीकृत किए जाते हैं जबकि अनेक अफ्रीकन एव एशियाई देश अर्द्ध-विकसित देशो की श्रेणी मे आते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था विकास की ओर अग्रसर होने वाली अर्थव्यवस्था अर्थात् विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की श्रेणी मे आती है। वर्तमान मे अर्थव्यवस्था को दो ही श्रेणी अर्थात् विकासशील एव विकसित मे ही वर्गीकृत किया जाता है।

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को विकसित एव विकासशील अर्थव्यवस्था की श्रेणी मे वर्गीकृत करने के लिए निम्न प्रमुख आधार उपयोग मे लिये जाते हैं :—

(1) प्रति व्यक्ति आय—देश के निवासियो की प्रति व्यक्ति औसत आय देश की अर्थव्यवस्था एव उसके विकास की सूचकांक एव व्यक्तियों की समृद्धि का प्रतीक होती है। विकसित राज्यों मे प्रति व्यक्ति औसत आय अधिक होती है। वर्ष 1985 मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अमेरिका मे 16,690 अमेरिकन डालर, स्वीट्जरलैंड में

16,370 अमेरिकन डालर, डेनमार्क में 11,200 डालर, इग्लैंड में 8, 460 डालर, इण्डोनेशिया में 530 डालर, पाकिस्तान में 380 डालर, चीन में 310 डालर एव भारत मे 270 डालर थी।[5] भारत मे प्रति व्यक्ति औसत आय का स्तर उद्योग प्रधान विकसित देशो एव तेल उत्पादक देशों की अपेक्षा बहुत कम है।

(2) कृषि उत्पादो की उत्पादकता का स्तर—अर्थव्यवस्था को विभिन्न श्रेणियों मे वर्गीकृत करने के लिए दूसरा प्रमुख आधार कृषि क्षेत्र मे उत्पादित वस्तुओं की उत्पादकता का स्तर है। विकसित देशो मे उत्पादकता का स्तर अधिक एव विकासशील देशों में उत्पादकता का स्तर कम होता है। चावल का प्रति हैक्टर औसत उत्पादन वर्ष 1985-86 मे जापान एव अमेरिका मे 42 क्विन्टल प्रति हैक्टर तथा भारत मे 16 क्विन्टल प्रति हैक्टर था। गेहूँ का औसत उत्पादन जर्मनी मे 63 क्विण्टल, फ्रांस मे 55 क्विण्टल एव भारत मे 20 क्विण्टल प्रति हैक्टर ही था। मक्का का औसत उत्पादन अमेरिका एव इटली मे 75 क्विण्टल तथा भारत मे 15 क्विण्टल प्रति हैक्टर है। अत स्पष्ट है कि भारत मे विभिन्न फसलो की औसत उत्पादकता का स्तर भी विकसित देशो की अपेक्षा कम है।

(3) कृषि व्यवसाय में पूँजी निवेश की दर—अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न श्रेणियो मे वर्गीकृत करने का तीसरा आधार कृषि व्यवसाय मे पूँजी निवेश की दर है। भारत मे कृषि व्यवसाय मे पूंजी निवेश की दर 1957-58 मे 4 57 प्रतिशत थी।[6] कृषि क्षेत्र में पूँजी निवेश की दर मे हरित क्रान्ति के फलस्वरूप वृद्धि हुई है। लेकिन वर्तमान मे भी भारतीय कृषि मे पूंजी निवेश की दर विकसित देशो की अपेक्षा कम है। कृषको के फार्म पर उपलब्ध परिसम्पत्ति की राशि द्वारा कृषि क्षेत्र में निवेशित पूँजी का अनुमान लगाया जाता है। भारतीय कृषको के फार्म पर भूमि एव कुओं मे निवेशित पूँजी के अतिरिक्त अन्य परिसम्पत्ति की राशि बहुत कम है।

(4) विभिन्न क्षेत्रों की विकास दर—विकसित देशो मे अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो (कृषि, उद्योग, सहायक उद्योग, व्यापार, परिवहन) के विकास की ओर समान स्तर पर प्रयास किये जाते हैं, जिसके कारण विकास की दर अधिक होती है। भारत मे सभी क्षेत्रो के विकास की ओर समान ध्यान नही दिया गया है। भारत मे कृषि-क्षेत्र के विकास की ओर अन्य क्षेत्रो के विकास की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है, जिससे अनेक उद्योग प्रभावित हुए हैं। अनेक उद्योग कृषि के पूरक उद्योग हैं जो एक-दूसरे के विकास मे सहायक होते है। भारत मे विभिन्न क्षेत्रो के असन्तुलित विकास के कारण अर्थ-व्यवस्था की प्रगति कम हो पाई है।

5. Bepin Behari, The Rural Development—The Task Ahead, Yojana, vol. 32, No 20, 1-15 Nov. 1988, p. 26.
6. Economic Survey of Asia and the Far-East 1966 United Nations.

(5) कृषि क्षेत्र पर व्यक्तियो की निर्भरता का प्रतिशत—कृषि क्षेत्र पर व्यक्तियो की निर्भरता का प्रतिशत भी देश की अर्थव्यवस्था को विभिन्न श्रेणियो मे वर्गीकृत करने मे प्रयुक्त किया जाता है। विकसित देशो मे कृषि व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियो का प्रतिशत कम होता है, जबकि कम विकसित देशो मे कृषि व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियो का प्रतिशत अधिक होता है। वर्ष 1980 मे कृषि व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियो की प्रतिशतता के अनुसार विभिन्न देशो को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है[7]—

श्रेणी	देश	कृषि पर आधारित व्यक्तियो का प्रतिशत
सबसे अधिक कृषि व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियो की प्रतिशतता वाले देश	नेपाल	92 6
	अफगानिस्तान	77 8
	सूडान	76 9
	पाकिस्तान	55 9
	बगलादेश	83 8
	इन्डोनेशिया	58 9
	भारत	63 2
	चीन	59 8
मध्यम कृषि व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियो की प्रतिशतता वाले देश	यूगोस्लाविया	37 4
	मैक्सिको	36 0
	रूस	16 4
	इटली	11 2
	जापान	11 0
सबसे कम कृषि व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियो की प्रतिशतता वाले देश	फ्रास	8 6
	आस्ट्रेलिया	5 8
	कनाडा	5 0
	बेल्जियम	3 1
	अमेरिका	2 2
	इग्लैण्ड	2 0

7 India Agriculture in Brief, 19th Edition Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi 1982, p 348

उपर्युक्त आधारो के अनुसार कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था विकसित अर्थव्यवस्था मे वर्गीकृत न होकर विकासोन्मुख या विकासशील अर्थव्यवस्था की श्रेणी मे आती है। भारतीय अर्थव्यवस्था विकास की ओर अग्रसर अर्थ-व्यवस्था है।

भारत में कृषि उत्पादकता

उत्पादन के किसी साधन की एक इकाई द्वारा प्राप्त उत्पादन की मात्रा उस साधन की उत्पादकता कहलाती है। कृषि के क्षेत्र मे उत्पादकता साधारणतया भूमि अथवा श्रम साधन के आधार पर व्यक्त की जाती है।

भूमि की उत्पादकता—भूमि की उत्पादकता से तात्पर्य भूमि के एक इकाई क्षेत्र से प्राप्त होने वाले उत्पादन की मात्रा से है, जो प्रति हैक्टर उपज क्विण्टल के रूप मे प्रकट की जाती है। भूमि की उत्पादकता कुल उत्पादन की मात्रा तथा भूमि के क्षेत्रफल के मध्य बदलते हुए सम्बन्धो का विवेचन करती है। उत्पादकता प्रकट करने की यह विधि भौतिक है, क्योकि इसमे उत्पादो के मूल्य का समावेश नही होता है। भूमि उत्पादन-साधन के आधार पर उत्पादकता प्रकट करने का कार्य सरल है, क्योकि इसे सुगमता से ज्ञात किया जा सकता है।

सरकार कृषि-उत्पादो की उत्पादकता मे वृद्धि करने के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से निरन्तर प्रयास कर रही है। उत्पादकता मे वृद्धि लाने के लिए निरन्तर कृषि क्षेत्र मे अनेक कार्यक्रम जैसे–अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम, पैकेज कार्यक्रम, सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम, उत्पादन साधनो के उत्पादन एव उपभोग मे वृद्धि, कृषि विस्तार कार्यक्रम आदि शुरु किये गये हैं। उत्पादकता मे वृद्धि के लिए विशेष प्रयास वर्ष 1965–66 के उपरान्त काल मे किये गये। इस काल मे उन्नत किस्म के बीजो का आविष्कार, सिंचाई के साधनो का विकास, कृषि मे यन्त्रीकरण, कृषि अनुसन्धान द्वारा नई तकनीकी विधियो का आविष्कार एव कृषि विस्तार की नई योजनाएँ प्रमुख हैं। देश मे हरित-क्रान्ति के कारण खाद्यान्नो के उत्पादन विशेषकर चावल एव गेहूँ की उत्पादकता मे वर्ष 1967–68 के उपरान्त काल मे विशेष तेजी से वृद्धि हुई है।

सारणी 2 3 भारत मे विभिन्न फसलो एव फसलो के समूहो की उत्पादकता विभिन्न दशको मे प्रदर्शित करती है। सारणी से स्पष्ट है कि सभी फसलो के समूहो की उत्पादकता मे पिछले 40 वर्षों म वृद्धि हुई ह। विभिन्न फसल समूहो मे अनाज एव खाद्यान्नो के समूह की उत्पादकता मे वृद्धि सर्वाधिक हुई है।

सारणी 2.3

देश में विभिन्न फसलों एवं फसल समूहों की उत्पादकता

(किलोग्राम/हैक्टर)

फसल/फसल समूह	1949–50	1959–60	1970–71	1980–81	1985–86	1989–90
1. चावल	668	937	1,123	1,336	1,552	1,756
2 गेहूं	663	772	1,307	1,630	2,046	2,117
3 चना	NA	NA	663	657	742	
4 मूगफली	NA	708	834	736	719	
5 सरसो	NA	365	594	560	674	
6 गन्ना	34,201	36,414	48,322	57,844	60,000	
7 कपास रेशा	95	86	106	152	197	
8. जूट एव मेस्टा	1,190	1,050	1,032	1,130	1,524	
9 अनाज	591	713	949	1,142	1,323	1,887
10 दालें	405	475	524	473	547	553
11 खाद्यान्न	553	662	872	1,023	1,175	1,644
12 तिलहन	519	470	579	532	591	729

NA—Not available.

स्रोत : (i) Seeds and Farms Journal, January, 1980, P. 24.
(ii) Economic Survey Ministry of Finance, Government of India, New Delhi
(iii) Yojana, Vol. 36(12), 15, July 1992.

सारणी 2 4 भारत मे विभिन्न फसलो की उत्पादकता मे हुई चक्रवृद्धि दर से वृद्धि विभिन्न समय मे प्रदर्शित करती है ।

सारणी 2 4

भारत में विभिन्न फसलो की उत्पादकता में हुई चक्र वृद्धि दर से वृद्धि

(प्रतिशत प्रतिवर्ष)

फसल/फसल समूह	1949–50 से 1964–65 के काल मे	1967–68 से 1986–87 के काल मे	1949–50 से 1986–87 के काल मे
1 चावल	2 13	1 93	1 61
2 गेहूँ	1 27	3 17	3 20
3 सभी खाद्यान्न	1 43	2 32	1 76
4 मूगफली	0 31	0 85	0 53
5. तिल	–0 36	1 62	0 60
6 सरसो	0 37	2 00	0 57
7 सभी तिलहन फसलें	0 20	1 20	0 71
8 सभी फसलें	1 30	2 05	1 57

स्रोत Indian Agriculture in Briey-22nd Edition Directorate of Economics and Statistics Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi,

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि देश में पिछले 40 वर्षों मे विभिन्न कृषि उत्पादो की उत्पादकता मे वृद्धि हुई है । उत्पादकता वृद्धि दर खाद्यान्नो मे तिलहन फसलो की अपेक्षा अधिक है । गेहूँ मे उत्पादकता वृद्धि दर 3 20 प्रतिशत प्रति वर्ष पाई गई जो चावल में हुई उत्पादकता वृद्धि से दुगुनी है । तिलहन फसलो मे उत्पादकता वृद्धि की दर एक प्रतिशत से भी कम पाई गई । चावल के अतिरिक्त सभी फसलो की उत्पादकता मे हुई वृद्धि दर हरित क्रान्ति के बाद के काल (1967–68 से 1986–87) मे हरित क्रान्ति के पूर्व (1949–50 से 1964–65) की अपेक्षा अधिक है ।

उत्पादकता मे हुई इस वृद्धि दर के बावजूद आज भी भारत मे उत्पादकता का स्तर अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है। सारणी 2 5 विश्व के विभिन्न देशो मे खाद्यान्न एव वाणिज्यिक फसलो की प्रति हैक्टर भूमि क्षेत्र से प्राप्त उत्पादकता प्रदर्शित करती है।

सारणी 2 5

विश्व के विभिन्न देशों में फसलो की उत्पादकता

(किलोग्राम/हैक्टर)

फसल/फसल समूह	देश	उत्पादकता(वर्ष 1989–90)	फसल	देश	उत्पादकता (वर्ष 1985–86)
1. चावल (धान)	भारत	2691	1. गन्ना	भारत	60,000
	चीन	5725		पेरू	137,000
	ससार	3557		मलावी	119,000
				इथोपिया	165,000
2 गेहूं	भारत	2117	2. कपास (रेशा)	भारत	196
	चीन	3179		रूस	717
	ससार	2570		चीन	890
3. अनाज (सभी)	भारत	1887	3 मूगफली (छिलके सहित)	भारत	952
	चीन	4199		अमेरिका	3270
	ससार	2763		मलेशिया	3500
				इटली	3868
				इजरायल	4074
4 दालें (सभी)	भारत	553	4 जूट	भारत	1306
	चीन	1475		मिश्र	2444
	ससार	863		रूस	2942
				चीन	6587
5. सभी खाद्यान्न	भारत	1644	5. विनोला (कपास के बीज)	भारत	469
	चीन	4075		आस्ट्रेलिया	3475
	ससार	2595		इजरायल	4383
				श्रीलका	5294

स्रोत : (i) Yojana, Vol 36 (12), 15 July 1992 P 14
(ii) Yojana, Vol 32 (24) 1 January, 1989

सारणी 2.6 में विभिन्न फसलो की औसत उत्पादकता एव राष्ट्रीय प्रदर्शन क्षेत्रो से प्राप्त औसत एव अधिकतम उत्पादकता प्रदर्शित की गई है। सारणी से स्पष्ट है कि वर्तमान मे राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त औसत उत्पादकता का स्तर राष्ट्रीय प्रदर्शन क्षेत्रो से प्राप्त औसत उत्पादकता स्तर से बहुत कम है। यह स्तर धान, गेहूँ एव मक्का मे 50 से 60 प्रतिशत एव ज्वार एव बाजरा मे 25 से 30 प्रतिशत ही है। अतः स्पष्ट है कि देश मे विभिन्न फसलो की औसत उत्पादकता स्तर मे तकनीकी ज्ञान के पूर्ण एव सही स्तर पर उपयोग करने से वृद्धि की प्रबल सम्भावना है।

सारणी 2 6

विभिन्न फसलो (खाद्यान्न) की राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त औसत उत्पादकता एवं राष्ट्रीय प्रदर्शन क्षेत्रो की उत्पादकता स्तर

(किलोग्राम प्रति हैक्टर)

फसल	राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त औसत उत्पादकता (1989–90)	राष्ट्रीय प्रदर्शन क्षेत्र से	
		प्राप्त औसत उत्पादकता (1986–87)	अधिकतम प्राप्त उत्पादकता (1986–87)
1. धान	2640	4750	8932
2. गेहूँ	2120	3508	5260
3. मक्का	1606	2916	4500
4. ज्वार	864	3270	7050
5. बाजरा	608	1705	4500

स्रोत : B. C. Biswas and T K. Chanda; A Comparative Analysis of Agricutlure and Fertiliger Scenario in India and China, Yajona, Vol. 36 (12), 15 July 1992, P. 16.

भारत के विभिन्न राज्यो एव राज्यो के सिंचित एवं असिंचित क्षेत्रो की भूमि उत्पादकता मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। सारणी 2 7 मे प्रस्तुत आकड़े इन तथ्यो की पुष्टि करते हैं।

सारणी 2·7

विभिन्न राज्यो में सिंचित एव असिंचित क्षेत्रो में खाद्यान्नों की उत्पादकता (1985-86)

खाद्यान्न	राज्य	उत्पादकता (किलोग्राम प्रति हैक्टर)	
		सिंचित क्षेत्र	असिंचित क्षेत्र
1 चावल	असम	1635	851
	उडीसा	1873	911
	पश्चिम बगाल	2787	1287
	पजाब	3070	1477
	तमिलनाडू	2559	1692
	महाराष्ट्र	1988	1423
2 गेहू	पजाब	3410	1799
	हरियाणा	3125	1980
	उत्तरप्रदेश	2006	1171
	बिहार	1735	1098
	मध्य प्रदेश	1850	843
	राजस्थान	1681	956
3 ज्वार	महाराष्ट्र	758	295
	तमिलनाडू	1728	994
	गुजरात	1048	326
	आन्ध्र प्रदेश	2726	516
4 बाजरा	गुजरात	1016	319
	हरियाणा	805	384
	मध्यप्रदेश	921	589
	महाराष्ट्र	424	242
5 मक्का	आन्ध्र प्रदेश	2624	764
	हरियाणा	1290	888
	पजाब	1911	1737
	राजस्थान	1523	1215
6 चना	गुजरात	663	502
	महाराष्ट्र	479	284
	राजस्थान	880	562

स्रोत Area and Production of Principal Crops in India, Directorate of Economics and Statistics Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi

कृषि में उत्पादकता स्तर के कम होने के कारण

स्पष्ट है कि भारत मे खाद्यान्नो एव विभिन्न कृषि उत्पादों की औसत उत्पादकता का स्तर विकसित देशो एव देश में ही राष्ट्रीय प्रदर्शन क्षेत्रों से प्राप्त औसत उत्पादकता एव देश के विभिन्न क्षेत्रो मे उपलब्ध सिचाई सुविधा वाले क्षेत्रो की अपेक्षा बहुत कम है। कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता के कम होने के कारणो को निम्न तीन वर्गो मे विभाजित किया जाता है—

(I) **संस्थागत कारक**—इसके अन्तर्गत जोत का आकार कम एव अपखडन होना, भू-वृत्ति की दोषयुक्त प्रणाली का होना, कुल भूमि का बहुत बडा भाग कृषि व्यर्थ भूमि के अन्तर्गत होना प्रमुख है। इनके होने से उत्पादकता वृद्धि के प्रयास पूर्ण रूप से कार्यान्वित नही हो पाते है।

(II) **तकनीकी कारक**—इसके अन्तर्गत सिंचाई सुविधा की अपर्याप्तता, उन्नत कृषि विधियो का विकास न होना, उत्पादन-साधनो का पर्याप्त मात्रा मे देश मे उपलब्ध नही होना आदि प्रमुख है। उत्पादन साधनो एव उन्नत तकनीकी के अभाव मे देश के कृषक अन्य देशो के कृषको के समान उत्पादकता का स्तर प्राप्त नही कर पाते हैं।

(III) **सामान्य कारक**—इसके अन्तर्गत कृषको द्वारा उपलब्ध उत्पादन साधनो का प्रस्तावित मात्रा एव विधि से प्रयोग नही करना, कृषि की प्रचलित विधि को काम मे लेना, कृषि प्रसार सेवाओ का लाभ नही उठाना आदि प्रमुख है। इसका प्रमुख कारण कृषको मे शिक्षा का अभाव, कृषि को व्यवसाय के रूप मे नही लेना एव उनमे व्यवसाय के प्रति जागरूकता का न होना है।

श्रम उत्पादकता—श्रम-उत्पादकता से तात्पर्य प्रति श्रमिक इकाई से प्राप्त उत्पादन की मात्रा से है, जो उत्पादन की मात्रा एवं श्रमिको की सख्या के मध्य बदलते हुए सम्बन्ध का अध्ययन है। श्रम उत्पादकता ज्ञात करने का कार्य कठिन होने के कारण, उत्पादकता ज्ञात करने की यह विधि बहुत कम काम मे ली जाती है। इस विधि के अपनाने मे विभिन्न प्रकार के श्रमिकों (पुरुष, स्त्री एव बच्चो) को एक श्रेणी मे एव विभिन्न उत्पादों की उत्पादन मात्रा को रुपयों के रूप मे परिवर्तन करना होता है। श्रम-उत्पादकता उस क्षेत्र के श्रमिको के रहन-सहन के स्तर की सूचक होती है।

एक अध्ययन[8] के अनुसार भारत मे प्रति पुरुष कृषि श्रमिक औसत उत्पादकता

8. G. S Bhalla and Y K. Alagh, Labour Productivity in Indian Agriculture; Economic and Political weekly, Vol XVIII (19-21) Annual Number, 1983 p. 831

वर्ष 1970-73 मे 1596 रु. थी। भारत के विभिन्न जिलो मे भूमि उत्पादकता की भांति श्रमिक उत्पादकता में बहुत भिन्नता पाई गई है। अध्ययन के अनुसार देश के 53 जिलो मे श्रम उत्पादकता 2200 रु प्रति पुरुष कृषि श्रमिक से अधिक है, जबकि 41 जिलो मे श्रम उत्पादकता 1000 रु. प्रति पुरुष कृषि श्रमिक से भी कम है। इस प्रकार 44 जिलो मे प्रति पुरुष कृषि श्रमिक औसत उत्पादकता 1800 स 2200 रु, 65 जिलो मे 1400 से 1800 रु एव 78 जिलो मे 1000 से 1400 रु है। पजाब राज्य के सभी 11 जिलो मे प्रति पुरुष कृषि श्रम-उत्पादकता 2200 रु से अधिक थी, जबकि पश्चिम बगाल, असम, उडीसा, बिहार एव जम्मू व कश्मीर राज्य के किसी भी जिले मे प्रति पुरुष कृषि श्रम-उत्पादकता 2200 रु. से अधिक नही पाई गई।

भारत मे श्रम-उत्पादकता वर्ष 1962 से 1965 के काल मे 1640 रु. प्रति पुरुष कृषि श्रमिक थी, वह कम होकर वर्ष 1970-1973 मे 1596 रु ही रह गई। अधिक उत्पादन वाले जिलो मे श्रम-उत्पादकता अधिक एव स्थिर उत्पादन या कम कृषि उत्पादन वाले जिलो मे श्रम-उत्पादकता कम पाई गई। अत. देश मे निर्धनता-उन्मूलन के लिए भूमि उत्पादकता के साथ-साथ श्रम-उत्पादकता मे भी वृद्धि करना आवश्यक है। प्रो गुन्नार मिर्डाल के अध्ययन के अनुसार, भारत मे न केवल प्रति इकाई भूमि की उत्पादकता कम है, बल्कि श्रमिकों की उत्पादकता का स्तर भी कम है। भूमि एव श्रम-उत्पादकता मे वृद्धि देश की समृद्धि के लिए आवश्यक है।

राष्ट्रीय-आय

देश की अर्थव्यवस्था के अध्ययन मे राष्ट्रीय-आय का स्थान महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय-आय देश की अर्थव्यवस्था के विकास की सूचकाक होती है। प्रो साइमन कुजनेट्स[9] के अनुसार "राष्ट्रीय-आय, वस्तुओ एव सेवाओ की उत्पत्ति की वह मात्रा है जो एक वर्ष की अवधि मे देश की उत्पादन प्रणाली से अन्तिम उपभोक्ताओ तक पहुचती है अथवा देश के पूंजीगत वस्तुओ के स्टॉक मे शुद्ध वृद्धि करती है।" राष्ट्रीय-आय मे उत्पादन एव उपभोग दोनों ही प्रकार की वस्तुओ का मूल्य सम्मिलित किया जाता है। राष्ट्रीय आय समिति, 1951 के अनुसार एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित वस्तुओं एव सेवाओ का मूल्य बिना किसी प्रकार के दोहराव (Duplication) के राष्ट्रीय आय कहलाता है।

9 "National income is the output of commodities and services flowing during the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumer or into net additions to the country's stock of capital goods, Simon Kuzoets, Economic's Change, Prentice Hall of India Pvt LTD, New Delhi, p. 148.

राष्ट्रीय-आय से सम्बन्धित शब्दों की परिभाषा :

समग्र राष्ट्रीय उत्पाद—समग्र राष्ट्रीय उत्पाद से तात्पर्य राष्ट्र मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित सभी वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य से है ।[10] समग्र राष्ट्रीय उत्पाद ज्ञात करने मे मध्यवर्ती वस्तुओ के मूल्य को सम्मिलित नही किया जाता है, बल्कि उत्पादित अन्तिम उपभोग की वस्तुओ के मूल्य को ही सम्मिलित किया जाता है । देश के उपभोक्ताओ एव सरकार द्वारा क्रय की गई वस्तुओ की मात्रा, व्यापारियो द्वारा क्रय करके अपने स्टॉक मे की गई परिवर्तन की मात्रा एव विदेशो मे निर्यातित वस्तुओ की मात्रा के मूल्य को सम्मिलित करके समग्र राष्ट्रीय उत्पाद की मात्रा ज्ञात की जाती है ।

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद/राष्ट्रीय-आय बाजार कीमत पर—समग्र राष्ट्रीय उत्पाद की मात्रा मे से वस्तुओ के मूल्य-ह्रास (Depreciation) की राशि घटाने पर जो राशि शेष रहती है वह शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद या बाजार कीमत पर राष्ट्रीय आय कहलाती है । डर्नबर्ग[11] के शब्दो मे, शुद्ध राष्ट्रीय-आय से तात्पर्य एक वर्ष की अवधि मे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्रियाओ से उत्पादित की जाने वाली नई शुद्ध सम्पत्ति की मात्रा से है । शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्याकन प्रचलित बाजार कीमत के आधार पर किया जाता है । सूत्र के अनुसार,

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद=समग्र राष्ट्रीय उत्पाद—वस्तुओ के मूल्य-ह्रास की राशि ।

साधनो की लागत के अनुसार राष्ट्रीय-आय—शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद की राशि मे से दिये गये परोक्ष करो की राशि को घटाने पर जो राशि शेष रहती है वह साधनो की लागत के अनुसार राष्ट्रीय-आय कहलाती है । शूल्ज[12] के अनुसार समग्र राष्ट्रीय उत्पाद के उत्पादन मे विभिन्न उत्पादन साधनो के स्वामियो को प्राप्त आय (मजदूरी, लाभ, लगान, ब्याज, आदि) का योग ही राष्ट्रीय-आय होती है । सूत्र के अनुसार,

10. "The GNP is the value of all goods and services produced annually in the nation", Charles L Schultze, National Income Analysis, Prentice-Hall of India Private LTD, New Delhi, 1965 p 19
11. "Net national product is the net creation of new wealth resulting from the productive activity of the economy during the accounting period."
—T F Dernburg & D. M MC Dougall, Macro-Economics, McGraw Hill Book Company, New York, 1968, p. 24.
12. "Gross national income is the sum of all incomes (wages, profit, rent, interest etc.) earned in the production of gross national product"
—Charles L. Schultze, National Income Analysis; Prentice Hall of India Private LTD., New Delhi, 1965 p. 20

राष्ट्रीय-आय = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद — परोक्ष करो की राशि

राष्ट्रीय-आय के अध्ययन की उपयोगिता—राष्ट्रीय आय के अध्ययन के मुख्य उपयोग निम्न हैं—

(i) राष्ट्रीय-आय देश की अर्थव्यवस्था के विकास की सूचकाक होती है।

(ii) राष्ट्रीय-आय देश की अर्थव्यवस्था म विभिन्न क्षेत्रो/उद्योगो की महत्ता का द्योतक होती है।

(iii) राष्ट्रीय-आय विभिन्न देशों एव राज्यो के आर्थिक विकास का प्रतीक होती है।

(iv) राष्ट्रीय-आय देश के अन्तर्गत हो रहे आर्थिक विकास कार्यक्रमो का देश के नागरिको के जीवन-स्तर पर होने वाले प्रभावो का मूल्याकन करती है।

(v) सरकार को देश के विकास के लिए विभिन्न नीतियो—कराधान, बचत एव निवेश, रोजगार उपलब्धि; मजदूरी एव विकास योजनाओ के लक्ष्य निर्धारित करने मे भी राष्ट्रीय-आय का ज्ञान आवश्यक है।

राष्ट्रीय-आय के आकलन की विधियां—राष्ट्रीय-आय को आकलन करने की मुख्यतया निम्न तीन विधियाँ प्रचलित हैं :

(1) उत्पाद विधि—इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगो (कृषि, खनिज पदार्थों, निर्मित एव सहायक उद्योगों) के क्षेत्र मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित वस्तुओ का शुद्ध मूल्य ज्ञात किया जाता है। सूत्र के अनुसार,

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = [कुल उत्पाद (बिक्री + निजी उपभोग + विक्रेताओ के स्टॉक मे वृद्धि + शुद्ध निर्यात) − मूल्य-ह्रास लागत + माध्यमिक उत्पादित वस्तुओ का मूल्य]

इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रो से प्राप्त शुद्ध उत्पाद मूल्य को सम्मिलित करके शुद्ध राष्ट्रीय-आय ज्ञात की जाती है। इस विधि से विभिन्न क्षेत्रो का राष्ट्रीय-आय मे अश भी ज्ञात हो जाता है।

(2) आय विधि—राष्ट्रीय-आय ज्ञात करने की इस विधि मे विभिन्न उत्पादन-साधनो के स्वामियो द्वारा वर्ष मे प्राप्त आय (लगान, मजदूरी, ब्याज एव लाभाश) की राशि को सम्मिलित किया जाता है। इस विधि से विभिन्न वर्गों, जैसे—कृषको, पूँजीपतियो एव प्रबन्धको तथा उद्यमकर्त्ताओ को प्राप्त आय के वितरण की जानकारी भी प्राप्त हो जाती है।

(3) लागत विधि—इस विधि मे वैयक्तिक तथा सरकार द्वारा वस्तुओ एव सेवाओ पर किये गये उपभोग खर्च एव निवेश की राशि को सम्मिलित करते हुए राष्ट्रीय आय आकलित की जाती है।

भारत मे राष्टीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए उत्पाद विधि एव आय विधि ही प्रयोग मे ली है, क्योकि लागत विधि मे विभिन्न व्यक्तियो द्वारा वस्तुओ एव सेवाग्रो पर किये गये उपभोग लागत एव निवेश की राशि के विश्वसनीय आंकडे एकत्रित करने का कार्य कठिन होता है। वर्तमान म राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा ग्रामीण एव शहरी क्षेत्रो के व्यक्तियो के व्यय के आँकडे एकत्रित किये जा रहे हैं, जिनके आधार पर लागत विधि भी राष्ट्रीय आय के आकलन मे प्रयुक्त की जा सकती है।

भारत मे राष्ट्रीय-आय का आकलन

भारत मे राष्ट्रीय-आय का आकलन सर्वप्रथम वर्ष 1868 मे दादाभाई नौरोजी ने किया था। उसके पश्चात् विभिन्न व्यक्तियो/आयोगो/सस्थाओ ने समय-समय पर राष्ट्रीय-आय का आकलन किया, किन्तु प्रत्येक सस्था/व्यक्ति द्वारा दिये गये आँकडो मे बहुत अन्तर पाया गया। अत: वर्ष 1949 मे भारत सरकार न पी सी. महालनोबिस की अध्यक्षता मे राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की। समिति ने वर्ष 1948–49 से 1950–51 के लिए राष्ट्रीय आय का आकलन अप्रैल, 1951 के प्रतिवेदन मे सरकार को दिया। तत्पश्चात् राष्ट्रीय आय का आँकलन करने का कार्य केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन (Central Statistical Organization) को दिया गया। यह सगठन राष्ट्रीय-आय के आंकडो का वार्षिक परिपत्र प्रकाशित करता है। भारत मे राष्ट्रीय आय के आंकडे वर्ष 1948–49, 1960–61, 1970–71 व 1980–81 के कीमतो पर प्रकाशित किये गये हैं। वर्तमान मे 1950–51 से 1986–87 तक की अवधि के लिए राष्ट्रीय आय के आंकडे प्रचलित कीमतो व 1970–71 की कीमतो पर उपलब्ध है। सारणी 2 8 मे भारत मे राष्ट्रीय-आय एव प्रति व्यक्ति आय प्रचलित कीमतो व वर्ष 1970–71 की कीमतो के स्तर पर वर्ष 1950–51 से 1986–87 तथा वर्ष 1980–81 की कीमत स्तर पर 1980–81 से 1988–89 के काल मे दी गई है।

सारणी 2.8

भारत में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय

वर्ष	शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद-साधन लागत पर (करोड़ रुपयों में)		प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय आय (रुपयों में)	
	प्रचलित कीमत स्तर पर	वर्ष 1970–71 की कीमत स्तर पर	प्रचलित कीमत स्तर पर	वर्ष 1970–71 की कीमत स्तर पर
1950–51	8,821	16,731	246	466
1955–56	9,262	19,953	236	508
1960–61	13,263	24,250	306	559
1965–66	20,637	27,103	426	559
1970–71	34,235	34,235	633	633
1975–76	62,302	40,274	1,026	664
1980–81	1,05,743	47,414	1,557	698
1981–82	1,28,547	49,935	1,743	720
1982–83	1,33,807	51,154	1,887	722
1983–84	1,58,265	55,300	2,186	764
1984–85	1,74,018	57,243	2,355	775
1985–86	1,95,707	60,143	2,596	798
1986–87	2,15,770	63,150	2,800	820
नई सीरीज वर्ष 1980–81 की कीमत स्तर पर				
1980–81	110,340	110,340	1627	1627
1981–82	128,757	117,101	1851	1684
1982–83	142,509	120,320	1993	1682
1983–84	167,494	130,396	2290	1780
1984 85	186,486	135,021	2495	1804
1985–86	207,239	140,260	2735	1852
1986–87	229,232	145,418	2970	1881
1987–88	260,580	151,764	3286	1910
1988–89	312,634	168,382	3835	2082

स्रोत : Economic Survey, Ministry of Finance, Government of India New Delhi.

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि देश की राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे निरन्तर वृद्धि हुई है। प्रचलित कीमत स्तर पर वर्ष 1950–51 मे देश की राष्ट्रीय आय 8,821 करोड रुपये थी, वह् बढकर 1986–87 मे 2,15,770 करोड रुपये हो गई। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि 1970–71 की कीमत एव 1980-81 की कीमत स्तर मे भी हुई है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय प्रचलित कीमत पर वर्ष 1950–51 मे मात्र 246 रुपये थी, जो बढकर 1986–87 मे 2,800 रुपये एव 1987–88 मे 3 286 रुपये हो गई। इस प्रकार देश मे पिछले 38 वर्षो मे राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे तीव्र गति दर से वृद्धि हुई है। जब अन्य देशो की प्रति व्यक्ति औसत आय से भारत की तुलना करते है, तो उद्योग प्रधान विकसित देश और तेल उत्पादक देशो की तुलना मे भारत का स्थान बहुत नीचे है। अधिकाश विकासशील देशो से भी भारत पिछडा हुआ ही है, जबकि कहा जाता है कि औद्योगिक विकास मे भारत का स्थान सम्पूर्ण देशो मे दसवें स्थान पर है।

सारणी 2 9 भारत के विभिन्न राज्यो मे प्रति व्यक्ति औसत आय प्रदर्शित करती है। प्रचलित कीमत स्तर एव वर्ष 1980–81 की कीमतो के स्तर पर राज्यो मे प्रति व्यक्ति औसत आय मे बहुत विभिन्नता है। पजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र व हिमाचल प्रदेश मे प्रति व्यक्ति औसत आय भारत की औसत आय से अधिक है, जबकि अन्य राज्यो मे प्रति व्यक्ति औसत आय भारत के समतुल्य अथवा उससे कम है। राज्यो मे पिछले दशक मे प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि की प्रतिशतता मे भी बहुत भिन्नता है।

सारणी 2.9

भारत के विभिन्न राज्यों में प्रति व्यक्ति औसत आय

राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश	प्रचलित कीमत स्तर पर				वर्ष 1980–81 की कीमत स्तर पर	
	1960-61	1970-71	1980-81	1988-89	1980-81	1988-89
1	2	3	4	5	6	7
1. आन्ध्र प्रदेश	314	586	1380	3211	1380	1692
2. अरुणाचल प्रदेश	—	—	1557	4599	1557	2429
3. असम	349	570	1200	2756	1200	1558
4. बिहार	216	418	896	2266	896	1071
5. गोआ	—	—	3145	6231	3145	3523
6. गुजरात	380	845	1970	4742	1970	2506

1	2	3	4	5	6	7
7 हरियाणा	—	932	2370	5274	2370	3086
8 हिमाचल प्रदेश	—	676	1664	3614	1664	1948
9 जम्मू एव कश्मीर*	267	557	1455	NA	642	NA
10 कर्नाटका	295	675	1612	3602	1612	2041
11 केरल	278	636	1463	3054	1463	1447
12. मध्य प्रदेश*	274	489	1183	2739	517	680
13 महाराष्ट्र	419	811	2427	5155	2427	2960
14 मणीपुर	—	408	1449	2897	1449	1775
15. मेघालय	—	644	1361	NA	1361	NA
16. मिजोरम	—	—	1289	NA	NA	NA
17. नागालैण्ड	—	508	1383	3463	NA	NA
18. उडीसा	266	541	1231	2625	1231	1455
19. पजाब	383	1067	2724	6227	2724	3552
20 राजस्थान	271	629	1199	2923	1199	1620
21. सिक्किम	—	—	1571	NA	1571	NA
22. तमिलनाडु	344	616	1498	3593	1498	2030
23 त्रिपुरा	—	563	1323	NA	1323	NA
24. उत्तर प्रदेश	244	493	1284	2698	1284	1547
25. पश्चिम बगाल	286	729	1612	3423	1612	1930
26. दिल्ली*	—	—	3127	NA	1455	NA
27 पाण्डीचेरी	—	—	3159	5421	3159	3067
भारत	306	631	1627	3835	1627	2082

*Based on old 1970-71 base.

Source Estimates of State Domestic Product and Capital Formation, 1990, Central Statistical Organisation, Department of Statistics, Ministry of Planning, Government of India, New Delhi.

सारणी 2 10 व 2.11 देश के समग्र घरेलू उत्पाद मे अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो का अश प्रदर्शित करती है।

सारणी 2 10

सारणी 2·10 व 2·11 देश के समग्र घरेलू उत्पाद मे अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो का अश प्रदर्शित करती है ।

देश के समग्र घरेलू उत्पाद-लागत मूल्य मे अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो का प्रदान (वर्ष 1970–71 की कीमतो पर)

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	कृषि क्षेत्र (कृषि, वन, मत्स्य पालन आदि)	द्वितीय क्षेत्र (निर्मित निर्माण विद्युत, जलपूर्ति)	तृतीय क्षेत्र (परिवहन, सचार एव व्यापार)	चतुर्थ क्षेत्र (बैंकिंग, बीमा आदि)	अन्य (रक्षा, लोक प्रशासन आदि)	कुल समग्र उत्पाद
योजना काल से पूर्व						
1950–51	10,453	2,538	2,085	919	1,541	17,536
	(59 61)	(14 47)	(11 89)	(5 24)	(8 79)	(100)
1955–56	12,123	3,229	2 639	1 095	1 784	20,870
	(58 09)	(15 47)	(12 64)	(5 25)	(8 55)	(100)
1960–61	14,078	4,413	3,523	1,292	2,228	25,534
	(55 13)	(17 28)	(13 80)	(5 06)	(8 73)	(100)
1965–66	13 559	6,297	4 735	1 659	2 773	29,023
	(46 72)	(21 70)	(6 131)	(5 72)	(9 55)	(100)
1970–71	17,802	7,594	5,912	2,114	3 314	36,736
	(48 46)	(20 67)	(16 09)	(5 75)	(9 03)	(100)
1975–76	19,934	8,782	7,461	2,574	4,139	42,890
	(46 48)	(20 47)	(17 40)	(6 00)	(9 65)	(100)
1980–81	21,015	10,937	9,554	3,358	5,759	50,623
	(41 51)	(21 60)	(18 87)	(6 64)	(11 38)	(100)

स्रोत Economic Survey, 1988–89, Ministry of Finance Government of India, New Delhi 1989, P S–6

सारणी 2 11

देश के समग्र घरेलू उत्पाद लागत मूल्य पर मे अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षत्रो का अशदान (वर्ष 1980-81 की कीमतो पर)

(करोड रुपयो मे)

क्षेत्र	1980-81	1985-86	1988-89
(1) कृषि, वन एव मत्स्य पालन	46,649	54,252	61,789
	(38 2)	(34 6)	(32 9)
(2) खान एव खदान	1,887	2,623	3,339
	(1 5)	(1 7)	(1 8)
(3) निर्मित क्षेत्र	21,644	30,320	37,710
	(17 6)	(19 4)	(20 1)
(4) विद्युत, गैस एव जलपूर्ति	2,070	3,099	4,127
	(1 7)	(2 0)	(2 2)
(5) निर्माण	6,114	7,183	8,068
	(5.0)	(4 6)	(4 3)
(6) व्यापार, होटल एव रेस्टोरेन्ट	14,713	19,649	23,920
	(12 0)	(12 5)	(12.8)
(7) परिवहन, सग्रहण एव सचार	5,724	7,951	9,893
	(4 7)	(5 1)	(5 3)
(8) वित्त, बीमा, स्थायी सम्पदा एव व्यापारिक सेवाए	10,791	14,708	18,456
	(8 8)	(9 4)	(9 9)
(9) सामूहिक, सामाजिक एव वैयक्तिक सेवाए	12,835	16,815	20,423
	(10 5)	(10 7)	(10 9)
कुल समग्र उत्पाद लागत मूल्य पर	122,427	156,600	187,725
	(100)	(100)	(100)

Source . National Accounts Statistics 1991, Central Statistical Organisation Department of Statistics, Ministry of Planning, Government of India, New Delhi.

अर्थ-व्यवस्था को 5 क्षेत्रो-कृषि–क्षेत्र, निर्मित, निर्माण, विद्युत एव जलपूर्ति, परिवहन, सचार एव व्यापार, बैंक बीमा एव अन्य क्षेत्रो मे विभक्त किया गया है। योजना काल से पूर्व कृषि क्षेत्र से समग्र राष्ट्रीय उत्पाद का 59 61 प्रतिशत अश प्राप्त होता था तथा अर्थ-व्यवस्था के अन्य चारो क्षेत्र शेष 40 39 प्रतिशत अश प्रदान करते थे। योजना काल मे सभी क्षेत्रों का निरन्तर विकास हुआ है। सभी क्षेत्रों के विकास के बावजूद आज (1987–88) भी कृषि-क्षेत्र समग्र राष्ट्रीय उत्पाद का एक-तिहाई भाग प्रदान करता है। अत भारत के समग्र राष्ट्रीय उत्पाद मे कृषि क्षेत्र प्रमुख भूमिका निभाता है। विकसित देशो मे कृषि-क्षेत्र का अशदान कम एव निर्मित व उद्योग क्षेत्र का अश अधिक होता है। भारत मे कृषि-क्षेत्र की आय का 18 प्रतिशत अर्थात् पाचवा भाग पशुओ से प्राप्त होता है। पशुओ से प्राप्त आय का यह स्तर आयरलैंड, स्वीडन एव नार्वे देशो की तुलना मे बहुत कम है। इन देशो मे 80 प्रतिशत से अधिक आय पशुधन से प्राप्त होती है।

भारतीय कृषि की समस्याए

भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याए निम्न है जो विभिन्न उत्पादन-साधनो के अनुसार वर्गीकृत की गई हैं—

1. भूमि सम्बन्धी समस्यायें :

भारतीय कृषि मे भूमि सम्बन्धी निम्न प्रमुख समस्याओ के कारण भूमि की उत्पादकता का स्तर अन्य देशो की अपेक्षा कम है—

(अ) भूमि की उर्वरा शक्ति में ह्रास—उत्पादकता मे बाधक प्रथम तत्त्व भूमि की उर्वरा शक्ति मे निरन्तर ह्रास होना है। कृषको द्वारा भूमि पर निरन्तर फसलो के उत्पादन करने एव उनकी कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक मात्रा मे खाद एव उर्वरको का उपयोग नही करने से भूमि की उर्वरा शक्ति निरन्तर कम होती जाती है। हवा व पानी से भूमि के कटाव, भूमि पर निरन्तर पानी भरा रहने, उचित फसल-चक्र का अभाव भी भूमि की उर्वरा-शक्ति के ह्रास मे वृद्धि करते हैं।

(ब) जोत उप-विभाजन एव अपखण्डन—भूमि सम्बन्धी दूसरी प्रमुख समस्या देश मे प्रचलित उत्तराधिकार कानून के कारण जोत का उप-विभाजन एव अपखण्डन की है। इस समस्या के कारण जोत का आकार निरन्तर कम होता जाता है। भूमि के खण्ड एक–दूसरे से दूर होते जाते है। अत जोत आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होती है।

(स) भू-धृति की दोष-युक्त पद्धति—देश मे जागीरदारी, जमीदारी, पट्टेदारी, बटाईदारी, अनुपस्थित जमीदारी (Absentee landlordism) आदि अनेक प्रकार की भू-धृति कुरीतिया शताब्दियो से प्रचलित हैं। इनके कारण भूमि के स्वामी वास्तविक कृषक न होकर जमीदार होते है। जमीदार कृषको से उत्पादन का अधिक

भाग लगान के रूप मे प्राप्त करते हैं, जिसके कारण कृषको मे उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा का ह्रास होता है।

(द) अनार्थिक जोतें—देश मे *जोत का औसत आकार बहुत कम (1 68 हैक्टर)* है। कृषि जनगणना 1985–86 के अनुसार देश मे 58 1 प्रतिशत, जोतें एक हैक्टर से कम भूमि के क्षेत्र की हैं तथा इनके पास कुल कृषित भूमि का *13 2* प्रतिशत भू-क्षेत्र ही है। जोत के आकार के कम होने से जोत आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होती है। प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन कम प्राप्त होता है एव उत्पादन लागत अधिक आती है। दूसरी ओर अनेक जोतें काफी बडे आकार की हैं जिनके पास उत्पादन के लिए पर्याप्त साधन नही होने से काफी भूमि अकृषित रहती है।

2 श्रम सम्बन्धी समस्याएं :

कृषि-क्षेत्र में श्रम सम्बन्धी निम्न समस्याओ के कारण श्रमिको की कार्य-क्षमता कम होती है—

(अ) श्रमिकों का भूमि पर अधिक भार—देश मे *जनसख्या की अधिकता,* कृषि व्यवसाय को उत्तम व्यवसाय मानने, गावों मे रोजगार के लिए कुटीर उद्योगों का अभाव आदि के कारण कृषि क्षेत्र में श्रमिको का भार अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक होता है। भारत मे प्रति कृषि श्रमिक 1 2 हैक्टर भूमि है जबकि इजरायल मे 4 1 हैक्टर, अर्जेन्टाइना मे 13 1 हैक्टर, स्पेन मे 4 4 हैक्टर, मैक्सिको में 4 1 हैक्टर, टर्की में 2 6 हैक्टर एव पाकिस्तान मे 1 5 हैक्टर भूमि क्षेत्र है।[13]

भारत मे जनसख्या की अधिकता के कारण प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्र मात्र *0 33 हैक्टर ही है जोकि अन्य देशो की अपेक्षा बहुत कम है। जनसख्या मे निरन्तर* वृद्धि एव भूमि के क्षेत्र की सीमितता के कारण प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्र निरन्तर कम होता जा रहा है। भारत के विभिन्न राज्यो मे मानव-भूमि-अनुपात में बहुत विभिन्नता है। भारत मे प्रति व्यक्ति भूमि क्षेत्र वर्ष 1969–70 मे आकडो के अनुसार केरल मे 0 18 हैक्टर, पश्चिमी बगाल में 0 19 हैक्टर, बिहार मे 0 30 हैक्टर, उत्तर प्रदेश मे 0 32 हैक्टर, तामिलनाडु मे 0 33 हैक्टर, जम्मू एव कश्मीर मे 5 50 हैक्टर, नागालैंड मे 3 83 हैक्टर, राजस्थान मे 1 30 हैक्टर व मध्य प्रदेश मे 1 09 हैक्टर है।[14]

(ब) कृषि श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी—भारतीय कृषि मौसमी व्यवसाय है। मौसम के प्रारम्भ (फसल की बुवाई) व अन्त (फसल की कटाई) में कार्य की

13 B M Bhatia, India's Food Problem and Policy Since Independence, Somaiya Publications PVT LTD, Bombay, 1970, P 72

14 I J Singh, Land Fertilizer Ratio to Attain Foodgrain Self Sufficiency in India, Haryana Agriculture University Journal of Research, Vol IV, No 2 June 1974, P P 127-132.

अधिकता के कारण कृषि श्रमिको की माग अधिक होती है । अन्य समय मे कार्य उपलब्ध नही होने से श्रमिक बेकार रहते है । कृषि श्रमिको को वर्ष मे औसतन 5–6 माह रोजगार उपलब्ध होता है और शेष समय वे बेकार रहते है । रोजगार की निरन्तर उपलब्धि नही होने से श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर विपरीत प्रभाव आता है ।

(स) कृषि श्रमिको की मजदूरी का स्तर अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा कम होना—कृषि श्रमिकों मे व्याप्त बेरोजगारी के साथ-साथ उनको उपलब्ध कार्य की मजदूरी भी अन्य उद्योगो की अपेक्षा कम मिलती है । इसका मुख्य कारण कृषि क्षेत्र मे कार्य कर रहे श्रमिको का सगठित नही होना, कृषि श्रमिको की माग एव पूर्ति मे असन्तुलन श्रमिको का गाव छोडकर शहर म कार्य के लिए जाने को तैयार नही होना तथा श्रमिकों द्वारा कृषि व्यवसाय को उत्तम व्यवसाय मानना है । कृषि श्रमिको को मजदूरी कम प्राप्त होने के कारण उनका रहन सहन का स्तर अन्य उद्योगो मे कार्यरत श्रमिको की अपेक्षा न्यूनतम होता है, जिससे उनकी कार्यक्षमता पर भी विपरीत प्रभाव [illegible] है ।

3 पूजी सम्बन्धी समस्याए

कृषि क्षेत्र मे पूंजी सम्बन्धी प्रमुख समस्याएँ निम्न है, जो उत्पादन वृद्धि मे बाधक होती हैं—

(अ) कृषि मे स्थायी पूंजी की अधिक आवश्यकता—कृषि व्यवसाय मे अन्य उद्योगो की अपेक्षा भूमि सुधार कार्य करने कुआ बनाने सिंचाई की नालिया बनाने, खेत की बाड लगाने, ट्रैक्टर एव अन्य मशीने खरीदने आदि कार्यो के लिए अधिक स्थायी पूजी की आवश्यकता होती है । कृषि क्षेत्र मे बचत के कम होने के कारण कृषक आवश्यक राशि मे स्थायी पूंजी निवेश नही कर पाते है । कृषि म स्थायी पूँजी की राशि अधिक समय तक निवेश रहने के कारण ऋणदात्री सस्थाएँ कृषकों को लम्बे समय के लिए ऋण देने म हिचकिचाती है । कृषको को आवश्यक मात्रा म स्थायी पूंजी उपलब्ध नही होती है एव उपलब्ध होने पर स्वीकृत ऋण-राशि पर ब्याज की दर अधिक देनी होती है ।

(ब) कार्यगत पूंजी का अभाव—कृषि व्यवसाय म उत्पादन साधनो बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयो के क्रय करने श्रमिको को मजदूरी का भुगतान करने बिजली व तेल के भुगतान आदि कार्यों के लिए कार्यगत पूंजी की अधिक आवश्यकता होती है । कृषि म आवश्यक बचत के अभाव मे कृषक कार्यगत पूजी भी ऋण दात्री सस्थाओ मे उधार लेते हैं । लघु कृषक आवश्यक प्रतिभूति के अभाव मे कार्यगत पूंजी ऋण के रूप मे प्राप्त नही कर पाते है, जिससे उचित मात्रा मे उत्पादन साधनो का उपयोग नही हो पाता है और फार्म पर उत्पादन कम होता है ।

4 प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याएँ

प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओ मे कृषको को फार्म प्रबन्ध सिद्धान्तो का ज्ञान न होना, कृषकों की रूढिवादिता, जोखिम वहन क्षमता का अभाव एव कृषि की उन्नत विधियो का ज्ञान न होना प्रमुख है। फार्म प्रबन्ध ज्ञ न कृषको को फार्म पर लागत मे कमी करने तथा आय म वृद्धि करने मे सहायक होता है। फार्म उत्पादन के सभी उत्पादन-साधन कृषको के पास होते हुए भी, प्रबन्ध ज्ञान के अभाव मे वे फार्म से अधिकतम लाभ प्राप्त नही कर पाते हैं।

5 अन्य समस्याएँ

कृषको की अन्य प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं—

(अ) ठोस कृषि नीति का अभाव— सरकार स्वतन्त्रता के समय से ही कृषि-उत्पादन मे वृद्धि की नीति को प्राथमिकता प्रदान कर रही है, लेकिन इस विषय पर सरकार की वर्तमान मे भी कोई ठोस नीति नही है। उदाहरणतया सरकार भूमि की अधिकतम सीमा, भू-धृति पद्धति, कृषि कर, कृषि-उत्पाद एव उत्पादन-साधनो की कीमत नीति मे निरन्तर परिवर्तन करती रही है। परिवर्तनो की सम्भावना की अवस्था मे निर्धारित नीतिया पूर्णरूप से कार्यान्वित नही हो पाती हैं। निर्धारित नीति के समय पर कार्यान्वित नही होने से निर्धारित लक्ष्य भी प्राप्त नही होते है। परिवर्तनशील नीतिया अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न करती है।

(ब) विपणन एव कीमतों सम्बन्धी समस्याएँ—कृषि उत्पादन मे वृद्धि होते हुए भी कृषको को कृषि व्यवसाय से उत्पादो का उचित विपणन व्यवस्था व कीमत-नीति के अभाव मे अनुकूलतम लाभ प्राप्त नही हो रहा है। कृषि वस्तुओ की कीमतो मे अत्यधिक उतार-चढाव, मण्डी मे विपणन मध्यस्थों की अधिकता, खाद्यान्नो के विपणन मे विपणन लागत की अधिकता, विपणन कुरीतिया, नियन्त्रित मण्डियो का अभाव कृषको मे कीमत अज्ञानता, संग्रहण के लिए गोदामो का अभाव आदि समस्याओ के कारण कृषको को उत्पाद के विक्रय से उचित कीमत प्राप्त नही होती है।

(स) सिंचाई एव विद्युतीकरण की समस्याए—भारतीय कृषि की अन्य समस्या देश मे सिंचाई की सुविधा का आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध नही होना, विद्युतीकरण की सुविधाओ का गावो मे विकास न होना, समय पर विद्युत सुविधा उपलब्ध नही होना।

(द) उत्पादन-साधनों का उचित समय एव उचित कीमत पर उपलब्ध नही होने की समस्या—हरितक्रांति एव तकनीकी ज्ञान के प्रसार के कारण, कृषक उत्पादन साधनो-सकर एव बोने किस्म के बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवइयो आदि का अधिक मात्रा मे उपयोग करने लगे हैं, किन्तु उत्पादन के ये साधन उन्हें

समय एवं उचित कीमत पर आवश्यक मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। अतः समय पर उत्पादन-साधनों के अभाव में फार्म में उत्पादन कम प्राप्त होता है।

(य) फसल व पशु बीमा सुविधा न होना—कृषि-क्षेत्र में जोखिम के कारण उत्पादन में अनिश्चितता बनी रहती है। प्रतिवर्ष किसी न किसी क्षेत्र के कृषक औला, सूखा, समय पर वर्षा के नहीं होने, आग, बीमारियों आदि से प्रभावित होते रहते हैं, इससे उनके भावी उत्पादन पर विपरीत प्रभाव आता है।

(र) कृषि विस्तार सेवाओं का कृषकों द्वारा लाभ नहीं उठाना—अनेक क्षेत्र में कृषि विस्तार सेवाएँ विकसित नहीं हैं तथा अन्य क्षेत्रों में कृषक अज्ञानता के कारण उनका लाभ नहीं उठा रहे हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के कारण कृषकों में उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा का ह्रास होता है। अत कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उपर्युक्त समस्याओं का समाधान करना आवश्यक है।

□□□□

अध्याय **3**

भारत में खाद्य-समस्या

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे देश खाद्यान्न उत्पादन मे आत्म-निर्भर था। देश मे समय समय पर अकाल के कारण खाद्यान्नो की कमी महसूस होती रही है, लेकिन वर्ष 1860 के पश्चात् खाद्यान्नो की विशेष कमी महसूस हुई। भारत मे सर्व-प्रथम, अकाल आयोग ने वर्ष 1880 मे चेतावनी दी कि जनसख्या मे वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि मे कमी होगी। देश मे वर्ष 1860 से 1909 के 50 वर्षों म से 20 वर्ष अकाल या कम उत्पादन वाले थे। इनमे से वर्ष 1865-66 मे उडीसा मे एव 1896 97 मे सम्पूर्ण देश मे भीषण अकाल पडे थे, जिन्होने खाद्य समस्या को अधिक जटिल बना दिया था। वर्ष 1895–96 मे देश मे 2 4 मिलियन टन, 1896–97 मे 1 5 मिलियन टन एव 1899–1900 मे 2 2 मिलियन टन खाद्यान्न का आयात किया गया था।

वर्ष 1893–94 से 1945–46 की अवधि मे जनसख्या मे 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि कृषित क्षेत्र एव भूमि की उत्पादकता मे विशेष वृद्धि नही होने के कारण इस अवधि मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्न के उत्पादन स्तर मे 32% की गिरावट हुई।[2] वर्ष 1921 के उपरान्त जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि, कृषित क्षेत्र के स्थिर रहने, खाद्यान्नो से वाणिज्यिक फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल के स्थानान्तरण होने एव वर्ष 1937 मे देश से बर्मा के अलग होने से खाद्य स्थिति निरन्तर खराब होती गई। वर्ष 1910 से 1940 के तीस वर्षों मे 18 वर्ष कम उत्पादन वाले वर्ष थे। वर्ष 1943 का बगाल अकाल विशेष उल्लेखनीय माना गया है। स्वतन्त्रता से पूर्व देश मे खाद्यान्नो का निरन्तर आयात किया गया। स्वतन्त्रता के पूर्व वर्ष मे देश मे 2 58 मिलियन टन खाद्यान्नो का आयात किया गया।

वर्ष 1943 के अकाल ने सरकार को उत्पादन वृद्धि की ओर ध्यान देने को

1 B M Bhatia, India's Food Problem and Policy Since Independence, Somaiya Publications Pvt Ltd, Bombay, 1970

2. Blyn, George, The Agricultural Crops of India, 1893-1946

विवश किया। सरकार ने "अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" (Grow More Food Compaign) शुरू किया। वर्ष 1947 में देश के विभाजन के कारण अधिक उत्पादन वाले क्षेत्र, जैसे–पंजाब का एक भाग एवं सिंध का क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। विभाजन में पाकिस्तान को कुल क्षेत्रफल का 44 प्रतिशत एवं भारत को 19 प्रतिशत सिंचित क्षेत्र ही प्राप्त हुआ।

योजना काल से पूर्व भारत में खाद्य स्थिति—स्वतन्त्र भारत के प्रथम चार वर्ष (योजनाकाल से पूर्व 1947–51) खाद्य स्थिति के लिए महत्त्वपूर्ण रहे हैं। प्रथम तो देश में स्वतन्त्रता के पूर्व से चली आ रही खाद्यान्नों की कमी, वर्ष 1948 में उत्तर प्रदेश एवं बिहार में बाढ़ तथा गुजरात, महाराष्ट्र एवं राजस्थान में सूखे ने खाद्य स्थिति को और खराब कर दिया, जिसके कारण कीमतों का बढ़ना शुरू हुआ। वर्ष 1950 में अनावृष्टि एवं शीतलहर से देश के विभिन्न भागों में फसल को नुकसान हुआ। खाद्यान्नों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उनके आयात की मात्रा में वृद्धि की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना एवं खाद्य स्थिति—प्रथम पंचवर्षीय योजना के पाँचों वर्ष (1951–56) खाद्य स्थिति के लिए अच्छे वर्ष थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष (1955–56) में 69 34 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन हुआ। फलस्वरूप खाद्यान्न की आयातित मात्रा जो वर्ष 1951–52 में 3 92 मिलियन टन थी, वह कम होकर योजना के अन्तिम वर्ष (1955–56) में मात्र 1 37 मिलियन टन ही रह गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में 1953–54 का वर्ष कृषि उत्पादन की दृष्टि से सबसे अच्छा वर्ष था। इस वर्ष 72 34 मिलियन टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना एवं खाद्य स्थिति—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही देश में खाद्य समस्या उत्पन्न हो गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना का अन्तिम वर्ष (1955–56) खाद्यान्न उत्पादन की दृष्टि से पहले वर्षों के समान अच्छा वर्ष नहीं था। बम्बई, राजस्थान, तमिलनाडु, बिहार एवं उड़ीसा के अनेक भागों में सूखे की स्थिति थी, जबकि असम, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली एवं पंजाब बाढ़ से एवं तमिलनाडु राज्य के कुछ जिले तूफान से प्रभावित हुए। इन सबके कारण देश में ज्वार, बाजरा एवं अन्य मोटे अनाजों के उत्पादन में गिरावट आई और वर्ष 1957–58 में कुल खाद्यान्न उत्पादन 66 63 मिलियन टन ही हुआ। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में 3 62 मिलियन टन एवं वर्ष 1957–58 में 3 21 मिलियन टन खाद्यान्न का आयात किया गया। उत्पादन में वृद्धि के प्रयास एवं मौसम की अनुकूलता के कारण वर्ष 1958–59 में खाद्यान्न उत्पादन 78 80 मिलियन टन हुआ, जो पिछले वर्ष की अपेक्षा 12 2 मिलियन टन अधिक था। वर्ष 1959–60 में 1958–59 की अपेक्षा 1 7 मिलियन टन कम खाद्यान्न उत्पादन हुआ।

द्वितीय पचवर्षीय योजना की समाप्ति वाले वर्ष मे खाद्यान्न का उत्पादन 82 33 मिलियन टन प्राप्त हुआ, जो निर्धारित लक्ष्य 80 मिलियन टन से अधिक था। खाद्यान्न उत्पादन मे इस असाधारण गति से वृद्धि के होते हुए भी देश मे आयातित खाद्यान्नो की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि हुई। वर्ष 1959–60 मे सर्वाधिक आयात 5.12 मिलियन टन का किया गया। भारत सरकार के कृषि एव खाद्य मन्त्रालय द्वारा निमन्त्रित फोर्ड सस्था के कृषि-उत्पादन दल ने भारत भ्रमण के पश्चात् 3 अप्रैल, 1959 को "भारत मे खाद्य-समस्या एव पूर्ति के उपाय (India's Food Crisis and Steps to Meet it)" नामक प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया। दल ने आकलन किया कि खाद्यान्न-उत्पादन वृद्धि की वर्तमान दर एव अन्य कारको को मद्देनजर रखते हुए तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष (1965-66) मे देश मे 28 मिलियन टन खाद्यान्नो की कमी होगी। अत दल ने तृतीय पचवर्षीय योजना का खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 120 मिलियन टन रखने का सुझाव दिया।[3]

तृतीय पचवर्षीय योजना एवं खाद्य स्थिति—खाद्यान्नो मे आत्म-निर्भरता के लिए योजना आयोग ने तृतीय पचवर्षीय योजना (1961–66) का खाद्यान्न उत्पादन लक्ष्य 100 मिलियन टन निर्धारित किया। तृतीय पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी गई तथा कृषि–उत्पादन मे वृद्धि के लिए प्रयास किये गये।

तृतीय पचवर्षीय योजना के 5 वर्षों मे से चार वर्ष (वर्ष 1964–65 के अतिरिक्त) में मौसम अनुकूल नही होने के कारण खाद्यान्न उत्पादन का स्तर, द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष (वर्ष 1960–61) के बराबर भी प्राप्त नही हो सका। वर्ष 1961–62 मे 82.40 मिलियन टन, वर्ष 1962–63 मे 80 33 मिलियन टन, एव वर्ष 1963–64 मे 80 70 मिलियन टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ। इस योजनाकाल का सर्वाधिक उत्पादन वर्ष 1964–65 मे 89 37 मिलियन टन था। देश के अधिकाश भाग मे सूखे के कारण वर्ष 1965–66 मे खाद्यान्न उत्पादन मात्रा 72.35 मिलियन टन ही हुआ। खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि नही हो पाने के कारण सरकार ने प्रतिवर्ष पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे खाद्यान्नो का आयात किया। वर्ष 1961–62 मे खाद्यान्नो की आयातित मात्रा 3 63 मिलियन टन थी जो योजना काल के अन्तिम वर्ष (1965–66) मे बढकर 10 31 मिलियन टन हो गई, जो अब तक स्वतन्त्र भारत मे आयातित खाद्यान्नो की मात्रा का सर्वाधिक रिकार्ड है। वर्ष 1961–62 मे आयातित खाद्यान्नो का मूल्य 130 करोड रु था, जो बढकर वर्ष 1965–66 मे 524 करोड रु हो गया। वर्ष 1962 मे चीन के आक्रमण से भी कृषि उत्पादन को धक्का लगा।

3 Report on India's Food Crisis and Steps to Meet it, Government of India, New Delhi, April 1959, p 1

इस बढ़ती हुई खाद्यान्नों की समस्या का मुकाबला करने के लिए सरकार ने उत्पादन वृद्धि के लिए सघन कृषि योजना जनसंख्या मे वृद्धि की गति को रोकने के लिए परिवार नियोजन एव खाद्यान्नों की बढ़ती हुई माग को पूरा करने के लिये वितरण-प्रणाली मे सुधार के कदम उठाये। उठाये गये कदमो मे से कृषको, मिल-मालिको एव व्यापारियो से लेवी द्वारा खाद्यान्न प्राप्ति, उडीसा, महाराष्ट्र एव असम राज्य म खाद्यान्न की सरकार द्वारा एकाधिकार अधिप्राप्ति-पद्धति, खाद्यान्न के सचालन की क्षेत्रीय पद्धति एव कानूनन राशनिग प्रमुख कदम थे।

वार्षिक योजनाए एवं खाद्य स्थिति (1966–69)—जून, 1966 मे भारत के रुपये का अवमूल्यन एव बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश एव अन्य प्रान्तो मे सूखे की स्थिति के कारण खाद्य समस्या मे विशेष सुधार नही हो सका। वर्ष 1966–67 मे खाद्यान्न का उत्पादन 74 23 मिलियन टन हुआ। वर्ष 1967–68 मे अच्छी वर्षा एव मौसम की अनुकूलता के कारण खाद्यान्न उत्पादन 95.05 मिलियन टन हुआ, जो पिछले वर्ष (1966–67) की अपेक्षा 20 8 मिलियन टन अधिक था। उत्पादन वृद्धि के कारण आयातित खाद्यान्नो की मात्रा मे निरन्तर कमी हुई। वर्ष 1966–67 मे आयातित खाद्यान्नो की मात्रा 8 66 मिलियन टन थी, जो उत्पादन वृद्धि के कारण कम होकर वर्ष 1967–68 मे 5 59 मिलियन टन एव 1968–69 मे 3 82 मिलियन टन ही रह गई।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना एव खाद्य स्थिति (1969–74)—खाद्यान्न-उत्पादन मे वृद्धि के लिए उन्नत किस्म के बीजो का आविष्कार वर्ष 1966 मे हुआ। उन्नत किस्म के बीजो के उपयोग के साथ-साथ उर्वरको का अधिक मात्रा मे उपयोग, सिंचाई के साधनो मे वृद्धि, कीटनाशी दवाइयो का उपयोग भी शुरू हुआ। इन उपायो के कारण कृषि उत्पादन मे वृद्धि हुई, जिसको हरित-क्रान्ति का नाम दिया गया। हरित-क्रान्ति के कारण देश मे खाद्यान्न उत्पादन वर्ष 1970–71 मे 108 42 मिलियन टन हुआ। वर्ष 1971–72 मे खाद्यान्न के उत्पादन-स्तर मे 3 25 मिलियन टन की गिरावट हुई। वर्ष 1972–73 मे देश के अधिकाश भाग मे सूखा पड़ने से उत्पादन-स्तर मात्र 97 03 मिलियन टन हुआ। देश के कुछ भागो मे समय पर वर्षा नहीं होने एव कम वर्षा होने के फलस्वरूप वर्ष 1973–74 मे खाद्यान्न उत्पादन मे पिछले वर्ष की अपेक्षा वृद्धि हुई, लेकिन यह वृद्धि वर्ष 1970–71 के उत्पादन-स्तर को नहीं पहुच सकी। योजना आयोग ने चतुर्थ पचवर्षीय योजना के लिए 129 मिलियन टन खाद्यान्नो के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया था, जो बाद म सशोधित करके 115 मिलियन टन किया गया। दुर्भाग्यवश खाद्यान्नो के उत्पादन का यह स्तर भी योजना-काल के अन्त तक प्राप्त नहीं हो सका। वर्ष 1973–74 मे निर्धारित उत्पादन लक्ष्य से 19.4 मिलियन टन खाद्यान्न कम प्राप्त हुआ। इस योजना काल मे आयातित

खाद्यान्नो की मात्रा मे निरन्तर कमी हुई। वर्ष 1969–70 मे खाद्यान्नो की आयातित मात्रा 3 55 मिलियन टन थी। वर्ष 1971–72 मे 0 49 मिलियन टन खाद्यान्नों का निर्यात किया गया। वर्ष 1972–73 व 1973–74 मे सूखे की स्थिति के कारण खाद्यान्नो की आयातित मात्रा मे पुन वृद्धि हुई।

पाचवी पचवर्षीय योजना एवं खाद्य स्थिति (1974–80)—इस योजना काल मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई है। योजना के प्रारम्भिक वर्ष 1974–75 मे देश मे खाद्यान्नो का उत्पादन 99 83 मिलियन टन था, जो बढकर 1978–79 मे 131 90 मिलियन टन हो गया। इस प्रकार इस योजना काल मे 32 मिलियन टन खाद्यान्नो की उत्पादन वृद्धि हुई। फलस्वरूप खाद्यान्नो का आयात जो वर्ष 1974–75 मे 7 53 मिलियन टन था वह कम होकर देश निर्यात करने की स्थिति मे आ गया। वर्ष 1977–78 मे लगभग एक मिलियन टन खाद्यान्नो का निर्यात किया गया था। वर्ष 1978–79 मे मौसम की प्रतिकूलता के कारण खाद्यान्न उत्पादन मे भारी गिरावट आई एव उत्पादन मात्र 109 70 मिलियन टन हो प्राप्त हो सका। इससे भारत की खाद्य-स्थिति को भारी धक्का लगा।

छठी पचवर्षीय योजना एव खाद्य स्थिति (1980–85)—इस योजना के प्रथम वर्ष मे खाद्यान्नो का उत्पादन 129 90 मिलियन टन था, जो बढकर 1983–84 मे सर्वाधिक 152 37 मिलियन टन हो गया। वर्ष 1982–83 व 1984–85 उत्पादन की दृष्टि से अच्छे नही थे। योजना के प्रथम चार वर्ष मे खाद्यान्नो का आयात किया गया। सर्वाधिक आयात वर्ष 1982–83 मे 4 07 मिलियन टन का किया गया। योजना के अन्तिम वर्ष 1984–85 मे उत्पादन कम प्राप्त होते हुये भी खाद्यान्नो का निर्यात (0 35 मिलियन टन) किया गया। 100042

सातवीं पचवर्षीय योजना एव खाद्य स्थिति (1985–90)—इस योजना के प्रथम तीन वर्ष मे देश के विभिन्न भागो मे सूखा के कारण खाद्यान्न उत्पादन लक्ष्य से कम प्राप्त हुआ। वर्ष 1987–88 के भयकर सूखा के कारण खाद्यान्न का उत्पादन 140 35 मिलियन टन ही हुआ, जो पिछले वर्ष की तुलना मे 3 मिलियन टन कम था। अत देश जो खाद्यान्नो की निर्यात स्थिति मे था, वह पुन आयात करने की स्थिति मे आ गया। इस वर्ष 1 87 मिलियन टन खाद्यान्न का आयात किया गया। वर्ष 1988–89 उत्पादन की दृष्टि से अच्छा होने के फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन 170 25 मिलियन टन हुआ, जो गत वर्ष की अपेक्षा 30 मिलियन टन अधिक था। योजना के अन्तिम वर्ष 1989–90 मे खाद्यान्न का उत्पादन पूर्व वर्ष के स्तर पर 169 92 मिलियन टन ही रहा।

वार्षिक योजनाए (1990–91 व 1991–92) मे खाद्य स्थिति वर्ष 1990–91 मे खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि के कारण उत्पादन स्तर 176 50 मिलियन

टन हुआ, जो अब तक के खाद्यान्न उत्पादन का कीर्तिमान है। वर्ष 1991–92, खाद्यान्न उत्पादन की दृष्टि से अच्छा नहीं था, अत इस वर्ष उत्पादन का स्तर 171 0 मिलियन टन ही प्राप्त हुआ, जो पिछले वर्ष की अपेक्षा 5 5 मिलियन टन कम था।

आठवी पचवर्षीय योजना (1992–97) मे खाद्यान्न उत्पादन 210 मिलियन टन प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है।

सारणी 3 1 भारत मे वर्ष 1948–49 से 1991–92 की अवधि मे खाद्यान्न उत्पादन, आयातित खाद्यान्न एव प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि की मात्रा प्रदर्शित करती है। देश मे खाद्यान्न उत्पादन स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय की अपेक्षा वर्तमान मे 3 5 गुना से अधिक हो रहा है लेकिन प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि के स्तर मे वृद्धि का स्तर बहुत कम है। वर्तमान मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि का स्तर 475 ग्राम प्रतिदिन है।

सारणी 3 1

भारत मे खाद्यान्न उत्पादन, आयात एव प्रति व्यक्ति उपलब्धि

पचवर्षीय योजना	कृषि वर्ष	खाद्यान्न उत्पादन (मिलियन टन)	आयातित खाद्यान्न (मिलियन टन)	प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि (ग्राम प्रतिदिन)
योजना काल से पूर्व	1948–49	51 750	2 887	—
	1949–50	50 050	3 765	—
	1950–51	55 011	4 801	394 8
प्रथम पचवर्षीय योजना	1951–52	55 603	3.926	384 5
	1952–53	61.784	2 035	412.6
	1953–54	72 336	0 832	457 8
	1954–55	70 739	0 513	444 0
	1955–56	69 335	1 372	430 7
द्वितीय पचवर्षीय योजना	1956–57	72 457	3 620	447.1
	1957–58	66 629	3 210	408 8
	1958–59	78 803	1 851	468.5
	1959–60	77 120	5.119	449 6
	1960–61	82.326	3.486	468.7

तृतीय पचवर्षीय योजना	1961–62	82 397	3.629	460.9
	1962–63	80.330	4.536	443 8
	1963–64	80 699	6 252	452.0
	1964–65	89 367	7 439	480.1
	1965-66	72 347	10 311	408.1
वार्षिक योजनाएँ	1966–67	74 231	8 569	401.4
	1967–68	95 052	5.671	460.2
	1968–69	94.013	3.824	445.1
चतुर्थ पचवर्षीय योजना	1969–70	99 501	3.547	455.0
	1970–71	108 422	2 010	468.8
	1971–72	*105 168*	*–0.49*	*466 1*
	1972–73	97 026	3 59	421 6
	1973–74	104.665	5 16	451.2
पाचवी पचवर्षीय योजना	1974–75	99 826	7 53	405 5
	1975–76	121 034	0 66	424.3
	1976–77	111 167	0 08	429 6
	1977–78	126 407	–0 82	468 0
	1978–79	131 902	–0 32	476 5
वार्षिक योजना	1979–80	109 700	–0 48	410 4
छठी पचवर्षीय योजना	1980–81	129 900	0 52	453 7
	1981–82	133 000	1 58	455 0
	1982–83	129 520	4 07	436 4
	1983–84	152 370	2 37	477 9
	1984–85	145 540	–0 35	453 7
सातवी पचवर्षीय योजना	1985–86	150 440	–0 06	478 3
	1986–87	143 420	–0 37	472 7
	1987–88	140 350	1 87	451 2
	1988–89	170 250	—	497 2
	1989–90	169.92	—	474 6

वार्षिक योजना	1990–91	176 50
	1991–92	171 00
आठवीं पचवर्षीय योजना का लक्ष्य	1992–97	210 00

स्रोत : (i) Bulletin on Food Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.

(ii) Economic Survey, Ministry of Finance, Government of India, New Delhi

खाद्यान्नो के उत्पादन वृद्धि मे क्षेत्रफल एव उत्पादकता का योगदान

खाद्यान्नो के उत्पादन वृद्धि के लिए दो प्रमुख अवयव उनके अन्तर्गत क्षेत्र मे वृद्धि एव उत्पादकता मे वृद्धि है। स्वतन्त्रता के समय से ही खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए कृषित क्षेत्रफल मे वृद्धि की जा रही है। साथ ही भूमि के प्रति इकाई क्षेत्रफल से उत्पादकता मे वृद्धि के लिए भी प्रयास किए गए हैं। फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन मे देश मे वृद्धि हुई है। सारणी 3 2 मे खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि के लिए क्षेत्रफल एव उत्पादकता के सापेक्ष अशदान को प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 3·2

क्षेत्रफल एव उत्पादकता का खाद्यान्नों के उत्पादन वृद्धि मे अशदान

समय	प्रतिशत वृद्धि		
	क्षेत्रफल	उत्पादकता	कुल
1949–50 से 1958–59 के काल मे	46 58 (1 84)***	53 42 (2 11)***	100 (3 95)***
1959–60 से 1968–69 के काल मे	25 58 (0 33)*	74 42 (0 96)	100 (1 29)
1969–70 से 1978–79 के काल मे	17 95 (0 49)*	82 05 (2 24)***	100 (2 73)***
1979–80 से 1988–89 के काल मे	—4 06 (–0 13)	104 06 (3 33)***	100 (3 20)***

*=significant at 10 percent level.

***=significant at 1 percent level.

Note—Figures in porenthesis indicate growth rate in percentage terms per annum and the figures above represent percentage contribution of different factors to growth of production

Source Shaik Haffis, Y V R Reddy, P Lakshmi and R K Raju, Growth Patterns in Food grains Economy of India, Agricultural situation in India, Vol 46(2), March 1992, p 907

स्पष्ट है कि पिछले चार दशको मे क्षेत्रफल के अश मे निरन्तर कमी आई है। स्वतन्त्रता के बाद के प्रथम दशक मे क्षेत्रफल का उत्पादन वृद्धि मे अश 46 58 प्रतिशत था, जो कम होकर अन्तिम दशक मे ऋणात्मक (–4 06 प्रतिशत) हो गया। इसके विपरीत उत्पादकता का अशदान इसी काल मे 53 42 प्रतिशत से बढकर 104 06 प्रतिशत हो गया। देश का भौगोलिक क्षेत्र सीमित होने के कारण कृषित क्षेत्र मे वृद्धि करके उत्पादन बढाना अब समव नही है क्योकि वर्तमान अकृष्य क्षेत्र को कृषित क्षेत्र मे परिवर्तित करने मे पूँजी का निवेश बहुत करना होता है तथा यह क्षेत्र भी सीमित ही है। अत भविष्य मे खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि उत्पादकता मे वृद्धि करके ही की जा सकेगी।

भारत मे खाद्यान्नो की मांग एव पूर्ति

देश मे खाद्यान्न समस्या की गम्भीरता के अध्ययन के लिए खाद्यान्नो की मांग एव पूर्ति का अध्ययन करना आवश्यक है। खाद्यान्नो की पूर्ति से तात्पर्य खाद्यान्नो के आन्तरिक उत्पादन एव आयातित खाद्यान्नो की सम्मिलित मात्रा मे लगाया जाता है। खाद्यान्नो की मांग से तात्पर्य देश के निवासियो के लिए भोजन की आवश्यक मात्रा, पशुओ के लिए दाने की आवश्यकता एव बीज के लिए आवश्यक मात्रा के योग से है।

देश मे खाद्यान्नो की मांग के आकलन समय-समय पर विभिन्न अर्थशास्त्रियो, पोषण विशेषज्ञो एव अनेक सस्थाओ द्वारा विभिन्न वर्षों के लिए किये गये हैं, लेकिन उनके प्राप्त आकलन परिणामो मे बहुत विभिन्नता पाई गई है। मांग के आकलनो मे विभिन्नता के प्रमुख कारणो मे विभिन्न कारको के लिए की गई मान्यताओ मे भिन्नता का होना है। खाद्यान्नो की मांग का आकलन करने से पूर्व, माग मे परिवर्तन लाने वाले कारको के सम्बन्ध मे आकलन करने होते हैं। खाद्यान्नो की माग के आकलन मे निम्न कारक परिवर्तन लाते हैं—

(अ) देश मे जनसख्या की वृद्धि दर,

(ब) नागरिको की प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि की दर,

(स) देश के विभिन्न व्यक्तियो की आय का बँटवारा एव उनसे खाद्यान्न के उपभोग पर प्रभाव।

देश मे वर्ष 1970 से 1980 के काल मे खाद्यान्नो की माग के लिये किये गये आकलनों मे विभिन्नता आकलन कर्त्ताओ/सस्थाओ के परिणामो से स्पष्ट है जो सारणी 3 3 मे प्रदर्शित है

सारणी 3 3

भारत मे वर्ष 1970 से 1980 के काल मे खाद्यान्नों की मांग का आकलन

(मिलियन टन)

आकलनकर्त्ता/सस्था	मान्यताएँ	आकलन वर्ष	
		1975–76	1980
1 प्रो० पी वी सुखात्मे	585 मिलियन जनसख्या	108 26	—
	625 मिलियन जनसख्या	115 66	—
2 राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक अनुसधान परिषद्	—	133 44	—
3 प्रो मदालगी	630 मिलियन जनसख्या	131 20	—
4 खाद्य एव कृषि सघ, रोम	—	111 75	129 51

स्रोत 1 P V Sukhatme, Feeding India's Growing Millions, Asia Publishing House, London, 1965

2 Long Term Demand and Supply Projections of Agricultural Commodities, NCAER, New Delhi, 1960–61 to 1975–76.

3, Reserve Bank of India Bulletin, January 1967, pp. 27–31.

योजना आयोग के परिप्रेक्ष्य योजना विभाग (Perspective Planning Division) द्वारा किये गये आकलन के अनुसार देश मे वर्ष 1985–86 मे 190 मिलियन टन खाद्यान्न (168 मिलियन टन अनाज एव 22 मिलियन टन दालें) की आवश्यकता होगी।[4]

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने वर्ष 1971 के आधार पर वर्ष 2000 के लिए प्रमुख कृषि वस्तुओ की मांग एव पूर्ति का आकलन किया था, जो सारणी 3 4 में प्रदर्शित है।

4. Yojana, Vol XVII, No 1, January 26, 1973, p. 8

सारणी 3 4

राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुसार वर्ष 2000 मे खाद्यान्न एव अन्य कृषि वस्तुओं की मांग एव पूर्ति का आकलन

(मिलियन टन मे)

कृषि वस्तुएँ	आधार वर्ष 1971	मांग: निम्न स्तर आकलन	मांग: उच्च स्तर आकलन	पूर्ति का आकलन
अनाज	95 99	182 21	194 32	195 0
दालें	11 79	25 56	30 49	35 0
खाद्यान्न	107 78	207 77	224 81	230 0
खाद्य तेल	—	8 30	10 20	9 7
चीनी एव गुड	—	24 0	29 9	32 5
दूध	—	49 4	64 4	64 4
अण्डे (मिलियन सख्या)	—	17,419	28,513	27,882
मास	—	1 57	2 11	2 10
मछली	—	4 6	5 55	8 0

स्रोत National Commission on Agriculture, Part III of the Report Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi, 1976

स्पष्ट है कि देश मे खाद्यान्नो की पूर्ति मॉग के अनुरूप हो सकेगी। खाद्य तेलो के उत्पादन मे आत्म-निर्भरता प्राप्त होने की सम्भावना प्रतीत नही हो रही है, जिसके लिए सरकार को विशेष प्रयास करने होगे।

श्री आर कन्नान एव श्री टी के चक्रवर्ती ने 1985–86 से 2000–2001 वर्ष के लिए खाद्यान्नो एव खाद्य वस्तुओ की माग का आकलन, जनसख्या के दो आकलनो के स्तर पर (मॉडल A छठी पचवर्षीय योजना मे दिये गये चक्रवृद्धि दर एव मॉडल B, 1970–79 के काल मे वास्तविक जनसख्या वृद्धि दर) तथा उपभोग व्यय स्तर के आधार पर दिया है जो सारणी 3 5 मे दिए गए है—

सारणी 35

खाद्य वस्तुओं की मांग का आकलन वर्ष 1985-86 से 2000-2001

(मिलियन टन मे)

खाद्य वस्तु	आधार वर्ष 1970–71 की मांग	मांग का आकलन 1985–86 A	1985–86 B	1990–91 A	1990–91 B	1995–96 A	1995–96 B	2000-2001 A	2000-2001 B
1 कुल खाद्यान्न	94 32	138 72	138 72	160 79	161 20	187 29	188 94	218 19	221 23
अनाज	83 99	122 42	122 42	141 33	141 71	163 84	165 29	189 59	192 76
दालें	10 33	16 30	16 30	19 46	19 49	23 45	23 55	28 30	28 47
2 चीनी	4 03	7 19	7 19	9 02	9 01	11 51	11 48	14 62	14 54
3 खाद्य तेल	1 71	2 92	2 92	3 59	3 60	4 47	4 47	5 57	5 56
4 दूध	20 10	39 79	39 69	52 03	51 85	69 48	68 65	91 10	89 85
5 मांस	0 90	1 74	1 74	2 18	2 18	2 76	2 75	3 48	3 47
6 मछली	1 70	2 96	2 96	3 71	3 70	4 68	4 68	5 92	5 90
7 अण्डे(मिलियन मे)	2 93	5 21	5 21	6 52	6 51	8 23	8 22	10 41	10 39

स्रोत Kannan, R and T K Chakarbarty, Demand Projections For Selected Food Items in India 1985-86 to 2000-01, Economic and Political weekly, Review of Agriculture, Vol. XVIII (52 & 53), December 24-31, 1983, pp A-135 to 142

स्पष्ट है कि दोनो मॉडल के स्तर पर अनेक खाद्य पदार्थों की मांग का आकलन लगभग समान है। उक्त आंकडो से यह भी स्पष्ट है कि खाद्यान्नो की माग प्रति 5 वर्ष मे औसतन 16 प्रतिशत (2 5 प्रतिशत प्रति वर्ष चक्र-वृद्धि दर से) की दर से बढने का अनुमान है। दूसरे खाद्य वस्तुओ की माग मे वृद्धि अधिक तीव्र गति से होने की आशा है। जैसे दूध की माग मे वृद्धि 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष, चीनी की माग मे वृद्धि 4.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष, मास, मछली एव अण्डो की माग मे वृद्धि 4.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष एव खाद्य तेलो की माग मे 3.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से होने का आकलन किया है। इसके अनुसार वर्ष 2001 मे खाद्यान्नो की कुल माग 218.19 से 221 23 मिलियन टन, दूध की माग 89.85 से 91.10 मिलियन टन, चीनी की माग 14 54 से 14 62 मिलियन टन होने का आकलन है।

भारत मे खाद्य समस्या के पहलू

देश की खाद्य समस्या को निम्न चार महत्त्वपूर्ण पहलुओ के अन्तर्गत विभाजित करके अध्ययन किया जाता है—

(1) **मात्रात्मक पहलू**—खाद्य समस्या का प्रथम पहलू देश मे आवश्यक मात्रा में खाद्यान्नो का उपलब्ध नही होना है। देश मे खाद्यान्नो का उत्पादन माग के अनुरूप नही होने के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। साथ ही पूर्ति को माग के अनुरूप करने के लिए खाद्यान्नो का आयात भी किया गया है। खाद्यान्नो के इस आयात पर प्रतिवर्ष करोडो रुपये विदेशी मुद्रा के रूप मे व्यय किये जा रहे हैं। देश मे कृषि क्षेत्र मे उत्पादन वृद्धि के कार्यक्रमो के अपनाने से खाद्यान्न उत्पादन मे तीन गुना से अधिक वृद्धि (1948-49 मे 51 75 मिलियन टन से 1991-92 मे 171 00 मिलियन टन) हुई है, लेकिन प्रति व्यक्ति उपलब्धि मे विशेष वृद्धि नही हुई है। सारणी 3 6 देश मे विभिन्न वर्षों मे विभिन्न खाद्यान्नो की प्रति व्यक्ति उपलब्धि प्रदर्शित करती है।

सारणी 3.6

भारत मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्धि

(ग्राम प्रतिदिन)

वर्ष	अनाज	दालें	खाद्यान्न
1951	334 2	60 7	394 9
1956	360 4	70 3	430 7
1961	399 7	69.0	468 7
1966	359 9	48 2	408 1
1971	417 6	51 2	468 8
1976	373 8	50 5	424 3
1981	416 2	37 5	453 7
1986	434 3	44 0	478 3
1988	413 2	38 0	451 2
1989	455 0	42 2	497 2
1990	438 1	36 5	474 6

स्रोत Economic Survey, Ministry of Finance, Goverament of India, New Delhi.

स्पष्ट है कि पिछले 40 वर्षों मे देश मे अनाज की उपलब्धि मे वृद्धि हुई है लेकिन दालों की उपलब्धि मे निरन्तर कमी हुई है। दालो की उपलब्धि भारतीय चिकित्सा अनुसधान परिषद् के द्वारा की गई सिफारिश मात्रा से बहुत कम है। परिषद् के अनुसार एक वयस्क शाकाहारी के लिए 350 से 475 ग्राम अनाज एव 70 से 80 ग्राम दाल प्रतिदिन तथा बच्चो के लिए 200 से 450 ग्राम अनाज एव 60 से 70 ग्राम दालें प्रतिदिन उपलब्ध होना चाहिये।[5] दूध की प्रति व्यक्ति उपलब्धि की मात्रा मे निरन्तर कमी हुई है। अत खाद्यान्नो की प्रथम समस्या उनके उत्पादन मे वृद्धि करने की है, जिससे उनकी उपलब्धि निर्धारित मात्रा मे देश के निवासियो को हो सके।

(2) गुणात्मक पहलू—भारत मे खाद्यान्न समस्या का दूसरा पहलू गुणात्मक है जिसके अनुसार उपभोक्ताओं को उपलब्ध खाद्यान्नो की मात्रा मे आवश्यक भोजन तत्त्वो (कैलोरी, प्रोटीन आदि) का सन्तुलित मात्रा मे उपलब्ध नही होना है। इसके कारण देश के नागरिक कुपोषण के शिकार होते हैं। गुणात्मक पहलू के आकलन का कार्य कठिन होता है।

5. The Economic Times, March 4, 1981.

भारत मे पुरुषो को कार्य के अनुसार 2430 से 3880 कैलोरी एव स्त्रियो को 1790 से 2880 कैलोरी प्रतिदिन की आवश्यकता होती है जबकि भारत मे प्रति व्यक्ति प्रतिदिन औसत कैलोरी की उपलब्धि 1860 ही है। उपलब्ध कैलोरी की मात्रा के कम होने के कारण नागरिक बीमारियो से जल्दी ही ग्रसित हो जाते हैं। अन्य देशो म कैलोरी उपलब्धि की मात्रा भारत से अधिक है। न्यूजीलैण्ड म 3490, आयरलैण्ड मे 3570, डेनमार्क मे 3340, कनाडा म 3140, अमेरिका म 3120 कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन उपलब्ध होती है।

सन्तुलित भोजन मे कैलोरी के अतिरिक्त प्रोटीन, विटामिन, खनिज, आदि की भी आवश्यकता होती है। भारतीयो के भोजन मे यह तत्त्व भी आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध नही होते हैं। एक नागरिक को देश मे 59 1 ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन की आवश्यकता होती है, जो उपलब्ध नही है। भारत मे एक चौथाई से एक-तिहाई व्यक्ति शरीर के विकास के लिए आवश्यक मात्रा से भी कम मात्रा मे प्रोटीन का उपभोग कर रहे हैं। कम आय वाले व्यक्तियो के भोजन मे प्रोटीन की कमी अधिक पायी जाती है। वे अपनी सीमित आय से अधिक प्रोटीन की मात्रा वाले खाद्य-पदार्थो जैसे—सब्जी, फल, दूध, अण्डे क्रय करने मे सक्षम नही होते हैं क्योकि ये महँगे होते हैं। अत देश मे खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि के साथ साथ अधिक प्रोटीन युक्त एव अन्य पोषक भोजन तत्त्वो वाले खाद्य-पदार्थो के उत्पादन मे भी वृद्धि करनी चाहिये।

(3) आर्थिक पहलू—खाद्य समस्या का तीसरा पहलू देश के नागरिको की प्रति व्यक्ति आय का कम होना है, जिसके कारण वे आवश्यक मात्रा मे खाद्यान्न क्रय नही कर पाते हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियो/संस्थाओ ने समय-समय पर देश मे गरीबी के स्तर से नीचे रहने वाले व्यक्तियो का आकलन किया है और प्राप्त परिणामो से स्पष्ट है कि देश की लगभग 39 4 प्रतिशत जनसख्या वर्तमान मे गरीबी की रेखा से नीचे है। गरीबी की रेखा का आकलन देश मे 20 रु प्रति व्यक्ति प्रतिमाह के उपभोग स्तर ग्रामीण क्षेत्रो मे तथा 25 रु प्रति व्यक्ति प्रतिमाह शहरी क्षेत्रो मे वर्ष 1960–61 की कीमतो पर किया गया है, जो वर्ष 1980–85 की कीमतो पर 107 रु एव 122 रु आता है। यह उपभोग स्तर भी बहुत कम है।

(4) प्रशासनिक पहलू—खाद्य समस्या का चौथा पहलू देश मे खाद्यान्नो की उचित वितरण व्यवस्था का नही होना है। देश मे पर्याप्त खाद्यान्न उत्पादन होने वाले वर्ष मे भी उपभोक्ताओ को खाद्यान्न की उपलब्धि मे अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है और उन्हे निर्धारित कीमत से अधिक कीमत का भुगतान करना पडता है। व्यापारी, सम्पन्न कृषक एव अन्य व्यक्ति लाभ की प्राप्ति के लिए खाद्यान्नो का सग्रहण कर लेते हैं और उसमे सट्टे की प्रवृत्ति अपनाते हैं। बाजार मे खाद्यान्नो की कृत्रिम कमी उत्पन्न करते हैं तथा कालाबाजारी करके उपभोक्ताओ

से अधिक कीमत प्राप्त करते हैं। अतः खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के उपायों के साथ-साथ देश में खाद्यान्नों की उचित वितरण प्रणाली का होना भी आवश्यक है। सरकार समय-समय पर इस वितरण प्रणाली में सुधार लाने के लिए अनेक उपाय जैसे—व्यापारियों का अनुज्ञापत्र जारी करना, उनके स्टाक रखने की सीमा नियत करना, खाद्यान्नों की अधिप्राप्ति करके बफर स्टॉक बनाना, उचित दुकानों के माध्यम से वितरण करना, खाद्यान्नों का राशनिंग करना तथा खाद्यान्नों के व्यापार का अधिग्रहण करके वितरण प्रणाली में सुधार लाती है। अनेक बार इनके होते हुए भी उपभोक्ता को राहत नहीं मिलती है।

भारत में खाद्यान्नों की कमी के कारण

भारत में खाद्यान्नों की कमी उत्पन्न होने के प्रमुख कारण निम्न हैं--

(1) देश का विभाजन--स्वतन्त्र भारत में खाद्यान्नों की कमी उत्पन्न होने का प्रथम कारण देश का विभाजन होना था। देश के विभाजन में खाद्यान्न उत्पादन में अधिशेष वाले क्षेत्र जैसे--पश्चिमी पजाब, सिन्ध एव पूर्वी बगाल प्रान्त पाकिस्तान देश में चले गये तथा खाद्यान्न उत्पादन में कमी वाले क्षेत्र जैसे तमिलनाडु, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल आदि प्रान्त भारत में रह गये। विभाजन में भारत वर्ष को 81 प्रतिशत जनसंख्या के साथ 77 प्रतिशत क्षेत्रफल ही प्राप्त हुआ। अधिकांश सिंचित क्षेत्र भी पाकिस्तान में चला गया। इस कारण स्वतन्त्र भारत में खाद्य समस्या उत्पन्न हुई।

(2) जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि—देश में खाद्यान्न समस्या उत्पन्न होने का दूसरा कारण जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि होना है। देश की जनसंख्या वर्ष 1901 में 238 4 मिलियन थी, जो बढ़कर वर्ष 1981 में 683 8 मिलियन व वर्ष 1991 में 843.9 मिलियन हो गई। पिछले नौ दशकों में से वर्ष 1911 से 1921 के दशक के अतिरिक्त सभी दशकों में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। वर्ष 1951 से 1961 के दशक में जनसंख्या में 21 51 प्रतिशत, वर्ष 1961 से 1971 के दशक में 24.80 प्रतिशत, 1971 से 1981 के दशक में 24 75 प्रतिशत एव 1981 से 1991 के दशक में 23 41 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है। सारणी 3 7 से यह भी स्पष्ट है कि देश में ग्रामीण एव शहरी दोनों ही क्षेत्रों में जनसंख्या में वृद्धि हुई है। ग्रामीण क्षेत्र की जनसंख्या का कुल जनसंख्या में प्रतिशत में निरन्तर गिरावट आई है जो वर्तमान में 76.27 प्रतिशत है तथा शहरी क्षेत्रों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है जो वर्तमान में 23.73 प्रतिशत हो गई है। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जनसंख्या का पलायन होने के कारण भी शहरी क्षेत्रों की जनसंख्या में वृद्धि हुई है। अतः स्पष्ट है कि भारत में जनसंख्या निरन्तर तीव्रगति से प्रत्येक दशक में बढ़ी है।

सारणी 3 8 मे भारत मे भविष्य मे होने वाली जनसख्या का आकलन दिया गया है। श्री आर कानन एव टी के चक्रवर्ती ने दो दर पर आकलन दिए हैं। उनके अनुसार वर्ष 2001 मे 1016 मिलियन, डा थामाराजक्सी के अनुसार 864 मिलियन एव भारत सरकार के जनसख्या रजिस्ट्रार जनरल के अनुसार 959 से 1052 मिलियन जनसख्या होने का आकलन है। डा थामाराजक्सी का आकलन का स्तर निम्न है क्योकि वर्ष 1991 मे जनसख्या 844 मिलियन स्तर पर पहुँच चुकी है। जनसख्या का इस दशक के अन्त तक 100 करोड पहुँचने का अनुमान सत्य होने की आशा की जा रही है। अत इन आकलनो से भी स्पष्ट है कि जनसख्या मे भविष्य मे भी वृद्धि तीव्र गति से होगी, जो खाद्यान्नो की कमी उत्पन्न करने का एक कारण बना रहेगा।

जनगणना 1991 के अनुसार, जनसख्या का घनत्व 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर क्षेत्र है जो वर्ष 1981 की जनगणना के अनुसार 221 ही था। विभिन्न राज्यो मे जनसख्या का घनत्व सर्वाधिक पश्चिम वगाल मे एव केन्द्र शासित प्रदेशों मे दिल्ली मे है। भारत मे वर्ष 1981 से 1991 के काल मे 16 06 करोड जनसख्या मे वृद्धि हुई है जो जापान देश की कुल जनसख्या से भी अधिक है।

सारणी 3 7

मारत में विभिन्न वर्षों मे जनसख्या

जनगणना वर्ष	कुल जनसख्या (मिलियन)	ग्रामीण क्षेत्रो की जनसख्या (मिलियन)	शहरी क्षेत्रो की जनसख्या (मिलियन)	जनसख्या मे प्रति दशक वृद्धि दर (प्रतिशत)	जनसख्या का घनत्व (प्रति वर्ग किलो मीटर
1901	238 4	212 5 (89 10)	25.9 (10 90)	—	NA
1911	252 1	226 2 (89 71)	25 9 (10 29)	+ 5 75	NA
1921	251 3	223 2 (88 82)	28 1 (11 18)	— 0 31	81
1931	279 0	245 5 (88 00)	33 5 (12 00)	+11 00	90
1941	318 7	274 5 (86 14)	44 2 (13 86)	+14 22	103
1951	361 1	298 7 (82 72)	62 4 (17 28)	+13 31	117
1961	439 2	360 3 (82 02)	78 9 (17 98)	+21 51	142
1971	548 2	439 1 (80 69)	109 1 (19 31)	+24 80	177
1981	683 8	521 5 (76 27)	162 3 (23 73)	+24 75	221
1991	843 9	626 8 (74 28)	217 1 (25 72)	+23 50	267

Note Figures in Parentheses are Percentages of total Population

स्रोत • Registrar General and Census Commissioner of India

सारणी 3 8

भारत मे जनसख्या का आकलन

(मिलियन मे)

वर्ष	आकलन कर्ता	जनसख्या		
		कुल जनसख्या	ग्रामीण क्षेत्रो की	शहरी क्षेत्रो की
श्री आर. कन्नन एव टी.के चक्रवर्ती द्वारा दिए गए आकलन				
1986	मॉडल A	754 98	567.06	187 92
	मॉडल B	754.98	567 06	187 92
1991	मॉडल A	827 56	611 54	216 32
	मॉडल B	833.86	615.75	217 81
1996	मॉडल A	902 88	655.13	247.75
	मॉडल B	920 32	667.78	252 54
2001	मॉडल A	979 87	697.57	282 30
	मॉडल B	1016.10	723 36	292 74
डा ग्रार. थामाराजक्सी के द्वारा दिए गए आकलन				
जुलाई 1985		703 00	—	—
जुलाई 2001		864 00	—	—
भारत सरकार के रजिस्ट्रार जनरल द्वारा सशोधित ग्राकलन				
1991–1996		925.13	667 77 (72 18)	257.36 (27.82)
1992–1997		941 37	674 80 (71 68)	266 57 (28 32)
1996–2001		1006.20	699 33 (69 50)	306.87 (30 50)
2001–2006		1085 98	722 34 (66.52)	363 64 (33.48)
2006–2011		1164 25	738 52 (63.43)	425 73 (36 57)

Notes · (1) In the R. Kannan and T. K. Chakarbarty the model A & B means

Model A=Based on projections of compound growth rate of 2 0, 1.86, 1.75 and 1.65 percent per annum during the period 1981-86, 1986-91, 1991-96 and 1996-2001 period.

Model B=Based on natural increase of 2.0 per cent per annum as was there in 1970-79.

(2) Dr. R. Thamarajakshi's estimates of population are based on a growth of 1.55 percent during 1981-1991 and 1.30 per cent per annum during 1991-2000

(3) The projections given by Registrar General of India have been adjusted in the light of the 1991 census results and are based on similar projections as adopted by the standing Committee of Experts on population projections i.e. at a growth rate of 1.81 per cent per annum during 1991-96 and 1 65 per cent during 1996-2001.

Sources : (1) R. Kannan and T. K. Chakarbarty; Demand Projections for selected Food Items in India, 1985-86 to 2000-2001, Economic and Political Weekly—Review of Agriculture, Vol. 18 (52 & 53) December 24-31, 1983, pp A-135 to 142.

(2) Yojana, Vol 17(1), January 26, 1973, p. 8.

(3) Registrar General of India, Taken from Eighth Five Year Plan (1992-97), Planning Commission, Government of India, New Delhi.

(3) कृषि उत्पादकता कम होना—देश मे खाद्यान्नो की बढती हुई समस्या का तृतीय कारण कृषि उत्पादकता का कम होना है। भारत मे भूमि एव श्रम उत्पादकता विकसित देशो की अपेक्षा कम है। भारत मे वर्ष 1989–90 मे प्रति हैक्टर औसतन उत्पादन चावल का 17 56 क्विण्टल एव गेहूँ का 21 17 क्विण्टल था जो विकसित देशो एव देश मे ही राष्ट्रीय प्रदर्शनो की औसत उत्पादकता से बहुत कम है। कृषको द्वारा भूमि पर निरन्तर फसलो के उत्पन्न करने व आवश्यक खाद्य तत्त्वो की भूमि मे प्रति वर्ष पूर्ति नही करने से भूमि की उर्वरता निरन्तर कम होती जा रही है। भूमि उत्पादकता के समान श्रम उत्पादकता भी भारत मे कम है और उसमे निरन्तर गिरावट हो रही है।

(4) प्राकृतिक प्रकोपो का होना—भारतीय कृषि मुख्यतया प्रकृति पर निर्भर करती है। भारत मे प्रतिवर्ष किसी न किसी क्षेत्र मे कोई न कोई प्राकृतिक प्रकोप होता रहता है। प्राकृतिक प्रकोपो मे समय पर वर्षा का न होना, सूखा पडना, अतिवृष्टि, बाढ़ आदि प्रमुख हैं, जिनके कारण कृषि उत्पादन-कम होता है और खाद्यान्नो की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

कृषि-उत्पादन के लिए सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था का होना ग्रावश्यक है। भारत मे 36 5 प्रतिशत क्षेत्र मे ही सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था है ग्रौर देश का शेष 63 5 प्रतिशत क्षेत्रफल कृषि-उत्पादन के लिए वर्षा पर निर्भर है। ससार मे भारत के ग्रतिरिक्त ग्रन्य कोई देश नही है जहा पर कृषित क्षेत्र का इतना ग्रधिक भाग कृषि उत्पादन के लिए वर्षा पर निर्भर करता हो। भारत मे समय समय पर सूखा पडता रहा है। वर्षा के नही होने, कम होने ग्रथवा समय पर नही होने के कारण सूखा पडता है। सूखे का प्रकोप सबसे ग्रधिक उन क्षेत्रो मे होता है जहा पर ग्रौसतन वर्षा प्रतिवर्ष 15 से 30 इच या इससे कम होती है। भारत मे सूखा ग्रधिकतर बिहार, उडीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बगाल, मध्य प्रदेश, ग्रान्ध्र प्रदेश एव कर्नाटक राज्यो मे पडा है, क्योकि इन राज्यो मे वर्षा कम होती है तथा राज्य की ग्रधिकाश कृषि भूमि कृषि उत्पादन के लिए वर्षा पर निर्भर करती है। इन क्षेत्रो मे वर्षा के कम होने के साथ-साथ वर्षा समय पर भी नही होती है। देश मे वर्षा के पिछले ग्राकडो के ग्रध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रत्येक 5 वर्ष मे एक या दो अच्छी वर्षा वाले वर्ष, एक या दो कम वर्षा वाले वर्ष एव शेष ग्रौसत वर्षा वाले वर्ष होते है। सूखे के कारण देश मे खाद्यान्न उत्पादन कम होता है एव सूखे से क्षेत्र के निवासियो की रक्षा करने पर सरकार की ग्राय का बहुत बडा भाग व्यय होता है।

वर्ष 1962–63 से 1973–74 के दशक मे देश मे सूखे का प्रकोप ग्रधिक हुआ है। वर्ष 1965–66 व 1966–67 का सूखा विशेष उल्लेखनीय है। यह सूखा भारत के अधिकाश राज्यो मे था। सूखे के कारण देश मे खाद्यान्नो का उत्पादन 1965–66 मे 72 34 मिलियन टन एव 1966–67 मे 74 23 मिलियन टन ही प्राप्त हुग्रा, जो सूखा से पहले के वर्ष 1964–65 की अपेक्षा 17 मिलियन टन कम था।

कम एव ग्रसामयिक वर्षा के कारण 1972–73 का सूखा इस दशक का महत्त्वपूर्ण सूखा था। इस सूखे से देश के 340 जिलो मे से 230 जिले एव 56 करोड जनसख्या मे से 20 करोड से ग्रधिक जनसख्या प्रभावित हुई। सूखे के कारण 1972–73 मे देश मे खाद्यान्न-उत्पादन 1970–71 की तुलना मे 13 25 मिलियन टन कम हुग्रा। व्यापारिक एव ग्रन्य फसलो के उत्पादन पर भी विपरीत प्रभाव पडा। देश की ग्रर्थव्यवस्था डाँवा डोल होना शुरू हो गई। सूखे का मुकाबला करने के लिए सरकार ने ग्रनेक सूखा-राहत कार्य शुरू किये, जिनका मुख्य उद्देश्य सूखाग्रस्त क्षेत्रो के निवासियो को रोजगार उपलब्ध कराना, क्षेत्र के नागरिको के लिए खाने-पीने की व्यवस्था करना, पशुग्रो के लिए चारे का प्रबन्ध करना एव कृषि उत्पादन मे वृद्धि के उपाय ग्रपनाना है। वर्ष 1973–74 मे भी ग्रसम, बिहार, गुजरात,

मध्य-प्रदेश, राजस्थान, पंजाब एवं जम्मू-कश्मीर राज्यों के कई भागों में बाढ़ से फसल को हानि हुई। अक्टूबर, 1973 में आये तूफान ने उड़ीसा राज्य में खड़ी फसल को नुकसान पहुँचाया। वर्ष 1978 79, 1981-8?, 1984-85, 1985-86 व 1986-87 में भी सूखे के कारण उत्पादन कम प्राप्त हुआ।

देश में सूखे के निरन्तर प्रकोपों के कारण विभिन्न राज्य सरकारों को सूखा-राहत कार्यों में भारी मात्रा में धन व्यय करना पड़ा है। विभिन्न राज्य सरकारों ने सूखा-राहत कार्यों पर वर्ष 1966 से 1969 के तीन वर्षों में 236 करोड़ रुपये एवं 1969 से 1972 के तीन वर्षों में 410 करोड़ रुपये व्यय किये।

(5) संग्रहण काल में खाद्यान्नों का कीड़ों, बीमारियों एवं चूहों द्वारा नुकसान—खाद्यान्नों का बहुत बड़ा भाग प्रतिवर्ष संग्रहण-काल में कीड़ों, बीमारियों, चूहों एवं नमी आदि के कारण खराब हो जाता है। इसका प्रमुख कारण उचित एवं वैज्ञानिक संग्रहण-सुविधा का अभाव एवं संग्रहण-काल में खाद्यान्नों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था का न होना है।

(6) वितरण की दोषयुक्त प्रणाली का होना— देश में खाद्यान्न समस्या का एक कारण वितरण की दोष-युक्त प्रणाली का होना भी है। देश में खाद्यानों की आवश्यक मात्रा उत्पादित होते हुए भी प्रायः उपभोक्ताओं को उचित समय एवं उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध नहीं होते है। समाज-विरोधी तत्वों, व्यापारियों एवं बिचौलियों द्वारा खाद्यान्नों का संग्रहण करके कृत्रिम कमी उत्पन्न करना, इसका प्रमुख कारण है। खाद्यान्नों की कमी उत्पन्न होने के अन्य कारणों में, समय पर परिवहन सुविधा उपलब्ध न होना, राजनैतिक हस्तक्षेप से खाद्यान्नों के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध होना एवं वितरण के लिए सरकार के पास पर्याप्त व्यवस्था का न होना है।

(7) खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतें— खाद्यान्नों की कीमतों में निरन्तर वृद्धि होने के कारण भी देश के उपभोक्ता अपनी सीमित आय से आवश्यक मात्रा में खाद्यान्न क्रय नहीं कर पाते है। वर्ष 1955-56 से सभी कृषि वस्तुओं की कीमतों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कीमतों में वृद्धि के कारण उपभोक्ता अपनी सीमित आय से आवश्यक मात्रा में अच्छी किस्म के खाद्यान्न क्रय नहीं कर पाते हैं एवं वे सीमित आय से सस्ते खाद्यान्न क्रय करते है, जिससे खाद्यान्न की मात्रात्मक समस्या के साथ-साथ गुणात्मक समस्या भी उत्पन्न होती जाती है।

भारत में खाद्य समस्या का समाधान

देश की खाद्य समस्या को निम्न उपाय अपनाकर हल किया जा सकता है—

1 देश में कृषि के अन्तर्गत कृषित एवं सिंचित क्षेत्रफल में वृद्धि करना— खाद्यान्न की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए कृषि-क्षेत्र जो वर्षों से अकृष्य होने

अथवा अन्य कारणो से कृषित नही किया जाता था, उसे कृषि योग्य बनाकर खाद्यान्नो क उत्पादन बढाना चाहिए। कृषित क्षेत्रफल मे वृद्धि के साथ साथ देश मे सिचाई की सुविधाओ का भी विकास करना आवश्यक है। देश के विभिन्न क्षेत्रो मे नहरें, बाध, कुएँ बनाकर सिंचित क्षेत्रो मे वृद्धि की जा सकती है।

2 कृषि उत्पादकता मे वृद्धि करना—नये तकनीकी ज्ञान के उपयोग से देश म कृषि उत्पादकता मे वृद्धि की बहुत सम्भावना है। कृषक गोबर की खाद, उर्वरको का उपयोग, उन्नत किस्मो के बीजो का उपयोग, उचित गहराई तक जुताई एव बीमारियो एव कीडो द्वारा होने वाली हानि को कम करके कृषि उत्पादकता मे वृद्धि कर सकते हैं। वर्तमान मे देश मे हरित-क्रान्ति के फलस्वरूप विभिन्न खाद्यान्नो की उत्पादकता मे वृद्धि हुई है। तिलहन एव दलहन की उत्पादकता मे वृद्धि करना अति आवश्यक है।

3 सग्रहण-काल मे होने वाली क्षति को कम करना—सग्रहण काल मे होने वाली क्षति की रोकथाम करके भी देश मे खाद्यान्न उपलब्धि की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है। खाद्यान्न की इस क्षति को उचित भण्डारण व्यवस्था, सग्रहण काल मे कीटनाशी दवाइयो के छिड़काव एव तापक्रम व नमी का नियन्त्रित करके कम किया जा सकता है।

4 कृषको को उत्पादन वृद्धि के नये तरीको का ज्ञान प्रदान करना—कृषको को तकनीकी ज्ञान प्रदान करके एव उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देकर भी खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है।

5 देश मे जनसख्या वृद्धि की दर को कम करना—खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि होते हुए भी बढती हुई जनसख्या पर नियन्त्रण नही करने की अवस्था मे देश मे होने वाली खाद्यान्नो की कमी को स्थायी रूप से दूर करना सम्भव नही है। अत खाद्यान्न समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए जनसख्या पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। वर्तमान मे सरकार द्वारा जनसख्या को कम करने के लिए विविध उपाय अपनाये जा रहे है।

6 उपभोक्ताओ की उपभोग आदतो मे परिवर्तन करना—वर्तमान मे देश के उपभोक्ता अधिकाश मात्रा मे खाद्यान्नो का उपयोग करते हैं। उपभोक्ता अन्य वस्तुए जैसे—सब्जियाँ फल, अण्डे, मास, मछली का बहुत कम मात्रा मे उपभोग करते हैं। उपभोक्ताओ की इस प्रकार की आदतो का प्रमुख कारण उनमे रुढिवादिता, अशिक्षा, अज्ञानता आदि कुरीतियो का व्याप्त होना है। अत खाद्यान्नो की बढती हुई माग को कम करने के लिए उपभोक्ताओ की उपभोग की आदतो मे परिवर्तन करना भी आवश्यक है, जो कि शिक्षा के माध्यम से सम्भव है।

उपर्युक्त प्रथम चार विधिया खाद्य-समस्या को परोक्ष रूप से हल करने में सहायक होती है जबकि अन्तिम दो विधियाँ खाद्य-समस्या को प्रत्यक्ष रूप से हल करती हैं। इन दोनो विधियो को अपनाने से देश मे खाद्यान्नो की माँग मे कमी होती है।

भारत की खाद्य-नीति

वर्ष 1943 मे देश मे बगाल-अकाल के कारण सर्वप्रथम खाद्य-नीति निर्धारित की गई थी। खाद्य-नीति के निर्धारण मे सरकार द्वारा निम्न पहलुओ को मद्देनजर रखा गया था—

(i) खाद्यान्नो की कीमतो मे विशेष वृद्धि नही होने पाये, जिससे समाज के स्थायी आय वाले नागरिको एव मजदूर-वर्ग के व्यक्तियो के रहन-सहन स्तर पर विपरीत प्रभाव नही पडे।

(ii) देश मे खाद्यान्नो की कमी अथवा भूख से कोई व्यक्ति मरने नही पाये।

भारत की खाद्य-नीति आज भी उपर्युक्त पहलुओ पर आधारित है। खाद्य-नीति के उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकार, व्यापारियो एव राज्य सरकार की सस्थाओ के माध्यम से खाद्यान्नो के वितरण की व्यवस्था कर रही है।

बगाल-अकाल के समय से ही देश मे खाद्यान्नो की कमी चली आ रही है। यह खाद्यान्नो की कमी किसी वर्ष उत्पादन के कम होने से एव अन्य वर्षों मे वस्तुओ की पूर्ति, सरकार की नीति, व्यापारियो के लाभ कमाने की इच्छा परिवहन साधनो की कमी आदि कारणो से माँग के अनुकूल नही होने से उत्पन्न होती रही है। इस खण्ड मे खाद्यान्नो की बाजार मे पूर्ति एव माग से असन्तुलन के कारण उत्पन्न खाद्य समस्या के निराकरण के लिए सरकार द्वारा उठाये गये विभिन्न कदमो का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। खाद्यान्नो की उत्पादन वृद्धि के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयासो का विस्तृत विवेचन अध्याय 21 'कृषि मे तकनीकी ज्ञान का विकास' मे किया गया है।

स्वतन्त्रता के समय से ही खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि के लिए किए गए प्रयासो के फलस्वरूप देश मे इनके उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि हुई है, लेकिन उत्पादन मे निरन्तर वृद्धि होते हुए भी खाद्यान्नो की कीमतो मे तीव्रगति से वृद्धि हुई है एव देश मे आज भी खाद्य समस्या बनी हुई है। खाद्यान्नो की यह समस्या माग के अनुकूल उत्पादन नही होने के अतिरिक्त, मानव द्वारा उत्पन्न की गई कृत्रिम समस्या भी है, जिसके प्रमुख कारणो मे सरकार की दोष-पूर्ण नीति, व्यापारियो द्वारा सग्रहण करके कृत्रिम कमी उत्पन्न करने की प्रवृत्ति आदि मुख्य हैं। इस कमी का प्रमुख

प्रभाव समाज के गरीब वर्ग पर पडता है, जिन्हे उचित कीमत एव आवश्यक मात्रा मे खाद्यान्न उपलब्ध नही हो पाते हैं।

सरकार द्वारा इस दिशा मे उठाये गये प्रमुख कदम निम्न हैं—

(1) खाद्य क्षत्रों का निर्माण—सरकार इस नीति के अन्तर्गत खाद्यान्नो के एक क्षेत्र अथवा राज्य से दूसरे क्षेत्र/राज्य मे ले जाने अथवा लाने पर रोक लगाती है, ताकि एक क्षेत्र/राज्य मे खाद्यान्न की कमी से उत्पन्न समस्या का प्रभाव दूसरे क्षेत्र/राज्य की खाद्यान्न की कीमतो पर नही आ पाये। सरकार की यह खाद्यान्न सचालन-नीति व्यापारियो की कार्य प्रणाली पर रोक लगाने मे सक्षम होती है। अन्यथा व्यापारी वर्ग अधिपूर्ति वाले क्षेत्रो से कम कीमत पर खाद्यान्न क्रय करके कमी वाले क्षेत्रो मे अधिक कीमतो पर विक्रय करके अधिक लाभ कमाते है। यह लाभ देश के सभी क्षेत्रो मे खाद्यान्नो की कीमतो मे वृद्धि करने मे सहायक होता है। सरकार द्वारा खाद्य क्षेत्रो के निर्माण की नीति से विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचलित खाद्यान्नो की कीमतो पर कोई प्रभाव नही आता है। इस नीति मे सरकार स्वय अधिपूर्ति वाले क्षेत्रों से खाद्यान्न क्रय करके कमी वाले क्षेत्रों मे निर्धारित कीमतो पर विक्रय करती है।

सरकार द्वारा सर्वप्रथम इस नीति को बगाल अकाल के समय 1943 मे अपनाया गया था, जिसम समय समय पर आवश्यक सशोधन किये गये, लेकिन यह प्रणाली भारत मे एक राज्य अथवा दूसरे राज्य मे निरन्तर लागू रही है। सरकार खाद्य क्षेत्रा का निर्माण एक या अधिक राज्यो को सम्मिलित करके करती हैं। निर्मित खाद्य क्षेत्रो मे खाद्यान्न अधिपूर्ति एव कमी वाले दोनो ही प्रकार के राज्यो को सम्मिलित किया जाता है जिससे निर्धारित खाद्य-क्षेत्र खाद्यान्न मे पूर्ण स्वावलम्बी क्षेत्र बने।

(2) खुले बाजार मे खाद्यान्नो की खरीद—खाद्यान्नो की वितरण प्रणाली के निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति एव बफर स्टाक का निर्माण करने के लिए खाद्यान्नो को खुले बाजार में सरकार क्रय भी करती है। प्राप्त खाद्यान्नों से सरकार गरीब उपभोक्ताओ के लिए जो बढती हुई कीमतो पर खाद्यान्नो को क्रय कर पाने मे सक्षम नही है, उचित कीमत पर वितरण की व्यवस्था करती है। इसके लिए सरकार निम्न विधियो से खाद्यान्न एकत्रित करती है—

(अ) खुले बाजार से खाद्यान्नों का क्रय—खाद्यान्नो की प्राप्ति की यह विधि सरकार के लिए सबसे सरल है। इस विधि के अन्तर्गत सरकार बाजार मे अन्य व्यापारियों की तरह प्रवेश करती है और आवश्यक मात्रा मे स्वय अथवा निर्धारित एजेन्टो के द्वारा बाजार से विक्रय के लिए आये खाद्यान्नों को ऊ
लगाकर क्रय करती है। खाद्यान्नो के क्रय की इस विधि मे कई प्रकार
जाते हैं--

एव मिल मालिको से उसके द्वारा क्रय अथवा ससाधित की गई मात्रा के प्रतिशत के रूप मे वसूल करती है ।

(द) सरकार द्वारा एकाधिकारी क्रय—खाद्यान्नो के क्रय की यह विधि सरकार तब कार्यान्वित करती है जब खाद्यान्नो की अधिप्राप्ति की अन्य विधियो से सफलता प्राप्त नही होती है एव कीमतो के बढने से उपभोक्ता वर्ग मे असन्तोष की लहर फैलती है । इस विधि म सरकार बाजार मे कार्य करने वाली सभी सस्थाओ के अधिकार छीन लेती है । वर्ष 1973–74 मे अनेक राज्यो मे चावल, गेहूँ एव ज्वार की अधिप्राप्ति के लिए सरकार द्वारा यह विधि अपनाई गई थी । गेहूँ के थोक व्यापार को सरकार द्वारा अपने हाथ म लेने के कारण अधिकाश राज्यो मे गेहूँ निर्धारित कीमतो पर एकाधिकारी-पद्धति के द्वारा क्रय किया गया । चावल के लिए एकाधिकारी-क्रय की पद्धति असम, महाराष्ट्र एव उडीसा राज्य मे अपनाई गई । महाराष्ट्र मे ज्वार के लिए एकाधिकारी क्रय पद्धति अपनाई गई ।

3. कृषि लागत एव कीमत आयोग द्वारा कीमतो की घोषणा—भारत सरकार ने विभिन्न कृषि उत्पादो की सन्तुलित एव एकीकृत कीमतो के ढाचे का निर्धारण करने, सरकार को कीमतो के नियतन एव कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक सलाह देने तथा कृषि वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को कम करने के सम्बन्ध मे आवश्यक सुझाव देने के लिए जनवरी, 1965 मे कृषि-कीमत आयोग की स्थापना की । कृषि कीमत आयोग निरन्तर खरीफ एव रबी की फसलो की कीमतो के नियतन के लिए सरकार को सिफारिश करता है । सरकार उपयुक्त कीमतो पर राज्यो के मुख्यमन्त्रियो एव कृषि मन्त्रियो की सलाह के आधार पर कृषि-उत्पादो की विभिन्न किस्मो के लिए कीमतें नियत करती है । कृषि लागत एव कीमत-आयोग निम्न दो प्रकार की कीमतो की घोषणा के लिए सरकार को सुझाव देता है—

1000 49

(अ) न्यूनतम समर्थित कीमत—न्यूनतम समर्थित कीमत कृषको के लिए एक दीर्घकालीन प्रतिभूति का कार्य करती है । न्यूनतम समर्थित कीमत कृषको को विश्वास दिलाती है कि अधिक उत्पादन अथवा अन्य किसी कारण से वस्तुओ की पूर्ति के बढने पर भी कीमतो को निर्धारित न्यूनतम समर्थित स्तर मे नीचे नही गिरने दिया जायेगा । निर्धारित न्यूनतम स्तर से नीचे कीमतो के गिरने की अवस्था मे सरकार कृषको से नियत कीमतो पर खाद्यान्न क्रय करती है । न्यूनतम समर्थित कीमतो की घोषणा सरकार फसल की बुवाई के समय से पूर्व करती है, जिससे कृषक विभिन्न फसलो के अन्तर्गत लिए जाने वाले क्षेत्रफल का सही निर्णय ले सके । विभिन्न फसलो की न्यूनतम समर्थित कीमत अध्याय 17 मे दी गई है ।

(ब) अधिप्राप्ति/वसूली कीमत—अधिप्राप्ति कीमतें वे है जिन पर सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली एव बफर स्टॉक निर्माण के लिए आवश्यक मात्रा मे

खाद्यान्नो का क्रय करती है । ये कीमतें बाजार मे प्रचलित कीमतो से नीचे स्तर पर होती हैं, ताकि सरकार उपभोक्ताओ को उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध करा सके । विभिन्न खाद्यान्नो के लिए सरकार द्वारा निर्धारित अधिप्राप्ति कीमत अध्याय 17 मे दी गई है ।

4 गेहू की थोक व्यापार नीति --खाद्यान्नो की अत्यधिक दर से बढती हुई कीमतो को रोकने एव कीमतो मे वृद्धि से उपभोक्ताओ के रहन सहन के स्तर पर पडने वाले विपरीत प्रभाव को कम करने के लिए सरकार ने खाद्यान्न (गेहूँ एव चावल) के थोक व्यापार को वर्ष 1973--74 मे अपने हाथ मे लेने का निर्णय लिया था । इस निर्णय का ध्येय यह था कि गेहूँ की थोक व्यापार नीति के अन्तर्गत थोक व्यापारी गेहू का क्रय-विक्रय नही कर सकेंगे । सरकार, भारतीय खाद्य निगम, राज्य सहकारी विपणन सघ एव खाद्य व पूर्ति विभाग के माध्यम से गेहूँ का क्रय करेगी और इन्ही सस्थाओ के माध्यम से एक राज्य से दूसरे राज्य मे गेहूँ का सचालन हो सकेगा । गेहू के थोक व्यापार को सरकार द्वारा अपने हाथ मे लेने के निर्णय के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे---

(i) गेहू की कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को कम करना ।

(ii) सभी राज्यो मे गेहू को समुचित वितरण व्यवस्था कायम करना ।

(iii) गेहू की जमाखोरी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण लगाना, जिससे अनाज का वितरण सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे ।

सरकार द्वारा उपर्युक्त नीति को कार्यान्वित करने के सभी प्रयास किये गये लेकिन सरकार निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति मे सफल नही हो सकी । इसका प्रमुख कारण बाजार मे गेहू की अधिक कीमत का प्रचलित होना था । अत कृषक सरकार को निर्धारित कीमतो पर गेहू विक्रय नही करके, उपभोक्ताओं एव व्यापारियो को सरकार द्वारा निर्धारित कीमत से लगभग 50 से 60 प्रतिशत अधिक कीमत पर विक्रय करते थे । दूसरी ओर उपभोक्ता वर्ग भी भविष्य मे सरकार द्वारा निर्धारित कीमतो पर खाद्यान्नो की उपलब्धि के प्रति शक शील थे । इस कारण सरकार निर्धारित वसूली के लक्ष्य (गेहू 8 1 मिलियन टन) से बहुत कम मात्रा मे गेहूँ वसूल कर पायी । साथ ही सरकार द्वारा प्राप्त गेहू, औसत किस्म के गेहू की अपेक्षा अनेक क्षेत्रो मे निम्न श्रेणी के थे । निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नही हो पाने की स्थिति मे, सरकार ने उत्पादको से लेवी के माध्यम से गेहू वसूल करने का प्रयास किया । खाद्यान्न व्यवसाय में लगे हुए व्यापारी वर्ग ने बेरोजगारी के कारण सरकार की इस नीति का विरोध किया । अत. सरकार ने 1974 म गेहू की थोक व्यापार नीति का निरस्तीकरण कर दिया ।

5. खाद्यान्नो की वितरण प्रणाली—खाद्यान्नो की अधिप्राप्ति के साथ-साथ उचित कीमत पर उनके वितरण की व्यवस्था का भी सरकार प्रबन्ध करती है, जिससे समाज के निर्धन वर्ग को उचित कीमत पर न्यूनतम आवश्यक मात्रा मे खाद्यान्न उपलब्ध हो सके और बढती हुई कीमतो से उन्हे राहत मिल सके। खाद्यान्न की वितरण प्रणाली को बनाये रखने के लिए सरकार आवश्यक मात्रा मे खाद्यान्न आन्तरिक अधिप्राप्ति एव आयातित खाद्यान्नो की मात्रा से पूरी करती है। सरकार खाद्यान्नो के वितरण की व्यवस्था राशन की दुकानो एव उचित कीमत की दुकानो के माध्यम से करती है। उचित कीमत की दुकानो के माध्यम से वितरित किये जाने वाले खाद्यान्नो की कीमतें खुले बाजार की कीमतो से कम स्तर पर नियत की जाती हैं, जिससे निर्धन-वर्ग के व्यक्तियो को राहत मिलती है। सारणी 3.9 सरकार द्वारा विभिन्न खाद्यान्नो की उचित कीमत राशन की दुकानो के माध्यम से विक्रय के लिए विभिन्न वर्षों मे नियत बिक्री कीमतें (Issue Prices) प्रदर्शित करती हैं। भारत मे वर्ष 1968 के अन्त मे 1.40 लाख उचित कीमत की दुकानें थीं, जो निरन्तर बढकर वर्ष 1991 मे 3 60 लाख हो गई। वर्तमान मे यह दुकानें 792 5 मिलियन जनसख्या को आवश्यक मात्रा मे खाद्यान्न एव अन्य उपभोक्ता वस्तुएं जैसे चीनी, केरोसीन तेल, खाद्य तेल, कोयला, चाय एव कपडा उपलब्ध करा रही हैं। सरकार दिसम्बर, 1985 से एकीकृत आदीवासी विकास कार्यक्रम क्षेत्र एव आदीवासी बाहुल्य राज्यो के निवासियो को गेहूं एव चावल सहायतार्थ कीमत (Subsidised prices) पर उपलब्ध करा रही है।

सारणी 39

खाद्यान्नो के वितरण के लिए नियत बिक्री कीमतें

(रुपये प्रति क्वि०)

खाद्यान्न	प्रभावशील दिनाक	किस्म एव कीमत
1	2	3
1. गेहू	4 मई, 1969	84 00 अच्छी किस्म एव 78.00 अन्य किस्म
	29 मई, 1973	84 00अच्छी किस्म एव 78.00 देशी एव मैक्सिकन किस्म
	8 नवम्बर, 1973	96 00 अच्छी किस्म एव 90 00 देशी, मैक्सिन एव लाल किस्म
	15 अप्रैल, 1974	125.00 सभी किस्मे
	1 दिसम्बर, 1978	130 00 सभी किस्मे
	1 अप्रैल, 1981	145 00 सभी किस्मे
	1 अगस्त, 1982	160 00 सभी किस्मे
	15 अप्रैल 1983	172 00 सभी किस्मे एव रोलर आटे मिल के लिए 208 । यह दर 10-8-84 से पुन: 172 की गई ।
	1 फरवरी, 1986	190 00 सभी किस्मे व रोलर मिल के लिए 190 जो 1–4–1986 से वृद्धि करके 220 एव 16–7 1986 से कम करके पुन 205 की गई ।
	1 मई, 1987	195 00 सभी किस्मे
	25 मार्च, 1988	204 00 सभी किस्मो के लिए
	1 मई, 1990	245 00 सभी किस्मो के लिए
	28 दिसम्बर, 1991	280 00 सभी किस्मो के लिए
	1992	320 00 सभी किस्मो के लिए
	11 जनवरी, 1993	370 00 सभी किस्मो के लिए

1	2	3			
2 मोटे अनाज (ज्वार, बाजरा, मक्का एव रागी)	1 दिसम्बर, 1972	65.00 साधारण किस्म			
	1 नवम्बर, 1973	80 00 साधारण किस्म			
	1 जनवरी, 1975	86 00 साधारण किस्म			
	25 अक्टूबर, 1979	96 00 साधारण किस्म			
	1 जनवरी 1981	106 00 साधारण किस्म			
	1 अक्टूबर, 1981	117 00 साधारण किस्म			
	29 दिसम्बर, 1983	157 00 बाजरा के लिए			
	1 अक्टूबर, 1990	199 00 सभी मोटे अनाजो के लिए			
		मोटी	मध्यम	अच्छी	बहुत अच्छी किस्म
3 चावल	4 मई, 1969	100	111	120	128
	1 नवम्बर, 1973	125	140	150	160
	1 जनवरी, 1975	135	150	162	172
	15 अक्टू. 1976 (कच्चा)	135	150	162	172
	पारबोइल्ड	137	152	164	174
	25 अक्टू, 1979* (कच्चा)	—	150	162	172
	पारबोइल्ड	—	152	164	174
	1 जनवरी, 1981	—	165	177	192
	1 अक्टूबर, 1981	—	175	187	202
	1 अक्टूबर, 1982	—	188	200	215
	16 जनवरी, 1984	—	208	220	235
	10 अक्टूबर, 1985	—	217	229	244
	1 फरवरी, 1986	—	231	243	258
	1 अक्टूबर, 1986	—	239	251	266
	1 अक्टूबर 1987	—	239	264	279
	1 जनवरी, 1989	—	244	304	325
	1 जून, 1990	—	289	349	370
	28 दिसम्बर 1991	—	377	437	458
	11 जनवरी, 1993	—	485	545	565

*दिनाक 25 अक्टूबर 1979 से चावल की मोटी एव मध्यम किस्म को सम्मिलित रूप से साधारण किस्म मे वर्गीकृत किया गया है।

स्रोत Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi

□□□

अध्याय 4

भारतीय कृषि में उत्पादन के कारक

कृषि-व्यवसाय मे उत्पादन के चार प्रमुख कारक—भूमि, श्रम, पूजी एव प्रबन्ध हैं। उत्पादन के कारको की पूर्ति करने वाले उत्पादन कारको के स्वामी (Owners or Agents of Production) कहलाते हैं। भूमि कारक की पूर्ति करने वाला भू-स्वामी, श्रम-कारक की पूर्ति करने वाला श्रमिक, पूजी-कारक की पूर्ति करने वाला पूँजीपति एव प्रबन्ध करने वाला प्रबन्धक/व्यवस्थापक कहलाता है। कृषि उत्पादन के क्षेत्र मे उपर्युक्त चारो ही कारक समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं। किसी भी कारक की सीमितता की अवस्था मे फार्म से उत्पादन की इच्छित मात्रा प्राप्त नही हो सकती है। उत्पादन की अधिकतम मात्रा प्राप्त करने के लिए उत्पादन के विभिन्न कारकों को भिन्न-भिन्न मात्राओ मे कृषक उपयोग करते हैं। उत्पादन के कारको का अनुकूलतम सयोग करने से फार्म पर उत्पाद की उत्पादन लागत मे कमी होती है एव फार्म से लाभ अधिक प्राप्त होता है। इस अध्याय मे उत्पादन के विभिन्न कारको एव उनसे सम्बन्धित समस्याओ का विस्तृत विवेचन किया गया है।

भूमि

कृषि-उत्पादन का प्रथम मुख्य उत्पादन-कारक भूमि है। यहा पर भूमि से तात्पर्य भू-तल, उसके ऊपर एव नीचे मिलने वाली सभी प्राकृतिक वस्तुए, जैसे—पहाड, नदी, झरने, खनिज पदार्थ से है। भूमि प्रकृति का उपहार है। जिन देशो मे प्राकृतिक देन विशाल होती है वे देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक उपहारो मे सीमितता वाला देश सुगमता से आर्थिक समृद्धि प्राप्त नही कर सकता है। देश के सभी प्राथमिक उद्योग उत्पादन के लिए मुख्यतया भूमि

पर निर्भर होते हैं। निर्मित उद्योगो के लिए आवश्यक कच्चा माल भी भूमि से ही प्राप्त होता है।

भारत मे भूमि का उपयोग—उपयोग की दृष्टि मे भूमि को निम्नलिखित 5 श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जाता है

(1) वन भूमि/जगल—वन-भूमि फसल उत्पादन के उपयोग मे नही आ सकती है। इस भूमि पर स्वत घास, बास एव अन्य पेड-पौधे उग आते हैं। जगलो को कृषि योग्य बनाने के लिए साफ करना होता है जिस पर काफी धन व्यय करना होता है।

(2) कृषि के लिए उपलब्ध न होने वाला क्षेत्र—यह दो प्रकार का होता है—

(अ) बजर एव अकृष्य भूमि—इसके अन्तर्गत पहाड, टीले, रेगिस्तान आदि की भूमि आती है जिस पर या तो कृषि करना सम्भव नही है अथवा उस भूमि पर कृषि करना आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होता है।

(ब) गैर कृषि कार्यों मे प्रयुक्त भूमि—इसके अन्तर्गत भवन, सडक, रेल, नहर आदि के नीचे आने वाली भूमि आती है जो कृषि करने के लिए उपलब्ध नही होती है।

(3) परती भूमि के अतिरिक्त अकृष्य भूमि—यह तीन प्रकार की होती है—

(अ) स्थायी चरागाह एव गोचर भूमि—यह पशुओ की चराई के लिए प्रयुक्त भूमि है।

(ब) विविध वृक्ष एव कुजो के अन्तर्गत की भूमि जो शुद्ध कृषित क्षेत्र मे सम्मिलित नही की गई है।

(स) कृषि योग्य व्यर्थ भूमि (Culturable waste land)—यह वह भूमि है जिसका कृषि कार्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है लेकिन अभी तक वह व्यर्थ पडी हुई है। इस भूमि के क्षेत्र पर उचित लागत लगाकर उसे कृषि के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

(4) परती भूमि—यह दो प्रकार की होती है—

(अ) चालू परती भूमि—यह वह भूमि है जो कृषि योग्य होते हुए भी चालू वर्ष मे कृषित नही की गई है। साधारणतया कृषक भूमि की उवरा शक्ति मे वृद्धि करने के लिए भूमि को चालू वर्ष में परती छोड देते हैं।

(ब) चालू परती भूमि के अतिरिक्त अन्य परती भूमि—यह वह भूमि है जो एक वर्ष से अधिक लेकिन 5 वर्ष से कम समय के लिए परती छोडी जाती है। इस प्रकार की परती भूमि कृषको द्वारा भूमि की उर्वरा शक्ति मे वृद्धि करने, कृषको के पास पर्याप्त धनराशि न होने, फाम पर सिंचाई के साधन उपलब्ध नही होने तथा भूमि के खराब होने की अवस्था मे छोडी जाती है।

(5) कृषित क्षेत्र—यह भूमि का वह क्षेत्र है जो कृषि के लिए उपयोग में लिया जाता है। देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र में से उपर्युक्त चारों श्रेणियों की भूमि का क्षेत्र घटाने पर जो भूमि का क्षेत्र शेष रहता है, वह शुद्ध कृषित क्षेत्र कहलाता है। शुद्ध कृषित क्षेत्र में वर्ष में एक से अधिक बार कृषित किये जाने वाले क्षेत्र को सम्मिलित करने पर प्राप्त भूमि का क्षेत्र सकल कृषित क्षेत्र (Gross cropped area) कहलाता है।

उपर्युक्त श्रेणियों के अनुसार भारत में भूमि के उपयोग के आंकड़े सारणी 4.1 (पृष्ठ 79–80) में दिये गए हैं।

देश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 328.726 मिलियन हैक्टर है। उसमें से शुद्ध कृषित क्षेत्रफल वर्ष 1950–51 में 118.746 मिलियन हैक्टर (41.8 प्रतिशत) था, जो बढ़कर वर्ष 1980–81 में 140.0 मिलियन हैक्टर एवं वर्ष 1988–89 में 141.731 मिलियन हैक्टर (46.50 प्रतिशत) हो गया। इस प्रकार 38 वर्षों में शुद्ध कृषित क्षेत्र में 22.985 मिलियन हैक्टर या 4.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस काल में सकल कृषित क्षेत्रफल में 48.216 मिलियन हैक्टर की वृद्धि हुई है। यह वृद्धि वर्ष में एक बार से अधिक कृषित किये जाने वाले क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण हुई है। पिछले 38 वर्षों में वनों के अन्तर्गत क्षेत्रफल में वृद्धि 26.60 मिलियन हैक्टर या 60 प्रतिशत की हुई है। कृषित क्षेत्र एवं वनों के अन्तर्गत क्षेत्रफल में वृद्धि, परती भूमि, बंजर एवं अकृष्य भूमि एवं विविध वृक्षों एवं कुओं के अन्तर्गत भूमि के क्षेत्रफल में कमी के कारण हो पाई है।

कृषि जोत

कृषि जोत से सामान्यतः तात्पर्य फार्म की प्रबन्ध इकाई से होता है अर्थात् भूमि का वह क्षेत्र जो कृषि करने के लिए व्यक्ति/परिवार के पास सम्मिलित रूप में होता है। कृषि जोत का यह क्षेत्रफल स्वयं की भूमि, लगान पर ली हुई भूमि तथा अंशतः निजी एवं अंशतः लगान पर ली हुई भूमि का हो सकता है। कृषि जोत का क्षेत्रफल कृषि उत्पादन-क्षमता में परिवर्तन लाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण कृषि जोत एक खण्ड में न होकर अनेक खण्डों में विभक्त हो सकती है जो उत्पादन-क्षमता को प्रभावित करती है।

देश अथवा राज्य में जोत का औसत आकार ज्ञात करने के लिए देश/राज्य के कुल जोत के अन्तर्गत क्षेत्रफल में कृषित जोतों की संख्या का भाग दिया जाता है। जोत का औसत आकार देश, राज्य में भूमि पर जनसंख्या का भार एवं कृषि की औसत इकाई के क्षेत्रफल का द्योतक होता है। कृषि जोत के एक इकाई क्षेत्रफल से प्राप्त उत्पादन की मात्रा एवं आय में विभिन्न क्षेत्रों में बहुत असमानता होती है, क्योंकि देश/राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में भूमि की उर्वरा शक्ति, जलवायु, कृषि के

सारणी 4.1

भारत मे भूमि का उपयोग

(क्षेत्रफल मिलियन हैक्टर मे)

भूमि का उपयोग	1950–51	1960–61	1970–71	1980–81	1988–89
1	2	3	4	5	6
1. देश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल	328,726	328 726	328.726	328 726	328 726
2. कुल क्षेत्रफल जिसके लिए	284 315	298 458	303.758	304 159	304 827
आकड़ उपलब्ध है	(100)	(100)	(100)	(100)	(100)
3. विभिन्न उपयोगो के अन्तर्गत					
(अ) वनो के अन्तर्गत	40 482	54 052	63.917	67 473	67 082
क्षेत्रफल	(14 2)	(18 1)	(21 04)	(22 18)	(22 01)
(ब) कृषि कार्यों के लिए	47 157	50 751	44 639	39 618	41 238
उपलब्ध नही होने	(16 7)	(17 0)	(14 70)	(13 03)	(13 53)
वाला क्षेत्रफल					
(i) गैर कृषि कार्यों मे	9 357	14 840	10 478	19 656	21 249
प्रयुक्त भूमि का क्षेत्रफल	(3.3)	(5 0)	(5 43)	(6 47)	(6 97)
(ii) बजर एव अकृष्य भूमि	38 160	35 911	28 161	19 962	19 989
का क्षेत्रफल	(13 4)	(12 0)	(9 27)	(6 56)	(6 56)
(स) परती भूमि के अतिरिक्त	49.446	37 637	35.060	32.318	30 476
अकृष्य भूमि का क्षेत्रफल	(17.4)	(12 6)	(11 54)	(10 63)	(10 00)

1	2	3	4	5	6
(i) स्थायी चरागाह एव गोचर भूमि का क्षेत्रफल	6 675 (2 3)	13 966 (4.7)	13 261 (4 36)	11 974 (3 94)	11 796 (3 87)
(ii) विविध वृक्षो एव कुञ्जो के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल	19.828 (7 0)	4 459 (1 5)	4 299 (1 42)	3 600 (1 18)	3 452 (1 13)
(iii) कृषि योग्य व्यर्थ भूमि का क्षेत्रफल	22 943 (8 1)	19 212 (6 4)	17 500 (5 76)	16 744 (5 51)	15 228 (5 00)
(द) परत भूमि का क्षेत्रफल	28 124 (9.9)	22 819 (7 7)	19 875 (6 54)	24 748 (8.14)	24 300 (7 97)
(i) चालू परती भूमि का क्षेत्रफल	10 679 (3 8)	11 639 (3.9)	11 116 (3 66)	14 832 (4 88)	13 842 (4 54)
(ii) अन्य परती भूमि का क्षेत्रफल	17 445 (6 1)	11 180 (3 8)	8 759 (2 88)	9 216 (3 03)	10 458 (3 43)
(य) शुद्ध कृषित क्षेत्रफल	118 746 (41 8)	133 199 (44 6)	140 267 (46 18)	140 002 (46 03)	141 731 (46 50)
(र) सकल कृषि क्षेत्रफल	131 893	152 772	165 791	172 630	180 109
(ल) वर्ष मे एक बार से अधिक कृषित क्षेत्रफल	13 147	19 573	25 524	32 628	38 378

कोष्ठक मे दिए गए आंकडे, कुल क्षेत्रफल जिसके लिए आंकडे उपलब्ध है के प्रतिशत है।

स्रोत Agricultural situation in India, Vol XLVI (12), March 1992, pp 960–61.

प्रकार एव प्रणालियो मे बहुत असमानता पायी जाती है। अत जोत के औसत आकार से कृषको को प्राप्त होने वाली आय तथा कृषको के रहन-सहन के स्तर के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान प्राप्त नही हो पाता है। सारणी 4 2 विभिन्न राज्यो मे जोत की सख्या एव उनके औसत आकार के आँकडे प्रदर्शित करती है।

देश के विभिन्न राज्यो मे जोत के औसत आकार मे बहुत विभिन्नता है। असम, बिहार, जम्मू एव कश्मीर, केरल, उडीसा, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बगाल एव हिमाचल प्रदेश राज्य मे जोत का औसत आकार भारत के औसत से कम है, जबकि गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, पजाब एव राजस्थान राज्य मे जोत का औसत आकार देश के औसत से अधिक है। केरल राज्य मे जोत का औसत आकार सबसे कम है।

सारणी से स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यो मे जोतो की सख्या मे पिछले 15 वर्षो मे निरन्तर वृद्धि हुई है। भारत म कृषित जोतो की सख्या 1970–71 की कृषि जनगणना के अनुसार 70 493 मिलियन थी, जो बढकर 1976–77 की कृषि जनगणना के अनुसार, 81 57 मिलियन 1980–81 की कृषि जनगणना के अनुसार, 89 393 मिलियन एव 1985–86 की कृषि जनगणना के अनुसार 97 73 मिलियन हो गई। विभिन्न राज्यो मे जोतो की सख्या मे सर्वाधिक वृद्धि बिहार एव जम्मू एव कश्मीर राज्य मे हुई है। सारणी से यह भी स्पष्ट है कि इस काल मे जोत के औसत आकार मे निरन्तर कमी हुई है। भारत मे जोत का औसत आकार वर्ष 1970–71 मे 2 28 हैक्टर था, जो कम होकर 1976–77 मे 2 0 हैक्टर, 1980–81 मे 1.82 हैक्टर एव 1985–86 मे 1 68 हैक्टर ही रह गया। इसी प्रकार जोत के औसत आकार मे कमी राज्यो मे भी हुई है। मात्र पजाब ही एक ऐसा राज्य है जहाँ जोत के औसत आकार मे वृद्धि हुई है। पजाब मे जोत का औसत आकार वर्ष 1970–71 मे 2·89 हैक्टर था, जो बढकर वर्ष 1985–86 मे 3 7 हैक्टर हो गया। इसका प्रमुख कारण राज्य मे औद्योगीकरण में वृद्धि होना है। जिससे सीमान्त एव लघु कृषक गाँवो से शहर की ओर प्रवसन करते जा रहे हैं, क्योकि कृषि उनके लिए अन्य व्यवसायो की अपेक्षा कम लाभप्रद होती जा रही है।[1]

कृषि-जोतों का वर्गीकरण :

कृषि-जोतो का निम्न आधारो के अनुसार वर्गीकरण किया जाता है—

1 I J Singh, Agricultural Instability and Farm Poverty in India, Presidential Address at 48th Annual Conference of the Indian Society of Agricultural Economics held at Banaras Hindu University, 27-29 December, 1988, p 8

सारणी 4 2

भारत के विभिन्न राज्यो मे जोतो की सख्या एव जोत का औसत आकार

राज्य	जोतो की सख्या (मिलियन म)			जोत का औसत आकार (हैक्टर मे)				
	कृषि जनगणना 1970–71	कृषि जनगणना 1980–81	कृषि जनगणना 1985–86	राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 1961–62	कृषि जनगणना 1970–71	कृषि जनगणना 1976–77	कृषि जनगणना 1980 81	कृषि जनगणना 1985 86
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1 आन्ध्र प्रदेश	5 420	7 370	8 231	3 18	2 51	2 34	1 87	1 72
2 असम	1 964	2 297	2 419	1 53	1 47	1 37	1 36	1 31
3 विहार	7 577	11 030	11 800	1 80	1 50	1 11	0 99	0 87
4 गुजरात	2 433	2 930	3 08	4 49	4 11	3 71	3 45	3 15
5 हरियाणा	0 913	1 010	1 35	NA	3 77	3 58	3 52	2 76
6 हिमाचल प्रदेश	0 609	0 638	0 82	NA	1 53	1 63	1 54	1 30
7 जम्मू एव कश्मीर	0 979	1 035	1 18	NA	0 94	1 07	1 00	0 86
8 केरल	2 305	0 418	0 489	1 13	0 57	0 49	0 43	0 36
9 कर्नाटक	3 551	4 309	4 919	4 03	3 20	2 98	2 73	2 41
10 मध्य प्रदेश	5 299	6 410	7 600	4 11	4 00	3 58	3 42	2 91

1	2	3	4	5	6	7	8	9
11 महाराष्ट्र	4.951	6 860	8 080	4 85	4 28	3 68	2 95	2 65
12 मेघालय	—	0 170	0 171	NA	1 70	1 74	1 74	1 76
13 मणीपुर	—	0 136	0 139	NA	1 15	1 12	1 24	1 24
14 मिजोरम	—	0 466	0 519	NA	NA	1 46	1 49	1 57
15 नागालैण्ड	—	0 116	0 125	NA	5 40	7 61	7 41	7 46
16 उडीसा	3 407	3 328	3 586	2 12	1 89	1 60	1 59	1 47
17 पजाब	1 375	1 020	1 088	4 06	2 89	2 74	3 79	3 77
18 राजस्थान	3 727	4 486	4 760	5 82	5 46	4 65	4 44	4 34
19 तमिलनाडु	5 314	7 190	7 710	1 62	1 45	1 25	1 08	1 01
20 त्रिपुरा	—	0 308	0 312	NA	1 02	1 25	1 08	1 01
21 उत्तर प्रदेश	15 639	17 820	18 79	1 62	1 16	1 05	1 01	0 93
22 पश्चिम बगाल	4 216	0 588	0 615	1 74	1 20	0 99	0 95	0 92
23 सिक्किम	NA	0 562	0 368	NA	NA	2 50	1 94	2 77
24 केन्द्र शासित प्र	NA	0 925	0 953	NA	NA	NA	NA	NA
भारत	70 493	89 393	97 73	NA	2 28	2 00	1 82	1 68

स्रोत (i) National Sample Survey 17th Round, September, 1961 to July 1962, Government of India, New Delhi

(ii) Agricultural Situation in India—Various issues, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agricultural, Government of India, New Delhi.

1 स्वामित्व के अनुसार—स्वामित्व के अनुसार कृषि-जोत दो प्रकार की होती है—

(अ) **निजी जोत**—निजी जोत से तात्पर्य भूमि के उस क्षेत्र से है जिस पर एक व्यक्ति या परिवार का स्वामित्व होता है। इसके लिए आवश्यक नहीं है कि जोत के कुल क्षेत्र पर परिवार द्वारा कृषि की जाए। जोत का यह क्षेत्र परिवार द्वारा अथवा अंशत. लगान पर दिया जाकर भी कृषित किया जा सकता है। निजी जोतों पर कृषकों को स्थायी वंशागत अधिकार (Heritable possession rights) प्राप्त होते हैं।

(ब) कृषित जोत—कृषित जोत से तात्पर्य भूमि के उस क्षेत्र से है जो कृषि करने के लिए एक प्रबन्धकर्त्ता के अधिकार में होता है। जोत के उस क्षेत्र पर कृषक का स्वामित्व होना आवश्यक नहीं है। कृषित जोत एक कृषक, परिवार तथा अनेक कृषकों के पास सम्मिलित अधिकार में हो सकती है। कृषित जोत का क्षेत्र निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जाता है। कृषित जोत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उस भूमि के कुल क्षेत्र पर निरन्तर कृषि की ही जावे। कृषित जोत के क्षेत्र में परती भूमि ण। कृषि योग्य व्यर्थ भूमि का क्षेत्र भी सम्मिलित होता है। कृषित जोत की भूमि एक स्थान अथवा विभिन्न स्थानों पर भी हो सकती है।

कृषित जोत का क्षेत्र = निजी जोत का क्षेत्र + बँटाई पर ली गई भूमि का क्षेत्र − बँटाई पर दी गई भूमि का क्षेत्र

2. जोत के अन्तर्गत भूमि के क्षेत्र के अनुसार—जोत के अन्तर्गत भूमि के क्षेत्र के अनुसार कृषि जोत चार प्रकार की होती है।

(अ) आधार जोत—कांग्रेस भूमि-सुधार समिति[2], 1951 के अनुसार आधार जोत (Basic holding) का क्षेत्र वह है "जो कृषकों को न्यूनतम आवश्यक जीवन-स्तर प्राप्त कराने की दृष्टि से अनार्थिक हो सकता है लेकिन कृषि कार्यों के करने की दृष्टि से अदक्ष नहीं होता है।" आधार जोत मुख्यतया आर्थिक नहीं हो ी है। आधार जोत का सामाजिक महत्त्व है। समाज के सभी सदस्यों को भूमि उपलब्ध कराने के लिए जोत को न्यूनतम आधार के क्षेत्र तक विभाजित किया जाता है आधार जोत साधारणतया पारिवारिक जोत के क्षेत्र की एक-तिहाई होती है। भूमि की जोत के तीन आधार—कार्य इकाई, हल की इकाई एवं आय की इकाई में से आधार जोत, प्रथम दो आधारों की ही पूर्ति करती है। आधार जोत पर्याप्त आय की राशि प्रदान नहीं करती है।

2. "Basic holding which though uneconomic in the sense of being unable to provide a reasonable standard of living to the cultivator may not be inefficient for the purpose of agricultural operations.
—Report of the Congress Agrarian Reforms Committee, AICC, 1951.

(ब) अनुकूलतम जोत—अनुकूलतम जोत (Optimum holding) क्षेत्र वह है जहा पर वस्तुओ की प्रति इकाई मात्रा की औसत उत्पादन लागत दीर्घकाल में कम से कम आती है।[3] अनुकूलतम जोत का यह क्षेत्र उत्पादन फलन विश्लेषण विधि द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। कांग्रेस भूमि सुधार समिति के अनुसार एक औसत कृषक के पास उपलब्ध वित्तीय एव अन्य उत्पादन साधनो की मात्रा, प्रबन्ध क्षमता आदि के अनुसार जोत का अनुकूलतम क्षेत्र निर्धारण करना चाहिए। अनुकूलतम जोत का क्षेत्र कृषक एव उसके परिवार को उचित जीवन स्तर प्राप्त कराने के लिए आवश्यक आय प्रदान करने वाला होना चाहिए। समिति के अनुसार एक परिवार के लिए अनुकूलतम जोत का क्षेत्र आर्थिक जोत के क्षेत्र के तीन गुना से अधिक नहीं होना चाहिए। सयुक्त-परिवार एव धार्मिक सस्थाओ के लिए अनुकूलतम जोत का क्षेत्र अधिक हो सकता है।

(स) न्यूनतम जोत—जोत के न्यूनतम आकार से तात्पर्य जोत के उस आकार से है जो कृषक के परिवार एव एक जोडी बैल को वर्ष मे पूर्ण समय कार्यरत रख सकें तथा परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक आय की राशि प्राप्त कराये। जोत का न्यूनतम आकार विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचलित कृषि-विधियो एवं जलवायु की विभिन्नता के कारण विभिन्न होता है। देश के विभिन्न राज्यो मे किए गए फार्म प्रबन्ध अध्ययनो के अनुसार न्यूनतम जोत आकार 7 5 से 10 0 एकड के मध्य मे होना चाहिए। वर्तमान मे कृषि में तकनीकी ज्ञान के उपयोग से कृषकों की आय मे वृद्धि हुई है जिससे सम्भवत यह क्षेत्र कम होकर 5 0 एकड के समीप हो गया है। यह क्षेत्र एक कार्य इकाई, हल इकाई एव आय की इकाई के समतुल्य होता है। साथ ही जोत का न्यूनतम आकार, दक्ष एव अदक्ष फर्मों के विभाजन का बिन्दु होता है।

(द) आर्थिक जोत—आर्थिक जोत से तात्पर्य जोत के उस आकार से है जो कृषक एव उसके परिवार को उचित जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक आय एव रोजगार उपलब्ध करा सके। आर्थिक जोत को विभिन्न शब्दो मे परिभाषित किया गया है—

कीटिंग[4]—"आर्थिक जोत भूमि का वह क्षेत्र है जो कृषक को आवश्यक आय उत्पादित करने का अवसर प्रदान करता है, जिससे कृषक तथा उसका

3 'The size at which the long run average cost of production per unit of output would be the lowest '

—A M Khusro The Economics of Land Reform and Farm Size in India, The Macmillan Company of India Limited, 1973, p 39

4 Economic holding is one which allows a man the chance of producing sufficient to support himself and his family in reasonable comfort after paying his necessary expenses " Keatinge, Rural Economy of Bombay Deccan

परिवार आवश्यक खर्चों का भुगतान करके सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सके।"

कांग्रेस भूमि-सुधार समिति[5] (1951)—आर्थिक जोत विभिन्न क्षेत्रो की कृषि-जलवायु स्थिति के अनुसार भूमि का वह क्षेत्र है जो कृषक के परिवार को जीवन-निर्वाह का उचित स्तर एव सामान्य परिवार के सदस्यो एव एक जोडी बैल को वर्ष भर पर्याप्त कार्य उपलब्ध करा सके।

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर आर्थिक जोत का क्षेत्र निश्चित करना कठिन होता है। कृषक तथा उसके परिवार को उचित जीवन-निर्वाह का स्तर प्रदान करने की सकल्पना व्यक्तिपरक (Subjective) होती है। विभिन्न स्थानो की परिस्थितियो एव परिवार की आवश्यकताओ मे विभिन्नता के कारण आर्थिक जोत के क्षेत्र मे बहुत भिन्नता पायी जाती है। अधिक उपजाऊ भूमि के क्षेत्रो मे 10 से 15 एकड भूमि से एक परिवार के लिए उचित जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक आय सुगमता से प्राप्त हो सकती है।

पारिवारिक जोत—योजना आयोग ने पचवर्षीय योजना की रूपरेखा मे आर्थिक जोत के स्थान पर पारिवारिक जोत शब्द का उपयोग किया था और उसे निम्न शब्दो मे परिभाषित किया है।[6]

"पारिवारिक जोत स्थानीय परिस्थितियो एव कृषि पद्धतियो के अनुसार एक औसत परिवार के लिए कृषि कार्यों मे दूसरो से सहायता प्राप्त करके एक हल की इकाई या कार्य की इकाई के समतुल्य होती है। पारिवारिक जोत से 1,200 रु प्रति वर्ष की शुद्ध आय प्राप्त होनी चाहिए। पारिवारिक जोत का निश्चित क्षेत्र विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न कारको जैसे भूमि की किस्म, फसलो की प्रकृति आदि के अनुसार निश्चित किया जाता है।"

पारिवारिक जोत के लिए 1,200 रु प्रतिवर्ष की शुद्ध आय, वर्ष 1951 की कीमतो के स्तर पर निर्धारित की गई थी। पारिवारिक जोत की यह परिभाषा

5. The economic holding which under given agronomic conditions would provide (i) a reasonable standard of living and (ii) full employment for a family of normal size and at least a pair of bullocks
   Congress Agrarian Reforms Committee Report A-I C C, 1951, p 8.
6. "Family holding was to be equivalent according to the local conditions and under the existing conditions of techniques either to a plough unit or to a work unit for a family of average size working with such assistance as is customary in agricultural operations Moreover, a family holding was conceived as yielding a net income from agriculture of Rs. 1,200 per annum The exact area of family holding was to be fixed in each region separately according to various factors such as type of soil, nature of crops, etc" First Five Year Plan, Planning Cammission, Government of India, New Delhi "

वर्ष 1950 मे 60 के दशक मे बहुत से राज्यो द्वारा अपनाई गई थी। वर्तमान मे बढती हुई कीमतो को देखते हुए 1,200 रु. प्रतिवर्ष की शुद्ध आय एक औसत परिवार के लिए बहुत कम है। इस आय स्तर से एक कृषक परिवार वर्तमान मे उचित जीवन-स्तर प्राप्त नही कर सकता है। अत वर्तमान मे पारिवारिक जोत के लिए वार्षिक शुद्ध आय की राशि 1,200 रु का प्रचलित कीमत स्तर (वर्ष 1951 की कीमतो को आधार मानकर) के कीमत सूचकाक से गुणा करके ज्ञात करना चाहिए।

आर्थिक जोत एव पारिवारिक जोत निर्धारण के तीन मुख्य आधार हैं—

(i) कार्य-इकाई—फार्म का वह न्यूनतम आकार जिससे कम होने पर परिवार के सदस्यो को वर्ष भर पर्याप्त आय प्रदान करने वाला पूर्ण रोजगार उपलब्ध नहीं होता हो, उस क्षेत्र को एक कार्य इकाई कहते हैं।

(ii) हल-इकाई—फार्म का वह न्यूनतम आकार जिसमे कम होने पर फार्म पर उपलब्ध एक जोडी बैल को वर्ष भर कार्यरत नही रखा जा सके, उस क्षेत्र को एक हल-इकाई माना जाता है।

(iii) आय-इकाई—फार्म का वह न्यूनतम आकार जिससे कम होने पर जो आय प्राप्त होती है उसमे से उत्पादन-लागत मय बैलो के रख रखाव एव यन्त्रो की घिसावट की राशि को बाकी निकालने पर जो आय शेष रहती है उससे परिवार को उचित-जीवन-स्तर प्रदान नही किया जा सके, उस क्षेत्र को एक आय-इकाई के सम-तुल्य माना जाता है।

विभिन्न राज्यो मे वर्ष 1954–55 से 1957–58 के काल मे किये गये फार्म प्रबन्ध अध्ययनो[7] के अनुसार वर्तमान प्रचलित तकनीकी ज्ञान-स्तर पर एक कार्य-इकाई, हल-इकाई एव आय-इकाई के लिए विभिन्न राज्यो मे भूमि का न्यूनतम क्षेत्र निम्न होना चाहिए :

7. A M Khusro, The Economics of Land Reform and Farm Size, The Macmillan Company of India Limited, 1973, p p 50-67

सारणी 4.६

विभिन्न राज्यो मे एक कार्य, हल एव आय-इकाई के लिए भूमि का न्यूनतम क्षेत्र

(एकड मे)

राज्य	कार्य-इकाई	हल-इकाई	आय-इकाई
1. आन्ध्र-प्रदेश	5 0	10 0	10 0
2 पजाब	10 0	7 5	20 0
3 उत्तर-प्रदेश	7 5	10 0	10 0
4 तमिलनाडु	7.5	5 0	—
भारत	7.5	7 5	15.0

आर्थिक जोत के आकार के निर्धारक तत्व :

आर्थिक जोत के आकार का मुख्य निर्धारक तत्त्व भूमि का क्षेत्र न होकर भूमि की उत्पादकता माना जाता है । प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र की उत्पादकता अधिक होने पर आर्थिक जोत का आकार कम होता है तथा उत्पादकता के कम होने पर आर्थिक जोत का आकार अधिक होता है । भूमि की उत्पादकता अनेक कारको पर निर्भर करती है । अत आर्थिक जोत के आकार के मुख्य निर्धारक तत्व उत्पादकता के तत्त्व ही होते है जो निम्नाकित हैं

(i) भूमि की उर्वरा शक्ति—भूमि की उर्वरा शक्ति एव आर्थिक जोत मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । भूमि की उर्वरा शक्ति के अधिक होने पर आर्थिक जोत का आकार कम तथा उर्वरा शक्ति के कम होने पर अधिक जोत का आकार अधिक होता है । भूमि कि उर्वरा शक्ति मे खाद एव उर्वरको के उपयोग से वृद्धि करके आर्थिक जोत का आकार कम किया जा सकता है।

(ii) सिचाई की सुविधा—पर्याप्त सिचाई सुविधा उपलब्ध होने वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार कम होता है । सिचाई की सुविधा उपलब्ध होने पर अधिक आय देने वाली फसलो का चुनाव करके एव भूमि पर बहुफसलीय कार्यक्रम अपनाकर आर्थिक जोत के आकर को कम किया जा सकता है । सिचाई की सुविधा उपलब्ध नही होने अथवा कम उपलब्ध होने वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार अधिक होता है ।

(iii) जनसख्या का कृषि पर भार—अधिक जनसख्या वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार कम होता है क्योकि इन क्षेत्रो मे भूमि की सीमितता के कारण सघन कृषि पद्धति अपनायी जाती है । कम जनसख्या वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार अधिक होता है ।

(iv) कृषि का प्रारूप—विस्तृत कृषि पद्धति के अन्तर्गत सामान्य परिवार को जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक आय प्राप्त करने के लिए भूमि के अधिक क्षेत्र की आवश्यकता होती है। सघन कृषि पद्धति वाले क्षेत्रो मे कम भूमि के क्षेत्र से आवश्यक आय प्राप्त हो जाती है। जिससे आर्थिक जोत का आकार कम होता है।

(v) फसलों की प्रकृति—खाद्यान्न फसलो के उत्पादन करने वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार अधिक तथा सब्जियो एव वाणिज्यिक फसलो के उत्पादन करने वाले क्षेत्रो मे अधिक जोत का आकार कम होता है क्योकि सब्जियो एव वाणिज्यिक फसलो द्वारा खाद्यान्नो की अपेक्षा प्रति इकाई भूमि से लाभ अधिक प्राप्त होता है।

(vi) कृषको की कार्य कुशलता—कृषको के अधिक मेहनती एव कार्यकुशल होने पर सम्बन्धित क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार कम एव कम कार्यकुशल होने वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार अधिक होता है।

(vii) उत्पादन साधनो की उपलब्धि—कृषको को आवश्यक उत्पादन-साधन, जैसे—बीज, उर्वरक, उन्नत, कृषि यन्त्र, कीटनाशी दवाइया उचित समय पर उपलब्ध होने वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार कम होता है।

(viii) शहर से दूरी—शहर के नजदीक वाले क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार कम होता है क्योकि इन क्षेत्रो मे कृषक सब्जी, फल, फूल एव पशुओ के लिए चारा उत्पादन करके एव उसे शहर मे विक्रय करके अधिक आय प्राप्त करते हैं। खेत की शहर से दूरी बढने पर उपर्युक्त फसलो का उत्पादन विपणन की दृष्टि से लाभकर नही होता है। शहर से दूरी बढने पर भूमि मे खाद्यान्न फसलो का उत्पादन किया जाता है जिससे आर्थिक जोत का आकार अधिक होता है।

(ix) क्षेत्र की जलवायु—क्षेत्र की जलवायु विभिन्न फसलों की उत्पादकता मे परिवर्तन लाती है जिसके कारण भी आर्थिक जोत के आकार मे परिवर्तन होता है।

अनार्थिक जोतो को आर्थिक जोतो मे परिवर्तित करने के लिए सुझाव

निम्न सुझावो को अपनाकर अनार्थिक जोत को आर्थिक बनाया जा सकता है —

(i) जोत की उच्चतम सीमा निर्धारण करना—विभिन्न क्षेत्रो मे स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित करने से बडे कृषको। जमीदारो से प्राप्त अधिशेष भूमि को सीमान्त एव लघु कृषको मे वितरण करने से उनकी अनार्थिक जोत आर्थिक जोत मे परिणत की जा सकती है।

(ii) जोत चकबन्दी द्वारा—कृषको की जोत के विभिन्न भू-खण्डो को जो

विभिन्न दूरी पर स्थित होते हैं, उन्ह चकबन्दी द्वारा एक सयुक्त चक्र मे करने मे अनार्थिक जोत का क्षेत्र आर्थिक बन जाता है।

(iii) जोत उप-विभाजन एव अवखण्डन पर रोक लगाकर—जोत की न्यूनतम सीमा के पश्चात् जोत उप-विभाजन एव अपखण्डन पर रोक लगाकर एव प्रचलित वशागत कानून मे परिवर्तन करके अनार्थिक जोतो की सख्या पर रोक लगाई जा सकती है।

(iv) सहकारी कृषि-पद्धति अपनाकर—सहकारी कृषि बडे पैमाने पर की जाने से उन्नत यन्त्रो, बडी मशीनो एव ट्रैक्टरो का उपयोग होने से भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र स अधिक लाभ प्राप्त होता है। वस्तुओ के सामूहिक विपणन से प्रति इकाई मात्रा पर विपणन लागत कम आती है। लघु कृषक सहकारी कृषि पद्धति अपनाकर अपनी अनार्थिक जोत को आर्थिक बना सकते हैं।

(v) सघन कृषि-पद्धति को प्रोत्साहन देना—लघु कृषक फार्म पर सघन कृषि पद्धति अपनाकर, अपने सीमित भूमि क्षेत्र से अधिक आय प्राप्त कर सकत हैं और अनार्थिक जोत को आर्थिक बना सक्ते है।

भूमि-सुधार

भूमि-सुधार से तात्पर्य देश मे भूमि-व्यवस्था मे उन परिवर्तनो के करने से है जिनके द्वारा भूमि-व्यवस्था मे सुधार करके कृषकों को भूमि की उत्पादकता बढाने एव उन्ह उच्च जीवन-स्तर प्रदान करने के प्रयास किए जाते है। भूमि-सुधार शब्द का अर्थ बडा विस्तृत है जिसके अन्तर्गत न केवल भूमि-व्यवस्था क सुधार ही सम्मिलित है, बल्कि इसके अन्तर्गत मध्यस्थो की समाप्ति, काश्तकारी व्यवस्था मे सुधार, भू-सीमा का निर्धारण, जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन पर रोक, जोत चकबन्दी, सहकारी खेती एव कृषि का पुनर्गठन आदि कार्य भी सम्मिलित होते है।[8]

भूमि-सुधार कार्य कृषि नीति के साथ-साथ एक सामाजिक नीति सम्बन्धी कार्यक्रम भी है। भूमि-सुधार कार्यक्रमो के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित हैं—

(i) कृषि उत्पादन म वृद्धि करने में आने वाली बाधाओ को दूर करना।

(ii) कृषि क्षेत्र मे उत्पादन एव उत्पादकता बढाने के लिए आवश्यक स्थिति उत्पन्न करना।

(iii) कृषि मे तकनीकी ज्ञान के विस्तार के लिए आवश्यक स्थिति उत्पन्न करना।

8. भवरलाल कोली, स्वतन्त्र भारत मे भूमि-सुधार . एक विहगम दृष्टि, योजना, वर्ष 17, अक 6, 22 अप्रैल, 1973.

भूमि सुधार कार्यक्रम नया नही है। वर्ष 1946 मे कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र मे भूमि-सुधार के लिए निर्णय लिया गया था कि कृषक एव सरकार के मध्य पाये जाने वाले मध्यस्थो को समाप्त किया जाये और मध्यस्थो को भूमि के बदले क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान किया जाये। वर्ष 1948 मे स्थापित ग्राम्य-सुधार समिति (Agrarian Reform Committee) ने सुझाव दिया कि भूमि पर स्वामित्व कृषक का होना चाहिए। समिति ने सुझाव दिया कि जो कृषक पिछले 6 वर्षों से निरन्तर किसी भू-खण्ड पर खेती कर रहे है, उन्हे उस भूमि पर स्वामित्व दे देना चाहिए। सयुक्त राष्ट्र सघ ने भूमि-सुधार वृतान्त मे बताया कि भारत मे भूमि-सम्बन्धी पद्धति उचित नही होने से आर्थिक विकास नही हो रहा है। भारत मे भूमि-सुधार के लिए समय-समय पर विभिन्न कानून पारित किये गये हैं। भूमि-सुधार कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने का दायित्व राज्य सरकारो का होता है। अत भूमि-सुधार कार्यक्रम की प्रगति सभी राज्यो मे समान नही है।

भारत मे भूमि-सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत पारित अधिनियमो को उनके उद्देश्यो के अनुसार निम्न वर्गों मे विभाजित किया जाता है—

I. मध्यस्थो की समाप्ति के लिए पारित अधिनियम;

II काश्तकारी सुधार अधिनियम,

III जोत उप-विभाजन एव अपखण्डन पर रोक लगाना एव जोत चकबन्दी अधिनियम,

IV. भू-सीमा निर्धारण अधिनियम; तथा

V. सहकारी खेती एव सहकारी ग्राम प्रबन्ध अधिनियम।

1. मध्यस्थों की समाप्ति

भूमि सुधार के लिए किए गए प्रयासो मे प्रथम कार्य मध्यस्थो की समाप्ति का है। इसका मुख्य उद्देश्य सरकार एव कृषको के मध्य पाए जाने वाले मध्यस्थो की समाप्ति करना एव कृषको को सरकार के सीधे सम्पर्क मे लाना है।

भू-धृति (Land Tenure)—भू-धृति शब्द का उद्गम लेटिन शब्द टिनियो (Teneo) से है, जिसका तात्पर्य प्रबन्ध से है। अर्थात् भू-धृति शब्द का अर्थ भूमि को पट्टे (Lease) पर देने की शर्तों एव अन्य परिस्थितियो के ज्ञान से है। भू धृति मे कृषि करने हेतु ली गई भूमि के अधिकार, स्वामित्व, राजस्व भुगतान आदि सम्मिलित होता है। भूमि के प्रबन्ध मे निम्न सस्थाएँ/व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं—

(i) **सरकार**—देश की समस्त भूमि पर राज्य सरकार का सर्वोच्च स्वामित्व/अधिकार होता है।

(ii) **कृषक परिवार**—यह वह वर्ग है जो भूमि पर कृषि कार्य करता है। स्वामित्व व अन्य प्राप्त अधिकारो के अनुसार कृषक तीन प्रकार के होते हैं—

(अ) वे कृषक जो स्वय भूमि के स्वामी होते है स्वय ही भूमि पर कृषि करते है और उनका सरकार से सीधा सम्पर्क होता है,

(ब) वे कृषक जिन्हे भूमि पर स्वामित्व अधिकार तो प्राप्त नही होते है, लेकिन भूमि पर कृषि करने के अधिकार प्राप्त होते हैं। सरकार का इनसे सीधा सम्पर्क नहीं होता है। इन कृषकों एव सरकार के मध्य मे जागीरदार, जमीदार आदि मध्यस्थ होते हैं।

(स) वे कृषक जो भूमि पर स्वय कृषि करते है, कृषि कार्यो के करने की उत्पादन लागत वहन करते है, लेकिन इन्हें भूमि पर काश्तकारी अधिकारो के सम्बन्ध मे कोई निश्चितता प्राप्त नहीं होती है। इन्हें गैर-मौरूसी (Non-Occupancy) काश्तकार कहते है।

(iii) **मध्यस्थ**—मध्यस्थ भूमि के सर्वोच्च स्वामी (सरकार) एव भूमि पर कृषि करने वाले काश्तकारो के मध्य कार्य करने वाला वर्ग होता है। यह वर्ग सरकार से नियत शर्तों पर भूमि प्राप्त करते है। कुछ मध्यस्थों को उनके द्वारा सरकार को प्रदान की गई सेवाओ के लिए भूमि प्राप्त होती है। मध्यस्थ भूमि के अस्थायी भू-स्वामी होते हैं। मध्यस्थ सरकार को राजस्व की नियत राशि जमा कराते हैं और भूमि को कृषको को कृषित करने के लिए देकर उनसे लगान वसूल करते है। प्राप्त लाभ से आरामप्रद जीवन यापन करते है। विभिन्न राज्यो मे मध्यस्थो के भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित है, जैसे—जमीदार, जागीरदार, बिस्वेदार, ईनामदार आदि।

(iv) **कृषि श्रमिक**—भूमि के प्रबन्ध से सम्बन्धित चौथी श्रेणी कृषि श्रमिको की होती है जो भूमि पर श्रम करके मजदूरी प्राप्त करते हैं। इनकी आय का प्रमुख स्रोत मजदूरी होता है। इन्हे भूमि पर *स्वामित्व प्राप्त नही होता है। साथ ही कृषि कार्यों के करने से* सम्बन्धित निर्णय लेने का अधिकार भी इन्हे प्राप्त नही होता है।

भू-धृति पद्धति—*भू-धृति पद्धति को दो प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है।*

1 स्वामित्व के आधार पर—यह पद्धति भूमिधारी एव सरकार के मध्य पाये जाने वाले मध्यस्थो के परस्पर सम्बन्धो की प्रकृति पर आधारित होती है। बेडेन पोवेल[9] के अनुसार स्वामित्व के आधार पर भू-धृति तीन प्रकार की होती है :

(अ) रैयतवारी पद्धति—भू-धृति की यह पद्धति सर्वप्रथम मद्रास राज्य के बडा महल जिले मे वर्ष 1872 मे शुरू हुई थी, जो धीरे-धीरे दूसरे जिलो मे भी प्रचलित हुई। इस पद्धति के अन्तर्गत, रैयत (कृषक) सरकार से सीधे भूमि प्राप्त करते है। *भूमि पर स्वामित्व सरकार का होता है।* कृषको को भूमि पर मौरूसी अधिक (Occupancy Rights) प्राप्त होते हैं, जिसके अनुसार उन्हे भूमि को कृषित करने, भूमि को बटाई पर देने, विक्रय करने एव इनाम मे देने की छूट होती है। कृषको को भूमि के स्थायी अधिकार प्राप्त होते हैं, जिससे जब तक वे सरकार को लगान देते रहते हैं सरकार उन्हे भूमि से बेदखल नही कर सकती है। आसामियो को भूमि पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त नही होते हैं। रैयतवारी पद्धति मे कृषको की भूमि को आसामियो को उप पट्टेधारी (Sub-letting) पर देने की स्वतन्त्रता होने के कारण भूमि छोटे-छोटे खण्डो मे विभक्त हो जाती है तथा कृषक व सरकार के मध्य सीधे सम्बन्धो से जो लाभ प्राप्त होते है वे नही मिलते हैं। आसामी कृषक भूमि-सुधार एव उत्पादन वृद्धि के स्थायी साधनो के विकास कार्यक्रमो मे पूंजी निवेश नही करते हैं जिससे उत्पादन कम प्राप्त होता है।

(ब) महलवारी पद्धति—महलवारी पद्धति सर्वप्रथम आगरा व अवध प्रान्त मे वर्ष 1883 मे प्रचलित हुई थी, जो बाद मे पजाब राज्य मे भी प्रचलित हुई। भू-धृति की इस पद्धति मे भूमि का स्वामित्व किसी एक व्यक्ति के पास न होकर पूरे ग्राम-समूह को प्राप्त होता था। भूमि का राजस्व सरकार को जमा कराने की जिम्मेवारी ग्राम के सभी कृषकों की सामूहिक रूप से होती थी।

(स) जमींदारी एवं जागीरदारी पद्धति—इस पद्धति मे जमीदार एव जागीरदार मध्यस्थो के रूप मे काम करते है। जमीदार एव जागीरदार कृषको से भूमि का लगान वसूल करके प्राप्त लगान राशि में से एक भाग सरकार को जमा कराते थे और शेष राशि से वे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। इस पद्धति मे भूमि पर स्वामित्व कृषको का न होकर, जमीदार अथवा जागीरदार का होता था। जमीदारी एव जागीरदारी प्रथा देश मे 18वी शताब्दी के अन्त एव 19वी शताब्दी के आरम्भ मे विकसित हुई थी। जमीदार अथवा जागीरदार क्षेत्र के प्रभावशाली व्यक्ति होते थे। देश मे जागीरदारी एव जमीदारी प्रथा का प्रचलन ब्रिटिश सरकार के काल मे हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने देश मे कृषको की भू-राजस्व राशि के

9. B H Baden Pawell, The Land Systems of British India, The Clarerdon Press, Oxford, 1894, P. 129.

निर्धारण, वसूली एव इसके सशोघन मे होने वाली कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए इस प्रथा को चुना था।

जमीदार प्रथा उत्तरप्रदेश एव बगाल राज्य मे प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत भूमि पर स्वामित्व का अधिकार सरकार ऐसे व्यक्तियो को देती थी, जो स्वय काश्तकार नही होते थे, पर जो काश्तकारो पर अपना प्रभाव रखते थे। जागीरदारी प्रथा राजस्थान, मध्यप्रदेश एवं हैदराबाद (आन्ध्रप्रदेश) राज्यो मे मुख्यतया प्रचलित थी। इस प्रथा के अन्तर्गत भूमि का प्रबन्ध बडे राजा-महाराजाओ द्वारा दरबारी एव कुलीन पुरुषो (Noblemen) को उनकी सैनिक अथवा प्रशासनिक सेवाओ के लिए दे दिया जाता था, जिन्हे जागीरदार कहते थे। ये जागीरदार भूमि के स्वामी नही होते थे, बल्कि प्रशासन का कार्य करते थे। ये कृषको से लगान वसूल करते थे। कुछ जागीरदार स्वय अथवा काश्तकारो की सहायता से भूमि पर कृषि भी करते थे। कुछ राज्यो मे जागीरदारी एव जमीदारी प्रथा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भू-धृति पद्धतियाँ भी प्रचलित थी जैसे बिस्वेदारी प्रथा, मालगुजारी प्रथा, इनामदारी एव माफीदारी प्रथा आदि।

II **कृषि सम्बन्धी अधिकारो के अनुसार** देश मे जमीदार/बडे कृषक भूमि को स्वय कृषित नही करके आसामियो को कृषि करवे के लिए बटाई पर दे देते थे। आसामी भूमि पर कृषि करते थे और भू-स्वामियो को लगान देते थे। आसामियो के मौरूसी अधिकारो के अनुसार भू-धृति दो प्रकार की होती है :

(अ) मौरूसी काश्तकार—इन काश्तकारों की भूमि के मौरूसी/दखलकारी अधिकार वशागत प्राप्त होते हैं। आसामियो को भूमि से बेदखल नही किया जा सकता। आसामियो द्वारा दिए जाने वाले लगान की राशि निश्चित होती है।

(ब) गैर-मौरूसी काश्तकार—इसमे आसामियो को भूमि पर काश्तकारी के अधिकारो की कोई निश्चितता नही होती है। जमीदार कृषक को भूमि से किसी भी समय बेदखल कर सकता है। इसमें भू-राजस्व की राशि निश्चित नही होती है। अत प्रत्येक वर्ष जमीदार एव आसामी मे राजस्व राशि निश्चित की जाती है।

भू-धृति पद्धति की समाप्ति

उपर्युक्त सभी प्रकार की भू-धृति पद्धतियो मे कृषको से भू राजस्व उपज के एक हिस्से के रूप मे अधिक मात्रा मे वसूल किया जाता था, जिससे कृषको के पास बहुत कम उपज की मात्रा शेष रहती थी। खाद्यान्नो की यह शेष मात्रा उनके वर्ष भर खाने के लिए भी पूरी नही होती थी। अत वे कृषि के विकास के लिए अधिक पूंजी का कृषि क्षेत्र मे निवेश नही कर पाते थे। इस प्रकार भूमि के क्षेत्र से उत्पादन कम प्राप्त होता था। जमीदार एव जागीरदार राजस्व के रूप मे प्राप्त आय को कृषि क्षेत्र म निवेश न करके विलासी उपभोग एव ऐशोआराम पर खर्च करते थे।

कृषको को भूमि पर स्वामित्व प्राप्त न होने के कारण तथा भूमि पर कृषि करने के अधिकारो की अनिश्चितता की अवस्था मे आसामी कृषक (Tenant farmers) भूमि सुधार तथा कृषि विकास के लिए आवश्यक साधनो जैसे—कुओ का निर्माण भूमि को समतल करना, सिंचाई के लिए पक्की नालिया बनाना, खाद डालना आदि विकास कार्यों पर पू जी निवेश नही करते थे, क्योकि जमीदार/जागीरदार इन्ह किसी भी समय भूमि से बेदखल कर सकता था। इनके कारण कृषि उत्पादन मे वृद्धि एव कृषि में दक्षता नही आ सकी। कृषको को आय कम प्राप्त होने से देश आर्थिक समृद्धि के क्षेत्र मे अग्रसर नही हो पाता है। भू-घृति पद्धति समाज के विभिन्न समूहो—जमीदार, कृषक, कृषि श्रमिक एव आसामी काश्तकारो के बीच विषमता को जन्म देती है। भूमि समाज में प्रतिष्ठा की सूचकाक है। उन व्यक्तियो की समाज मे प्रतिष्ठा अधिक आकी जाती है जिन्हे भू-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होते हैं। अत स्वतन्त्र भार मे भू धृति प्रथाओ की समाप्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई।

भू-घृति मे व्याप्त मध्यस्थो की समाप्ति के लिए विभिन्न राज्यो मे प्रथम पचवर्षीय योजना के पूर्व से ही कदम उठाने शुरू कर दिए गये थे, लेकिन निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति वर्ष 1951 के उपरान्त ही हो पाई। मध्यस्थो की समाप्ति के लिए सर्वप्रथम प्रयास उत्तरप्रदेश राज्य मे किए गए और उसके बाद दूसरे राज्यो मे किए गए। भारत के सभी राज्यो मे कानून पारित करके मध्यस्थो की समाप्ति वर्ष 1950 से 1960 के दशक मे पूर्ण हो पाई। चूँकि भूमि-सुधार क्रियान्वित करने का दायित्व राज्य सरकारो पर है, अत विभिन्न राज्यो मे पृथक् कानून पारित किए गए, जिससे उनमे भिन्नता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भूमि के जोतने वाले तथा सरकार के मध्य व्याप्त मध्यस्थो का उन्मूलन करने से 20 मिलियन कृषको का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

जमीदारी तथा जागीरदारी प्रथा के उन्मूलन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नाकित हैं—

(i) सरकार ने जमीदारो एव जागीरदारो से भूमि का स्वामित्व-अधिकार मुआवजे की राशि का भुगतान करके क्रय कर लिया।

(ii) जागीरदारो एव जमीदारो को खुदकाश्त के लिए निर्धारित सीमा तक भूमि रखने की छूट दी गई।

(iii) मध्यस्थो की समाप्ति स आसामी कृषको को भू-राजस्व सरकार को सीधे रूप मे जमा कराना होता है।

(iv) जमीदारी एव जागीरदारी प्रथा के उन्मूलन से कृषको का शोषण समाप्त हो गया। अब कृषको को भू-राजस्व उत्पादन के आधे भाग

के स्थान पर एक निश्चित भू-राजस्व राशि ही सरकार को जमा करानी होती है। कृषको से ली जाने वाली बेगार प्रथा (Forced labour system) भी समाप्त हो गई है।

मध्यस्थो की समाप्ति के लिए भूमि-सुधार एव जागीर उन्मूलन कानून, 1951 महत्त्वपूर्ण है। इस कानून की प्रमुख विशेषताए निम्नांकित हैं—

(i) कृषको से लिये जाने वाले लगान (उत्पाद के एक हिस्से के रूप मे) की दर मे कमी करना। यह दर सर्वप्रथम एक-तिहाई से एक-चौथाई तथा अप्रैल, 1952 से 1/6 कर दी गई।

(ii) पाच हजार रुपये वार्षिक से अधिक आय प्राप्त होने वाली सभी जोतो का पुनर्ग्रहण करना।

(iii) भूमि की पट्टेदारी एव उप पट्टेदारी प्रथा पर रोक लगाना।

(iv) जागीरदारो द्वारा खुदकाश्त के लिए रखी गई भूमि के लिए उन्हे काश्तकार मानना।

(v) जागीरदारो एव जमीदारो से प्राप्त भूमि के लिए सरकार द्वारा भूमि से प्राप्त शुद्ध आय का दस गुना मुआवजे के रूप म समान किश्तो में 15 वर्ष मे भुगतान करना।

राजस्थान मे जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन

राजस्थान राज्य मे जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन वर्ष 1952 मे प्रारम्भ हुआ, लेकिन जागीरदारो द्वारा कानून के विरुद्ध कोर्ट मे जाने एव राजनैतिक हस्तक्षेप के कारण वास्तविक उन्मूलन कुछ देर से हुआ। राजस्थान मे मध्यस्थो की समाप्ति के लिए निम्न कानून पारित किए गए—

(i) राजस्थान भूमि-सुधार एव जागीर पुनर्ग्रहण कानून, 1952—इसका मुख्य उद्देश्य जागीरदारो के अधिकार समाप्त करना था। राज्य मे जागीर उन्मूलन कार्य 1954 मे प्रारम्भ हुआ।

(ii) राजस्थान जमीदारी एव बिस्वेदारी उन्मूलन अधिनियम, 1959—इसके तहत जमीदारी एव बिस्वेदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया।

(iii) धार्मिक कार्यों के लिए दी गई जागीर का उन्मूलन वर्ष 1959 से 1963 के मध्य किया गया।

2. काश्तकारी सुधार अधिनियम

काश्तकारी सुधार कानूनो का मुख्य उद्देश्य कृषको को अग्र तीन प्रकार की सुविधाए उपलब्ध कराना है जिन्हे काश्तकारी सुधार के तीन 'एफ' (3 F's of Tenancy Reforms) भी कहते हैं—

(i) कृषको के भूमि पर अधिकार (भू-धारण) की निश्चिता (Fixity of Tenure)।

(ii) कृषको के लिए भूमि का उचित लगान नियत करना (Fair Rent)।

(iii) कृषको को भूमि के विक्रय, बन्धक अर्थात् भू-स्वामित्व के अन्तरण की स्वतन्त्रता होना (Free Transferability of Land)।

काश्तकारी सुधार के लिए विभिन्न राज्यो मे वर्ष 1948 से 1955 की अवधि मे कानून पारित किए गए। जैसे—राजस्थान काश्तकारी अधिनियम 1955, बम्बई काश्तकारी तथा कृषि अधिनियम 1948, बिहार भूमि-सुधार कानून 1950, उत्तरप्रदेश जमीदारी उन्मूलन एव भूमि-सुधार अधिनियम 1950, मध्यप्रदेश स्वामित्व अधिकार उन्मूलन (सम्पदा, महाल पराधीन भूमि) अधिनियम, 1950 आदि। विभिन्न राज्यो मे पारित काश्तकारी अधिनियमो के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(i) जमीदारो एव जागीरदारो द्वारा स्वेच्छा से कृषको की भूमि से बेदखल करने पर रोक लगाना।

(ii) भूमि के लगान की दर मे कमी करना।

(iii) कृषको को भूमि के मौरूसी अधिकार प्राप्त करना, जिससे कृषक के मरणोपरान्त भूमि उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हो सके।

(iv) जमीदारो एव जागीरदारो द्वारा कृषको से लगान के अतिरिक्त ली जाने वाली विभिन्न प्रकार की लाग, जैसे—नजराना, इनाम, बेगार, सलामी आदि समाप्त करना।

(v) सरकार एव कृषको के बीच होने वाले मध्यस्थो को समाप्त करके भूमि जोतने वाले को दिलाना।

(vi) कृषको को मौसम की प्रतिकूलता, जैसे—सूखा, अतिवृष्टि आदि के कारण उत्पादन कम प्राप्त होने की स्थिति मे भू-राजस्व की राशि मे छूट देना।

(vii) भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिए कृषको को ऋण अथवा अनुदान स्वीकृत करना, जिससे कृषि उत्पादकता मे वृद्धि हो सके।

सभी राज्यो मे काश्तकारी सुधार अधिनियमो के पारित हो जाने से कृषको को अनेक लाभ प्राप्त हुए है, जैसे—भू-राजस्व की राशि मे कमी होना, काश्तकारो को भूमि पर कृषि करने के स्थायी अधिकार प्राप्त होना एव भूमि से बेदखल किये जाने की अनिश्चितता का समाप्त होना। पारित काश्तकारी सुधार अधिनियमो मे त्रुटियो के कारण कृषको को पूरा लाभ नही मिल रहा है। पारित काश्तकारी सुधार अधिनियमो मे मुख्य कमियाँ निम्न है—

(i) विभिन्न राज्यो मे आसामी कृषको की परिभाषा मे भिन्नता है। साझे मे कृषि करने वालो (Share croppers) को आसामी की परिभाषा

में सम्मिलित नहीं किये जाने के कारण अनेक राज्यो में भूमि-साझेदारी पट्टे पर दी जाती है।

(ii) पारित अधिनियमों में अनेक कारणों के आधार पर आसामी को भूमि से पृथक् करने की व्यवस्था है। जैसे—लगान का समय पर भुगतान न करना, भूमि को खण्डो मे विभक्त करना, भूमि को उप-पट्टेदारी पर देना, भूमि पर स्वय अथवा दक्षता से काश्त नही करना, भूमि को परती छोडना अथवा गैर कृषि-कार्यों में उपयोग करना। जमीदार/जागीरदार इन व्यवस्थाओं का लाभ-उठाकर आसामी को भूमि से पृथक् करने में सक्षम हो जाते हैं।

(iii) जागीरदार एवं जमीदार कृषको को अनेक उपाय अपनाकर परेशान करते हैं और यह लिखवाते मे सफल हो जाते हैं कि वह भूमि स्वेच्छा से छोड़ रहा है। ऐसी स्थिति स स्वेच्छा मे भूमि-पर अधिकार छोडने की व्यवस्था कानूनन समाप्त होनी चाहिये।

(iv) जमीदारो एव जागीरदारो द्वारा आसामियो से स्वय के कृषि करने के लिए भूमि-पुनर्ग्रहण कर लेना। यह व्यवस्था भी समाप्त होनी चाहिये।

(v) अनेक राज्यो मे आसामियो से वसूल किये जाने वाले "उचित लगान" की परिभाषा का अधिनियम मे नही होना और साथ ही कटाई पर कृषि करने वाले कृषको से मनमानी राशि म राजस्व वसूल करना।

(vi) आसामी कृषको को भूमि पर अधिकार प्राप्त करने के लिए कानूनन परेशानी का होना। आसामी कृषक यह प्रमाण नही द पाते हैं कि वे इस भूमि पर अनेक वर्षों से कृषि कर रहे हैं क्योंकि राजस्व विभाग के अधिकारी भू-स्वामी के नाम से ही रिकार्ड मे इन्द्राज करते हैं।

(vii) भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त करने के लिए दी जाने वाली मुआवजे की राशि अधिक होना, जिसे कृषक जमा कराने मे सक्षम नही होते हैं।

3. जोत-उपविभाजन एवं अपखण्डन पर रोक

जोत उपविभाजन से तात्पर्य जोत के क्षेत्र का अनेक छोटे-छोटे खण्डो मे विभक्त होने से है। जोत-उपविभाजन के कारण जोत के खण्डो का क्षेत्र निरन्तर कम होता जाता है। भारत मे जोतों के उपविभाजन का प्रमुख कारण वशागत कानून का होना है। वंशागत कानून के होने से प्रत्येक उत्तराधिकारी पिता की

सम्पत्ति मे समान हिस्सा चाहता है। भूमि भी प्रत्येक उत्तराधिकारी मे विभाजित होती है, जिससे बडे खेत छोटे छोटे खण्डो अथवा खेतो मे परिणत हो जाते हैं। जोत उपविभाजन के कारण देश मे अनेक खेतो का आकार इतना कम हो गया है कि उन पर कृषि कार्यो के लिए बैल चलाना भी सम्भव नही है। जोत अपखण्डन से तात्पर्य खेतों के विभिन्न खण्डो का विभिन्न स्थानो पर होना है। जोत-अपखण्डन के कारण प्रत्येक कृषक का भू जोत का कुल क्षेत्र एक स्थान पर नही होकर अनेक स्थानो पर होता है। जोत-अपखण्डन का प्रमुख कारण प्रत्येक उत्तराधिकारी द्वारा पिता की भू-सम्पत्ति मे समान हिस्सा चाहना है। जोत उपविभाजन ही जोत अप-खण्डन का एक मुख्य कारण है।

उदाहरण—एक कृषक के पास 8 एकड एव 6 एकड के क्रमश दो खेत हैं जो एक दूसरे से 3 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। कृषक के चार पुत्र हैं। भारत मे वशानुगत कानून के कारण कृषक की मृत्यु के उपरान्त भूमि चारो पुत्रो मे समान रूप से विभाजित होती है। प्रत्येक पुत्र पिता के दोनों खेतो मे समान हिस्सा चाहता है। अत प्रत्येक खेत चार खण्डो मे विभाजित होता है। इस प्रकार कृषक के दोनो खेत आठ खण्डो मे विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक पुत्र को दोनो खेतो मे से एक-एक खण्ड प्राप्त होता है। इस प्रकार भूमि के बँटवारे के साथ साथ भूमि का छोटे-छोटे खण्डो मे उपविभाजन एव अपखण्डन होता है।

भारत मे जोत का औसत आकार वर्तमान मे कम होते हुए भी जोत-उप-विभाजन एव अपखण्डन पद्धति के होने से खण्डो का आकार निरन्तर कम होता जा रहा है और जोत के खण्ड बिखरते जा रहे हैं। प्रत्येक कृषक के पास अनेक छोटे छोटे खेत होते हैं जो एक दूसरे से दूरी पर स्थित होते हैं। देश मे एक जोत मे औसतन 5 टुकडे पाये जाते हैं। जोत के अपखण्डो की सख्या बडे कृषको के पास लघु कृषको की अपेक्षा अधिक होती है।

जोत के अनेक खण्डो मे होने के कारण, कृषक सभी खेतो की पूर्ण व्यवस्था नही कर पाते है जिससे भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन कम प्राप्त होता है। देश मे कृषि उत्पादकता के कम होने का एक कारण भूमि का उपविभाजन एव अपखण्डन होना है।

जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन के कारण

भारत मे जोत उपविभाजन एव अपखण्डन के मुख्य कारण निम्न हैं—

(1) **देश को जनसख्या मे वृद्धि**—जोत उपविभाजन का प्रथम कारण देश की जनसख्या मे निरन्तर वृद्धि होना है। जनसख्या मे निरन्तर वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति कृषित भूमि की उपलब्ध मात्रा कम होती जा रही है। देश की जनसख्या मे वृद्धि के साथ साथ देश मे शिक्षा का अभाव, परिवहन एव सचार व्यवस्था की कमी, ग्रामीण क्षेत्रो के निवासियो मे कार्य के लिए बाहर निष्क्रमण का अभाव आदि

के कारण भी कृषि पर आधारित जनसख्या मे वृद्धि होती जाती है जो जोत के उप-विभाजन एव अपखण्डन मे सहायक होती है।

(2) देश मे वशागत कानून का होना—देश मे वशागत कानून के होने से प्रत्येक कृषक की भूमि उसके उत्तराधिकारियो मे समान रूप से विभाजित होती है। अत पीढी-दर-पीढी जोत का आकार कम होता जाता है एव जोत के खण्डो की सख्या मे वृद्धि होती जाती है।

(3 कृषको का भूमि के प्रति लगाव—समाज मे भूमि प्रतिष्ठा का सूचक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति भूमि पर स्वामित्व चाहता है जिसके कारण भूमि की मांग अधिक होती है। भूमि की बढती हुई मांग के कारण छोटे कृषक खराब वित्तीय स्थिति से विवश होकर भूमि विक्रय करते रहते है, जिसके कारण भी भूमि खण्डो मे विभक्त होती रहती है।

(4) रोजगार उपलब्धि के लिए गांवो मे कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों का अभाव होना—गावो मे व्यवसायो के अभाव मे कृषक भूमि पर अधिक ध्यान देते है जिससे भूमि पर व्यक्तियो का भार बढ़ता है और भूमि खण्डो मे विभक्त होती रहती है।

(5) भौगोलिक एवं मानव-निर्मित कारक—वर्षा के कारण खेतो के मध्य से नाले बनने सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र मे सडकें, नहरे एव नालिया बनाने से भी खेत खण्डो मे विभक्त हो जाते हैं।

(6) सयुक्त परिवार प्रथा का विघटन—*पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण* वर्तमान मे प्रचलित सयुक्त परिवार प्रथा के विघटन के कारण भी जोत का उप-विभाजन होता जा रहा है।

जोत-उपविभाजन एवं अपखण्डन से लाभ

जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन के प्रमुख लाभ निम्न हैं—

(1) देश मे भूमिहीन श्रमिको की सख्या मे वृद्धि नही होती है।

(2) जोत के छोटे छोटे खण्डो पर उत्पादन वृद्धि की सघन कृषि-पद्धति सरलता से अपनाई जा सकती है जिससे उत्पादकता मे वृद्धि होती है।

(3) देश मे उपलब्ध भूमि का क्षेत्र कुछ व्यक्तियो के पास न होकर समाज के सभी सदस्यों मे वितरित होता है जिससे समाज दो विरोधी श्रेणियो—जमीदारो एव भूमिहीन श्रमिकों से विभक्त नही होता है। समाज मे आर्थिक *विषमता उत्पन्न नहीं होती है।*

(4) भूमि के विभिन्न खण्डो मे होने से प्राकृतिक प्रकोपो—सूखा, पाला, बीमारी आदि से होने वाली हानि कम होती है।

जोत-उपविभाजन एवं अपखण्डन के दोष

जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन के दोष अग्र है—

(1) जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन के कारण प्रत्येक जोत पर मेड, रास्ते एव सिचाई की नालिया बनाने के कारण फार्म पर उपलब्ध कृषित क्षेत्र कम हो जाता है।

(2) प्रत्येक छोटे-छोटे भूखण्ड पर स्थायी सुधार कार्य जैसे-कुओ का निर्माण, पम्पिग सैट लगाना आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होता है।

(3) प्रत्येक छोटे भू-खण्ड पर यन्त्रीकरण जैसे—ट्रैक्टर, रीपर, थ्रेसर आदि का उपयोग आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होता है।

(4) जोत उप-विभाजन के कारण कृषको मे आपस मे जोत की परिसीमा सम्बन्धी झगडे होते रहते है, जिससे कृषको का समय एव धन काफी व्यय होता है।

(5) जोत के खण्डो को दूर-दूर पर होने के कारण बैलो एव श्रमिको को एक खेत से दूसरे खेत पर ले जाने मे समय अधिक खर्च होता है एव लागत अधिक आती है।

(6) जोत के खण्डो के दूर दूर पर होने से चोरी एव अन्य नुकसान होने की समावना अधिक होती है एव चौकीदारी की लागत अधिक आती है।

(7) फार्म पर उपलब्ध मशीनें अधिक समय तक बेकार रहती हैं जिसके कारण उनकी कार्यकारी लागत अधिक आती है।

जोत-उपविमाजन एव अपखण्डन रोकने के उपाय .

जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन को निम्न उपाय अपनाकर रोका जा सकता है :

1) लघु अनार्थिक जोतो को आर्थिक जोतो मे परिवर्तित करने के उपाय

इस विधि मे वे उपाय सम्मिलित हैं जो कृषि की विधि मे परिवर्तन करके अस्थायी रूप मे जोत के आकार मे वृद्धि करते है।

(अ) सहकारी सयुक्त कृषि पद्धति द्वारा—सहकारी सयुक्त कृषि से तात्पर्य कृषि की उस प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत कृषक भूमि का प्रबन्ध सम्मिलित रूप से करते हैं। इनमे अनेक कृषक अपनी भूमि को एक इकाई के रूप से सम्मिलित करके खेती करते हैं। सहकारी सयुक्त कृषि द्वारा छोटी-छोटी जोतें एक बडे फार्म के रूप मे परिवर्तित हो जाती हैं, जिससे लघु कृषको को भी बडे कृषको के समान लाभ प्राप्त होता है। इस विधि मे प्रत्येक कृषक को अपनी भूमि पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होते हैं।

(ब) सहकारी सामूहिक कृषि पद्धति द्वारा—इस विधि मे सभी सदस्य-कृषको की भूमि एव उत्पादन-साधनो को सम्मिलित करके एक सामूहिक फर्म के रूप मे कृषित किया जाता है। इस विधि मे भूमि पर स्वामित्व व्यक्तिगत न होकर सामूहिक (प्रबन्ध-समिति का) होता है। फार्म की व्यवस्था प्रबन्ध-समिति करती है। इस विधि में भी लघु जोत कृषको को पूर्व की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त होता है।

(II) भूमि के उपविभाजन एव अपखण्डन पर रोक लगाने के उपाय

इस विधि मे वे उपाय सम्मिलित है जो वर्तमान मे जोत का आर्थिक आकार आने के पश्चात् होने वाले जोत के खण्डो पर रोक लगाते हैं। प्रमुख उपाय निम्न-लिखित है :—

(अ) प्रचलित वशागत कानून मे परिवर्तन करना—इस कानून के अन्तर्गत प्रत्येक उत्तराधिकारी को भूमि मे समान हिस्सा प्राप्त होता है। इस कानून को ज्येष्ठाधिकार कानून मे परिवर्तित करने से भूमि की सम्पूर्ण जोत बडे पुत्र को प्राप्त होती है तथा अन्य उत्तराधिकारियो को भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति मे हिस्सा प्राप्त होता है। इस प्रकार भूमि के उपविभाजन एव अपखण्डन पर रोक लगती है। बेलजियम देश मे प्रचलित प्रथा के अनुसार एक उत्तराधिकारी सभी उत्तराधिकारियो को ऋण के बॉड पत्र देकर उनसे भूमि क्रय कर लेता है। भूमि का बँटवारा तो उत्तराधिकारियो मे हो जाता है लेकिन भूमि सभी उत्तराधिकारियो द्वारा पृथक रूप मे कृषित न की जाकर एक उत्तराधिकारी को कृषित करने के लिए दे दी जाती है। इस प्रकार प्रचलित कानून मे परिवर्तन करके भूमि के उप विभाजन एव अपखण्डन पर रोक लगाई जा सकती है।

(ब) विभिन्न राज्यो मे आर्थिक जोत की सीमा आने के पश्चात् भूमि के विभाजन पर कानूनन नियन्त्रण लगाया जाने चाहिए। इसके लिए अनेक राज्यो ने प्रयास किये हैं।

(स) लघु एव सीमान्त कृषको तथा अनुसूचित जाति एव जनजाति के कृषको की भूमि के हस्तान्तरण पर कानूनन रोक लगाई जानी चाहिये, क्योकि यह वर्ग धन की आवश्यकता होने पर भूमि के छोटे छोटे खण्ड आवश्यकतानुसार विक्रय करते रहते हैं। साथ ही इनके द्वारा विक्रय करने की अवस्था में उस भूमि के क्रय मे पडौसी कृषकों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जिससे भूमि का पृथक् खण्ड नहीं बनने पाये।

(III) जोत के वर्तमान आकार मे वृद्धि करने वाले उपाय

जोत के वर्तमान आकार मे चकबन्दी विधि द्वारा वृद्धि की जा सकती है। चकबन्दी के द्वारा कृपको के विभिन्न स्थानो पर होने वाले अनेक भू खण्डो को एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाता है जिससे जोत का आकार बढ जाता है।

जोत-चकबन्दी

जोत-चकबन्दी से तात्पर्य कृषको की भूमि के छोटे-छोटे तथा बिखरे हुए खण्डो को एक स्थान पर एकीकृत खण्ड मे परिवर्तित करने से है। अग्रवाल एव

वासिल[10] के अनुसार "जोत चकबन्दी का अर्थ कृषको के खेतो का एकीकरण एव पुन विभाजन करने से है जिससे जोत के खण्डो की सख्या कम हो जाए।"

जोत-चकबन्दी के द्वारा कृषको को उनके विभिन्न स्थानो पर होने वाले भूमि के खण्डो के बदले मे एक स्थान पर सम्पूर्ण खण्डो के क्षेत्र के समतुल्य भूमि दी जाती है। कृषको की भूमि एक स्थान पर होने से कृषक मशीन औजार, सिंचाई के साधनो का उपयोग लाभप्रद तरीको से करके उत्पादकता मे वृद्धि कर सकते हैं। जोत-चकबन्दी के अन्तर्गत कृषको को एक ही क्षेत्र मे उनकी भूमि के समतुल्य मूल्य/उत्पादकता के आकार की भूमि का क्षेत्र देने की कोशिश की जाती है। जोत-चकबन्दी बिखरी हुई जोतो के कारण उत्पन्न समस्या का हल करती है, लेकिन यह लघु, सीमान्त एव अनार्थिक जोतो की समस्या को हल नही करती है।

जोत चकबन्दी से लाभ– जोतो की चकबन्दी करने से, कृषको को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं—

(1) जोत-चकबन्दी, कृषको को सिंचाई की समस्या सुलझाने मे सहायक होती है। चकबन्दी करने मे कृषक खेत पर कुआं बनाकर अथवा नलकूप लगाकर पूरे फार्म मे सिंचाई की व्यवस्था कर सकते हैं। भूमि के अलग अलग खण्डो मे होने से प्रत्येक खेत पर कुआ बनाना आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होता है।

(2) जोत चकबन्दी द्वारा लघु एव विखण्डित जोतो के आकार मे वृद्धि करने से उन्नत कृषि यन्त्रो एव मशीनो, जैसे—ट्रैक्टर, पावर टिलर, थ्रेसर का उपयोग सुगम एव आर्थिक दृष्टि से लाभकर होता है।

(3) जोत-चकबन्दी करने से कृषक फार्म पर उत्तम फसल-चक्र अपना सकते हैं जो सघन कृषि के लक्ष्य प्राप्त करने मे सहायक होता है।

(4) जोत-चकबन्दी मे छोटे-छोटे खण्डो की मेडो को तोडने से फार्म पर भूमि के क्षेत्र मे वृद्धि होती है जिससे राज्य मे कुल कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र मे वृद्धि होती है।

(5) चकबन्दी से खेत की देखभाल मे आसानी रहती है। पशुओ द्वारा फसल का नुकसान एव चोरी की सम्भावना कम हो जाती है।

(6) चकबन्दी से फार्म पर कृषि कार्यों का समय पर पूरा करना सम्भव होता है जिससे उत्पादन मे वृद्धि होती है।

(7) चकबन्दी करने से श्रमिको एव बैलो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर

10 Consolidation of holdings may be defined as the amalgamation and re distribution of fields constituting individual holding or estates so as to reduce the number of fragments in the holdings

—G D Agrawal & P C Bansil Economic Problems of Indian Agriculture, Vikas Publication, New Delhi, 1969, P 141

ले जाने की आवश्यकता नहीं होती है जिससे समय की बचत होती है एव कार्य अधिक होता है।

(8) चकबन्दी से फार्म पर व्यावहारिक दक्षता मे वृद्धि होती है।

जोत-चकबन्दी की विधि—किसी भी क्षेत्र में चकबन्दी का कार्य शुरू करने के पूर्व चकबन्दी अधिकारी ग्राम-सलाहकार समिति से विचार-विमर्श करके चकबन्दी की योजना तैयार करते हैं और चकबन्दी का प्रस्तावित नक्शा प्रकाशित करते हैं। चकबन्दी का नक्शा प्रकाशित करने के उपरान्त प्रभावित कृषक नियत समयावधि मे चकबन्दी से होने वाली हानियो के लिए एतराज पेश कर सकते हैं। चकबन्दी, अधिकारी एव अन्य अधिकारी प्राप्त एतराजो पर विचार-विमर्श करके चकबन्दी-योजना मे आवश्यक परिवर्तन करते हैं और सशोधित योजना के अनुसार चकबन्दी को कार्यान्वित करते हैं।

चकबन्दी के अन्तर्गत अधिक उर्वरा-शक्ति वाली भूमि के बदले मे कृषक को कम उर्वरा-शक्ति वाली भूमि के प्राप्त होने से होने वाली हानि की पूर्ति के लिए मुआवजे की राशि का भुगतान किया जाता है। मुआवजे की राशि विभिन्न श्रेणियों की भूमि के लिए भिन्न-भिन्न होती है। चकबन्दी करते समय यह कोशिश की जाती है कि कृषक की जिस क्षेत्र मे भूमि अधिक होती है, उसको उसी क्षेत्र मे भूमि एक खण्ड मे प्रदान की जावे।

जोत-चकबन्दी की प्रगति—जोत-चकबन्दी सर्वप्रथम भारत मे वर्ष 1905 मे स्वेच्छा के आधार पर देश के मध्यवर्ती प्रदेशो मे शुरू हुई। यह वर्ष 1912 में पजाब मे, 1925–26 मे उत्तरप्रदेश मे एव उसके बाद अनेक राज्यो मे शुरू की गई, लेकिन जोत-चकबन्दी के क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति नही हो सकी क्योकि इसका आधार स्वेच्छिक था। स्वतन्त्रता के उपरान्त देश म स्वेच्छा से चकबन्दी के स्थान पर अनिवार्य चकबन्दी अपनाई गयी। विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं मे जोत-चकबन्दी के महत्त्व को ध्यान मे रखत हुए इसे प्राथमिकता के स्तर पर कार्यान्वित करने पर बल दिया गया है।

देश के सभी राज्यों (तमिलनाडु एव केरल के अतिरिक्त) मे जोत-चकबन्दी के लिए कानून पारित हो चुके हैं। इनमे से जोत-उपविभाजन एव अपखण्डन निवारण अधिनियम बम्बई 1947 एव पजाब 1948 महत्त्वपूर्ण अधिनियम हैं। अन्य राज्यो मे जोत-चकबन्दी कानून बाद मे पारित किये गये। राजस्थान ने 1954, बिहार ने 1956, असम एव कर्नाटक न 1960, उत्तरप्रदेश एव जम्मू-कश्मीर ने 1962 मे जोत-चकबन्दी के लिये कानून पारित किये। भारत मे विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे जोत-चकबन्दी के अन्तर्गत लाया गया क्षेत्रफल सारणी 4.3 मे दर्शाया गया है।

सारणी 43

भारत मे जोत-चकबन्दी के अन्तर्गत लाया गया क्षेत्रफल

पचवर्षीय योजना		चकबन्दी किया गया क्षेत्र (मिलियन हैक्टर)
प्रथम पचवर्षीय योजना से पूर्व	(मार्च 1951)	1 209
प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे	(1951–56)	3 220
द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे	(1956–61)	7 510
तृतीय पचवर्षीय योजना काल मे	(1961–66)	12 150
तीन वार्षिक योजनाओ के काल मे	(1966–69)	4 890
चतुर्थ पचवर्षीय योजना काल मे	(1969–74)	10 347
पचम पचवर्षीय योजना काल मे	(1974–80)	6 874
छठी पचवर्षीय योजना काल मे	(1980–85)	5 600
सातवी पचवर्षीय योजना काल मे	(1985–90)	7 960
कुल चकबन्दी किया गया क्षेत्र		59 760

इस प्रकार सातवी पचवर्षीय योजना तक 59 76 मिलियन हैक्टर भूमि क्षेत्र मे चकबन्दी की जा चुकी है, जो देश की कुल कृषित भूमि का 33 प्रतिशत है। पजाब, हरियाणा एव पश्चिमी उत्तर प्रदेश राज्यो मे चकबन्दी का कार्य पूर्ण हो चुका है। अन्य राज्यो मे प्रगति की गति मे बहुत भिन्नता है। अतः जोत चकबन्दी की प्रगति के आधार पर भारत के राज्यो को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

(i) वे राज्य जहाँ तक प्रगति की रफ्तार बहुत अच्छी है और जो सम्पूर्ण क्षेत्र मे चकबन्दी करने का लक्ष्य रखते हैं, जैसे-पजाब, हरियाणा एव उत्तर प्रदेश।

(ii) वे राज्य जहाँ प्रगति की रफ्तार बहुत अच्छी है, लेकिन इनमे पूर्ण क्षेत्र मे जोतो की चकबन्दी की आशा नही है, जैसे-महाराष्ट्र एव हिमाचल प्रदेश।

(iii) वे राज्य जहां जोत-चकबन्दी के लिए कुछ कार्य हुआ है, जैसे-मध्य-प्रदेश, राजस्थान, गुजरात व कर्नाटक।

(iv) वे राज्य जहा जोत-चकबन्दी प्रयोगात्मक स्तर पर है, जैसे-बिहार, आन्ध्रप्रदेश व जम्मू एव कश्मीर।

(v) वे राज्य जहा कानून के होते हुए भी जोत-चकबन्दी की प्रगति नगण्य है, जैसे-असम, उड़ीसा एव पश्चिमी बगाल ।

(vi) वे राज्य जहा जोत-चकबन्दी के लिए कानून नही बना है, जैसे-तमिल नाडु केरल पाण्डिचेरी एव उत्तरी पूर्वी राज्य ।

जोत-चकबन्दी के कार्य मे आने वाली कठिनाइया—जोत चकबन्दी कृषकों के लिए लाभकर होते हुए भी इस क्षेत्र म हुई प्रगति सन्तोषजनक नहीं है । जोत-चकबन्दी के कार्य मे आने वाली कठिनाइयाँ निम्न हैं-

(1) कृषकों का पैतृक भूमि से लगाव-कृषकों का पैतृक भूमि से लगाव होने के कारण वे अतिरिक्त भूमि जो उपजाऊ अथवा खण्डो मे विभक्त अथवा बजर ही क्यो न हो, विनिमय करना नही चाहते हैं ।

(2) समान उर्वरता वाली भूमि उपलब्ध नहीं होना— चकबन्दी की प्रगति मे दूसरा बाधक कारक भूमि के विनिमय के लिए समान उर्वरता वाली भूमि का क्षेत्र मे उपलब्ध नहीं होना है, जिसके कारण कृषक चकबन्दी के लिए इच्छुक नहीं होते हैं ।

(3) जोत-चकबन्दी के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव—दक्ष एव प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव भी चकबन्दी के विकास में बाधक होता है । दक्ष कर्मचारियो के अभाव मे विभिन्न कृषको की भूमि को चकबन्दी करते समय उन्हे पूर्ण न्याय नही मिल पाता है और झगडे उत्पन्न होते रहते हैं ।

(4) भूमि के स्वामित्व के सही अभिलेख उपलब्ध नहीं होना-भूमि के स्वामित्व के सही एव विश्वसनीय अभिलेख उपलब्ध नही होने से कृषको मे चकबन्दी करते समय स्वामित्व सम्बन्धी अनेक विवाद उत्पन्न हो जाते हैं जो चकबन्दी की प्रगति मे बाधक बन जाते हैं ।

(5) जमींदारो, कृषको एव अन्य व्यक्तियो द्वारा चकबन्दी का विरोध करना एवं उनके द्वारा झूठे दावे प्रस्तुत करने से कार्य की प्रगति म रुकावट आती है ।

4. जोत की उच्चतम सीमा/भू-सीमा निर्धारण :

भूमि से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या जोत का क्षेत्रफल कृषको के पास असमान मात्रा मे होना है । जोत के क्षेत्र मे असमानता के कारण समाज के विभिन्न वर्गों मे वैमनस्यता उत्पन्न होती है और साथ ही लघु जोतो पर दीर्घ जोतो की अपेक्षा उत्पादकता कम होती है । फलस्वरूप कृषको को भूमि के क्षेत्र से उत्पादन कम प्राप्त होने के साथ-साथ देश को आर्थिक हानि भी होती है वर्ष 1980-81 की कृषि जनगणना के अनुसार भारत मे 74.6 प्रतिशत जोतें दो हैक्टर से कम क्षेत्र की हैं किन्तु इनके अन्तर्गत कुल कृषित भूमि का 26 3 प्रतिशत क्षेत्र ही

समाया हुआ है । तीन प्रतिशत से कम जोतें ही 10 हैक्टर एव इससे अधिक क्षेत्र की हैं और इनके अन्तर्गत 22 8 प्रतिशत भूमि है । भूमि के वितरण की यह असमानता एक ओर सामाजिक असन्तोष को जन्म देती है तो दूसरी ओर अलाभकर जोतो के लिए भी उत्तरदायी है । अत समाजवादी समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए देश मे भूमि का समान बँटवारा करने की माग काफी प्रबल हो रही है । अतः देश मे भू-सीमा का निर्धारण करना आवश्यक हो गया है ।

भारत मे जोत-केन्द्रीयकरण अनुपात (Holding-Concentration-Rat o) 0 62 है ।[11] यह अनुपात भारत मे जोतो के असमान वितरण का द्योतक है । जोतो के समान वितरण की अवस्था मे यह अनुपात शून्य होता है ।

जोत की उच्चतम सीमा/भू सीमा से तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा परिवार के लिए भूमि के नियत क्षेत्र पर स्वामित्व प्राप्त होने के उपरान्त अधिक भूमि रखने पर कानूनन नियन्त्रण से है । भू-सीमा एक कृषक परिवार के लिए भूमि का अधिकतम क्षेत्र नियत करती है । भू-सीमा, भूमि के पुनर्वितरण का एक तरीका है । एक कृषक के पास निर्धारित सीमा से अधिक भूमि के होने पर अतिरिक्त भूमि कृषक से लेकर लघु एव सीमान्त कृषको, कृषि-श्रमिको मे निर्धारित प्राथमिकता के अनुसार वितरित की जाती है, जिससे इस वर्ग के कृषको एव कृषि-श्रमिको की जोत को आर्थिक बनाया जा सके, देश मे भूमिहीन-श्रमिको की सख्या मे कमी की जा सके एव कृषि-जोतो के क्षेत्र मे व्याप्त असमानता समाप्त की जा सके । जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित करने का उद्देश्य अनुकूलतम जोत के क्षेत्र वाले फार्मों का निर्माण करना है । इन जोतो पर प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादन अधिक प्राप्त होता है, उत्पादन लागत कम आती है और शुद्ध लाभ की प्राप्ति अधिक होती है ।

भूमि की उच्चतम सीमा के निर्धारण का प्रश्न भूमि की कमी से जुडा है । भूमि की सीमितता एव बढती हुई जनसख्या के कारण प्रत्येक व्यक्ति भूमि को प्राप्त करने की लालसा रखता है । इस लालसा को पूरा करने के लिए भूमि का पुनर्वितरण किया जाता है । यह पुनर्वितरण भूमि की उच्चतम सीमा नियत करने के बाद किया जाता है । बढती हुई भूमि की लालसा को कम करने का दूसरा उपाय भूमि पर आश्रित जनसख्या की कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो (उद्योगो, परिवहन आदि) मे स्थानान्तरित करना है, लेकिन वर्तमान परिस्थितियो मे ऐसा करने की सम्भावना प्रतीत नही होती है ।

भू सीमा निर्धारण के लाभ—भू-सीमा निर्धारण करने से अग्रलिखित लाभ प्राप्त होते हैं-

11. M S. Randhawa, Agriculture and Animal husbandry in India, I C A R, New Delhi, p. 77.

(1) भू मामा निर्धारण म न्श क अन्तगत विभिन्न व्यक्तियो क पास उपलब्ध भूमि के स्वामित्व म अव्याप्त समानता समाप्त हो जाती है । राष्ट्र समाजवाद क लक्ष्य का प्राप्ति के उद्देश्य की ओर अग्रसर होता है ।

(2) भू सीमा के निर्धारण म प्राप्त अतिरिक्त भूमि को लघु एव सीमान्त कृषका म वितरित करक उनका जोत का आर्थिक बनाया जा सकता है । भूमिहीन कृषि श्रमिका का अतिरिक्त जमीन वितरित करक उनकी सख्या म कमी की जा सकती है ।

(3) भू सीमा क निर्धारण से बड कृषका क यहा उत्पादन-साधनों क अभाव क कारण जो भूमि अकृषित अथवा परती पडा रहती थी वह परती नही रहती है । कृषक उपलब्ध सामित भूमि का पूर्णतया कृषि त करन का प्रयास करत हैं । इसम देश म कुल कृषित क्षत्रफल एव कृषि उत्पादन म वृद्धि होती है ।

(4) भू-सीमा का क्रियान्वित करन स कृषक उपलब्ध भूमि पर सघन कृषि पद्धति अपनात हैं, जिसस उन्ह लाभ अधिक प्राप्त होता है ।

(5) भू सीमा क क्रियान्वित करन स समाज म व्याप्त वैमनस्यता समाप्त होती है ।

भू सीमा निर्धारण के विपक्ष म तक—कुछ व्यक्तियो का मत है कि भू-सीमा क निर्धारण स कृषि उत्पादन म कमी होगी । उनकी यह धारणा है कि दीघ जोतो पर लघु जोतो की अपक्षा प्रति इकाई भूमि क क्षत्रफल स अधिक उत्पादकता प्राप्त होती है । अनक अनुसन्धानो क परिणामो स स्पष्ट है कि लघु जोतो (अनार्थिक जोतो के अतिरिक्त) पर उत्पादकता का स्तर दीघ जोतो की अपक्षा अधिक होता है । एक सीमा क बाद जोतो क आकार म वृद्धि होन म उत्पादकता कम होती जाती है । अत जोत के क्षत्रफल पर उच्चतम सीमा का कानून लागू करन स उत्पादन कम नही प्राप्त होता है बल्कि लघु एव सीमान्त अनार्थिक जोतो वाल कृषको को अतिरिक्त भूमि प्राप्त होन स उनकी जोतें आर्थिक हो जाती हैं जोतो का क्षत्रफल अनुकूलतम हो जाता है और प्रति इकाई भूमि क क्षत्रफल म उत्पादकता म वृद्धि एव कुल उत्पादन की मात्रा अधिक प्राप्त होती है । अत भू सीमा क निर्धारण क विपक्ष म दिया जान वाला यह तक उचित नही है । यह तक मुख्यतया जमीदारो जागीरदारों व उन कृषको क द्वारा दिया जाता है जिनकी भूमि भू सीमा के अन्तगत आती है और उनसे अतिरिक्त भूमि लकर दूसर कृषको का दी जाती है ।

भू सीमा का निर्धारण—भू सीमा निर्धारण का मुख्य आधार भूमि के उस क्षत्रफल क निर्धारण म है जिसस प्राप्त आय स कृषक परिवार उचित जीवन-स्तर एव आवश्यक सुख सुविधा प्राप्त कर सक । अत भू सीमा निर्धारण का स्तर समान नहीं होकर पृथक्-पृथक् होता है । जोत की उच्चतम सीमा क निर्धारण म भूमि की किस्म का प्रमुखतया ध्यान रखा जाता है । विभिन्न श्रेणी की भूमि के लिए जोत की

उच्चतम सीमा विभिन्न होती है। भूमि की विभिन्न किस्मो के लिए जोत की उच्चतम सीमा इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि सभी प्रकार की उच्चतम सीमा वाले क्षेत्रो मे कृषको को लगभग समान आय प्राप्त हो सके। समान आय का यह उद्देश्य ही विभिन्न प्रकार की भूमि के लिए भू-सीमा हेतु जोत का समतुल्य क्षेत्र ज्ञात करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। भू-क्षेत्र का उपर्युक्त समतुल्य स्तर ज्ञात करने के उपरान्त आय के प्रश्न को ध्यान मे नही रखा जाता है। अत. स्पष्ट है कि भू-सीमा भूमि के क्षेत्र पर होती है, न कि भूमि से प्राप्त आय पर। भूमि-सुधार पेनल की रिपोर्ट मे भू-सीमा का क्षेत्र, आर्थिक जोत के क्षेत्र से तीन गुना रखने का सुझाव दिया है।

भू-सीमा के लिए क्षेत्रफल का निर्धारण करते समय निम्न कारको को दृष्टिगत रखना चाहिए—

(i) भूमि की उर्वरा शक्ति,

(ii) भूमि पर उपलब्ध सिंचाई की सुविधा एव सिंचाई के साधन,

(iii) भूमि पर उत्पन्न की जा सकने वाली फसलें,

(iv) विभिन्न फसलो से प्रति हैक्टर प्राप्त सम्भावित लाभ,

(v) भूमि के क्षेत्र पर मौसम की प्रतिकूलता के कारण उत्पादन मे कमी की प्रत्याशित सम्भावना,

(vi) जनसख्या का घनत्व।

भारत मे भू-सीमा स्वतन्त्र भारत मे भू-सीमा निर्धारण के लिए प्रथम पचवर्षीय योजना मे सर्वप्रथम सुझाव दिया गया था कि सभी राज्यो मे एक परिवार अथवा व्यक्ति के लिये भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाए। भूमि-सुधार-पेनल ने भी एक परिवार के लिए अधिकतम भू-सीमा निर्धारित करने की सिफारिश की तथा भू-सीमा से अधिक भूमि को उनसे लेकर भूमिहीन श्रमिको तथा लघु एव सीमान्त कृषको मे वितरण करने का सुझाव दिया। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे भी भू-सीमा के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जनवरी, 1959 मे नागपुर अधिवेशन मे निर्णय लिया कि वर्ष 1959 के अन्त तक भू-सीमा के लिए सभी राज्यो मे कानून बन जाना चाहिए। फलस्वरूप देश मे अनेक राज्यो ने भू-सीमा के निर्धारण के लिए वर्ष 1961 तक कानून पारित किए, लेकिन पारित कानूनो का अनेक कारणो से पूर्णतया पालन नही किया जा सका। भू-सीमा के लिए विभिन्न राज्यो मे निर्धारित अधिकतम भूमि का क्षेत्रफल सारणी 4.4 मे दिया गया है—

सारणी 4 4

भारत के विभिन्न राज्यो मे जोत की उच्चतम सीमा

(क्षेत्रफल हैक्टर मे)

राज्य	1960 से 1970 के काल मे		1972 के उपरान्त सशोधित भू-सीमा प्रति परिवार		
	इकाई	भू-सीमा	सिचित भूमि जिसमे दो फसले प्रति वर्ष ली जा सके	सिचित भूमि जिसमे एक फसल प्रति वर्ष ली जा सके	शुष्क भूमि
1. आन्ध्रप्रदश	प्रति व्यक्ति	10 93–131 12	4 05–7 28	6 07–10 93	14 16–21 85
2. असम	,,	20 234	6 74	6 74	6 74
3 विहार	,,	9.71—29 14	6 07–7 28	10 12	12 14–28 21
4 गुजरात	प्रति परिवार	4 05—53 14	4 05–7 28	6 07–10 93	8.09–21.85
5 हरियाणा	प्रति व्यक्ति	12 14—24 28	7 28	10 92	21 85
6 हिमाचल प्रदेश	,,	12 14	4 05	6 07	12 14–28 33
7 जम्मू एव कश्मीर	,,	9 206	3 6 –5 06	—	5 95—9 20
8 कर्नाटक	प्रति परिवार	10 926–87 435	4 05–8 10	10 12–12 14	21 85
9 केरल	,,	6 07—15 18	4 86–6 07	4 86–6 07	4 86–6 07
10 मध्यप्रदेश	,,	10 12	7 28	10 93	21 85
11 महाराष्ट्र	,,	7 284–50 995	7 28	10 93–14 57	21 85
12 मणीपुर	,,	—	5 0	5 0	6 0

13 उडीसा	प्रति व्यक्ति	8 09–32 37	4 05	6 07	12 14–18 21
14 पजाब	,	12 14–24 28	7 0	11 0	20 50
15 राजस्थान	प्रति परिवार	8 90–135 97	7 28	10 93	21 85–70 82
16 तमिलनाडू	,,	12 14–48 56	4 86	12 14	24 28
17 सिक्किम		—	5 06	—	20 23
18 त्रिपुरा		—	4 0	4 0	12 00
19 उत्तरप्रदेश	प्रति व्यक्ति	16 19–32 37	7 30	10 95	18 25
20 पश्चिमी बगाल	,,	10 12	5 0	—	7 0

Note (1) The actual ceiling limits for land having two crops and one crop respectively irrigated in Karnataka and Uttar Pradesh are marginally higher due to classification of land

(2) The actual ceiling limits in respect of dry land in Himachal Pradesh and Rajasthan are higher due to hilly terrain and being desert respectively

(3) The ceiling limit suggested in National guidelines of 1972 is 4 05 to 7 28 ha for irrigated land with two crops, 10 93 ha for irrigated land with one crop and 21 85 ha. for dry land

Source Agricultural Statistics at a Glance, February, 1990, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi

पारित भू-सीमा कानूनो मे अनेक कमियो के होने तथा राजनैतिक दलो का सहयोग प्राप्त नही होने के कारण भू सीमा से उपलब्ध होने वाले क्षेत्रफल की प्राप्ति मे विशेष सफलता प्राप्त नही हो सकी। इस काल में पारित कानूनो मे प्रमुख कामयाँ निम्न थी—

(1) अनेक राज्यों मे भू-सीमा क्षेत्र मे विस्तृत परिसीमा का होना (Wide Range of Ceiling Limit)—अनेक राज्यो में निर्धारित भू-सीमा मे विस्तृत परिसीमा के होने से भू-सीमा कानून के होते हुए भी सरकार को अधिशेष भूमि अधिक मात्रा मे प्राप्त नही हो सकी। जैसे—आन्ध्रप्रदेश मे भू-सीमा 10 93 से 131 12 हैक्टर, राजस्थान मे 8 90 से 135 97 हैक्टर, गुजरात में 4 05 से 53 14 हैक्टर, कर्नाटक मे 10 926 मे 87 435 हैक्टर, पजाब एव हरियाणा मे 12 14 से 24 28 हैक्टर एव महाराष्ट्र मे 7 284 मे 50 995 हैक्टर प्रति व्यक्ति/परिवार थी।

(2) अनेक राज्यो में भू-मीमा का क्षेत्रफल परिवार के आधार पर न होकर प्रति व्यक्ति के आधार पर निर्धारित किया गया है, जिसके कारण अधिकाश कृपक भू-सीमा कानून से मुक्त हो गये। आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, उडीसा, हरियाणा व पजाब राज्यो मे भू-सीमा प्रति व्यक्ति नियत की गई है।

(3) भू-सीमा कानून ने विभिन्न राज्यो मे अनेक प्रकार के फार्मों को छूट दी है, जैसे—चीनी मिल मालिको के गन्ने के फार्म, पशु प्रजनन फार्म, फलो के एकीकृत बाग, चाय, काफी, रबर के बागान, चारागाह भूमि, सहकारी फार्म, दूध उत्पादन फार्म, यान्त्रिक फार्म, धार्मिक फार्म एव ऐसे फार्म जो फार्म उत्पादन दक्षता से कर रहे हैं। इन श्रेणियो के फार्मों पर भू-सीमा लागू नही होती है। विविध प्रकार की छूटो के हाने से कृपक इनका झूठा सहारा लेकर भू-सीमा कानून से बच जाते हैं।

(4) भू-सीमा कानून के अन्तर्गत प्राप्त अतिरिक्त भूमि के मुआवजे का भुगतान कृषको को बाजार मूल्य के अनुसार नही करने के कारण भी कृपक अपनी अधिशेष भूमि को छोडना नही चाहत हैं।

(5) भू-सीमा कानून के पारित करने एव उसके कार्यान्वित करने के समय मे बहुत अन्तराल रहा है, जिससे कृपक इस काल मे अपनी अतिरिक्त भूमि को दूसरे कृपको को विक्रय करके अथवा अपने सम्बन्धियो के नाम करके अथवा घर के सदस्यो को शामिल करके सहकारी समिति बनाकर कानून से बचने में सफल हुए हैं।

(6) भू-सीमा केवल स्वामित्व वाली भूमि पर लागू की गई, लेकिन कृपक

अन्य कृपको से भूमि बँटाई पर लेकर कृपित क्षेत्र भू-सीमा क्षेत्र से अधिक रखने मे समर्थ होते है। कृषित क्षेत्र पर भू-सीमा कानून लागू नही होता है।

अत भू-सीमा कानून मे व्याप्त उपर्युक्त कमियो को दूर करने एव जोत की सशोधित भू-सीमा निर्धारण करने के लिये सरकार ने तत्कालीन कृषि मन्त्री श्री फखरुद्दीन अली अहमद की अध्यक्षता मे वर्ष 1971 मे केन्द्रीय भूमि-सुधार समिति नियुक्त की थी। समिति ने भू-सीमा के लिए क्षेत्र का निर्धारण उस स्तर पर करने की सिफारिश की जो भू-क्षेत्र कृपको के एक जोडी बैल को वर्ष भर पूर्णरूप से कार्यरत रख सके, परिवार के सदस्यों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध करा सके तथा परिवार के सदस्यो के लिये उचित जीवन-स्तर की प्राप्ति के लिये पर्याप्त आय प्रदान कर सके। समिति ने उपरोक्त तथ्यो को मद्दे नजर रखते हुये एक परिवार के लिये 10 से 18 एकड सिंचित भूमि का क्षेत्र भू सीमा मे रखने का सुझाव दिया था। समिति का मानना था कि इस भूमि के क्षेत्र से वर्ष 1970–71 की कीमतो के स्तर पर 15,000 रु० वार्षिक आय प्राप्त हो सकती है, जो एक औसत परिवार के लिये उचित जीवन-स्तर प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है। अन्य किस्म की भूमि के लिये भू-सीमा 18 से 54 एकड पर रखने की सिफारिश की गई थी। परिवार मे औसत से अधिक सदस्यो के होने पर अधिकतम सीमा के क्षेत्र मे छूट दी गई। समिति ने यह भी सिफारिश की कि वर्तमान मे भू-सीमा मे दी जाने वाली विभिन्न प्रकार की छूटो की सख्याओ मे कमी की जाये।

केन्द्रीय भूमि-सुधार समिति की सिफारिशें प्राप्त होने के पश्चात् सभी राज्यों के मुख्य मन्त्रियो ने जुलाई, 1972 की बैठक मे भू-सीमा के लिये राष्ट्रीय नीति अपनाने पर सहमति प्रकट की और कृषि की स्थिति एव जलवायु की विभिन्नता के अनुसार एक औसत परिवार के लिये भू सीमा निम्न प्रकार से रखने का निर्णय लिया—

(1) उन क्षेत्रो मे जहा वर्ष भर सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था है तथा उस भूमि से वर्ष मे दो फसलें ली जा सकती हैं, वहां भू-सीमा 4.05 से 7 28 हैक्टर; जहां एक ही फसल उत्पन्न की जा सकती है वहा 10 93 हैक्टर एव अन्य किस्म की भूमि के लिये 21 85 हैक्टर रखने के लिये सहमति प्रकट की।

(2) परिवार मे औसत से अधिक सदस्यो के होने पर अतिरिक्त भूमि का क्षेत्र रखने का प्रावधान किया गया है, लेकिन किसी भी परिवार के लिये अधिकतम भूमि का क्षेत्रफल, भू-सीमा के लिये निर्धारित क्षेत्रफल से दुगने से अधिक नही होगा।

विभिन्न राज्यो मे वर्ष 1972 मे पारित कानूनो के अनुसार सशोधित भू-सीमा का क्षेत्रफल सारणी 4 4 मे प्रदर्शित किया गया है। भू-सीमा के निर्धारण मे भूमि की किस्म, भूमि की उर्वरता तथा सिंचाई सुविधा को मद्दे नजर रखना होता

है, जिसके कारण विभिन्न राज्यो के लिये भू सीमा के अन्तर्गत एक निश्चित क्षेत्रफल नही होकर भूमि की एक परिसीमा दी गई है। भू-सीमा का उपर्युक्त क्षेत्रफल एक औसत परिवार के लिए है। परिवार मे औसत से अधिक सदस्यो के होने पर अतिरिक्त भूमि का क्षेत्रफल रखने का कानून मे प्रावधान किया गया है। भारतीय सविधान के 34वें विधेयक (जो 26 अगस्त, 1947 को लोकसभा द्वारा पारित किया गया था) के अनुसार विभिन्न राज्यो द्वारा भूमि के उचित वितरण सम्बन्धी कानूनो को वैध करार दिया गया एव किसी भी राज्य द्वारा पारित भू-सीमा कानून को चुनौती देने के लिये अदालत मे जाने पर पाबन्दी लगा दी गई है।

भू-सीमा की प्रगति—राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 16वे दौर (1960–61) के अनुसार 8 87 मिलियन हेक्टर, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 26वे दौर (1971–72) के अनुसार 4 80 मिलियन हैक्टर, कृषि जनगणना 1970–71 के अनुसार 12 10 मिलियन हैक्टर एव कृषि जनगणना 1976–77 के अनुसार देश मे 8 88 मिलियन हैक्टर भूमि का क्षेत्र अधिशेष होने का आकलन किया गया था।[12] लेकिन वास्तविक भूमि का क्षेत्र जो भू-सीमा लागू करने के पश्चात् उपलब्ध हुआ है वह अनुमानित क्षेत्र से बहुत कम है। दिसम्बर, 1987 तक मात्र 1 97 मिलियन हैक्टर क्षेत्र ही अधिशेष घोषित हो पाया है जो कुल कृषित क्षेत्र का दो प्रतिशत से भी कम है। सरकार इस सम्पूर्ण घोषित क्षेत्र मे से 1 39 मिलियन हैक्टर क्षेत्र को ही अपने अधिकार मे ले पाई, क्योकि भूमि के स्वामित्व के अनेक झगडे अदालतो मे निर्णय हेतु दर्ज है। इसमे से 0 97 मिलियन हैक्टर क्षेत्र भूमि का सीमान्त एव लघु कृषको, कृषि श्रमिको एव अनुसूचित जाति एव जनजाति के व्यक्तियो को वितरित कर पाई है। अत. स्पष्ट है कि भू-सीमा लागू करने से प्राप्त परिणाम उद्देश्यो के परिपेक्ष्य मे सन्तोषप्रद नही है।

5 सहकारी खेती एव सहकारी ग्राम प्रबन्ध

सहकारी कृषि पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न कृषको द्वारा जोतो पर सयुक्त रूप से कृषि की जाती है जिसके कारण लघु कृषको को प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उतना ही लाभ प्राप्त होता है जितना कि बडे कृषको को भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र मे प्राप्त होता है।

सहकारी ग्राम प्रबन्ध के अन्तर्गत पूरे ग्राम के विकास की योजना बनाई जाती है। इसके अन्तर्गत ग्राम की सम्पूर्ण भूमि को एक फार्म इकाई के रूप मे मानकर कृषि योजना बनाना, सम्पूर्ण भूमि को इस प्रकार कृषि कार्यों के लिए सचालित करना ताकि ग्राम के पूर्ण समुदाय को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके तथा ग्राम के निवासियो को अधिकतम रोजगार भी उपलब्ध हो सके, आदि सम्मिलित होता है।

12. Yojana, Vol 33, No 6, 1-15 April, 1989, PP 5-7.

भूमि सुधार कार्यक्रमों की आलोचनात्मक समीक्षा

देश मे भूमि सुधार के लिए स्वतन्त्रता के समय मे ही प्रयास किये गए हैं जिसके कारण विभिन्न राज्य सरकारो ने मध्यस्थो की समाप्ति, कृषको को भूमि पर स्थायी स्वामित्व दिलाने, भू-लगान की राशि कम करने, जोत की उच्चतम सीमा नियत करने, जोतो की चकबन्दी करने आदि कार्यों के लिए कानून पारित किये है। इन भूमि-सुधार कानूनो से प्राप्त लाभो के विषय मे विशेषज्ञो में मतभेद है। भूमि-सुधार कार्यक्रमो की प्रगति भी विभिन्न राज्यो मे समान नही है।

देश मे भूमि-सुधार कार्यक्रमो के प्रभाव के अध्ययन पर अनेक विद्वानो के लेख प्रकाशित हुए है, जिनमे भूमि सुधारो के क्रियान्वयन सम्बन्धी दोषो पर प्रकाश डाला गया है। भूमि सुधार कार्यक्रमो के दोषो पर वुल्फ लडी जिन्स्की[13], कोटोवस्की, राजकृष्ण, पी एस अप्पु[14], पी. सी जोशी[15], बेरी एच मीची[16] और भूमि सुधार-पैनल की काश्तकार-समिति ने विशेष प्रकाश डाला है। उपर्युक्त विद्वानो का कथन है कि भूमि सुधार कार्यक्रमो का गरीब काश्तकारो पर विपरीत प्रभाव पडा है। यह प्रभाव भूमि-सुधार कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने के कारण, बेदखल हुए काश्तकारो की सख्या की अधिकता से स्पष्ट है। देश मे 1961 से 1971 की अवधि मे कृषको की सख्या 51 प्रतिशत से गिरकर 43 प्रतिशत हो गई जबकि कृषि श्रमिको की सख्या बढकर 17 से 26 प्रतिशत हो गई। इसी अवधि मे बडे कृषको की सख्या 2 3 मिलियन से बढकर 2 8 मिलियन हो गई। भूमि-सुधार कार्यक्रमो से मध्यस्थो को लाभ पहुँचा है, वे पहले से अधिक प्रभावशाली हो गए हैं। श्री पी एस अप्पु ने अपने कृषि भूमि सुधार प्रतिवेदन मे भूमि-सुधार कार्यो से प्राप्त लाभ की व्यवस्था करते हुए लिखा है कि "Land Reform is Dead"। वुल्फ लेजिन्स्की ने अपने प्रतिवेदन मे भूमि सुधार कार्यक्रमो की व्याख्या मे वर्ष 1965 मे कहा है कि, "भारत मे कई अच्छे कृषि-सुधार कानून प्रारम्भ से ही मृत रहे हैं

13 (a) Wolf Ladejinsky· A study of Tenurial Conditions in Package Districts, Planning Commission, Government of India, New Delhi, 1965, p 41
(b) do , The Green Revolution in Punjab Economic and Political Weekly, Vol IV No 26, 1969
(c) .. do . . . , Agrarian Reforms in Asia Foreign Affairs, April, 1964, p 456

14 P S Appu Report of Task, Force on Agrarian Relations Economic and Political Weekly, Vol VIII, No 20, May 19, 1973, pp 894-95

15 P C Joshi Land Reforms in India and Pakistan, Economic and Political Weekly; Vol V, No 52, December 26, 1970

16, Barry H Michie, Variations in Economic Behaviour and the Green Revolution An Anthropological Perspective, Economic and Political Weekly, Vol VIII, No 26, 30 June, 1973, pp A 67—A, 75

(Many a good piece of agrarian reform legislation has arrived stillborn in India) " ।

विभिन्न विद्वानो द्वारा भूमि-सुधार कार्यक्रमों मे व्याप्त दोषो का निम्न प्रकार से विवेचन किया गया है —

1 भूमि-सुधार अधिनियमों को पारित करने एव उनके क्रियान्वयन मे समय का बहुत अन्तर रहा है। भूमि-सुधार के लिए पारित अधिकाश अधिनियम विभिन्न राज्य सरकारो द्वारा तुरन्त प्रभावशील न किये जाकर बहुत समय उपरान्त लागू किये गये, जिसके कारण अनेक समृद्धशाली कृषक एव मध्यस्थ भूमि को इस काल मे अपने परिवार के अन्य सदस्यो, रिश्तेदारो एव मित्रो मे वितरित करके कानून की सीमा मे बचकर निकल गए। अत: पारित अधिनियमो से अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई। भूमि-सुधार के क्षेत्र मे कानून बनाने एव उसे कार्यान्वित करने मे जितना समयान्तर रहा है उतना अन्य किसी क्षेत्र मे नही पाया गया।

2 भूमि-सुधार कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने के लिए सरकार के द्वारा पूर्ण नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, जिसका भी विभिन्न राज्य सरकारो के पास अभाव पाया गया है। अत विभिन्न पारित अधिनियम पूर्ण रूप से कार्यान्वित नही हो पाए, जिससे उनके उद्देश्यो की प्राप्ति नही हो सकी।

3 देश के वर्तमान सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक ढांचे मे समृद्धिशाली व्यक्ति अपने प्रभाव के कारण अधिक लाभान्वित होते है। ऐसी स्थिति मे गरीब कृषको को भूमि सुधार कानूनो से विशेष लाभ प्राप्त होने की आशा नही है। कानून के निर्माण करने वाले, उन्हे कार्यान्वित करने वाले तथा अनेक स्थानो पर निर्णायक भी बडे जमींदार एव समृद्धिशाली व्यक्ति ही होते हैं।

4 बहुत से राज्यो मे भूमि-सुधार के लिए पारित अधिनियमो मे अनेक कमियां रही हैं। उदाहरण के तौर पर व्यक्तिगत कृषि की भूमि से तात्पर्य यह होना चाहिए कि उस भूमि पर कृषि करने वाला व्यक्ति अथवा उसकी देख-रेख करने वाला व्यक्ति उसी भूमि के पास अथवा ग्राम मे रहना चाहिए, लेकिन वर्तमान मे ऐसा नही है। इसी प्रकार वर्तमान मे भू-सीमा कानून स्वामित्व वाली भूमि पर तो लागू है, लेकिन बटाई पर लेकर भूमि के क्षेत्र मे वृद्धि करने पर भू-सीमा कानून लागू नही है। अनेक राज्यो मे अनुसूचित जाति/जनजाति के व्यक्तियो को अपनी भूमि को कृषित करने के लिए दूसरो को पट्टे पर देने की अनुमति है, जो अनेक दृष्टिकोणो से गलत है।

5 वर्तमान मे भूमि-सुधार कार्यक्रमों का नारा है कि 'भूमि काश्तकार की होनी चाहिए (Land of the tiller)"। लेकिन इसके स्थान पर यह होना चाहिए

कि भूमि का स्वामी वह होगा जो स्वय उसके ऊपर विभिन्न कृषि कार्य जैसे हल चलाना, बुवाई करना, सिंचाई करना आदि कार्य करता है। इस परिवर्तन से देश मे अनुपस्थित भू-स्वामी प्रथा समाप्त हो सकती है एव भूमि वास्तविक कृषको के स्वामित्व मे जा पाएगी। लेकिन देश के वर्तमान ढाँचे मे ऐसा कानून बनाने एव उसे कार्यान्वित करने की सम्भावना कम प्रतीत होती है।

6 भूमि-सुधार कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने मे राजनैतिक हस्तक्षेप के कारण भी कृषको को इनसे वाछित लाभ प्राप्त नही हुए हैं। जो कार्यकर्त्ता भूमि-सुधार कार्यक्रमो को ईमानदारी से कार्यान्वित करना चाहते हैं, उन्हे सरकार अनेक प्रकार के दबाव के कारण अन्य स्थानो अथवा पदो पर स्थानान्तरित कर देती है जिसके कारण कार्यकर्त्ता कार्यक्रमो को पूर्ण-रूप से कार्यान्वित करने के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

7. जोत चकबन्दी योजना को कार्यान्वित करने से अनेक काश्तकार एव बटाईदार भूमि से बेदखल हो गए। चकबन्दी से पूर्व काश्तकारो के पास भूमि अनेक खण्डो मे होने के कारण, वे अपने भू-खण्ड दूसरो को कृषित करने के लिए बटाई पर देते थे। वर्तमान मे चकबन्दी के कारण उनकी जोत एक खण्ड मे हो गई, जो वह स्वय कृषित कर लेता है। इस प्रकार भू-सुधार योजना से अनेक काश्तकार बेदखल कर दिये गये।

8. बडे एव समृद्धिशाली कृषक, काश्तकारो को कृषि के लिये दी गई अपनी भूमि के सम्बन्ध मे कोई लिखित अनुबन्ध नही करते हैं. जिसके कारण कृषक अपने अधिकार के लिये कोर्ट मे नही जा पाते हैं। साथ ही गरीब काश्तकार धनाभाव के कारण अपना अधिकार साबित नही कर पाते हैं और उनका मानना है कि कोर्ट मे विवाद का निर्णय बडे जमीदार के पक्ष मे होता है।

9. भूमिहीन श्रमिक, लघु एव सीमान्त कृषक भूमि के पुनर्वितरण से प्राप्त भूमि को स्वय कृषित नही करके उसे पट्टे पर दे देते हैं जिससे उद्देश्य की प्राप्ति मे सफलता नही मिलती है।

10. भूमि-सुधार के लिए पारित अधिनियमो को कृषक पूर्णतया समझ नही पाते। सरकार भू-स्वामी एव काश्तकारो दोनो वर्गों को खुश करने की अपनी दोहरी नीति के कारण अस्पष्ट भाषा का प्रयोग करती है।

11 देश के कृषको को सरकार द्वारा भूमि-सुधार के लिए पारित अधिनियमो के विषय मे जानकारी प्रदान करने की व्यवस्था का अभाव होना भी इनका एक दोष है।

12 देश के कृषकों को अधिनियमों का ज्ञान होते हुए भी वे संगठन के अभाव में पारित अधिनियमों से पूरा लाभ नहीं उठा पाते हैं। वे समझते हैं कि कानून से स्वतः ही उनकी रक्षा हो जायेगी।

श्री पी सी अप्पु की अध्यक्षता में नियुक्त भूमि-सुधारों के कार्यकारी दल (Task-Force on Agrarian Relations) ने भूमि-सुधार के व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिये थे—

1 भूमि सुधार कानूनों में व्याप्त कमियों को दूर करना।

2. भू-सीमा के निर्धारण के लिए नया कानून बनाना एवं भू-सीमा निर्धारण से प्राप्त भूमि को भूमिहीन श्रमिकों में वितरित करना।

3. भूमि-सुधार कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए एक पृथक् प्रशासन-व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए। इस प्रशासन को अधिनियमों के कार्यान्वयन में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के कानूनन अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

4. भूमि-सुधार कार्यक्रमों को पूर्णरूप से कार्यान्वित करने एवं राजनैतिक प्रभावों को समाप्त करने के लिये कृषकों में राजनीति का रंग चढ़ाना (politicisation) चाहिए। कृषकों में यह राजनैतिक भावना विस्तृत पैमाने पर जाग्रत करना आवश्यक है।

श्रम

उत्पादन का दूसरा प्रमुख कारक श्रम है। श्रम से तात्पर्य शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से है जो धन की प्राप्ति के लिए किया जाता है। जे० बी० क्लार्क[17] के शब्दों में "धन का सृजन करने वाला मानवी प्रयास श्रम कहलाता है।" जेवन्स के अनुसार "श्रम मस्तिष्क अथवा शरीर की वह चेष्टा है जो पूर्णतया या अंशतः कार्यजन्य सुख के अतिरिक्त किसी आर्थिक उद्देश्य से किया जाता है।" श्रम कारक की पूर्ति करने वाला मनुष्य श्रमिक कहलाता है। कृषि व्यवसाय में कार्य करने वाले श्रमिकों को कृषि श्रमिक कहते हैं।

कृषि श्रमिक—कृषि श्रमिकों की परिभाषा में बहुत विभिन्नता है। साधारण शब्दों में कृषि श्रमिकों से तात्पर्य उन श्रमिकों से है जो अपना श्रम कृषि फार्म पर कार्यों के बदले नकद या वस्तु के रूप में मजदूरी प्राप्त करके विक्रय करते है। जनगणना आयोग एवं कृषि श्रम-जाँच समितियों ने कृषि श्रमिकों को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है।

प्रथम कृषि श्रम-जाँच समिति 1950–51 के अनुसार वे श्रमिक, जो वर्ष में कुल कार्यरत अवधि के आधे से अधिक समय कृषि-व्यवसाय (फसल उत्पादन

17. J. B. Clark; Essentials of Economic Theory, p. 9.

मात्र) मे श्रम करके रोजगार प्राप्त करते हैं, कृषि श्रमिक कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत कृषि से सम्बन्धित अन्य व्यवसाय, जैसे—पशु-पालन, दूध उद्योग, कुक्कुट-पालन बागवानी आदि मे किया गया श्रम सम्मिलित नही किया गया है। उदाहरणत. जैसे एक श्रमिक को वर्ष मे 240 दिन रोजगार उपलब्ध होता है, उसमे से यदि उस श्रमिक को 120 दिन या इससे अधिक दिन कृषि व्यवसाय मे कार्य करने से रोजगार प्राप्त होता है तो वह कृषि श्रमिक कहलाता है।

द्वितीय कृषि-श्रम-जाँच-समिति, 1956-57 के अनुसार वे श्रमिक, जो वर्ष मे कुल कार्यरत अवधि के आधे से अधिक समय कृषि व्यवसाय, जैसे—फसल-उत्पादन, पशु पालन, दूध उद्योग, बागवानी, कुक्कुट पालन मे कार्य करके रोजगार प्राप्त करते है, कृषि श्रमिक कहलाते है। द्वितीय कृषि-श्रमिक जाँच-समिति में फसल उत्पादन के अतिरिक्त अन्य कृषि कार्यो जैसे—पशु-पालन दूध उद्योग, बागवानी, कुक्कुट पालन मे कार्य करने वाले श्रमिको को भी कृषि श्रमिको की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है।

जनगणना आयोग, 1961 के अनुसार "कृषि श्रमिक वे हैं जो दूसरो के फार्म पर कार्य करते हैं और कार्य के लिये नकद या वस्तु के रूप मे मजदूरी प्राप्त करते है। श्रमिको को फार्म पर उत्पादन प्रबन्ध, सचालन आदि के निर्णय लेने के अधिकार नही होते है और न ही उन्हे उस भूमि को जिस पर वे कार्य करते हैं, बन्धक रखने, विक्रय करने या पट्टे पर देने का अधिकार होता है। श्रमिक भूमि से प्राप्त लाभ अथवा हानि के लिए भी जिम्मेदार नही होते हैं। श्रमिको को कृषि श्रमिको की श्रेणी मे आने के लिए उस मौसम या पिछले मौसम मे कृषि श्रमिक के रूप मे कार्य करना आवश्यक होता है।"

कृषि श्रमिक परिवार—प्रथम कृषि-श्रम जांच समिति, 1950-51 के अनुसार कृषि श्रमिक परिवार से तात्पर्य उस श्रमिक परिवार से है जिसमें परिवार का मुखिया अथवा परिवार के अधिकाश सदस्य वर्ष मे कुल उपलब्ध श्रम दिवसो के 50 प्रतिशत या अधिक दिवस तक कृषि श्रमिको के रूप मे कार्य करते है। द्वितीय कृषि-श्रम जाँच समिति ने कृषि श्रमिक परिवार को परिभाषित करने मे कार्य-दिवस को आधार न मानकर परिवार को प्राप्त होने वाली आय को आधार माना है। अत. वे श्रमिक परिवार जिनमे परिवार की कुल आय का आधा या आधे से अधिक भाग कृषि क्षेत्र मे मजदूरी करने से प्राप्त होता है, कृषि श्रमिक परिवार कहलाते हैं।

कृषि श्रमिको की विशेषताएँ—कृषि श्रमिको की कुछ विशेषताओ के कारण वे औद्योगिक व्यवसायो मे कार्यरत श्रमिको से भिन्न होते हैं। कृषि श्रमिको की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1 कृषि श्रमिक एक स्थान पर न होकर विभिन्न स्थानो पर बिखरे हुए होते है अर्थात् वे सगठित नही होते हैं जबकि औद्योगिक श्रमिक सगठित होते हैं।

2 कृषि श्रमिक प्रमुखतया अदक्ष श्रेणी के होते हैं जबकि अन्य व्यवसायो मे कार्य करने वाले श्रमिक अपने कार्य मे दक्ष होत है ।

3 कृषि श्रमिको को मजदूरी का भुगतान मुद्रा एव वस्तु (खाद्यान, तम्बाकू, नाश्ता आदि) दोनो ही रूप मे किया जाता है, जबकि औद्योगिक श्रमिको को मजदूरी का भुगतान सिर्फ मुद्रा मे किया जाता है ।

4 कृषि श्रमिक कार्य उपलब्ध होने पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर, प्रवसन अस्थाई रूप से करते हैं, जबकि औद्योगिक श्रमिक स्थायी प्रवसन करते हैं ।

5 कृषि श्रमिक फार्म पर कृषको एव परिवार के अन्य सदस्यो के साथ कार्य करते हैं । कृषि क्षेत्र मे श्रमिको को कार्य की अवधि मे परिवार के सदस्यो के रूप मे माना जाता है जबकि औद्योगिक श्रमिको एव उनके स्वामियो मे इस प्रकार के सम्बन्ध नही होते हैं ।

6 कृषि श्रमिको की मजदूरी की दर कम होती है तथा प्राप्त रोजगार नियमित नही होता है जिसके कारण कृषि श्रमिको को प्राप्त वार्षिक आय औद्योगिक श्रमिको की अपेक्षा कम होती है ।

भारत मे कृषि श्रमिक—सारणी 4 5 भारत मे कृषि श्रमिकों की सख्या एव उनका कुल कार्यरत व्यक्तियो मे प्रतिशत प्रदर्शित करती है ।

सारणी 4 5

भारत मे कृषि श्रमिको की सख्या

(मिलियन मे)

वर्ष	कृषि श्रमिक	कृषक	अन्य श्रमिक	कुल कार्यरत व्यक्ति	कृषि व्यवसाय मे कार्यरत व्यक्तियो का प्रतिशत
जनगणना 1951	27 5 (19 7)	69 8 (50 0)	42 2 (30 3)	139 5 (100)	28 26
जनगणना 1961	31 5 (16 7)	99 6 (52 8)	57 6 (30 5)	188 7 (100)	24 05
जनगणना 1971	47 5 (26 3)	78 3 (43 4)	54 7 (30 3)	180 5 (100)	37 54
जनगणना 1981	55 5 (24 9)	92 5 (41 6)	74 5 (33 5)	222 5 (100)	37 50
जनगणना 1991	74 6 (26 1)	110 6 (38 8)	100 2 (35.1)	285 4 (100)	40 30

Figures in brackets give percentage to total workers

स्रोत Agricultural statistics at a glance, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.

देश मे कृषि श्रमिको की सख्या मे निरन्तर वृद्धि हुई है। वर्ष 1951 की जनगणना के अनुसार देश मे 27 5 मिलियन कृषि श्रमिक थे, जो बढकर वर्ष 1961 मे 31 5 मिलियन, वर्ष 1971 मे 47 5 मिलियन, वर्ष 1981 मे 55 5 मिलियन एव वर्ष 1991 मे 74 6 मिलियन हो गए। इस प्रकार इनकी सख्या मे पिछले 40 वर्षो मे 170 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कृषि श्रमिको का कुल कार्यरत व्यक्तियो मे प्रतिशत 19 7 से बढकर 26 1 एव कृषि व्यवसाय मे कार्यरत व्यक्तियो का प्रतिशत 28 26 से 40 30 हो गया। कृषि श्रमिको के साथ साथ कृषको एव अन्य श्रमिको की सख्या मे वृद्धि हुई है। विभिन्न जनगणना एव कृषि श्रमिक जाच रिपोर्ट मे कृषि श्रमिको की सख्या ज्ञात करने की विधि म बहुत भिन्नता होते हुए भी स्पष्ट है कि देश मे कृषि श्रमिको की सख्या मे निरन्तर वृद्धि हुई है। वर्ष 1961 से 1971 के काल मे कृषि श्रमिको की सख्या मे वृद्धि 4 प्रतिशत प्रति वर्ष चक्रवृद्धि दर से हुई है जबकि इस काल मे ग्रामीण जनसख्या मे वृद्धि दर 2 प्रतिशत ही थी। कृषि श्रमिको मे इस असाधारण वृद्धि के प्रमुख कारण जनसख्या वृद्धि कृषि भूमि क्षेत्र विस्तार की कम सम्भावना का होना, बटाई पर कार्यरत कृषको को सिचाई एव अन्य सुविधाओ के बढने से भूमि से बेदखल करना एव स्वत कृषि करने की भावना मे वृद्धि आदि कारण प्रमुख हैं।

सारणी 4 6 विभिन्न 'राज्यो मे कृषि श्रमिको का कृषि व्यवसाय मे कार्यरत कुल व्यक्तियो मे प्रतिशत प्रदर्शित करती है।

सारणी 4 6

राज्यवार कृषि श्रमिकों का कृषि व्यवसाय मे कार्यरत व्यक्तियो का प्रतिशत, 1981

राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश	कुल जनसख्या मे कार्यरत व्यक्तियो का वर्ष 1981 मे प्रतिशत	कुल कार्यरत व्यक्तियो मे कृषि श्रमिको का प्रतिशत	कृषि व्यवसाय मे कार्यरत कुल व्यक्तियो मे कृषि श्रमिको का प्रतिशत
1	2	3	4
1 आन्ध्र प्रदेश	42 3	36 79	51 18
2 असम	28 4	NA	—
3 बिहार	29 7	35 50	44 44
4 गुजरात	32 2	22 66	36 22
5 हरियाणा	28 4	16 11	26 12
6 हिमाचल प्रदेश	34 4	2 72	3 84

1	2	3	4
7 जम्मू एव कश्मीर	30 4	3 49	5 83
8 कर्नाटक	36 8	26 78	38 88
9 केरल	26 7	28 23	55 69
10 मध्य प्रदेश	38 4	24 24	31 08
11 महाराष्ट्र	38 7	26 63	41 68
12 मणीपुर	40 3	4 99	7 36
13 मेघालय	43 3	9 98	13 78
14 नागालैण्ड	47 5	0 81	1 11
15 उडीसा	32 5	27 76	36 08
16 पजाब	29 4	22 17	37 41
17 राजस्थान	30 5	7 32	26 15
18 सिक्किम	46 5	3 31	0 01
19 तमिलनाडू	39 3	31 73	49 95
20 त्रिपुरा	29 7	24 00	35 70
21 उत्तरप्रदेश	29 2	15 98	21 31
22 पश्चिम बगाल	28 3	25 23	43 29
23 अण्डमान एव निकोबार द्वीप समूह	33 3	3 73	16 67
24 अरुणाचल प्रदेश	49 5	2 49	3 46
25 चण्डीगढ़	34 7	0 55	33 33
26 दादरा एव नागर हवेली	40 4	10 85	16 12
27 देहली	31 9	0 81	31 37
28 गोआ, दमन एव द्वीप	30 5	9 74	33 68
29 लक्ष्यदीप	20 0	—	—
30 मिजोरम	41 7	2 49	3 31
31 पाण्डिचेरी	28 6	31 47	77 46
भारत	32 5	24 9	36 27

Source (i) Indian Labour Year Book, 1985
(ii) Census of India, 1981.

कृषि श्रमिको का राष्ट्रीय कृषि आय मे योगदान

सारणी 4 7 कृषि श्रमिको की कुल आय प्रति श्रमिक वार्षिक आय एव कृषि श्रमिको का राष्ट्रीय कृषि आय मे योगदान प्रदर्शित करती है—

सारणी 4 7

कृषि श्रमिको का राष्ट्रीय आय मे योगदान

विवरण	1956–57	1961–62	1971–72	1981
कृषि श्रमिको की प्रति व्यक्ति	200	274	552	1895
औसत वार्षिक आय (रु०)	(100)	(137)	(276)	(948)
कृषि श्रमिको की कुल आय	568	862	2611	11706
(करोड रु०)	(100)	(152)	(460)	(2061)
राष्ट्रीय कृषि आय-प्रचलित	5870	6776	16850	40342
कीमत स्तर पर करोड रु०)	(100)	(115)	(287)	(687)
कृषि श्रमिको की आय का राष्ट्रीय	10	14	15	29
कृषि आय मे प्रतिशत	(100)	(140)	(150)	(290)

कोष्ठक मे दिये गये आँकडे सूचकाक है।

स्रोत G C Mandal, Share of Agricultural Labour in National Agricultural Product–An Exercise, Economic and Political Weekly, Vol XVIII (52–53), December, 24–31, 1983, P A 154

कृषि श्रमिको की वार्षिक आय मे वर्ष 1956–57 से 1981 के काल म 848 प्रतिशत तथा कुल कृषि श्रमिक आय मे 1961 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कृषि श्रमिको का राष्ट्रीय कृषि आय मे अशदान जो वर्ष 1956 मे मात्र 10 प्रतिशत था, बढकर वर्ष 1981 म 29 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार 1956–57 से 1981 के काल मे राष्ट्रीय आय मे कृषि श्रमिको के अशदान मे 190 प्रतिशत वृद्धि हुई है।

कृषि श्रमिको का वर्गीकरण—कृषि श्रमिको का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जाता है—

I कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार—

(अ) स्थायी श्रमिक—वे श्रमिक जो नियत अवधि—एक फसल, मौसम, वर्ष या अधिक समय के लिए फार्म पर कार्य करने के लिये अनुबन्धित किये जाते हैं, स्थायी श्रमिक कहलाते हैं। स्थायी श्रमिक नियत अवधि की समाप्ति के पूर्व दूसरो

के फार्म पर कार्य नही कर सकते हैं और कृषक भी नियत समय से पूर्व उन्हे कार्य से पृथक् नही कर सकते हैं। इन श्रमिको को मजदूरी का भुगतान क्षेत्र मे प्रचलित दर से मासिक अथवा वार्षिक आधार पर किया जाता है।

(ब) अस्थायी/आकस्मिक श्रमिक— वे श्रमिक जिनको फार्म पर आवश्यकता होने पर कार्य के लिए रख लिया जाता है और आवश्यकता नही होने पर कार्यमुक्त कर दिया जाता है। इनको रखने की अवधि नियत नही होती है। अस्थायी श्रमिको को मजदूरी का भुगतान दैनिक अथवा कार्य की मात्रा के अनुसार किया जाता है। इनकी मजदूरी की दर विभिन्न मौसमो में भिन्न-भिन्न होती है।

II कांग्रेस भूमि-सुधार समिति के अनुसार—

(अ) खेत मे कार्य करने वाले श्रमिक—वे श्रमिक जो खेत पर हल चलाने, बुवाई करने, पौध लगाने, पौधो पर मिट्टी चढाने आदि कार्यों के लिए रखे जाते हैं। उपर्युक्त कार्य करने के लिये श्रमिको को कार्य का अनुभव होना आवश्यक होता है।

(ब) अदक्ष/साधारण श्रमिक—जो श्रमिक फार्म पर ऐसे कार्यों के करने के लिये रखे जाते हैं जिन्हे करने मे अनुभव की आवश्यकता नही होती है, अदक्ष श्रमिक कहलाते हैं। जैसे—गड्ढे खोदना, मेड बनाना, खाद फैलाना आदि। इन्हे मजदूरी का भुगतान दैनिक अथवा कार्य की मात्रा के अनुसार किया जाता है।

(स) दक्ष श्रमिक—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे श्रमिक आते हैं जो फार्म पर उन कार्यों को करने के लिये रखे जाते हैं जिनको करने के लिये अनुभव एव दक्षता की आवश्यकता होती है, जैसे—बढई लुहार, ट्रैक्टर चालक, पम्प चालक आदि।

श्रमिकों की कार्यकुशलता

श्रमिको की कार्यकुशलता से तात्पर्य श्रमिको के श्रम से प्राप्त उत्पादन की मात्रा से लगाया जाता है। अर्थात् श्रमिकों की कार्यकुशलता श्रम के उपयोग से प्राप्त उत्पाद का अनुपात होती है। वे श्रमिक जो किसी दिये गये समय मे अधिक उत्पाद की मात्रा उत्पादित करते हैं वे अन्य श्रमिको की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल होते हैं।

श्रमिकों की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले कारक :

श्रमिको की कार्यकुशलता निम्न कारको पर निर्भर होती है—

(1) व्यक्तिगत कारक—ये वे कारक हैं जो श्रमिको म निहित होत हैं तथा जिनके कारण उत्पादन की मात्रा प्रभावित होती है। प्रमुख व्यक्तिगत कारक ये हैं—

(अ) जातीय तथा पैतृक गुण,

(ब) नैतिक गुण,

(स) सामान्य बुद्धिमत्ता,

(द) शिक्षा का स्तर,

(य) रहन सहन का स्तर,

(र) श्रमिको की कार्य मे रुचि, प्रशिक्षण एव प्रवीणता।

(2) कार्य करने की परिस्थितियाँ—श्रमिको के कार्य करन की निम्न परिस्थितिया भी श्रमिको की कायकुशलता को प्रभावित करती है—

(अ) कार्य करने का मौसम,

(ब) सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति,

(स) सामाजिक प्रथाएँ,

(द) श्रम-सगठन,

(य) पदोन्नति की आशा।

(3) प्रबन्ध सम्बन्धी कारक—निम्न प्रबन्ध सम्बन्धी कारक भी श्रमिको की कार्यकुशलता को प्रभावित करते हैं—

(अ) कार्य करने के औजार,

(ब) कार्य की अवधि एव कार्य करने का समय,

(स) पारिश्रमिक की भुगतान राशि एव शर्ते,

(द) कार्य करने की स्वतन्त्रता।

श्रमिकों की कार्यकुशलता मे वृद्धि के उपाय

श्रमिका की कार्यकुशलता मे निम्न उपायो द्वारा वृद्धि की जा सकती है—

(1) कार्य सगठन– कार्य सगठन के अन्तर्गत अगले दिन की कार्य-योजना तैयार करना, आवश्यक औजारो की व्यवस्था करना, कार्य समय मे श्रमिको के लिए पीने के पानी की व्यवस्था करना प्रमुख हैं।

(2) श्रमिकों की सुविधाए—आवश्यक सुविधाएँ, जैसे—आवास, दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को सस्ती दर पर उपलब्ध कराना, मनोरजन की व्यवस्था आदि के होने से श्रमिको की कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है।

(3) निरीक्षण एव प्रशिक्षण—श्रमिकों की कार्यकुशलता में निरीक्षण एव प्रशिक्षण व्यवस्था द्वारा सुधार किया जा सकता है। प्रशिक्षण से श्रमिको के कार्य मे प्रवीणता आती है। निरीक्षण से श्रमिको के उत्पादन मे वृद्धि होती है।

कृषि श्रमिकों की समस्याए—कृषि श्रमिकों की प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं—

(1) बेरोजगारी—कृषि श्रमिको की प्रथम समस्या वर्ष मे निरन्तर रोजगार उपलब्ध नही होना है। कृषि व्यवसाय मे फसल की बुवाई, कटाई आदि के समय

श्रमिको की मांग अधिक होती है तथा वर्ष के अन्य समय मे उनकी माग कम होती है। औसतन कृषि श्रमिको को वर्ष मे 7–8 माह रोजगार प्राप्त होता है और शेष 4–5 माह कार्य नही मिलने के कारण बेरोजगार रहते हैं। बेरोजगारी के कारण औसत आय कम हो जाती है जिससे उनका रहन-सहन का स्तर गिर जाता है।

(2) मजदूरी की दर कम होना—कृषि श्रमिको की मजदूरी की दर भी कम होती है। इसका प्रमुख कारण कृषि श्रमिको की अधिकता, उनमे सगठन का अभाव तथा कार्य के लिए दूसरे गाँव मे जाने की इच्छा का न होना है।

(3) श्रमिको पर ऋण का बोझ होना—अधिकाश श्रमिक ऋण के बोझ से दबे हुए है। बेरोजगारी एव उनमे व्याप्त फिजूल खर्ची की प्रवृत्ति के कारण वे आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऋण लेते हैं। मजदूरी की दर कम होने के कारण श्रमिक प्राप्त ऋण राशि का भुगतान नही कर पाते हैं और ऋण का बोझ पीढी-दर-पीढी बढता ही रहता है, जिसके उनके रहन-रहन के स्तर पर विपरीत प्रभाव पडता है।

(4) कार्य करने का समय नियत नहीं होना—कृषि व्यवसाय मे अन्य *व्यवसायो की भांति श्रमिको का कार्य समय एव अवधि नियत नही होती है।* कृषि व्यवसाय मे श्रमिको को सुबह से शाम तक कार्य करना होता है। फसल की कटाई के समय तो श्रमिको को रात्रि मे देर तक कार्य करना होता है। इसी प्रकार बिजली की कमी होने पर सर्दी के मौसम मे श्रमिको को रात्रि मे सिंचाई का कार्य करना होता है।

(5) कार्य करने की परिस्थितियो का अनुकूल न होना—कृषि श्रमिको को वर्षा, तेज धूप एव भयकर सर्दी मे भी फार्म पर खुले में कार्य करना होता है। प्रतिकूल परिस्थितियो मे कार्य करने के लिये भी श्रमिको को अतिरिक्त मजदूरी का भुगतान नही किया जाता है।

(6) कार्य के लिए अच्छे औजार उपलब्ध न होना—कृषि श्रमिको को कार्य करने के लिये जो औजार दिये जाते हैं वे अच्छे नही होते हैं जिससे श्रमिको को थकावट शीघ्रता से आती है तथा कार्य कम हो पाता है।

षि श्रमिकों मे बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेकारी :

कृषि श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेकारी की समस्या के अध्ययन के पूर्व इन शब्दो की व्याख्या करना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

बेरोजगारी—बेरोजगारी से तात्पर्य व्यक्ति की उस स्थिति से है जहा उसमे कार्य करने की क्षमता के विद्यमान होते हुये भी वह कार्य की तलाश मे रहता है, लेकिन उसे उस काल मे कोई कार्य उपलब्ध नही होता है।

पूर्ण रोजगार—जब किसी व्यक्ति को पूर्ण समय के लिये कार्य उपलब्ध होता हो और उससे प्राप्त आय मे कोई कार्य के अनुरूप हो तो उसे पूर्ण रोजगार की स्थिति कहते हैं।

जब किसी अर्थव्यवस्था मे काम करने के इच्छुक तथा काम करने के योग्य सभी व्यक्तियों को प्रचलित मजदूरी पर काम मिल जाता है तो यह पूर्ण रोजगार की स्थिति कहलाती है। प्रो० पीगू के मतानुसार पूर्ण रोजगार वह अवस्था है जिसमे यदि व्यक्ति प्रचलित मजदूरी की दर पर काम करना चाहते है तो सभी स्वस्थ व्यक्तियो को रोजगार प्राप्त हो जाता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति मे एक नौकरी छूटने के बाद दूसरी नौकरी मिलने मे बहुत कम समय लगता है। पूर्ण रोजगार की धारणा विकसित अर्थव्यवस्था पर ही लागू होती है। भारत जैसे विकासोन्मुख देशो पर यह लागू नही होती है।

अर्द्ध-बेकारी—अर्द्ध-बेकारी से तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमे कार्य उपलब्ध होता है, लेकिन उपलब्ध कार्य श्रमिको को कम समय या कम दक्षता तक ही कार्यरत रख पाता है। श्रमिक कार्यरत होते हुए भी और अधिक कार्य करने की तलाश मे रहता है। अर्द्ध-बेकारी की स्थिति उपरोक्त दोनो अवस्थाओ के मध्य होती है।

कृषि श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेकारी दो प्रकार की होती है—

(अ) प्रच्छन्न या छिपी हुई बेरोजगारी (Disguised Under-employment)—प्रच्छन्न बेरोजगारी से तात्पर्य श्रमिको की उस स्थिति से है जिसमे नाममात्र का रोजगार उपलब्ध होता है, लेकिन उपलब्ध रोजगार उत्पादकता की वृद्धि मे सहायक नही होता है। इस अवस्था मे फार्म पर किसी भी कार्य को पूरा करने के लिए आवश्यकता से अधिक सख्या मे श्रमिक कार्यरत होते है। कार्यरत श्रमिको की सख्या मे कमी करने पर कार्य के पूरा करने अथवा उससे प्राप्त उत्पादन की मात्रा पर कोई प्रभाव नही आता है। कृषि मे यह स्थिति बहुत व्यापक है क्योकि प्रत्येक फार्म पर उपलब्ध श्रमिको की सख्या भूमि के अनुपात मे अधिक होती है। श्रमिकों को अन्य कार्य उपलब्ध नही होने के कारण सभी श्रमिक फार्म पर कार्य करते हैं। उपलब्ध श्रमिको मे से कुछ कार्यरत होते हैं तो कुछ उस समय कार्य नही करते हैं। दूसरे समय मे वे श्रमिक कार्य करते हैं और पहले वाले कार्यरत श्रमिक आराम करते हैं। प्रो० रेग्नार नर्कसे (Ragnar Nurkse) के शब्दो मे इन श्रमिको की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है।

(ब) सरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Potential Under-employment)—सरचनात्मक बेरोजगारी मे तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमे फार्म पर तकनीकी परिवर्तन करने से श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं। फार्म पर सिंचाई के लिए

विद्युत् पम्प लगाने, जुताई के लिए ट्रैक्टर का उपयोग करने, फसल की कटाई के लिए रीपर एवं थ्रेसर का उपयोग करने से पहले की स्थिति (जिसमें सारा कार्य मानव शक्ति से होता था) की अपेक्षा बहुत से श्रमिक अब बेरोजगार हो जाते है, जिन्हे हटाया जा सकता है। कृषि के क्षेत्र मे वर्तमान मे सरचनात्मक बेरोजगारी अन्य क्षेत्रो भी अपेक्षा अधिक है क्योकि इसमे तकनीकी ज्ञान के उपयोग का स्तर बहुत पिछडा हुआ है।

कृषि श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेकारी का आकलन :

श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी का आकलन निम्न पहलुओ के समझने मे सहायक होता है[18] .

(1) बेरोजगारी के आँकडो से पता चलता है कि देश मे प्रति वर्ष कितनी मात्रा मे मानव-शक्ति का ह्रास हो रहा है।

(2) बेरोजगारी के आकडों से स्पष्ट होता है कि कितने प्रतिशत व्यक्तियों को कार्य के द्वारा आय प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हो रहा है।

(3) व्याप्त बेरोजगारी के आधार पर समाज मे विद्यमान आर्थिक असमानता का विश्लेषण किया जा सकता है—

श्रमिको मे बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेकारी के आकलन के लिए चार प्रकार के माप दण्ड प्रयोग मे लिये जा सकते हैं—

(1) **समय के अनुसार**—श्रमिकों को विभिन्न समय के लिए उपलब्ध श्रम की मात्रा के अनुसार रोजगार प्राप्त, बेरोजगार एव अर्द्ध-बेकारी की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है। वर्ष 1961 की जनगणना के अनुसार 42 घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक काम पाने वाले श्रमिकों को रोजगार प्राप्त श्रमिको की श्रेणी मे और 42 घण्टे प्रति सप्ताह से कम काम पाने वाले श्रमिकों को बेरोजगारी की श्रेणी मे विभक्त किया गया है। देश मे श्रमिको के रोजगार एव बेरोजगार के आकलन में समय-आधार का सर्वाधिक उपयोग किया गया है। विभिन्न समितियों, जनगणना, आयोग, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के विभिन्न दौरो मे एव व्यक्तिगत अनुसन्धान-कर्त्ताओ द्वारा भी इसी आधार को उपयोग मे लिया गया है।

(2) **आय के अनुसार**—श्रमिकों को वर्ष मे प्राप्त आय के स्तर को आधार मानकर भी बेरोजगारी का आकलन किया जाता है। प्रो० दाडेकर एव रथ द्वारा 'भारत मे गरीबी' के अध्ययन मे इसी आधार पर बेरोजगारी आकलित की गई है।

18 S K Rao, measurement of Unemployment in Rural India, Economic and Political Weekly Vol VIII, No 39, September 29, 1973, pp. A 78-A 90.

(3) कार्य करने की इच्छा—श्रमिकों को कार्य उपलब्ध होने के बाद भी उन्ही शर्तों पर क्या वे अधिक श्रम की तलाश मे हैं या नही ? यह आधार भी कभी-कभी प्रयुक्त किया जाता है ।

(4) उत्पादकता—श्रमिक उत्पादकता बढ़ाने मे सहायक होते हैं अथवा नही ? यह आधार भी प्रयोग मे लिया जा सकता है ।

देश मे श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी तथा अर्द्ध-बेकारी की स्थिति के आकलन के लिए वर्ष 1950 से ही प्रयास किये जा रहे हैं । विभिन्न समितियो, जनगणना आयोग, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण एव प्राध्यापको द्वारा किये गये अध्ययनो के परिणामो मे बहुत असमानता है, क्योकि इनके आकलन मे विभिन्न पैमानो का प्रयोग किया गया है तथा शब्दो की परिभाषा मे भी विषमता रही है । प्रथम कृषि-श्रम जांच समिति, 1950–51 के अनुसार देश मे पुरुष कृषि श्रमिको को वर्ष मे 218 दिन एव स्त्री कृषि श्रमिको को 184 दिन मजदूरी पर कार्य उपलब्ध हुआ था । द्वितीय कृषि-श्रम जांच समिति, 1956–57 के अनुसार मजदूरी पर उपलब्ध श्रमिक दिवसो की सख्या वर्ष मे पुरुष एव स्त्री कृषि श्रमिको के लिये क्रमश 222 एव 141 थी और शेष समय वे बेरोजगार थे ।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के विभिन्न दौरो मे बेरोजगारी की जाँच के प्राप्त परिणाम निम्न हैं—

	राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण	परिणाम
1	राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के ग्यारहवें एव बारहवें दौर (1956–57)	भारत मे श्रमिक वर्ष मे औसतन 142 दिन बेरोजगार रहते हैं । यह बेरोजगारी सबसे कम असम एव पजाब राज्य मे 93 दिन एव सबसे अधिक केरल राज्य मे 184 दिन थी ।
2	राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के उन्नीसवें दौर (1964–65)	भारत मे कृषि श्रमिक को वर्ष मे 273 दिन पुरुषो, 183 दिन स्त्रियो एव 280 दिन बच्चो का रोजगार उपलब्ध होता है । इस प्रकार वे क्रमश 93, 182 दिन एव 85 दिन बेरोजगार रहते हैं ।
3	राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के विभिन्न दौरो मे देश मे श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी का प्रतिशत निम्नलिखित है—	

नवें दौर	(1954–55) के अनुसार 0 68 प्रतिशत
दसवें दौर	(1955–56) के अनुसार 2.17 प्रतिशत
ग्यारहवें एव बारहवें दौर	(1956–57) के अनुसार 2 17 प्रतिशत
चौदहवें दौर	(1958–59) के अनुसार 5 59 प्रतिशत
पन्द्रहवें दौर	(1959–60) के अनुसार 4 63 प्रतिशत
सोलहवे दौर	(1960–61) के अनुसार 4 85 प्रतिशत
सत्रहवें दौर	(1961–62) के अनुसार 5 12 प्रतिशत
उन्नीसवें दौर	(1964–65) के अनुमार 3.80 प्रतिशत
इक्कीसवे दौर	(1966–67) के अनुसार 2 66 प्रतिशत

4 राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के पच्चीसवें दौर (1970–71) के अनुसार

(अ) लघु-कृषको मे बेरोजगारी का प्रतिशत पुरुषो मे सबसे कम पजाब राज्य मे (0 7 प्रतिशत) एव सबसे अधिक तमिलनाडु राज्य मे (9.5 प्रतिशत) पाया गया है।

(ब) भूमिहीन श्रमिको में बेरोजगारी सबसे अधिक तमिलनाडु मे 14.7 प्रतिशत एव सबसे कम उडीसा मे 1.1 प्रतिशत पाई गई।

(स) समृद्ध राज्यो—तमिलनाडु गुजरात, महाराष्ट्र एव हरियाणा मे बेरोजगारी पिछडे राज्यो—उडीसा असम एव राजस्थान की अपेक्षा अधिक पाई गई।

श्रीमती शकुन्तला मेहरा[19] ने वर्ष 1966 मे देश मे कुल उपलब्ध श्रम का 17.1 प्रतिशत श्रम अधिशेष पाया। यह अधिशेष श्रम असम राज्य मे 39 7

19. Shakuntala Mehra, Surplus Labour in Indian Agriculture, Indian Economic Review, April, 1966.

प्रतिशत, बिहार में 36 6 प्रतिशत, राजस्थान में 35 7 प्रतिशत, उत्तरप्रदेश में 28 8 प्रतिशत था। डॉ राजकृष्णा द्वारा 1971 के लिए आकलित बेरोजगारी के आंकड़े सारणी 4 8 में दिए गए हैं। डॉ राजकृष्णा के अनुसार देश मे 9 25 मिलियन व्यक्ति पूर्णतया बेरोजगार एव 21 45 मिलियन व्यक्ति पूर्णतया बेरोजगार तथा बहुत कम राजगार पाने वाले श्रमिक है। यह कुल राष्ट्रीय श्रम-शक्ति का 9 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्रों मे बेरोजगारी कुल श्रम-शक्ति का 9.7 प्रतिशत एव शहरी क्षेत्रो मे 5.8 प्रतिशत है।

सारणी 48

भारत मे वर्ष 1971 मे आकलित बेरोजगारी

(सख्या मिलियन मे)

क्षेत्र	बेरोजगार व्यक्ति	बेरोजगार एव कम रोजगार वाले व्यक्ति जो अतिरिक्त कार्य करने के लिए उपलब्ध हैं।	बेरोजगार एव बहुत कम रोजगार पाने वाले व्यक्ति जो अतिरिक्त कार्य करने के लिए उपलब्ध हैं।
ग्रामीण क्षेत्रो मे			
पुरुष	3 616	14 662	9.928
स्त्री	4 644	11 558	9.454
कुल	8.260	26 220	19 382
शहरी क्षेत्रो मे			
पुरुष	0 758	—	—
स्त्री	0.233	—	—
कुल	0.991	3.073	2.172
कुल			
पुरुष	4 374	—	—
स्त्री	4 877	—	—
कुल	9 251	29 293	21 453

स्रोत. Rajkrishna, Unemployment in India, Economic and Political Weekly, Vol VIII, No 9, March 3, 1973, p. p 475–484

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के चौदहवें से सत्रहवें दौर के औसत मान के आधार पर वर्ष 1961 में 15 90 करोड श्रमिकों में से 2 21 करोड श्रमिक बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेकारी (0 76 करोड पूर्णतया बेरोजगार एवं 1 45 करोड अर्द्ध-बेकार) के श्रेणी में थे। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के सत्रहवें, उन्नीसवें एवं इक्कीसवें दौर के औसत मान के आधार पर वर्ष 1971 में 19 87 करोड श्रमिकों में से 0 83 करोड श्रमिक पूर्णतया बेरोजगार एवं 1 79 करोड अर्द्ध-बेकारी (2.62 करोड कुल) की श्रेणी में थे। अतः स्पष्ट है कि उपरोक्त दशकों में बेरोजगारों की संख्या 2 21 करोड से बढ़कर 2 62 करोड हो गई। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि देश में अर्द्ध-बेकारी की समस्या बेरोजगारी की समस्या से ज्यादा गम्भीर है।

स्वतन्त्र भारत की प्रथम जनगणना (1951) में बेरोजगारी के आँकडे तीन राज्यों से ही प्राप्त किए गये थे। वर्ष 1961 की जनगणना के आधार पर भारत में कुल श्रम में बेरोजगारी का प्रतिशत 0 38 था। वर्ष 1971 की जनगणना में श्रमिकों में व्याप्त बेरोजगारी का आकलन नहीं किया गया था।

प्रो दांतवाला[20] ने बताया है कि बेरोजगारी के पूर्णतया सही आकडे उपलब्ध नहीं हैं। अतः श्रमिकों की संख्या में वृद्धि ही बढ़ती हुई बेरोजगारी की सूचक मानी जानी चाहिए। देश के ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिकों की संख्या वर्ष 1961 में 138 मिलियन तथा वर्ष 1971 में 168 मिलियन थी। वर्ष 1981 के लिए बेरोजगारी का आकलन 215 मिलियन व्यक्तियों का लगाया गया है। अतः बढ़ती हुई श्रम शक्ति बेरोजगारी में भी वृद्धि करती है।

कृषि-श्रमिकों में व्याप्त बेरोजगारी व अर्द्ध-बेकारी के लिए नियुक्त समितियां

भारत सरकार द्वारा कृषि श्रमिकों में व्याप्त बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेकारी के आकलन एवं इसको कम करने के सुझाव देने के लिये निम्न दो समितियां नियुक्त की थीं—

(अ) **दांतवाला समिति**—यह समिति भारत सरकार द्वारा अगस्त, 1968 में प्रो० एम एल दांतवाला की अध्यक्षता में बेरोजगारी के आकलन के लिए नियुक्त की गई थी। समिति का प्रमुख कार्य योजना आयोग को देश में बेरोजगारी-आकलन से सम्बन्धित प्रश्नों पर सलाह प्रदान करना था। समिति ने अप्रैल, 1970 में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। समिति ने देश में श्रम-शक्ति, बेरोजगारी की स्थिति एवं पंचवर्षीय योजना काल में उपलब्ध होने वाले अतिरिक्त रोजगार के आकलन की विधि को अनुचित बताया है। समिति के सुझावों के अनुसार चतुर्थ

20 M L Dantwala Approaches to Growth and Unemployment economic and Political Weekly Vol VII No 51 December 16, 1972 pp 2457—64.

पचवर्षीय योजना मे बेरोजगारी के आकलन करने की प्रथा समाप्त कर दी गई। समिति ने जनगणना, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण, रोजगार नियोजन कार्यालय एव अन्य सस्थाओ से प्राप्त सूचनाओ के आधार पर बेरोजगारी के आंकडो को एकत्रित करने के लिये अनेक सुझाव दिये।

(ब) भगवती समिति—यह समिति भारत सरकार द्वारा प्रो॰ बी सी भगवती की अध्यक्षता मे दिसम्बर 1970 मे देश मे बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेकारी के विभिन्न पहलुओ के अध्ययन व आवश्यक आकलन एव इनमे सुधार की विधियो को प्रस्तावित करने के लिये नियुक्त की गई थी। समिति ने अपनी रिपोर्ट नवम्बर, 1972 मे सरकार को प्रस्तुत की। समिति के अनुसार देश मे वर्ष 1972 मे 18 7 मिलियन व्यक्ति बेरोजगार थे, जिनमे से 16 1 मिलियन (कुल श्रम शक्ति का 10 9 प्रतिशत) व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रो मे एव 2 6 मिलियन व्यक्ति शहरी क्षेत्रो मे (कुल श्रम-शक्ति का 8 1 प्रतिशत) थे। समिति के अनुसार 9 0 मिलियन व्यक्ति पूर्ण बेरोजगार एव 9.7 मिलियन व्यक्ति अल्प रोजगार/अर्द्धबेकारी की श्रेणी मे थे। अत देश मे बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेकारी की समस्या समान मात्रा मे विद्यमान है और दोनो को एक ही स्तर पर दूर करने की आवश्यकता है। भगवती समिति ने योजना आयोग द्वारा चतुर्थ पचवर्षीय योजना के शुरू मे (अप्रैल 1969) मे आकलित बेरोजगारी 9 से 10 मिलियन को कम बताये हुये उसका ऊपर की ओर सशोधन करने का सुझाव दिया था।[22]

ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी के कारण—ग्रामीण क्षेत्रो म पाई जाने वाली बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि।

(2) ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु एव कुटीर उद्योगो एव सहायक उद्योगो के विकास की दर मे कमी का होना।

(3) कृषि उत्पादकता की दर का कम होना।

(4) कृषि जोतो का आकार कम होना एव उनका विखण्डन रूप मे होना, तथा

(5) श्रमिको मे कार्य के लिये शहर मे जाने के प्रति अरुचि का होना।

बेरोजगारी समस्या का निवारण—बेरोजगारी की समस्या देश मे अभिशाप है जिसका निवारण आवश्यक है। समय-समय पर बेरोजगारी की समस्या के

21. Report of the Committee of Experts on Unemployment Estimates Government of India, Planning Commission New Delhi 1970

22. Committee on Unempolyment, Report of the Working Group on Agriculture, Government of India New Delhi, 1972 (Bhagwati Committee)

निवारण के लिए अनेक सुझाव दिये गये हैं एव उनको कार्यान्वित करने का प्रयास भी किया गया है । भगवती समिति ने बेरोजगारी की समस्या के स्थायी निराकरण के लिये प्रतिवेदन मे निम्न सुझाव दिये थे–

(1) देश मे परिवार नियोजन कार्यक्रम के द्वारा जनसख्या वृद्धि पर रोक लगाकर बढ़ती हुई-शक्ति मे कमी करना ।

(2) उद्योगो मे निम्न उपाय अपनाकर रोजगार वृद्धि की जानी चाहिये—

(अ) उद्योगो को उनकी पूर्ण क्षमता तक सचालित किया जाना चाहिये ।

(ब) उद्योगो के लिये कच्चे माल की उपलब्धि की व्यवस्था निरतर होनी चाहिये ।

(स) उद्योगो का विस्तार सभी क्षेत्रो मे किया जाना चाहिये ।

(द) उद्योगो मे स्वचालित एव बडी मशीनो का उपयोग कम से कम किया जाना चाहिये ।

(य) उद्योगो की सहायक इकाइयो का विकास किया जाना चाहिये ।

(र) ग्रामीण एव लघु उद्योगो की कार्य-प्रणाली मे सुधार किया जाना चाहिये ।

(ल) पिछड़े क्षेत्रो मे आवश्यक आधारभूत ढांचे की सुविधाओं का विकास किया जाना चाहिये जिससे इन क्षेत्रो मे अधिक से अधिक उद्योग स्थापित हो सकें ।

(3) देश मे कृषि कार्यक्रमो, जैसे—सिचाई, भूसरक्षण, भूमि-सुधार, सडक निर्माण, नहर, बाध निर्माण आदि कार्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये । इन कार्यों मे श्रमिको को रोजगार अधिक उपलब्ध होता है । इसी प्रकार कम वर्षा वाले क्षेत्रो के लिये उपलब्ध पानी का सरक्षण, उत्तम फसल योजना तथा पशु पालन कार्यक्रम का विकास किया जाना चाहिये । विभिन्न क्षेत्र मे उन फसलो का अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिये, जिससे अधिक श्रमिको को रोजगार उपलब्ध हो सके ।

भारतीय कृषि मे श्रम-अवशोषण (Labour absorption)) की मात्रा वर्तमान मे 150 मानव-दिवस प्रति हैक्टर से कम है, जबकि जापान, चीन एव ताइवान जैसे देशो मे श्रम-अवशोषण की मात्रा कृषि क्षेत्रो मे 500 मानव-दिवस प्रति हैक्टर से भी अधिक है ।[23] भारतीय कृषि मे बहुफसलीय कार्यक्रम अपनाकर, उत्पादन की उन्नत विधियो एव आवश्यक मात्रा में उत्पादन साधनो का उपयोग

23 Vishnu Kumar, Increasing Employment in Agriculture Sector, Yojana XXV, No 7, 16—30 April 1981, p 18

करके श्रम-अवशोषण को बढाया जा सकता है । इस प्रकार कृषि-क्षेत्र देश मे व्याप्त बेरोजगारी विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रो मे व्याप्त बेरोजगारी को कम करने मे सहायक होगा ।

(4) देश मे सडक एव भवन-निर्माण कार्य को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये ।

देश मे छठी पचवर्षीय योजना मे रोजगार वृद्धि पर विशेष बल दिया गया है । विभिन्न क्षेत्रो से जो रोजगार उपलब्ध हो सकेगा, उसके विश्लेषण से पता चलता है कि सबसे अधिक रोजगार के अवसर कृषि, ग्राम्य विकास कार्यक्रम, ग्रामीण एव लघु उद्योग, निर्माण-कार्य एव अन्य सेवाओ से उत्पन्न होते हैं । सातवी योजना के अन्त तक विभिन्न क्षेत्रो से रोजगार उपलब्धि का आकलन 227 1 मिलियन मानक व्यक्ति वर्ष का लगाया गया है, इसमे से 114 1 मिलियन मानक व्यक्ति वर्ष (46 2 प्रतिशत) कृषि एव सम्बन्धित क्षेत्रो से प्राप्त होने का आकलन है ।

कृषि श्रमिकों की मजदूरी दर

कृषि श्रमिको मे व्याप्त बेरोजगारी के बाद दूसरी प्रमुख समस्या इनकी मजदूरी की दर का कम होना है । विभिन्न कृषि-जांच समितियो के प्रतिवेदनो से यह स्पष्ट है कि कृषि-श्रमिको को मजदूरी की दर अन्य क्षेत्र के मजदूरो की अपेक्षा बहुत कम है । भारत मे विभिन्न कृषि-श्रम जांच समितियो के प्रतिवेदन के अनुसार कृषि-श्रमिको (पुरुष, स्त्रियो एव बच्चो) को प्राप्त औसत मजदूरी सारणी 4 9 मे प्रदर्शित है—

सारणी 4.9

विभिन्न कृषि-श्रम जांच समितियो के अनुसार

कृषि-श्रमिको को प्राप्त मजदूरी की दर

(रुपये प्रतिदिन)

	प्रथम कृषि-श्रम जांच समिति (1950–51)	द्वितीय कृषि-श्रम जांच समिति (1956–57)	ग्रामीण श्रम-जांच समिति (1964–65)	राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 25वें दौर (1970–71)	1981
पुरुष	1.09	0 96	1.43	3.03	6 94
स्त्री	0 68	0 59	0 95		
बच्चे	0 70	0.53	0 72		

विभिन्न राज्यो मे कृषि श्रमिको की मजदूरी की दर मे ।बहुत भिन्नता पाई जाती है । सभी राज्यो मे कृषि श्रमिको को उद्योगो मे कार्यरत श्रमिको की अपेक्षा कम मजदूरी प्राप्त होती है । कृषि श्रमिको को मजदूरी कम प्राप्त होने एव वर्ष मे काफी समय तक बेरोजगार रहने के कारण उनका रहन सहन का स्तर गिर जाता है और अधिकाश कृषि श्रमिक ऋणग्रस्त हो जाते है । कृषि श्रमिको को कार्य के अनुसार मजदूरी दिलाने, उनमे व्याप्त ऋणग्रस्तता को कम करने तथा उनके रहन-सहन के स्तर मे सुधार लाने के लिये, न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की नीति अपनाई गई है ।

न्यूनतम मजदूरी से तात्पर्य—मजदूरी श्रम का वह मूल्य है जो श्रमिको को कार्य करने के बदले मे प्राप्त होता है । मजदूरी 'की दर श्रमिको एव उनके द्वारा किये गये कार्य की विभिन्नता के अनुसार विभिन्न होती है । न्यूनतम मजदूरी, मजदूरी की वह न्यूनतम दर है जो श्रमिको को राजकीय नियमो के अनुसार दी जाती है । न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण सरकार उस स्तर पर करती है जिससे-श्रमिको अपने परिवार का पालन-पोषण सुगमता से कर सके । उचित मजदूरी समिति ने न्यूनतम मजदूरी उसे कहा है जो श्रमिको के जीवन की आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति ही नही करती है, बल्कि श्रमिको की कार्यकुशलता भी बनाये रखती है ।[24] अतः न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय शिक्षा, चिकित्सा सुविधा एव अन्य सुविधाओ को भी ध्यान मे रखना चाहिये ।

कृषि श्रमिको की मजदूरी नियत करने का कार्य सरकार की नीति का एक भाग है । इगलैण्ड मे सर्वप्रथम वर्ष 1924 मे कृषि श्रमिको की मजदूरी एक कानून के तहत नियन्त्रित की गई थी । भारत सरकार ने श्रमिको के लिये न्यूनतम मजदूरी नियत करने के लिये न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wages Act, 1948) पारित किया, जिसका प्रमुख उद्देश्य श्रमिको की आय मे वृद्धि करके उन्हे उचित जीवन-स्तर प्रदान करना था । इस अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगो मे कार्य करने वाले श्रमिको (कृषि श्रमिको सहित) के लिये न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित की जाती है तथा रहन-सहन की लागत के सूचकाक मे परिवर्तन के आधार पर न्यूनतम मजदूरी की दर मे परिवर्तन किये जाते है । न्यूनतम मजदूरी नियम करने का कार्य भारत सरकार का श्रम एव रोजगार मन्त्रालय करता है । न्यूनतम मजदूरी अधिनिमय 1948 मे वर्ष 1951 एव 1954 मे सशोधन किय गये । सशोधित अधिनियमा के अनुसार विभिन्न राज्य सरकारो को विभिन्न प्रकार के श्रमिको (कृषि श्रमिको सहित) के लिये न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का अधिकार

24 मोहनलाल शर्मा, न्यूनतम मजदूरी का प्रश्न, योजना, वर्ष XIII, अक 3, मार्च 2, 1969 पृष्ठ 19-20.

प्रदान किया गया। न्यूनतम मजदूरी कानून, 1948 के अनुसार यदि किसी श्रमिक को सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम दर का भुगतान किया जाता है तो वह अपने नियोजक पर कानूनी कार्यवाही करके क्षतिपूर्ति की राशि प्राप्त कर सकता है।

भारतीय श्रम सम्मेलन के पन्द्रहवें अधिवेशन मे आवश्यकतानुसार मजदूरी को न्यूनतम मजदूरी के रूप मे स्वीकार किया गया है। वर्तमान में सभी राज्यो में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पारित हो चुके है और उनके अनुसार कृषि श्रमिको की न्यूनतम मजदूरी नियत की गई है। जम्मू-कश्मीर, नागालैण्ड, सिक्किम, मिजोरम, लक्षद्वीप एव अरूणाचल-प्रदेश मे न्यूनतम मजदूरी नियत नही की गई। न्यूनतम मजदूरी मे वर्ष 1975 के बाद अनेक सशोधन किये गये एव सरकार द्वारा उन्हे लागू करने के प्रयास पर भी विशेष रूप से बल दिया गया। केन्द्रीय सरकार भी प्रदर्शन फार्म, अनुसन्धान फार्म एव सैनिक फार्म के लिए न्यूनतम मजदूरी नियत करती है।

प्रत्येक राज्य मे न्यूनतम मजदूरी की दर मे क्षेत्र मे उपलब्ध सिंचाई एव अन्य सुविधाओ के अनुसार बहुत भिन्नता पाई जाती है। पजाब राज्य मे कृषि श्रमिको के लिये निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की दर अन्य राज्यो की अपेक्षा अधिक है।

कृषि के क्षेत्र मे न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को पूर्णरूप से लागू करने मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है, जिसके कारण इस क्षेत्र मे सफलता नही मिल पा रही है। कृषि क्षेत्र मे न्यूनतम मजदूरी लागू करने मे प्रमुख बाधाएँ निम्न हैं—

(1) कृषि क्षेत्र की उत्पादकता एव श्रमिको की उत्पादकता का स्तर कम होना, जिससे नियोजक निर्धारित न्यूनतम मजदूरी देने मे असमर्थ होते हैं।

(2) कृषि क्षेत्र मे उपलब्ध रोजगार की स्थिति मे भिन्नता का होना।

(3) कृषि-क्षेत्र मे श्रमिको को रोजगार उद्योगो की भाँति एक स्थान पर उपलब्ध न होकर अलग-अलग स्थानो पर प्राप्त होना।

(4) कृषि मे प्रकृति के प्रकोपो के कारण उत्पादन प्राप्ति की निश्चितता का न होना।

(5) कृषि-क्षेत्र मे कार्यरत कृषको एव श्रमिको मे शिक्षा का अभाव होना।

(6) कृषि श्रमिको मे सगठन का अभाव होना।

(7) कृषि-क्षेत्र मे मजदूरी का भुगतान नकद एव खाद्यान्न, भोजन आदि के रूप मे करने की प्रथा का प्रचलित होना।

(8) कृषि-क्षेत्र मे श्रमिको एव नियोजक कृषको द्वारा फार्म पर सम्मिलित रूप से एक साथ कार्य करना, जिससे उनमे एक-दूसरे के प्रति विश्वास की भावना जागृत हो जाती है।

(9) कृषि श्रमिको एव कृपको को न्यूनतम मजदूरी कानून के बारे मे ज्ञान नहीं होना।

(10) कृषि व्यवसाय मे कृपको द्वारा श्रमिको के रूप में अपनी जाति, रिश्तेदारो आदि को कार्य पर लगाया जाना है, जिन्हे श्रमिक न बताकर घर के सदस्य ही बताया जाता है।

(11) सरकार भी कानून के पालन मे पूर्ण इच्छा नहीं रखती है।

(12) कृषि-श्रमिको को नियत न्यूनतम मजदूरी पर रोजगार उपलब्ध नहीं होना, जैसाकि पिछले पृष्ठो मे स्पष्ट किया गया है कि कृषि-क्षेत्र मे वेरोजगारी बहुत व्याप्त है। जब निर्धारित न्यूनतम मजदूरी पर श्रमिको को कार्य उपलब्ध नही होना है तो वे नियत न्यूनतम मजदूरी से कम पर कार्य करने को तैयार हो जाते हैं और कानून के परिपालन की मात्र खानापूर्ति के लिए पूरी मजदूरी की प्राप्ति पर अपने हस्ताक्षर कर देते हैं। रोजगार उपलब्धि के समय की गारन्टी के बिना न्यूनतम मजदूरी अधिनियम से श्रमिको को विशेष लाभ नही हो सकता है। अतः देश मे पिछले चार दशको मे न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के होने हुए भी कृषि श्रमिको को इससे वाछित लाभ प्राप्त नही हुए हैं। इन कानून से केवल बागान वाले क्षेत्रो के कृषि श्रमिको को विशेष लाभ प्राप्त हुए हैं।

कृषि श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध कराने एव उनकी आर्थिक स्थिति मे सुधार लाने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयास

कृषि श्रमिको की समस्याओ पर कृषि रायल कमीशन व कांग्रेस भूमि-सुधार समिति ने लिखा है कि समाज के इस वर्ग की समस्याओ को हल करने मे अब तक विशेष ध्यान नही दिया गया है। स्वतन्त्र भारत मे इनकी ओर विशेष ध्यान दिया गया और अनेक कार्यक्रम सरकार ने चलाए। अब तक कृषि श्रमिको की आर्थिक स्थिति म सुधार लाने के लिये निम्न कार्यक्रम अपनाये गये है—

(1) भूमि-सुधार कार्यक्रम—देश म भूमि-सुधार कार्यक्रम को लागू किये जाने के फलस्वरूप असामी कृपको को भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त हो गये हैं। भूमि-सुधार कार्यक्रमो के फलस्वरूप उन कृपको की स्थिति मे जो कृषि श्रमिको से भिन्न नही थे, बहुत सुधार हुआ है।

(2) देश म प्रचलित वेगार-प्रथा एव कृषि दास-प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। जमीदार एव जागीरदार श्रमिको से वेगार (Forced labour) लिया करते थे तथा कार्य के लिये किसी प्रकार की मजदूरी का भुगतान नही किया जाता था। यह प्रथा अब कानूनन समाप्त कर दी गई है।

(3) कृषि श्रमिको के लिये न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के तहत न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है। अब नियोजको द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम का भुगतान करना कानूनन अपराध माना जाता है।

(4) देश के विभिन्न राज्यो में व्याप्त बन्धक मजदूर प्रथा (Bonded labour system) भी सरकार द्वारा वर्ष 1975 मे बन्धक मजदूर उन्मूलन अधिनियम पारित करके समाप्त कर दी गई है। इस प्रथा के अन्तर्गत भू स्वामी मजदूरो को पुराने कर्ज के भुगतान अथवा कुछ ऋण राशि देकर लम्बी अवधि के लिये बधक बना लेते थे। इस कानून के तहत बन्धक मजदूर प्रथा को कानूनन अपराध घोषित कर दिया गया है।

(5) कृषि श्रमिको के कार्य के घण्टे नियत करने कार्य उपलब्धि की गारन्टी देने एव उनके कल्याण हेतु अनेक कार्यक्रम जैसे--सप्ताह मे एक दिन का सवैतनिक अवकाश दिलाने, आमाद प्रमोद के साधन जुटाने, कार्य के समय चोट लगने पर क्षतिपूर्ति की राशि का भुगतान करने के लिये भी अनेक राज्यो ने कानून पारित किये हैं। कृषि श्रमिको की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति मे सुधार लाने के लिये केरल राज्य द्वारा पारित 'केरल कृषि-श्रमिक कानून' 1974 अनुकरणीय है। अन्य राज्यो द्वारा भी केरल राज्य के समान कृषि-श्रमिको की भलाई के लिये कानून पारित किया जाना चाहिये।

(6) ग्रामीण क्षेत्रो मे कार्यरत श्रमिको की भलाई के लिये भी सरकार ने अनेक कार्यक्रम शुरू किये हैं। इनम से कुछ कार्यक्रम क्षेत्र विशेष के श्रमिको के लिये प्रारम्भ किये गये हैं तथा कुछ कार्यक्रम समाज के कमजोर वर्गों के उत्थान के लिये प्रारम्भ किये गये है। प्रमुख कार्यक्रम निम्न हैं–

(i) **सूखा सम्भावना वाले क्षेत्रो के लिए कार्यक्रम** (Draught Prone Area Programme)—यह कार्यक्रम वर्ष 1970 मे देश के उन क्षेत्रो मे प्रारम्भ किया गया है जो वर्षा के नही होने अथवा कम होने के कारण सूखा से प्रभावित होते रहते हैं। इस कार्यक्रम मे प्रमुखतया भू-सरक्षण एव भूमि विकास सम्बन्धी कार्यक्रमो पर बल दिया जाता है, जिससे सूखाग्रस्त क्षेत्रो मे श्रमिको को रोजगार उपलब्ध हो सके। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे इस कार्यक्रम का शत-प्रतिशत व्यय केन्द्र सरकार द्वारा वहन किया गया था, लेकिन पाचवी योजना से इस कार्यक्रम पर किये जाने वाला व्यय केन्द्र एव राज्य सरकार द्वारा 50 : 50 के अनुपात मे किया जाता है। सातवी योजना मे इस कार्यक्रम पर 46986 करोड रुपया व्यय किया गया है। वर्तमान मे यह कार्यक्रम 13 राज्यो के 91 जिलो मे 615 खण्डो मे कार्यान्वित है।

(ii) **मरुस्थल विकास कार्यक्रम** (Desert Development Programme)—यह कार्यक्रम उन राज्यो मे प्रारम्भ किए गये हैं, जो मरुस्थल की श्रेणी मे आते हैं और वहाँ पर फसलो का उत्पादन

करना सम्भव नही है । यह कार्यक्रम वर्ष 1977–78 मे केन्द्र सरकार द्वारा शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता से प्रारम्भ किया गया था और वर्ष 1979–80 मे इस योजना का व्यय केन्द्र एव राज्य सरकार द्वारा 50 : 50 के अनुपात मे किया जाता है । वर्तमान मे यह कार्यक्रम गुजरात, हरियाणा, हिमाचल-प्रदेश, जम्मू एवं कश्मीर तथा राजस्थान राज्य के कुल 21 जिलो मे कार्यान्वित है ।

(iii) **एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम** (Integrated Rural Development Programme)—इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य समाज के कमजोर वर्ग के व्यक्तियो को लाभान्वित करके ग्रामीण क्षेत्रो का एकीकृत विकास करना है । यह कार्यक्रम वर्ष 1978–79 मे केन्द्रीय सरकार द्वारा शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता से कार्यान्वित था । वर्ष 1979–80 से इस पर होने वाले व्यय की राशि केन्द्र एव राज्य सरकार द्वारा समान अनुपात मे वहन की जाती है । इस कार्यक्रम से मार्च, 1991 तक 376 35 लाख परिवार लाभान्वित हो चुके हैं । साथ ही लाभान्वित परिवारो को सहकारी एव वाणिज्यिक बैंको से 9665 करोड रुपये के अल्पकालीन, मध्यकालीन एव दीर्घकालीन ऋण प्रदान किए जा चुके हैं ।

(iv) **सीमान्त कृषक एवं कृषि-श्रमिक अभिकरण**—यह अभिकरण वर्ष 1971 मे उन क्षेत्रो में प्रारम्भ की गई है जहाँ पर सीमान्त कृषक (एक हैक्टर से कम भूमि वाले) एव कृषि-श्रमिकों की बाहुल्यता होती है । इनका प्रमुख उद्देश्य सीमान्त कृषको एव कृषि-श्रमिको को वित्तीय सहायता एव तकनीकी सहयोग प्रदान करता है, जिससे इस वर्ग का भी आर्थिक विकास हो सके । विभिन्न कृषि कार्यक्रमों को अपनाने के लिए इन्हे एक तिहाई राशि सहायता के रूप मे एव दो-तिहाई राशि वाणिज्यिक बैंको से कम ब्याज पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है ।

(v) **ग्रामीण रोजगार का क्रेश कार्यक्रम** (Crash Scheme for Rural Employment)—इस कार्यक्रम मे उक्त श्रेणियो मे नही आने वाले क्षेत्रो के व्यक्तियो के लिए रोजगार उपलब्धि हेतु विशेष कार्यक्रम प्रारम्भ करते हैं । इस प्रकार के कार्यक्रम जैसे सडक निर्माण, सिंचाई के साधन निर्माण, स्कूल भवन का निर्माण आदि से क्षेत्र मे स्थायी सम्पत्ति के निर्माण के साथ साथ श्रमिको को निरन्तर कार्य भी उपलब्ध होता है ।

(vi) काम के बदले अनाज योजना (Food for Work Programme)—कृषि मे मौसमी बेरोजगारी को दृष्टि मे रखते हुए एव सरकार के पास उपलब्ध अनाज के वितरण हेतु काम के बदले अनाज योजना अप्रैल, 1977 मे प्रारम्भ की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक निर्माण कार्यों के रख-रखाव तथा नए पूँजीगत निर्माण कार्यों (सिचाई कार्य, मिट्टी तथा जल सरक्षण, वनरोपण, सडक तथा स्कूल आदि के निर्माण) पर लगे मजदूरो को काम के बदले नकद भुगतान के साथ-साथ अनाज भी दिया जाता है। काम के बदले अनाज योजना मे अप्रैल, 1977 से मार्च, 1980 तक 933 8 मिलियन दिवस रोजगार उपलब्ध हुआ है तथा 3 749 मिलियन टन अनाज श्रमिको को उपलब्ध कराया गया है।

(vii) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (National Rural Employment Programme)—काम के बदले अनाज योजना का अक्टूबर, 1980 से राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम नाम दिया गया है। छठी पचवर्षीय योजना के काल मे (1980-81 से 1984-85) इस कार्यक्रम के तहत 1775 13 मिलियन मानव दिवस का रोजगार श्रमिको को उपलब्ध कराया गया है तथा श्रमिको को 2 397 मिलियन टन खाद्यान्न उपलब्ध कराया गया है। इस योजना को केन्द्र एव राज्य सरकार 50 50 के अनुपात मे वित्तीय सहायता देते हैं।

(viii) अन्त्योदय कार्यक्रम (Antyodaya Programme)—विकास का लाभ समाज के निम्नतम स्तर तक के व्यक्तियो तक पहुँचाने के उद्देश्य से समाज मे पिछडे वर्ग मे सबसे पिछडे व्यक्ति का चुनाव इस कार्यक्रम के अन्तर्गत किया जाता है और उन्हे आवश्यक वित्तीय सुविधा एव रोजगार उपलब्ध कराया जाता है।

(ix) ग्रामीण भूमिहीन श्रमिको के लिए रोजगार गारन्टी कार्यक्रम (Rural Landless Employment Guarantee Programme or RLEGP)—यह कार्यक्रम छठी पचवर्षीय योजना मे (अगस्त 1983) बेरोजगारी को कम करने के उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया था। इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य गाँवो के भूमिहीन श्रमिको को रोजगार उपलब्धि के अवसर प्रदान करना है तथा प्रत्येक परिवार के एक सदस्य को वर्ष मे 100 दिवस का रोजगार उपलब्धि की गारण्टी प्रदान करना है। साथ ही कार्यक्रम से क्षेत्र मे आधारधारिक सरचनाओ का विकास करना है जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास

हो सके। इस कार्यक्रम मे उन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जिन पर 50 प्रतिशत से अधिक व्यय श्रम पर होना है और शेष 50 प्रतिशत व्यय उस कार्य के लिए आवश्यक सामान जैसे पत्थर, चूना, सीमेन्ट आदि के क्रय पर होगा। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम एव ग्रामीण भूमिहीन श्रमिको के लिए रोजगार गारन्टी कार्यक्रम ने पिछले 4 वर्षों (1985-86 से 1988-89) में प्रतिवर्ष 635 मिलियन मानव दिवस रोजगार उपलब्ध कराया है, इस दर पर रोजगार उपलब्ध होने से सातवी पचवर्षीय योजना मे 2450 मिलियन मानव दिवस रोजगार उपलब्ध होने का आकलन है। उपरोक्त दोनो कार्यक्रमो पर पिछले 4 वर्षों (1985-86 से 1988-89) मे किया गया व्यय एव उससे उत्पन्न रोजगार सारणी 4 10 मे प्रदर्शित है।

सारणी 4 10

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम एव ग्रामीण भूमिहीन श्रमिको के लिए रोजगार गारन्टी कार्यक्रम की प्रगति

वर्ष	उपलब्ध वित्तीय सुविधा (करोड रुपये)	व्यय राशि (करोड रुपये)	उत्पन्न रोजगार (मिलियन मानव दिवस)
राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम			
1985-86	593 08	531 95	316 41
1986-87	765 13	717 77	395 39
1987-88	888 21	788 31	370 77
1988-89	845 68	901 84	394 96
ग्रामीण भूमिहीन श्रमिको के लिए रोजगार गारण्टी कार्यक्रम			
1985-86	580 35	453 17	247 58
1986-87	649 96	635 91	306 14
1987-88	648 41	653 53	304 11
1988-89	761 55	669 37	296 56

स्रोत : Eighth Five year Plan (1992-97), Planning Commission, Government of India, New Delhi.

(x) ग्रामीण युवाओ के लिए स्वत रोजगार प्रशिक्षण (Training of Rural Youth for Self Employment or TRYSEM —यह कार्यक्रम ग्रामीण युवको के लिए विभिन्न व्यवसायो मे प्रशिक्षण देने हेतु अगस्त, 1979 मे शुरू किया गया था। इसका प्रमुख उद्देश्य युवाओ को प्रशिक्षण द्वारा स्वत. रोजगार प्रारम्भ करने की प्रेरणा दिया जाता है, जिससे वे नौकरी की तलाश मे नही भटके तथा गाँवो मे प्राप्त प्रशिक्षण के अनुसार व्यवसाय प्रारम्भ कर सकें।

(xi) ग्रामीण क्षेत्रो मे महिलाओ एव बच्चो के विकास के कार्यक्रम (Development of Women and Children in Rural Areas or DWCRA)—यह कार्यक्रम सितम्बर, 1982 मे महिलाओ एव बच्चो के विकास के लिए प्रारम्भ किया गया है। इसमे महिलाओ एव बच्चो के लिए रोजगार की शर्तों एव कार्य स्थिति मे सुधार करना प्रमुखतया सम्मिलित है।

(xii) रोजगार गारन्टी कार्यक्रम (Employment Guarantee Programme)—यह कार्यक्रम महाराष्ट्र सरकार ने वर्ष 1971–72 मे प्रारम्भ किया था। इस कार्यक्रम के तहत कार्य चाहने वाले श्रमिक को जिले के जिलाधीश को रोजगार चाहने हेतु प्रार्थना पत्र देना होता है। निर्धारित समयावधि मे जिले का जिलाधीश उसके लिए रोजगार की व्यवस्था करता है अन्यथा एक निश्चित राशि श्रमिक को प्रतिमाह देय होती है।

(xiii) जवाहर रोजगार योजना (Jawahar Rozgar Yojana)—ग्रामीण बेरोजगारी पर सीधा एव प्रत्यक्ष प्रहार करने के लिए रोजगार उपलब्धि की यह नवीन योजना जवाहरलाल नेहरू जन्म शताब्दी वर्ष (1989–90) मे प्रारम्भ की गई है। इस योजना के प्रारम्भ की घोषणा 28 अप्रैल, 1989 को ससद मे की गई। जवाहर रोजगार योजना पर इस वित्तीय वर्ष मे 2600 करोड रु व्यय करने का प्रावधान है। योजना पर आने वाले कुल व्यय का 80 प्रतिशत केन्द्र सरकार एव 20 प्रतिशत राज्य सरकार वहन करेगी। योजना के द्वारा सम्पूर्ण भारत मे 4·40 करोड निर्धनता रेखा के नीचे के परिवारो के कम से कम एक सदस्य को रोजगार दिया जावेगा। यह योजना देश के सभी गाँवो मे कार्यरत है।

जवाहर रोजगार योजना की विशेषताएँ :

इस रोजगार योजना की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

(1) जवाहर रोजगार योजना के क्रियान्वयन का दायित्व ग्राम पचायतो का होगा। इससे आशा की जाती है कि ग्रामीण परिवारो को पूर्व मे सरकार द्वारा चालू की गई अन्य रोजगार योजनाओ की अपेक्षा अधिक रोजगार उपलब्ध हो सकेगा। योजना की कार्यान्विति के लिए तीन से चार हजार तक की जनसख्या वाली एक ग्राम पचायत को प्रतिवर्ष 80 हजार से एक लाख रुपये तक प्राप्त होगे। यह योजना सभी ग्राम पचायतो मे लागू की जायेगी, जबकि पूर्व मे चालू की गई ग्रामीण रोजगार योजनाएँ 55 प्रतिशत ग्राम पचायत क्षेत्रो मे ही लागू की जा सकी थी।

(2) ग्रामीण रोजगार की वर्तमान मे चल रही सभी योजनाओ एव राष्ट्रीय कार्यक्रमो का विलय जवाहर योजना मे स्वतः ही हो जायेगा। जन-जातियो के व्यक्तियो को रोजगार दिलाने वाली योजनाओ को भी इस कार्यक्रम मे सम्मिलित कर लिया जायेगा। कुल स्वीकृत रोजगार अवसरो मे महिलाओ के लिए 30 प्रतिशत अवसर आरक्षित रहेंगे।

(3) इस रोजगार योजना के द्वारा निर्धनता रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रहे प्रत्येक परिवार के कम से कम एक सदस्य को उनके घर के निकट कार्यस्थल पर प्रतिवर्ष 50 से 100 दिन तक का रोजगार प्राप्त हो सकेगा।

(4) कार्यक्रमो विशिष्ट भौगोलिक सरचना वाले क्षेत्रो, जैसे—पर्वतीय, मरुस्थलीय तथा द्वीप समूह की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए विशेष ध्यान दिया जावेगा।

(5) इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक ग्रामीण लाभान्वित परिवार यह जान सकेंगे कि अन्य व्यक्तियो को वर्ष मे कितने दिन रोजगार उपलब्ध कराया गया है तथा कितनी राशि उन्हे भुगतान की गई है। रोजगार उपलब्ध दिवस एव भुगतान राशि मे विशेष असमानता के होने पर ग्रामीण अपनी आवाज पचायत के सदस्यो के खिलाफ उठा सकेंगे तथा चुनाव के समय अपने मताधिकार से उन्हे सत्ता से पृथक भी कर सकेंगे।

(6) धन राशि का आवटन राज्यों को, उनमे निवास कर रही जनसख्या की निर्धनता की सघनता के आधार पर किया जायेगा। राज्यो द्वारा प्राप्त धन को जिलो को आवटित किया जायेगा। इसके लिए निम्न तीन मुख्य आधार होगे।

नहीं है। अन्य व्यक्तियों का मत है कि कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने से भूमि की उत्पादकता, श्रम की माँग एवं रोजगार में वृद्धि होती है।

कृषि यन्त्रीकरण एवं हरित-क्रान्ति का कृषि-श्रम पर दो प्रकार का प्रभाव होता है—

(1) प्रत्यक्ष प्रभाव—कृषि यन्त्रीकरण के कारण कृषकों को फार्म पर प्रत्यक्ष रूप से अनेक कृषि कार्यों, जैसे—ट्रैक्टर द्वारा खेत की जुताई, रीपर द्वारा फसल की कटाई, थ्रैसर द्वारा फसल की गहाई, पम्पिंग सैट द्वारा फसल की सिंचाई करने में प्रति इकाई भूमि पर श्रम की कम आवश्यकता होती है। दूसरी ओर फार्म पर कृषि यन्त्रीकरण को अपनाने में फसल गहनता में वृद्धि होती है। कृषि कार्य समय पर एवं उचित गहराई तक हो पाने के कारण प्रति इकाई भूमि से उत्पादन की मात्रा अधिक प्राप्त होती है, जिसके लिए प्रति हैक्टर भूमि पर पहले से अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यन्त्रीकरण का कृषि श्रम पर होने वाला प्रभाव इन दोनों का योग होता है, जो धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है।

कृषि यन्त्रीकरण एवं तकनीकी ज्ञान एवं उन्नत बीजों के प्रयोग का सम्मिलित प्रभाव कृषि-श्रम की आवश्यकता पर धनात्मक होता है, क्योंकि कम अवधि में पकने वाली किस्मों को अपनाने से कृषक भूमि के एक इकाई क्षेत्र से वर्ष 3–4 फसलें सुगमता से लेकर बहु-फसलीय कार्यक्रम अपना लेते हैं। इससे फार्म पर फसल-गहनता एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है।

कृषि यन्त्रीकरण एवं हरित-क्रान्ति का कृषि श्रम पर होने वाले उपर्युक्त प्रभावों को प्रत्यक्ष प्रभावों की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है, क्योंकि इस प्रकार के प्रभावों का प्रति हैक्टर भूमि के क्षेत्र पर सुगमता से आकलन किया जा सकता है।

(2) अप्रत्यक्ष प्रभाव—कृषि यन्त्रीकरण एवं उन्नत बीजों को अपनाने से कृषि-श्रम पर आने वाले दूसरे प्रकार के प्रभाव अप्रत्यक्ष श्रेणी के होते हैं। कृषि-यन्त्रीकरण के उपयोग के लिए कृषि यन्त्रों—ट्रैक्टर, टिलर, रीपर, थ्रैसर, पम्प आदि अधिक संख्या में निर्मित करने, विक्रय करने एवं उन्हें कार्यगत रखने के लिए श्रमिकों की आवश्यकता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार फार्म पर उन्नत बीजों के अधिक मात्रा में प्रयोग करने से सिंचाई, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयों का अधिक मात्रा में प्रयोग करना होता है। अतः उत्पादन-साधनों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिए इनके उत्पादन, विपणन आदि कार्यों के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है जिससे श्रम की कुल आवश्यकता में वृद्धि होती है। इस प्रकार अतिरिक्त श्रम की मात्रा में जो वृद्धि होती है वह अप्रत्यक्ष प्रभाव की श्रेणी में आती है क्योंकि इसके आकलन का कार्य कठिन होता है।

कृषि यन्त्रीकरण एव हरित-क्रान्ति के कारण कृषि-श्रम की कुल माँग की मात्रा मे परिवर्तन के साथ साथ श्रम की विभिन्न समयो मे होने वाली माँग मे भी परिवर्तन होता है, जिसमे श्रम की कम माँग वाले मौसम एव अधिक माँग वाल मौसम के रुख मे भी परिवर्तन होता है। विभिन्न समय मे श्रमिको की माँग की असमानता भी कम हो जाती है।

कृषि यन्त्रीकरण का कृषि श्रमिकों की माग पर प्रभाव

कृषि यन्त्रीकरण से कृषि श्रमिको की माँग पर आने वाले प्रभावो का अध्ययन करने के लिए पिछले कुछ वर्षो मे विभिन्न राज्यो मे अनेक अध्ययन किये गये हैं। सारणी 4 11 विभिन्न राज्यो मे किये गए अध्ययनो के अनुसार कृषि यन्त्रीकरण के कृषि-श्रम पर आने वाले प्रभाव को प्रदर्शित करती है।

सारणी 4 11

कृषि यन्त्रीकरण का कृषि श्रम की मांग पर प्रभाव

(मानव-दिवस)

	प्रति एकड श्रम की माँग		श्रम की माँग मे परिवर्तन	
अध्ययन क्षेत्र	बैलो से कृषित फार्म	ट्रैक्टर से कृषित फार्म	मात्रात्मक	प्रतिशत
1 पजाब	47 24	38 46	(–) 8 78	(–)18 59
2 दिल्ली	36 00	24 50	(–)11 50	(–)31 83
3 राजस्थान	82 90	52 40	(–)30 50	(–)36 80

स्रोत (i) S S Grewal & A S Kahlon, Impact of Mechanization on Farm Employment in Punjab, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXVIII, No 4, October December, 1972, pp 214—218

(ii) G Motilal, Economics of Tractor Utilization, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXVIII No 1, January-March, 1973, pp 96—105

(iii) S S Acharya, Green Rovolution and Farm Employment, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXVIII, No 3, July-September, 1973, pp 30-45

विभिन्न अध्ययनो से स्पष्ट है कि ट्रैक्टर से कृषित फार्म पर श्रम की माँग बैलो से कृषित फार्म की अपेक्षा कम होती है। कृषि यन्त्रीकरण से श्रम की माँग पजाब मे 19 प्रतिशत, दिल्ली मे 32 प्रतिशत एव राजस्थान मे 37 प्रतिशत कम होती है। ट्रैक्टर से कृषित फार्म पर श्रम की माग मे भूमि की जुताई (88·14 प्रतिशत कमी), बुवाई (17 46 प्रतिशत कमी) फसल की गहाई (12 01 प्रतिशत कमी) एव परिवहन (43 01 प्रतिशत कमी), आदि क्रियाओ म कमी आती है। अत. स्पष्ट है कि फाम पर कृषि यन्त्रीकरण को अपनाने से श्रम की माँग मे कमी होती है। लेकिन फाम पर कृषि यन्त्रीकरण के उपयोग के साथ साथ बहुफसलीय कार्यक्रम अपनाया जाय तो श्रम की माग पहले की अपेक्षा बढ जाती है। कृषि मे यन्त्रीकरण अपनाने से निर्मित उद्योगो मे श्रम की आवश्यकता मे वृद्धि होती है। यह वृद्धि अधिक सख्या मे मशीनो एव औजारो के निर्माण की आवश्यकता के कारण उत्पन्न होती है। साथ ही इन औजारो एव मशीनो की देख रेख एव मरम्मत के लिए वर्कशाप की भी आवश्यकता होती है। इस प्रकार कृषि मे यन्त्रीकरण के फलस्वरूप कुल श्रम की माँग मे वृद्धि होती है।

हरित-क्रान्ति का कृषि श्रम की माग पर प्रभाव

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने विभिन्न क्षेत्रो से प्राप्त आँकडो के आधार पर अपने प्रतिवेदन मे बताया है कि क्षेत्र मे अधिक पैदावार देने वाली किस्मो को लेने से देशी किस्मो की अपेक्षा 30 मानव-दिवस प्रति एकड प्रति वर्ष श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बहुफसलीय कार्यक्रम को एक एकड भूमि-क्षेत्र पर अपनाने से 26 मानव-दिवस श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। सारणी 4.12 विभिन्न अध्ययनो के अनुसार उन्नत बीजो को फार्म पर अपनाने से प्रति एकड श्रम की माँग मे होने वाले प्रभाव को प्रदर्शित करती है।

उन्नत बीजो को फार्म पर अपनाने से श्रम की माँग मे 10 से 40 प्रतिशत वृद्धि विभिन्न जोतो वाले फार्मो पर होती है। सभी जोतो के फार्मो पर उन्नत बीजो को अपनाने से औसतन 20 प्रतिशत कृषि श्रम की आवश्यकता मे वृद्धि होती है।

सारणी 4.12

उन्नत बीजो के अपनाने से कृषि श्रम की माँग पर प्रभाव

(मानव दिवस मे)

अध्ययन क्षेत्र	जोत का आकार	प्रति कृषित एकड श्रम की माग देशी किस्म के बीजो के फार्म पर	उन्नत किस्म के बीजो के फार्म पर	श्रम की माँग मे प्रतिशत वृद्धि
1	2	3	4	5
1 कोटा	लघु जोत	44 20	50 27 (+)	13 73
(राजस्थान)	मध्यम जोत	52 47	54 97 (+)	4 38
	दीर्घ जोत	39 32	56 60 (+)	43 94
	सभी जोत	44 31	53 30 (+)	20 30
2 अमृतसर	लघु जोत	28 03	33 00 (+)	16 06
(पजाब)	मध्यम जोत	26 05	31 03 (+)	19 01
	दीर्घ जोत	26 09	29 08 (+)	10 08
3 कानपुर (उत्तरप्रदेश)	सभी जोत	69 00	85 00 (+)	22 25
4 उदयपुर (राजस्थान)	सभी जोत	60 08	82 09 (+)	36 03

स्रोत (1) R A Yadava, Impact of High Yielding Varieties on Farm Incomes, Employment and Resources Productivity in Kota District (Rajasthan) Unpublished M Sc Ag (Agri Economics), Thesis, University of Udaipur, 1974

(2) J S Chawla, S S Gill and R. P Singh, Green Revolution, Mechanization and Rural Employment-A Case Study in Amritsar, District, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXVII, No 4, October-December, 1972

(3) R I Singh, R Kunwar and Shri Ram, Impact of New Agricultural Technology and Mechanisation on Labour Employment, Indian Journal of Agricultural

Economics, Vol. XXVII, No 4, October-December, 1972, PP 210-214

(4) S S Acharya, Op cit

कृषि यन्त्रीकरण एव हरित- क्रान्ति का कृषि श्रम पर सम्मिलित प्रभाव

कृषि यन्त्रीकरण एव हरित-क्रान्ति के सम्मिलित रूप से कृषि-श्रम पर होने वाले प्रभाव को निश्चित रूप से कहना कठिन है । इसके कृषि-श्रम पर शुद्ध प्रभाव धनात्मक एव ऋणात्मक दोनो पाये गये हैं । पजाब एव हरियाणा प्रान्तो मे किये गये अध्ययनो के परिणामो के अनुसार वर्ष 1968–69 मे उन्नत बीजो को फार्म पर अपनाने से श्रम की माँग मे 6 प्रतिशत वृद्धि तथा फार्म पर पम्पिग सैट, थ्रॅसर एव ट्रैक्टर के उपयोग से श्रम की माग मे 13 प्रतिशत की कमी हुई है, लेकिन फार्म पर उन्नत बीजो एव यन्त्रीकरण के सम्मिलित उपयोग से श्रम की माँग मे 5 5 प्रतिशत कमी हुई है ।

राजस्थान के उदयपुर एव चितौडगढ जिलो मे वर्ष 1971–72 मे किये गये अध्ययन[25] के अनुसार यदि कृषक फार्म पर 35 प्रतिशत क्षेत्रफल उन्नत किस्म के बीजो के अन्तर्गत लेते हैं तो कृषि-श्रम की माग मे 36 3 प्रतिशत वृद्धि होती है । फार्म पर सिचाई के लिए पम्पिग सैट लगाने से श्रम की माँग मे 27 6 प्रतिशत कमी होती है । फार्म पर उन्नत बीजो एव पम्पिग सैट को साथ-साथ लेने से कृषि-श्रम की माँग मे 8 7 प्रतिशत वृद्धि होती है । चूंकि फार्म पर सिचाई के लिये पम्प लगाने से फसल गहनता मे वृद्धि होना स्वाभाविक है । अत श्रम की माग मे 23 3 प्रतिशत की वृद्धि होती है । फार्म पर ट्रैक्टर के उपयोग से कृषि-श्रम की माँग मे 50 1 प्रतिशत की कमी होती है, लेकिन ट्रैक्टर के उपयोग के साथ कृषित क्षेत्र का 50 प्रतिशत क्षेत्रफल उन्नत बीजो के अन्तर्गत लेने से श्रम की माँग मे होने वाली कमी मात्र 13 4 प्रतिशत ही रह जाती है । फार्म पर फसल-गहनता मे वृद्धि होने से कृषि-श्रम की शुद्ध माँग मे 12 7 प्रतिशत की वृद्धि होती है । अत फार्म पर यन्त्रीकरण के अपनाने से श्रम की माँग पर विपरीत प्रभाव, उन्नत बीजो के उपयोग का धनात्मक प्रभाव तथा इन दोनो के साथ-साथ उपयोग एव फसल गहनता मे वृद्धि के होने से श्रम की माँग पर धनात्मक प्रभाव आता है ।

देश मे मात्र यन्त्रीकरण को बढावा नही देना चाहिए । यन्त्रीकरण के साथ-साथ उन्नत बीजो का उपयोग एव फसल-गहनता मे वृद्धि के उपाय भी अपनाये जाने चाहिए । इनके सम्मिलित उपयोग से श्रम की माँग मे वृद्धि होगी और देश मे व्याप्त बेरोजगारी कम होगी ।

25 S S Acharya, Green Revolution and Farm Employment, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. No XXVIII, No 3 July-September, 1973, pp 30 45

कृषि श्रमिको का प्रवसन

(Migration of Agricultural Labourers)

कृषि श्रमिको मे प्रवसन से तात्पर्य व्याप्त बेरोजगारी काल मे रोजगार प्राप्ति के लिए ग्राम से दूर स्थानो पर कार्य के लिए श्रमिको के जाने से है। देश के अधिकाश कृषि मजदूर गरीबी, अशिक्षा, शहरो मे कार्य एव रहन सहन मे आने वाली कठिनाई आदि कारणो से मजदूरी प्राप्ति के लिए ग्राम से दूर स्थानो पर कार्य के लिए जाने को तैयार नही होते हैं। गाँवो मे श्रमिक कार्य उपलब्ध नही हो पाने के कारण वर्ष मे काफी समय बेकार रहते है। श्रमिको का शहर मे उद्योगो एव अन्य व्यवसायो मे कार्य करने के लिए प्रवसन नही होने के कारण गावो मे अधिक सख्या मे श्रमिक पाये जाते हैं। श्रमिको की माँग उनकी पूर्ति की अपेक्षा कम होती है जिसके कारण मजदूरी की दर भी कम होती है एव रोजगार भी निरन्तर उपलब्ध नही होता है। इस प्रकार श्रमिको मे गरीबी बढती जाती है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 25 वें दौर (1970-71)[26] मे कृषि श्रमिको के प्रवसन के अध्ययन से स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यो मे श्रमिको की गाव से दूर कार्य करने की इच्छा मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। उडीसा राज्य मे सर्वाधिक 60 प्रतिशत कृषि श्रमिक (पुरुष) एव 42 प्रतिशत लघु-कृषक (पुरुष) कार्य करने के लिए दूसरे ग्राम अथवा नजदीक के शहर मे जाने को इच्छुक है। असम, कर्नाटक एव महाराष्ट्र मे सबसे कम मात्रा मे लघु कृषको (12 से 13 प्रतिशत) एव कृषि श्रमिको (16 से 22 प्रतिशत) ने ग्राम से बाहर जाकर कार्य करने की इच्छा प्रकट की है। इसी प्रकार स्त्री श्रमिको मे सबसे अधिक राजस्थान राज्य (6 4 प्रतिशत) एव सबसे कम असम, पजाब एव उत्तर प्रदेश राज्य (2 से 4 प्रतिशत) के श्रमिको ने बाहर जाकर कार्य करने की इच्छा प्रकट की है। अत स्पष्ट है कि देश के श्रमिको मे कार्य के लिए प्रवसन की भावना कम पाई जाती है।

पूँजी

पूँजी भी उत्पादन का एक प्रमुख व सक्रिय साधन है। प्रत्येक व्यवसाय को सुचारू रूप से चलाने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी से तात्पर्य सम्पत्ति के उस भाग से है जो उत्पादन वृद्धि के लिए उपयोग में लाया जाता है। मार्शल के शब्दो मे "मनुष्य द्वारा उत्पादित वह सम्पत्ति जो धन को अधिक मात्रा मे उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त की जाती है, पूंजी कहलाती है।" पूँजी के अन्तर्गत आने वाली सभी वस्तुएँ धन होती हैं किन्तु धन एव पूँजी पर्यायवाची शब्द नही हैं क्योकि समस्त उपलब्ध धन पूँजी नही होता है।

26 Economic and Political Weekly, Vol. VII, No. 51, 16 December, 1972.

कृषि पूंजी से तात्पर्य उस सम्पत्ति से है जो कृषक द्वारा फार्म पर उत्पादन करने के लिए उपयोग में लाई जाती है। जैसे ट्रैक्टर हल, बीज उर्वरक कीटनाशी दवाइयां सिंचाई के साधन फार्म, घर आदि। ये सब साधन कृषि उत्पादन के लिए आवश्यक होते है और इनके क्रय पर धन खर्च होता है। कृषक की पूंजी मे स्थावर सम्पदा (Real estate) जैसे भूमि बड़ी मशीनें पशु सम्मिलित होते हैं। अनेक अर्थशास्त्री भूमि को पूंजी मे सम्मिलित नही करते क्योंकि उनका कहना है कि भूमि प्रकृति की देन है। व्यक्तिगत कृषक के लिए भूमि पूंजी होती है। वह उसे क्रय-विक्रय द्वारा कम या अधिक कर सकता है।

कृषि पूंजी अधिग्रहण के स्रोत-कृषकों के पूंजी अधिग्रहण के स्रोत निम्नलिखित है –

(1) वंशागत कृषि पूंजी अधिग्रहण का प्रमुख स्रोत पूर्वजों की सम्पत्ति मे से वंशागत कानून के अनुसार हिस्सा प्राप्त करना है। भारतीय कृषि मे पूंजी प्राप्त करने का यह प्रमुख स्रोत है। फार्म की अधिकांश पूंजी कृषक पूर्वजो से ही प्राप्त करते हैं।

(2) बचत—पूंजी अधिग्रहण का दूसरा प्रमुख स्रोत फार्म पर की गई बचत की राशि होता है। फार्म पर बचत की मात्रा उत्पाद के मूल्य, फार्म लागत एवं उपभोग खर्च की राशि पर निर्भर करती है। बचत कृषक की शुद्ध परिसम्पत्ति की राशि मे वृद्धि करती है। बचत की राशि विभिन्न फार्मों पर विभिन्न मात्रा मे होती है। प्रत्येक वर्ष मे फार्म से प्राप्त बचत को एकत्रित करने से भारी राशि मे पूंजी जमा हो जाती है। बचत के द्वारा फार्म पर आवश्यक राशि से पूंजी एकत्रित करने में बहुत समय लगता है।

(3) पारिवारिक सदस्यों के द्वारा—पूंजी अधिग्रहण की इस विधि मे कृषक फार्म के लिए आवश्यक पूंजी परिवार के सदस्यो से ऋण अथवा सहायता के रूप मे प्राप्त करते है।

(4) निगमीकरण—पंजी अधिग्रहण की इस विधि मे कृषक आवश्यक राशि मे पूंजी उनके द्वारा स्थापित निगम से प्राप्त करते हैं। य निगम विभिन्न व्यक्तियो से पूंजी शेयर ऋण आदि के रूप मे प्राप्त करके कृषकों को आवश्यक मात्रा मे ऋण के रूप म प्रदान करते है।

(5) भूमि को पट्टे पर देकर—इस विधि म कृषक अपनी अंशत भूमि दूसरे कृषक को पट्टे पर देकर (Leasing of Land) उनसे पंजी ऋण अथवा अग्रिम लगान के रूप मे प्राप्त करते है। कुछ वर्षों म बचत द्वारा धन एकत्रित करके कृषक अपनी भूमि को वापिस प्राप्त कर लेते हैं।

(6) क्रय-बन्धन द्वारा—पूंजी अधिग्रहण की इस विधि मे कृषक विभिन्न

उत्पादन-साधन के विक्रेताओं से क्रय के इकरार (Purchase Contract) करके पूँजी प्राप्त करते हैं। क्रय-इकरारों के अन्तर्गत कृषक उत्पादन साधन जैसे—हल, मशीन, ट्रैक्टर आदि की कीमत का एक भाग नकद भुगतान करते हैं और शेष राशि का किश्तों में भुगतान करने का वायदा करते हैं। उत्पादन-साधन कृषक के आधिपत्य में रहता है, लेकिन उस पर स्वामित्व विक्रेता व्यापारी का होता है। उत्पादन साधन की कीमत का पूर्ण भुगतान होने पर उसका स्वामित्व व्यापारी द्वारा कृषक के नाम स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार कृषक अधिक कीमत वाले उत्पादन साधनों को क्रय करते हैं जो अन्यथा आवश्यक पूँजी के अभाव में एक साथ कीमत का भुगतान करके कृषक द्वारा क्रय कर पाना सम्भव नहीं होता है।

(7) ऋण प्राप्त करके—पूँजी अधिग्रहण की इस विधि में कृषक आवश्यक पूँजी ऋणदात्री संस्थाओं से ऋण के रूप में प्राप्त करते हैं और प्राप्त ऋण को धीरे-धीरे किश्तों में भुगतान करते हैं।

(8) फार्म उत्पादों के विक्रय-इकरारों द्वारा (Sale Contracts)—पूँजी अधिग्रहण की इस विधि में कृषक फार्म पर उत्पादित होने वाले विभिन्न उत्पादों की कटाई के पूर्व भावी सौदा करके उनकी कीमत का एक भाग अग्रिम राशि के रूप में प्राप्त करते हैं। फसल की कटाई होने पर माल व्यापारी को दे दिया जाता है और उससे शेष राशि प्राप्त करली जाती है। पूँजी प्राप्त करने की यह विधि फलों के बागानों में अधिक प्रचलित है।

पूँजी-सचय—कृषको द्वारा फार्म पर सचित पूँजी की राशि, फार्म से प्राप्त उत्पाद की कीमत एव उन पर होने वाली उत्पादन लागत के अतिरिक्त निम्न कारको पर निर्भर करती है—

(अ) कृषकों की पूँजी-सचय करने की शक्ति—कृषकों की सचित पूँजी एवं उनकी पूँजी-सचय शक्ति में सीधा सम्बन्ध होता है। कृषको का घरेलू खर्च अधिक होने पर फार्म आय की अधिकता होते हुए भी उनकी पूँजी-सचय करने की शक्ति कम होती है। अतः उनके पास सचित-पूँजी की राशि कम होती है।

(ब) कृषकों में पूँजी-संचय करने की शक्ति—पूँजी-सचय की राशि को प्रभावित करने वाला दूसरा प्रमुख कारक कृषको में पूँजी-सचय करने की इच्छा का होना है। विभिन्न व्यक्तियों में पूँजी सचय करने की इच्छा भिन्न-भिन्न होती है। कृषको में पूँजी-सचय करने की इच्छा को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्न हैं—

(i) दूरदर्शिता,

(ii) मितव्ययी स्वभाव,

(iii) पारिवारिक स्नेह,

(iv) आर्थिक प्रेरणा का होना,

(v) सामाजिक सम्मान की इच्छा।

(स) पूंजी-सचय करने की सुविधाओं की उपलब्धि—कृषकों मे पूंजी सचय की राशि को प्रभावित करने वाला तीसरा कारक पूंजी-सचय के लिए उपलब्ध सुविधाओं का होना है। क्षेत्र मे पूंजी-सचय करने के लिये बैंक या पोस्ट-ऑफिस मे जमा करने की सुविधा होने, ब्याज की दर की अधिकता, शान्ति एव सुरक्षा व्यवस्था आदि के होने से पूंजी-सचय की राशि अधिक होती है।

कृषि पूंजी के प्रकार—कृषि पूंजी को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—

(1) उपयोग के समय के अनुसार—उपयोग के समय की दृष्टि से कृषि पूंजी दो प्रकार की होती है—

(अ) स्थायी/अचल पूंजी—स्थायी या अचल पूंजी वह है जो उत्पादन प्रक्रिया मे निरन्तर उपयोग मे आती रहती है और बहुत समय तक आय प्रदान करती है जैसे—ट्रैक्टर, पशु, फार्म पर क्रय की गई मशीनें, सिंचाई का पम्प, नालियाँ, मेड आदि मे निवेश की गई पूंजी।

(ब) कार्यगत कार्यशील/चल पूंजी—कार्यशील पूंजी वह है जो उत्पादन प्रक्रिया मे एक बार ही उपयोग आती है तथा उसके उपयोग से आय एक ही समय मे प्राप्त होती है जैसे—खाद, उर्वरक, श्रमिकों की मजदूरी, बीज आदि मे व्यय की गई पूंजी।

(2) उत्पादकता के अनुसार—उत्पादकता के अनुसार कृषि पूंजी दो प्रकार की होती हैं—

(अ) उत्पादन पूंजी—यह पूंजी का वह रूप है जिसके उपयोग से फार्म उत्पादों के उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है, जैसे—बीज, खाद, उर्वरक, ट्रैक्टर बैल आदि मे निवेश की गई पूंजी।

(ब) उपभोग पूंजी—यह पूंजी का वह रूप है जिसका उपयोग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाता है। उपभोग पूंजी उत्पादन मे वृद्धि करने म सहायक नही होती है, जैसे—पुस्तकें, भवन, रेडियो, घडी एव वस्त्रो मे खर्च की गई पूंजी।

(3, बैडफोर्ड एव जोनसन[27]—ने पूंजी को पांच श्रेणियों मे विभक्त किया है—

27 L A Bradford and G L Johnson, Farm Management Analysis, Wiley & Sons, INC, New York, 1960 p 79.

(अ) श्रम-प्रतिस्थापन पूंजी (Labour displacing capital)—वह पूंजी जो फार्म पर उत्पादन कार्यों के लिये आवश्यक श्रम-शक्ति को प्रतिस्थापित करने में प्रयुक्त की जाती है, श्रम प्रतिस्थापन पूंजी कहलाती है, जैसे—ट्रैक्टर, बीज बोने की मशीन, थ्रेसर, रीपर, कुट्टी काटने की मशीन, दूध निकालने की मशीन आदि मे निवेश की गई पूंजी।

(ब) उत्पाद सुधार पूंजी (Product improving capital)—वह पूंजी जो फार्म पर उत्पादित माल के गुणो मे सुधार करने के लिये प्रयुक्त की जाती है, उत्पाद सुधार पूंजी कहलाती है, जैसे—घास सुखाने की मशीन (Hay-drier). पास्तुरीकरण मशीन (Pasteurization plant) आदि मे निवेशित पूंजी।

(स) उत्पादवर्द्धक पूंजी (Product increasing capital)—पूंजी का वह रूप जो फार्म पर उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करती है, उत्पादवर्द्धक पूंजी कहलाती है, जैसे—बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयो मे खर्च की गई पूंजी।

(द) उत्पाद परिवर्तक पूंजी (Product converting capital)—पूंजी का वह रूप जो उत्पाद के रूप को परिवर्तित करके नये रूप मे बदल देती है, उत्पाद परिवर्तक पूंजी कहलाती है, जैसे—मक्खन निकालने की मशीन, गन्ना पेलने की मशीन, आटा चक्की आदि मे निवेश की गई पूंजी।

(य) पारिवारिक या घरेलू आवश्यकता की पूंजी (Family or Home maintenance capital)—वह पूंजी जो घरेलू आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे प्रयुक्त की जाती है। जैसे—आवास के लिए भवन, मनोरंजन के लिये रेडियो, घड़ी, बर्तन, खाने की वस्तुएँ आदि पर किया गया खर्च।

(4) अधिग्रहण के आधार पर—अधिग्रहण के आधार पर कृषि-पूंजी दो प्रकार की होती है।

(अ) उत्पादक की पूंजी—यह वह पूंजी है जो फार्म पर उत्पन्न की जा सकती है, जैसे—पशु, खाद्यान्न आदि।

(ब) अधिग्रहीत पूंजी—यह वह पूंजी है जो दूसरो से ऋण, लगान या किराये पर लेकर प्राप्त की जाती है। प्राप्त पूंजी के लिये उसके स्वामी को ब्याज, लगान आदि दिया जाता है।

प्रबन्ध

उत्पादन का चतुर्थ कारक प्रबन्ध है। प्रबन्ध कारक उत्पादन का अमूर्त कारक (Intangible factor) कहलाता है। यह कारक उत्पादन के तीन मूर्त कारकों (Tangible factors) भूमि, श्रम एव पूंजी को फार्म पर उचित अनुपात में नियोजित करने तथा उनसे उत्पादन की अधिकतम मात्रा प्राप्त करने की व्यवस्था करता है। प्रबन्ध-कार्य करने वाला व्यक्ति प्रबन्धक/व्यवस्थापक कहलाता है।

कृषि व्यवसाय में कुशल प्रबन्धक की आवश्यकता—उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन कारकों—भूमि, श्रम, पूंजी एवं प्रबन्ध का होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यवसाय में उत्पादन की मात्रा मुख्यतया प्रबन्धक की योजना एवं कुशलता पर निर्भर होती है। योग्य प्रबन्धक उद्योग एवं व्यापार में अपनी कुशलता के कारण नाम जमा लेते हैं। कृषि भी एक व्यवसाय है। कृषि क्षेत्र में भी कुशल प्रबन्धक का होना उद्योगों के समान ही आवश्यक है। कृषि व्यवसाय में अनिश्चितता की अधिकता, कृषि में तकनीकी ज्ञान के प्रसार एवं निर्णयों की शीघ्रता के कारण प्रबन्धक का महत्त्व अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अधिक होता है। फार्म पर लिये जाने वाले सभी प्रकार के निर्णय फार्म पर होने वाली लागत एवं प्राप्त आय में परिवर्तन लाते हैं। प्रबन्ध का महत्त्व लघु एवं बड़े पैमाने के व्यवसाय में समान होता है।

भारत में कृषि को व्यवसाय के रूप में न लेकर जीवन-निर्वाह के रूप में लिया गया है। कृषि क्षेत्र में परम्परागत रिवाजों के कारण प्रबन्ध कारक की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। लेकिन वर्तमान में कृषि जीवन-निर्वाह दृष्टिकोण से व्यापारिक दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो रही है। उत्पादन की विधि में भी परिवर्तन हो रहा है। कृषि में वर्तमान में भूमि एवं पूंजी की सीमितता की अवस्था में अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए कुशल प्रबन्धक का होना आवश्यक है।

कुशल कृषि प्रबन्धक व्यवस्थापक के कार्य—कुशल कृषि प्रबन्धक के निम्न कार्य होते हैं—

(1) फार्म पर सर्वाधिक लाभ प्रदान करने वाली फसलों का चुनाव करना। इसके लिए कुशल प्रबन्धक को क्षेत्र में उत्पन्न की जाने वाली विभिन्न फसलों के तुलनात्मक लाभ का ज्ञान होना अनिवार्य है।

(2) फार्म पर विभिन्न खण्डों/खेतों के लिए उचित फसल-चक्र का चुनाव करना।

(3) फार्म उत्पादन योजना में विभिन्न उत्पादों के अन्तर्गत क्षेत्रफल निर्धारित करना।

(4) भूमि की उत्पादन क्षमता को बनाये रखते हुए, भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन की मात्रा प्राप्त करना।

(5) फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनों के इष्टतम उपयोग के लिए व्यवसाय की उत्पादन योजना बनाना एवं उसे कार्यान्वित करना।

(6) निर्मित उत्पादन योजना के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनों, जैसे उर्वरक, उन्नत बीज, पूंजी, कृषि यन्त्र आदि की व्यवस्था करना, जिससे उत्पादन योजना का कार्यान्वयन किया जा सके।

(7) फार्म पर श्रमिकों की कुशलता एवं क्षमता में वृद्धि के उपाय अपनाना।

(8) उत्पादन क्रिया के लिए आवश्यक ऋण की कम ब्याज-दर पर व्यवस्था करना।

(9) उपज के विक्रय से अधिकतम कीमत की प्राप्ति के लिए विपणन सम्बन्धी निर्णय लेना।

कुशल प्रबन्धक/व्यवस्थापक के गुण—समान उत्पादन-साधनो की मात्रा वाले विभिन्न फार्मों पर, जो प्रबन्धक फार्म से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करता है, वह कुशल प्रबन्धक कहलाता है। फार्म पर प्राप्त कुल आय मे से फार्म पर होने वाली विभिन्न प्रकार की लागत को घटाने पर जो राशि शेष रहती हैं, वह लाभ कहलाती हैं। लाभ की यह राशि प्रबन्धक को अपनी सेवाओ के लिए प्राप्त होती है। एक कुशल प्रबन्धक मे निम्न गुणो का होना आवश्यक है—

(1) दूरदर्शिता,
(2) श्रमिको के मनोविज्ञान की जानकारी,
(3) व्यवसाय का विशिष्ट ज्ञान,
(4) व्यवसाय का अनुभव एव प्राप्त प्रशिक्षण,
(5) विश्वसनीयता एव ईमानदारी,
(6) समयनिष्ठता।

शिक्षा प्रबन्धक के ज्ञान मे वृद्धि करती है। अनुभव तथा शिक्षा के आधार पर निर्णय लेने मे परिपक्वता आती है जो कृषक-प्रबन्धक को उत्पादन-साधनो से लाभ की अधिकतम राशि उपलब्ध कराती है।

☐☐☐

अध्याय 5

फार्म-प्रबन्ध—परिभाषा एवं क्षेत्र

फार्म-प्रबन्ध, फार्म एवं प्रबन्ध शब्दों के समन्वय से बना है। अतः फार्म-प्रबन्ध शब्द को परिभाषित करने से पूर्व फार्म एवं प्रबन्ध शब्दों को परिभाषित करना आवश्यक है।

फार्म

फार्म वह क्षेत्र अथवा भूमि का खण्ड है जो फसल उत्पादन अथवा पशुपालन के लिए उपयोग मे लाया जाता है, जिस पर एक कृषक अथवा अनेक कृषकों का सम्मिलित रूप से स्वामित्व होता है और जिसकी सीमा निश्चित होती है। विभिन्न विशेषज्ञों ने फार्म शब्द को विभिन्न शब्दों मे परिभाषित किया है। उनमें से प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं—

जॉनसन[1]—फार्म से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर या तो कुछ एकड़ क्षेत्र मे फसलें उगाई जाती हैं या कुछ पशु पाले जाते हैं। यह आवश्यक नही है कि उस भूमि पर फसल उत्पादन अथवा पशुपालन करने वाला कृषक की श्रेणी मे आता हो।

चौहान[2]—भूमि के एक या अनेक खण्ड जो कृषि उद्यम की एक इकाई के रूप मे एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत सचालित किये जाते हो, फार्म कहलाते हैं।

1. "Almost any place that raises a few acres of crops or a few heads of livestock is commonly regarded as a farm, even though the person living there may not consider himself a farmer"
—Sherman E Johnson, Neil W Johnson, Martin R. Cooper, Orlin, J. Scoville, Samuel W Mendum, Managing A Farm, D Von Nostrand Company, INC, New York, 1946, P 15

2. "A piece or pieces of land operated as single unit of agriculture enterprise under one management"
—D. S Chauhan, Agricultural Econom cs, Lakshmi Narain Agarwal, Agra, P 57.

एडम्स[3]—वैधानिक रूप से फार्म से तात्पर्य उस भूमि के क्षेत्र से है जिसका स्वामित्व एक व्यक्ति के पास होता है और भूमि का वह क्षेत्र, फसलें उगाने या चरागाह के रूप मे काम मे लिया जाता है। इसके अन्तर्गत कई एकड क्षेत्र के एक या अनेक खेत भी हो सकते हैं।

एडम्स द्वारा फार्म की दी गई उपर्युक्त परिभाषा सभी रूपो (क्षेत्र, स्वामित्व एव उपयोग) मे पूर्ण होने के कारण वैधानिक परिभाषा के रूप मे स्वीकार की जाती है।

पारिवारिक फार्म

फार्म एव पारिवारिक फार्म मे अन्तर होता है। पारिवारिक फार्म को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है

योजना आयोग[4] ने प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारूप मे पारिवारिक फाम को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया था—

'पारिवारिक फार्म से सक्षेप मे तात्पर्य भूमि के उस समतुल्य क्षेत्र से है जो स्थानीय परिस्थितियो एव कृषि की वर्तमान प्रचलित विधियो के अनुसार एक हल की इकाई या औसत परिवार के लिए कार्य इकाई के समान हो तथा उस फार्म पर आवश्यक कृषि कार्यों मे दूसरो की सहायता भी ली जा सकती हो।'

कांग्रेस कृषि सुधार समिति[5] ने अपनी रिपोट मे वर्ष 1951 मे पारिवारिक फार्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि वह क्षेत्र अथवा भूमि का खण्ड जो कृषको को 1,600 रु प्रतिवर्ष की समग्र आय अथवा 1,200 रु प्रतिवर्ष की शुद्ध आय प्रदान करता हो और उसका क्षेत्र एक हल की इकाई से कम नही हो।

पारिवारिक फार्म की उपर्युक्त परिभाषा वर्ष 1951 मे दी गई थी। वर्तमान कीमतो के सूचकाक के आधार पर 1,200 रु प्रतिवर्ष की शुद्ध आय एक औसत परिवार के जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त नही होती है। अतः आय की यह मात्रा स्थायी नही है, बल्कि इससे तात्पर्य है कि एक पारिवारिक फार्म, कृषक एव उसके परिवार को आय की वह मात्रा प्राप्त कराना हो जिससे उसके रहन सहन का उचित स्तर बना रहे। आय की राशि कीमतो के सूचकाक मे परिवर्तन के अनुसार

3 'Legally a farm generally means an area of land under single ownership and devoted to agriculture either to raising crops or for pasturage It may consist of a number of acres of one field or many fields '

—R L Aadms Farm Management 1912, P 694

4 "*A family farm may be defined briefly as being equivalent according to* the local conditions and under the existing conditions of techniques, either to a plough unit or of a work unit for a family of average size working with such assistance as is customary in agricultural operation First Five Year Plan Planning Commission, Government of India New Delhi, P 189

5 Congress Agrarian Reforms Committee, A. I C. C 1951

परिवर्तित होती है। साथ ही विभिन्न क्षेत्रो मे परिवार के लिये उचित जीवन-स्तर प्रदान करने के लिये आवश्यक आय की राशि मे भिन्नता होती है। अत उचित जीवन स्तर के लिये आवश्यक आय की मात्रा मे विभिन्नता के कारण पारिवारिक फार्म के क्षेत्र मे काफी विभिन्नता पायी जाती है।

प्रबन्ध

प्रबन्ध से तात्पर्य किसी भी कार्य को करने अथवा प्रबन्ध करने की कला से है। प्रबन्ध की आवश्यकता सभी उद्योगो मे समान रूप से होती है।

कृषि उत्पादन के लिये भूमि, श्रम, पूंजी एव प्रबन्ध कारको की आवश्यकता होती है। उत्पादन के प्रथम तीन कारको को मूर्त कारक एव चतुर्थ कारक प्रबन्ध को उत्पादन का अमूर्त कारक कहते है। फार्म पर मूर्त कारको की बहुतायत होते हुए भी प्रबन्ध कारक के अभाव मे उत्पादन कम प्राप्त होता है। फार्म से प्राप्त उत्पादन की मात्रा विभिन्न फार्मों पर अन्य उत्पादन साधनो के समान होने पर भी प्रबन्ध-क्षमता की विभिन्नता के कारण भिन्न भिन्न पाया जाता है। प्रबन्धकर्त्ता मे पायी जाने वाली प्रबन्ध क्षमता की कला ईश्वरीय देन होती है। प्रशिक्षण द्वारा प्रबन्धकर्त्ता की इस क्षमता मे वृद्धि की जा सकती है।

फार्म-प्रबन्ध

फार्म प्रबन्ध—कृषि अर्थशास्त्र विज्ञान का एक भाग है जिसमे उत्पादन के सीमित साधनो से अधिकतम लक्ष्यो की पूर्ति की विधि का समावेश होता है। कृषि के व्यावसायिक सिद्धान्तो एव कृषि-कार्यो की पद्धतियो द्वारा फार्म इकाई से अधिकतम सम्भावित लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से फार्म प्रबन्ध का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न विशेषज्ञो द्वारा फार्म-प्रबन्ध की दी गई परिभाषाओ मे बहुत भिन्नता है। फार्म प्रबन्ध की प्रमुख विशेषज्ञो द्वारा दी गई परिभाषाएँ निम्न है—

ग्रे[6]—"फार्म प्रबन्ध से तात्पर्य फार्म का सुव्यवस्थित ढग से प्रबन्ध करने से है जिसे लाभ की राशि के अनुसार आका जाता है।"

एफरसन[7]—"कार्यक्षमता को बनाये रखने एव निरन्तर लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से फार्म के सगठन एव सचालन का विज्ञान फार्म प्रबन्ध कहलाता है।'

6 "The art of managing a farm successfully as measured by the test of profitableness is called farm management
—Gray L C, Introduction to Agricultural Economics, Macmillan & Company Newyork, 1924 P 3

7 The science which considers the organization and operation of the farm from the point of view of efficiency and continuous profit,
—J, N Efferson, Principles of Farm Management, McGraw Hill Book Company INC, Newyork, 1953, P 5.

हडलसन[8]—"कृषि प्रबन्ध या अन्य उद्योगो के प्रबन्ध का मुख्य तात्पर्य उचित समय पर सही निर्णय लेने तथा लिए गए निर्णयो को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने से है।"

ब्लैक[9]—"फार्म प्रबन्ध मे सगठन, सचालन, क्रय-विक्रय एव वित्तीय व्यवस्था सम्मिलित होनी है।"

ब्रेडफोर्ड एव जॉनसन[10]—फार्म-प्रबन्ध, निम्न पाँच कार्यो के करने का विज्ञान है —(1) अवलोकन, (2) विश्लेषण, (3) निर्णय लेना, (4) लिये गये निर्णयो को कार्यान्वित करना, एव (5) निर्णयो के परिणामो का दायित्व वहन करना।

हैडी एवं जेनसन[11]—"फार्म-प्रबन्ध अर्थशास्त्र के एक भाग के रूप मे फार्म पर सीमित साधनो के आवटन सम्बन्धी विकल्पो के निर्णयो का विज्ञान है।"

एडम्स[12]—"फार्म प्रबन्ध का तात्पर्य विषय के रूप मे, व्यावसायिक एव वैज्ञानिक अन्वेषणो के परिणामो के ज्ञान को कृषि मे निरन्तर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए उपयोग करना है तथा कार्यविधि के रूप मे, फार्म प्रबन्ध से तात्पर्य अधिकतम सम्भावित लाभ की प्राप्ति के लिए फार्म पर उद्यमो के चुनाव, सगठन तथा सचालन मे आर्थिक सिद्धान्तो के आधार पर निर्णय लेने से है।"

8 "Management in farming or any other business consists chiefly in making correct decisions at the right time and then seeing that these decisions are carried to successful completion"

—R. R Hudelson, Farm Management

9 "These questions can best be considered under the heads of organization, operation, buying & selling and financing to include all four of these"

—J. D Black, Farm Management, The Macmillan & Company, Newyork, 1947

10 L A Bradford & G L Johnson Farm Management Analysis John Wiley & Sons INC, Newyork, 1960, p 7

11 'Farm Management as the sub-divison of economics which considers the allocation of limited resources within the individual farm is a science of choice and decision making"

—E O Heady & H R Jensen Farm Management Economics Prentice Hall of India (Private) Ltd, New Delhi, 1964 p 6

12 "Farm Management—The subject is the presentation of business and Scientific findings in their application to farming for the purpose of indicating the way to greatest continuous profit Farm Management—The method is the utilisation of sound principles in the selection, organisation and conduct of an individual farm business for the purpose of obtaining the greatest possible profit.

—R. L Adams Farm Management, 1912

टण्डन एवं धौंडियाल[13]—फार्म-प्रबन्ध कृषि अर्थशास्त्र की वह शाखा है जो कृषक द्वारा धनोपार्जन करने व धन के व्यय करने की प्रवृत्तियों का, फार्म की इकाई के सगठन व सचालन के साथ विपणन के सभी पहलुओं या कुछ कृषि-कार्यों का अध्ययन भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखते हुए निरन्तर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से करती है।

फार्म-प्रबन्ध की उपर्युक्त परिभाषाओं में लेखकों ने विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। लेकिन शब्दों की विभिन्नता होते हुए भी उपर्युक्त परिभाषाओं में काफी समानता है। सभी लेखकों ने फार्म पर उपलब्ध सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करके *फार्म से अधिकतम लाभ की निरन्तर प्राप्ति पर जोर दिया है।*

फार्म-प्रबन्ध के उद्देश्य

फार्म-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य फार्म पर लिए जाने वाले विभिन्न उद्यमों से कृषक को अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त कराना है। कृषक का उद्देश्य फार्म पर लिए जाने वाले किसी एक उद्यम से अधिकतम लाभ प्राप्त करना न होकर, लिए जाने वाले सभी उद्यमों से अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है, क्योंकि फार्म विभिन्न उद्यमों का एक सामूहिक रूप होता है। उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए फार्म पर विवेकपूर्ण ढग से निर्णय लिये जाने चाहिये। किसी भी निर्णय के गलत होने पर फार्म से प्राप्त कुल लाभ की मात्रा कम हो जाती है। फार्म से निरन्तर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य के लिए फार्म-प्रबन्ध मे निम्नांकित अध्ययन किया जाता है—

(i) कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन के साधन एव प्राप्त उत्पाद मे पारस्परिक सम्बन्ध एव विभिन्न उत्पादन-साधनों की अपेक्षित कार्यक्षमता बनाये रखने का अध्ययन।

(ii) फार्म के लिए फसल-उत्पादन एव पशुपालन की उत्तम विधि का चुनाव।

(iii) विभिन्न उद्यमों की प्रति इकाई उत्पादन लागत का अध्ययन।

(iv) विभिन्न उद्यमों से प्राप्त लाभ का तुलनात्मक अध्ययन।

13. "*Farm Management is a branch of agricultural economics* which deals with wealth getting and wealth spending activities of a farmer in relation to the organization and operation of the individual farm unit including some or all the functions of marketing for securing the maximum possible net income consistent with the maintenance of soil fertility "
—R K. Tandon and S. P. Dhondyal, Principles and Methods of Farm Management, Achal Prakashan Mandir, Kanpur, 1964, p 20.

(v) जोत के आकार से भूमि उपयोग, फसल-क्रम योजना व पूंजी-निवेश का सम्बन्ध ।

(vi) तकनीकी ज्ञान का फार्म व्यवसाय एव उत्पादन पर प्रभाव ।

(vii) उत्पादन साधनो एव भूमि उपयोग का मूल्याकन ।

(viii) फार्म व्यवसाय की कार्य क्षमता मे वृद्धि के उपाय ।

फार्म प्रबन्ध के उद्देश्यो की प्राप्ति क लिए उपर्युक्त अध्ययन कृषको को निम्न निर्णय लेने मे सहायता देते हैं

(i) फार्म पर अधिकतम उत्पादन कैसे प्राप्त करें ?

(ii) प्राप्त उत्पादन की अधिकतम कीमत कैसे प्राप्त करें ?

(iii) प्रति हैक्टर/क्विन्टल खाद्यान्न उत्पादन की लागत कैसे कम करें ?

(iv) सम्पूर्ण फार्म व्यवसाय से अधिकतम शुद्ध लाभ कैसे प्राप्त करे ?

अधिकतम लाभ की प्राप्ति कृषको का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होते हुए भी अन्तिम उद्देश्य नही होता है । कृषको का अन्तिम उद्देश्य रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि एव परिवार के सदस्यो को अधिकतम सन्तोष प्रदान करना होता है । रहन-सहन के स्तर म सुधार एव सदस्यो को सन्तोष फार्म से अधिकतम लाभ करने पर ही प्राप्त हो सकता है । फार्म के सफल सचालन के लिए प्रबन्धक को फार्म प्रबन्ध का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है । फार्म के सफल सचालन से तात्पर्य फार्म से प्राप्त आमदनी से परिवार के सदस्यो को अधिकतम सन्तोष प्राप्त कराना है ।

अनिश्चितता के वातावरण मे फार्म प्रबन्ध का योगदान

कृषि के क्षेत्र मे प्रत्येक निर्णय जैसे उत्पादन, कीमतें आदि प्राय अनिश्चित होते हैं । अनिश्चित कृषि-वातावरण की अवस्था मे निरन्तर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए फार्म-प्रबन्ध का ज्ञान कृषको को फार्म पर निम्न कार्यों के करने मे सहायक होता है ।

1. कृषि उत्पादों के उत्पादन, उत्पादकता एव कीमतो के भावी अनुमान लगाना—कृषक फार्म पर विभिन्न उद्यमो के अन्तर्गत क्षेत्रफल के निर्णय प्रचलित कीमतो के आधार पर लेते हैं, लेकिन उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय, फसल की कटाई के समय प्रचलित कीमतो पर निर्भर करती है । फसल की कटाई के समय प्राप्त होने वाली कीमतो की सदैव अनिश्चितता बनी रहती है । अत उत्पादन, उत्पादकता एव कीमतो का सही आकलन करना आवश्यक होता है । फार्म-प्रबन्ध ज्ञान इनके आकलन करने मे सहायक होता है ।

14 E O Heady and H R Jensen Farm Management Economic Prentice Hall of India Private Ltd , New Delhi, 1964

2 कृषि उत्पादो के अनुमानित उत्पादन, उत्पादकता व कीमतों को प्राप्त करने के लिए फार्म-योजना बनाना—फार्म-प्रबन्ध के दूसरे कार्य के अन्तर्गत फार्म-योजना तैयार करना आता है ताकि निर्धारित लक्ष्य कृषको को प्राप्त हो सके ।

3. निर्मित फार्म-योजना को फार्म पर कार्यान्वित करना फार्म-योजना मे प्राप्त होने वाले लाभ की राशि योजना को कार्यान्वित करने पर निर्भर करती है । फार्म-योजना को कार्यान्वित करने मे फार्म-प्रबन्ध ज्ञान सहायक होता है ।

4 फार्म-योजना को कार्यान्वित करने से होने वाले सम्भावित लाभ अथवा *हानि को वहन करना—सामान्यत फार्म योजना को कार्यान्वित करने पर उपर्युक्त* निर्धारित लक्ष्यो के अनुसार लाभ प्राप्त होता है । मौसम अथवा कीमतो की प्रतिकूलता की अवस्था मे फार्म-योजना से हानि भी हो सकती है । अत फार्म-योजना को कार्यान्वित करने से होने वाले लाभ/हानि भी फार्म-प्रबन्धक को वहन करना होता है ।

फार्म-प्रबन्ध का कृषि-विज्ञान के अन्य विषयो से सम्बन्ध .

फार्म-प्रबन्ध विज्ञान, कृषि अर्थशास्त्र विज्ञान का एक भाग है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक फार्म पर किये जाने वाले सभी कृषि कार्यों को करने मे आर्थिक दृष्टि से निर्णय लिए जाते हैं । कृषि विज्ञान के अन्य विषयो के अन्तर्गत भी विषय-सम्बन्धी समस्या का निर्णय लिया जाता है । फार्म-प्रबन्ध विज्ञान एव कृषि-विज्ञान के अन्य विषयो मे निम्न अन्तर होता है :

1 फार्म-प्रबन्ध-विज्ञान फार्म पर कृषि क्रियाओ को करने से प्राप्त होने वाले लाभ की राशि का ज्ञान प्रदान करता है जबकि कृषि विज्ञान के अन्य विषय फार्म पर क्रियाओ को करने का ज्ञान ही प्रदान करते हैं । जैसे फसल विज्ञान फार्म पर फसलो का चुनाव, पौधो की दूरी, फसल-चक्र आदि के निर्णय का ज्ञान, मृदा विज्ञान फसल के लिए आवश्यक उर्वरको की मात्रा व प्रयोग की विधि का ज्ञान, पौध-व्याधि विज्ञान फसलो की बीमारियो की रोकथाम के लिए रोगनाशक दवाइयो की मात्रा व प्रयोग विधि का ज्ञान तथा कीट-विज्ञान फसलो पर लगने वाले कीडे मकोडो की रोकथाम के लिए कीटनाशक दवाइयो की मात्रा व विधि का ज्ञान कृषको को प्रदान करता है । कृषि-विज्ञान के उपर्युक्त विभिन्न विषय अमुक विधि के फार्म पर प्रयोग से प्राप्त होने वाले लाभ की विस्तृत विवेचना नही करते हैं । फार्म-प्रबन्ध-विज्ञान फार्म पर लिए जाने वाले प्रत्येक निर्णय से होने वाले लाभ एव उसकी लागत का ज्ञान प्रदान करता है ।

2. फार्म-प्रबन्ध-विज्ञान के अन्तर्गत निर्णय लेने के लिए प्रत्येक कृषक के फार्म को एक पृथक् इकाई के रूप मे मानते हैं जिससे विभिन्न कृषको

के पास समान मात्रा मे उत्पादन साधन होते हुए भी फार्म पर होने वाली समस्याओ के लिए एक ही निर्णय प्रस्तावित नही किया जाता है। कृषि विज्ञान के अन्य सभी विषयो मे क्षेत्र के सभी कृषको की समस्याओ के लिए एक ही निर्णय प्रस्तावित किया जाता है। उदाहरणतया फसल-वैज्ञानिक अमुक क्षेत्र मे गेहूँ की हीरा किस्म उगाने, मृदा-वैज्ञानिक गेहूँ की फसल मे अमुक क्षेत्र मे 00 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक डालने, पौध सरक्षण विशेषज्ञ बीमारियो एव कीडो की रोकथाम के लिए अमुक कीटनाशी दवा के प्रयोग करने का अनुमोदन करता है, लेकिन फार्म-प्रबन्ध विशेषज्ञ प्रत्येक कृषक के फार्म के लिए पृथक् फार्म-योजना तैयार करता है।

3 फार्म-प्रबन्ध एक सयोजन करने वाला विज्ञान (Integrating Science) है जिसके अन्तर्गत प्रबन्धक फार्म को एक इकाई मान कर सचालन करता है। कृषि-विज्ञान के अन्य विषय अपनी समस्याओ के हल करने के निर्णय लेने तक ही सीमित होते हैं। जैसे पौध-व्याधिविज्ञान फसलो की बीमारियो की रोकथाम, कीट-विज्ञान फसलो की कीडो से रक्षा के उपाय, फसल विज्ञान फसलो की किस्म एव उनके चुनाव का निर्णय देने तक सीमित रहते हैं। लेकिन फार्म-प्रबन्ध विज्ञान मे कृषि के सभी विषयो के ज्ञान को सम्मिलित करके फार्म को एक इकाई मानते हुए निर्णय लिए जाते हैं जिससे सम्पूर्ण फार्म मे अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त हो सके। अत फार्म-प्रबन्ध, कृषि-विज्ञान के विभिन्न विषयो के ज्ञान को फार्म पर एक साथ प्रयोगित करके अधिक लाभ की प्राप्ति की योजना बनाता है।

4 फार्म-प्रबन्ध एक प्रायोगिक अध्ययन है जिसके अन्तर्गत कृषको को कृषि विधियो को अपनाने से होने वाली लागत एव उससे प्राप्त सम्भावित लाभ की राशि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जबकि कृषि-विज्ञान के अन्य विषयो के अन्तर्गत विभिन्न कृषि-कार्यों को करने की विधि का ज्ञान ही प्रदान किया जाता है।

फार्म-प्रबन्ध एव कृषि-अर्थशास्त्र मे सम्बन्ध :

कृषि-अर्थशास्त्र, कृषि-विज्ञान की एक शाखा है जिसके अन्तर्गत कृषको द्वारा धन-प्राप्ति एव धन के व्यय की क्रियाओ के अध्ययन का समावेश होता है। फार्म-प्रबन्ध, कृषि-अर्थशास्त्र का एक भाग है जिसके अन्तर्गत अधिकतम लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से फार्म के प्रबन्ध का ज्ञान सम्मिलित होता है। फार्म-प्रबन्ध एव कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन मे निम्न स्तर पाये जाते हैं—

1. कृषि-अर्थशास्त्र, कृषि-विज्ञान की एक शाखा है जबकि फार्म-प्रबन्ध,

कृषि-अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं जैसे उत्पादन-अर्थशास्त्र, कृषि-विपणन, कृषि-वित्त, ग्रामीण अर्थशास्त्र के समान एक शाखा है।

2 फार्म-प्रबन्ध के अध्ययन की इकाई एक फार्म होती है जबकि कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाई कृषक समूह अथवा कृषक समाज होता है। कृषि-अर्थशास्त्र फसल-उत्पादन, पशुपालन, कृषि की उन्नत विधियो के ज्ञान के आधार पर देश या क्षेत्र के कृषको के हितो की समूहिक रूप मे व्याख्या करता है। फार्म प्रबन्ध एक ही फार्म या कृषक के लिए उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति की व्याख्या करता है।

3 फार्म-प्रबन्ध का उद्देश्य प्रत्येक कृषक को अपने फार्म से अधिकतम निरन्तर लाभ की राशि प्राप्त कराना है जबकि कृषि-अर्थशास्त्र का उद्देश्य क्षेत्र के कृषको को अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कराते हुए उनके रहन-सहन के स्तर मे सुधार एव कल्याण की मनोकामना करना है।

4 अध्ययन की दृष्टि से कृषि-अर्थशास्त्र समष्टिमूलक तथा फार्म-प्रबन्ध व्यष्टिमूलक होता है।

फार्म-प्रबन्ध का क्षेत्र

फार्म-प्रबन्ध का क्षेत्र व्यापक है जिसमे निम्न ज्ञान सम्मिलित होता है —

1 फार्म प्रबन्ध का क्षेत्र व्यष्टिमूलक (Micro economic) होता है। इसमे प्रत्येक फार्म को पृथक् इकाई मानकर निणय लिया जाता है। अतः फार्म पर लिए जाने वाले विभिन्न निर्णय जैसे फसलो का चुनाव, उर्वरको का प्रयोग, कृषि यन्त्रो का उपयोग आदि क्रियाएँ फार्म-प्रबन्ध के क्षेत्र मे सम्मिलित होती है।

2. फार्म-प्रबन्ध मे अनुसधान, प्रशिक्षण एव प्रसार नामक तीनो क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। कृपको की विभिन्न आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अनुसन्धान करना होता है। आर्थिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक आकडे सर्वेक्षण-विधि द्वारा एकत्रित किये जाते है। एकत्रित आँकडो के विश्लेषण से प्राप्त अनुसन्धान परिणाम प्रशिक्षण की सहायता से प्रसार-कार्यकर्त्ताओं तक पहुँचाए जाते हैं। प्रसार-कार्यकर्त्ता प्राप्त ज्ञान को प्रसार-विधियो के माध्यम से कृपको तक पहुँचाते हैं। अत. अनुसधान प्रशिक्षण एव प्रसार तीनों ही फार्म-प्रबन्ध के क्षेत्र मे आते हैं।

3 फार्म योजना बनाने का कार्य फार्म-प्रबन्ध के क्षेत्र मे सम्मिलित है। फार्म पर विभिन्न कृषि कार्यों को करने की फार्म-योजना बनाई जाती है। फार्म-योजना मे फार्म पर किये जाने वाले सभी कार्यक्रमो की सूची तैयार की जाती है, जिससे सभी कार्य फार्म पर समय पर एव बिना किसी

कठिनाई के हो जाते हैं। फार्म-योजना बनाने का ज्ञान फार्म-प्रबन्ध विषय से प्राप्त होता है।

अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि फार्म-प्रबन्ध का क्षेत्र काफी व्यापक होता है।

कृषि-व्यवसाय के सफलता के नियम :

प्रत्येक व्यवसाय की सफलता के लिए कुछ नियम होते है जिनके ज्ञान से व्यवसायी अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करता है एव उसका व्यवसाय सफलीभूत होता है। कृषि भी एक व्यवसाय है, जिसकी सफलता के निम्न तीन नियम हैं, जिनके द्वारा कृषक फार्म से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कर सकते हैं।[15]

1. क्षेत्र की कृषि-क्रियाओं, विधियो एव कृषि-परिस्थितियो का ज्ञान :

कृषि-व्यवसाय की सफलता के लिए कृषिक-प्रबन्धक को क्षेत्र मे विभिन्न फसलो को उत्पादित करने की प्रचलित विधियो एव क्रियाओ का ज्ञान होना आवश्यक है। विभिन्न क्षेत्रों मे भूमि, जलवायु, आर्थिक एव सामाजिक कारको की विभिन्नता के कारण फसलो को उत्पादित करने की क्रियाओ एव विधियो मे बहुत असमानता पायी जाती है। क्षेत्र मे कृषि की प्रचलित विधियो के ज्ञान के बिना कृषक व्यवसाय मे सफल नही हो सकते हैं। प्रचलित कृषि विधियो एव क्रियाओ का प्रायोगिक ज्ञान कृषक-प्रबन्धक क्षेत्र के प्रगतिशील कृषको के फार्म पर देखकर प्राप्त कर सकते हैं। अतः कृषक-प्रबन्धक को कृषि-व्यवसाय की सफलता के लिए सर्वप्रथम क्षेत्र मे उत्पन्न की जाने वाली विभिन्न फसलो का प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

2. फसल एव पशुपालन उद्यमो के उत्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो का ज्ञान

कृषि व्यवसाय की सफलता का दूसरा नियम क्षेत्र मे विभिन्न उद्यमो के उत्पादन से सम्बन्धित सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एव तकनीकी ज्ञान का होना है। कृषि मे अनुसन्धान के कारण उत्पादन विधियो, फसलो की किस्मो, नए उर्वरको का उत्पादन, कीटनाशी दवाइयो का आविष्कार, पशु-प्रजनन विधि द्वारा नस्ल सुधार कार्यक्रम, पशुओ के लिए सन्तुलित आहार मे उत्पादन की मात्रा मे निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। उपर्युक्त विधियो के ज्ञान मे निरन्तर परिवर्तन के कारण फार्म से अधिकतम लाभ के लिए कृषको को प्रचलित तकनीकी विधियो का ज्ञान होना आवश्यक है। कृषक-प्रबन्धक विभिन्न फसलो एव पशुओ के विषय मे वैज्ञानिक ज्ञान, विश्वविद्यालयो, कृषि एवं पशुपालन विभाग, किसान-विद्यापीठ मे प्रशिक्षण प्राप्त करके, रेडियो एव टेलीविजन से ग्रामीण कृषक-कार्यक्रम सुनकर, विभिन्न

15. J. N. Effersen, Principles of Farm Management, McGraw Hill Book Company, INC, Newyork, 1953, pp. 2-9.

पत्रिकाओ का अध्ययन करके एवं समीप के प्रसार-अधिकारियो से सम्पर्क स्थापित करके प्राप्त कर सकते हैं।

3 फार्म-प्रबन्ध से व्यावसायिक सिद्धान्तों का ज्ञान :

कृषि-व्यवसाय की सफलता का तीसरा नियम कृषक-प्रबन्धक को फार्म-प्रबन्ध के व्यावसायिक सिद्धान्तो के ज्ञान का होना है। प्राचीनकाल मे प्रबन्ध के व्यावसायिक सिद्धान्तो के ज्ञान की कृषको को आवश्यकता प्रतीत नही होती थी, क्योकि कृषक कृषि को व्यवसाय के रूप मे न लेकर जीविका-निर्वाह के रूप मे लेते थे, जिसके कारण वे व्यवसाय से प्राप्त लाभ की ओर विशेष ध्यान नही देते थे। वर्तमान मे कृषक कृषि को व्यवसाय के रूप मे लेते हैं। उत्पादन के लिए उत्पादन-साधनो की अधिकाश मात्रा बाजार से क्रय करते है। अत. वर्तमान मे कृषि व्यवसाय से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिये फार्म-प्रबन्ध के व्यावसायिक सिद्धातो का ज्ञान कृषको को होना आवश्यक है। व्यावसायिक सिद्धान्तो का ज्ञान कृषको को फार्म पर निम्न प्रकार के निर्णय लेने मे सहायता करता है, जिनसे प्राप्त लाम की राशि मे वृद्धि होती है।

फार्म पर आवश्यक उत्पादन साधन— बीज, खाद, उर्वरक कीटनाशी दवाई आदि किस समय किस सस्था से क्रय करना चाहिए ?

फार्म से प्राप्त उत्पादो को किस समय एव कौनसी सस्था के माध्यम से विक्रय करना चाहिए ?

फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनो का किन उद्यमो मे उपयोग किया जाना चाहिए जिससे लाभ अधिकतम प्राप्त हो सके ?

उत्पादन की विभिन्न उपलब्ध विधियो मे से कौनसी विधि फार्म पर अपनानी चाहिए ? विभिन्न उत्पादन-साधनो की कितनी मात्रा का प्रति हैक्टर भूमि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए, जिससे सीमित उत्पादन-साधनो से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त हो सके ?

विभिन्न उद्यमो का, जो आपस मे पूरक (complementary), समपूरक (supplementary) एव प्रतिस्पर्धी (competitive) का सम्बन्ध रखते हैं, किस अनुपात मे सयोग किया जाए जिससे फार्म से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त हो सके ?

कृषि व्यवसाय को सफलता के लिए व्यावसायिक सिद्धान्त :

कृषि व्यवसाय की सफलता के लिए प्रमुख व्यावसायिक सिद्धान्त निम्न है—

1 कीमतो का ज्ञान—कृषको को फार्म से प्राप्त होने वाली आय की राशि, उत्पाद की मात्रा एव उनकी बाजार कीमत पर निर्भर होती है। कृषि उत्पादो की कीमतों मे विभिन्न समयो एव स्थानो पर बहुत विभिन्नता पाई जाती है। कृषको

को अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कीमतो की प्रवृत्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। कृषि एक जैविक क्रिया है, जिसके कारण कीमतों मे वृद्धि अथवा कमी होने से उत्पादन की मात्रा मे सामजस्य करना कृषको के नियन्त्रण मे नही होता है। अत. कृषको को फसल के चुनाव एव उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल निर्धारित करते समय उत्पादन काल मे कीमतो में होने वाले परिवर्तनो के आधार पर उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय लेने चाहिए।

2 **फार्म पर उद्यमो का चुनाव**–फार्म पर विभिन्न मौसम मे विभिन्न फसल उत्पन्न की जा सकती हैं। प्रत्येक फसल के उत्पादन से विभिन्न राशि मे लाभ प्राप्त होता है। अत कृषको के समक्ष समस्या होती है कि फार्म पर कौन-कौन से उद्यमो का चुनाव करे, जिससे लाभ की राशि अधिकतम प्राप्त हो सके। फार्म पर उद्यमो के चुनाव का निर्णय भूमि, जलवायु, उपलब्ध उत्पादन-साधनो की मात्रा, विपणन सुविधा एव प्राप्त होने वाले शुद्ध लाभ की राशि के आधार पर लेना चाहिए।

3 **उद्यमो का फार्म पर सयोग**–उद्यमो के चुनाव के पश्चात् विभिन्न उद्यमो को फार्म पर इस प्रकार सयोजित करना चाहिये जिसमे फार्म से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त हो सके। विभिन्न उद्यमो के सयोग करने एव क्षेत्रफल निर्धारित करने का निर्णय परिवार की खाद्यान्न आवश्यकता, पशुओ के लिए चारे की आवश्यकता, उद्यमो मे आपसी सम्बन्ध–पूरकता, सम्पूरकता अथवा प्रतिस्पर्धा आदि कारको को ध्यान मे रखते हुए करना चाहिए। जिससे प्रस्तावित उद्यमो के सयोग से लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त हो सके।

4 **उत्पादन विधि का चुनाव**–विभिन्न उद्यमो के उत्पादन अथवा विभिन्न क्रियाओ को करने की अनेक विधियाँ होती है। प्रत्येक विधि से कार्य करने पर लागत भिन्न भिन्न आती है। अत चुने हुए उद्यमो की उत्पादन-लागत मे कमी करने के लिए उत्पादन-विधि का चुनाव आर्थिक आधार पर करना चाहिए।

5 **उत्पादन-साधनो का क्रय**–कृषको को आवश्यक उत्पादन साधन जैसे—बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयाँ, उन्नत कृषि यन्त्र एव औजार बाजार से क्रय करने होते हैं। उत्पादन-साधनो की कीमतो में स्थान, समय एव विपणन सस्था के अनुसार विभिन्नता पाई जाती है। अत कृषको को निर्णय लेना होता है कि फार्म पर आवश्यक उत्पादन-साधन किस समय, सस्था एव स्थान से क्रय किया जावे, जिससे उनके क्रय पर कम से कम धन व्यय हो।

6 **कृषि उत्पादों का विक्रय**–कृषको को प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा फार्म से उत्पादित विभिन्न प्रकार के उत्पादो की मात्रा एव उनके विक्रय से प्राप्त कीमत पर निर्भर होती है। कृषि उत्पादो की कीमतो के विपणन-मौसम में पूर्ति की अधिकतम एव माँग की स्थिरता के कारण गिरावट होती है। विपणन-मौसम में विभिन्न मण्डियों मे कीमतो में बहुत अन्तर पाया जाता है। विपणन-मौसम की समाप्ति के साथ कीमतो का बढना शुरू होता है। इन सबके कारण विभिन्न समयो

मे कृषि उत्पाद के विपणन से प्राप्त कीमतो एव लाभ की राशि मे बहुत अन्तर पाया जाता है। अत कृषकों को उत्पादित माल के विक्रय से अधिकतम कीमत प्राप्त करने के लिए विपणन सम्बन्धी निर्णय पूरी तरह सोच समझ कर लेना चाहिये।

7 **वित्तीय व्यवस्था करना**–कृषि-व्यवसाय को सुचारू रूप से चलाने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। कृषकों के पास आवश्यक राशि मे पूँजी का साधारणतया अभाव होता है। कृषक कृषि कार्यो के लिये विभिन्न स्रोतो से पूँजी ऋण के रूप मे उधार लेते हैं। प्रत्येक ऋणदात्री सस्था की ऋण स्वीकृति की शर्ते, ब्याज-दर आदि मे बहुत विभिन्नता होती है। अत कम ब्याज दर एव आसान किश्तो पर ऋण की प्राप्ति के लिए कृषकों को उचित ऋणदात्री सस्था का चुनाव करना चाहिये।

8 **फार्म से प्राप्त आय का कृषि-व्यवसाय मे निवेश करना एव उसे सुरक्षित रखना**–फार्म से प्राप्त आय का कृषि-व्यवसाय मे निवेश करने एव निवेशित आय की सुरक्षा की व्यवस्था का भी कृषकों को ज्ञान होना आवश्यक है। इस ज्ञान के होने से कृषक फार्म से प्राप्त आय का ऐसे व्यवसायो मे निवेश करेंगे, जिनसे प्रति रुपया आय अधिक प्राप्त होती है तथा निवेशित व्यवसाय मे जोखिम कम होती है।

9 **घरेलू आवश्यकता की वस्तुओ का फार्म पर उत्पादन कर ।** कृषकों को फार्म से लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त करने के साथ साथ परिवार के सदस्यो के सन्तोष की ओर भी ध्यान देना होता है। अत विपणन के लिये विभिन्न फसलो के उत्पादन के साथ साथ परिवार के लिए आवश्यक खाद्यान्न, सब्जी तथा दालो की फसलें भी फार्म पर उत्पादित करनी चाहिये जिससे कृषक के परिवार के सदस्यो को अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो सके।

कृषि-व्यवसाय की सफलता के लिए व्यावसायिक सिद्धान्तो के अतिरिक्त फार्म-प्रबन्ध सिद्धान्त का ज्ञान होना भी आवश्यक है। फार्म प्रबन्ध सिद्धान्तों का विवेचन अगले अध्याय मे किया गया है।

□□□

अध्याय 6

फार्म-प्रबन्ध के सिद्धान्त

फसल तथा पशु-पालन उत्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो एव विधियों की पूर्ण जानकारी होते हुए भी फार्म से अनुकूलतम अथवा इष्टतम लाभ की राशि (Opt mum prof t) तब तक प्राप्त नही की जा सकती जब तक कृषको को फार्म-प्रबन्ध के सिद्धान्तो का पूर्ण ज्ञान नही होता है। फार्म-प्रब ध के सिद्धान्तो का ज्ञान कृषको को फार्म पर विभिन्न कृषि कार्यों को करने के सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे सह यता करता है। उदाहरणतया, फार्म पर विभिन्न फसलो के अन्तर्गत कितना क्षेत्रफल लेना चाहिए ? विभिन्न फसलो को किस अनुपात मे फार्म पर लेना चाहिए ? फार्म पर कौन-कौन से उद्यम अथवा फसलो का चुनाव करना चाहिये ? विभिन्न खेतो पर प्रति हैक्टर क्षेत्र मे कितनी मात्रा मे उर्वरक डालना चाहिये ? विभिन्न उत्पादन-साधनो को कब व कितनी मात्रा मे क्रय करना चाहिए ? उत्पादन के विभिन्न साधनो को किस अनुपात मे प्रतिस्थापित करना चाहिये, आदि ? इन सब महत्त्वपूर्ण क्रियाओ के करने से फार्म पर लागत होती है। यदि इन कार्यों को करने मे फार्म प्रबन्ध के सिद्धान्तो का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाय, तो फार्म पर होने वाली लागत मे कमी एव फार्म से प्राप्त होने वाले लाभ की राशि मे वृद्धि होती है। फार्म पर निर्णय फार्म-प्रबन्ध के सिद्धान्तो के ज्ञान के बिना भी लिए जा सकते हैं, परन्तु फार्म प्रबन्ध सिद्धान्तो के ज्ञान के आधार पर निर्णय शीघ्रतापूर्वक लिए जा सकते हैं तथा लिए गये निर्णय सही होते हैं।

फार्म प्रबन्ध के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

1 प्रतिफल का सिद्धान्त

   (अ) परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त,

   (ब) पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त,

2. न्यूनतम लागत का सिद्धान्त अथवा साधनो एव क्रियाओ के प्रतिस्थापन का सिद्धान्त,

3 सम-सीमान्त प्रतिफल का सिद्धान्त अथवा सीमित साधन एव अवसर परिव्यय का सिद्धान्त,

4 लागत का सिद्धान्त,

5. उद्यमो के सयोग का सिद्धान्त अथवा उद्यमो के प्रतिस्थापन का सिद्धान्त,

6 तुलनात्मक समय का सिद्धान्त, एव

7. तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त ।

फार्म पर एक ही निर्णय के लिए एक से अधिक फार्म-प्रबन्ध के सिद्धान्तो का भी प्रयोग किया जाता है । *फार्म-प्रबन्ध के सिद्धान्तो का विस्तृत विवरण आगे दिया गया है ।*

1. प्रतिफल का सिद्धान्त

प्रतिफल का सिद्धान्त दो प्रकार का होता है—

(अ) परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त—परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त मे उत्पादन के लिए आवश्यक विभिन्न उत्पादन साधनो मे से एक या एक से अधिक साधनो की मात्रा मे परिवर्तन होता है, जबकि उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य सभी साधनो की मात्रा स्थिर रहती है जैसे उर्वरक की मात्रा मे परिवर्तन होता है तथा उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य साधन—भूमि का क्षेत्र, सिंचाई की सख्या, श्रम आदि की मात्रा स्थिर रहती है, अर्थात् इन साधनो की मात्रा मे कोई परिवर्तन नही होता है—

उत्पादन-साधनो के परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त मे प्रतिफल तीन दर से प्राप्त होता है—

(अ) ह्रासमान दर प्रतिफल,
(ब) सामान दर प्रतिफल,
(स) वर्द्धमान दर प्रतिफल ।

प्रतिफल के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व, सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए निम्न शब्दो एव उनमे आपस मे पाए जाने वाले सम्बन्धो की व्याख्या करना आवश्यक है—

कुल उत्पाद—उत्पादन साधन की विभिन्न मात्रा का प्रयोग करने से जो उत्पाद की मात्रा प्राप्त होती है, उसे कुल उत्पाद (Total product) कहते हैं । उत्पादन-साधन की विभिन्न मात्राओं के उपयोग से प्राप्त कुल उत्पादन की मात्रा भी विभिन्न होती है ।

औसत उत्पाद—औसत उत्पाद (Average product) से तात्पर्य उत्पादन-

साधन की औसत उत्पादकता से है। औसत उत्पाद, कुल उत्पाद एव प्रयुक्त उत्पादन-साधन की मात्रा का अनुपात होता है। उत्पादन साधन की विभिन्न मात्राओ के प्रयोग से प्राप्त होने वाले कुल उत्पाद की मात्रा मे उत्पादन-साधन की मात्रा का भाग देने पर प्राप्त प्रतिफल औसत उत्पाद कहलाता है। उदाहरणार्थ यदि भूमि के एक इकाई क्षेत्र मे 20 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक के उपयोग से 8 क्विण्टल कुल उत्पाद प्राप्त होता है तो प्रति किलोग्राम नत्रजन उर्वरक से औसत उत्पाद (8 ÷ 20)=0 40 क्विण्टल प्राप्त होता है। अतः सूत्र के अनुसार,

$$\text{औसत-उत्पाद} = \frac{\text{कुल उत्पाद की मात्रा } (Y_1}{\text{उत्पादन-साधन की कुल मात्रा } (X_1)}$$

सीमान्त उत्पाद–एक इकाई अतिरिक्त उत्पादन-साधन की मात्रा के उपयोग से जो उत्पाद की मात्रा मे अतिरिक्त वृद्धि होती है, उसे सीमान्त उत्पाद (Marginal Product) कहते हैं। परिवर्तनशील उत्पादन-साधन के किसी भी स्तर के लिए सीमान्त-उत्पाद, कुल उत्पाद की वृद्धि की मात्रा मे, उत्पादन-साधन मे की गई वृद्धि की मात्रा का भाग देकर ज्ञात किया जाता है। सीमान्त उत्पाद ज्ञात करने का सूत्र निम्न होता है :—

$$\text{सीमान्त-उत्पाद} = \frac{\text{कुल उत्पाद की मात्रा मे परिवर्तन } (\triangle Y)}{\text{उत्पादन-साधन की मात्रा मे परिवर्तन } (\triangle X}$$

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि सीमान्त एव औसत उत्पाद, कुल उत्पाद की मात्रा से ज्ञात किये जाते हैं। उत्पादन-साधन के विभिन्न मात्रा मे उपयोग करने से प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा से औसत व सीमान्त-उत्पाद ज्ञात करने की विधि सारणी 6 1 मे प्रदर्शित की गई है।

सारणी 6 1

कुल उत्पाद की मात्रा से सीमान्त एव औसत उत्पाद ज्ञात करना

उत्पादन-साधन (उर्वरक) की इकाइयाँ (X)	प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा (Y)	औसत-उत्पाद $\left(\frac{Y_1}{X_1}\right)$	सीमान्त उत्पाद $\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)$	अन्य विवरण
0	0	0		
1	3	3	3	
2	7	3 50	4	वर्द्धमान दर मे उत्पादन मे वृद्धि
3	12	4 00	5	
4	18	4 50	6	समान दर से उत्पादन मे वृद्धि
5	24	4 80	6	
6	29	4 83	5	
7	32	4 57	3	ह्रासमान दर मे उत्पादन मे वृद्धि
8	33	4 12	1	
9	33	3 66	0	
10	32	3 20	−1	कुल उत्पादन मे कमी
11	30	2 72	−2	

उपर्युक्त उदाहरण मे एक उत्पादन-साधन (उर्वरक) की मात्रा मे परिवर्तन होने से प्राप्त कुल उत्पाद, औसत उत्पाद एव सीमान्त की मात्राएँ प्रदर्शित की गई हैं। इसमे यह मान्यता है कि उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक अन्य सभी साधनो की मात्राओ मे कोई परिवर्तन नही होता है।

सारणी के आधार पर कुल उत्पाद, औसत उत्पाद एव सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखाएँ चित्र 6 1 मे प्रदर्शित की गई हैं ।
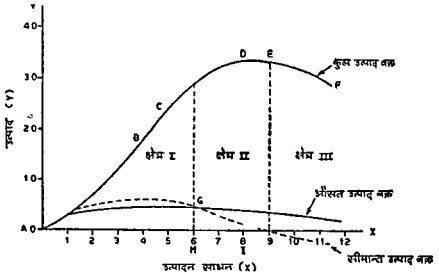
चित्र 6 1 कुल उत्पाद, सीमान्त उत्पाद एव औसत उत्पाद मे सम्बन्ध एव उत्पादन फलन के विभिन्न क्षेत्र

कुल उत्पाद एव सीमान्त उत्पाद मे सम्बन्ध—सारणी 6 1 एव चित्र 6 1 के आधार पर कुल उत्पाद एव सीमान्त उत्पाद मे निम्न सम्बन्ध पाए जाते हैं

(i) कुल उत्पाद मे वृद्धि की अवस्था मे (A से D बिन्दु के मध्य) सीमान्त उत्पाद धनात्मक, कुल उत्पाद मे कमी की अवस्था मे (E से F बिन्दु के मध्य) सीमान्त उत्पाद ऋणात्मक एव कुल उत्पाद की मात्रा मे परिवर्तन नही होने की अवस्था मे (E बिन्दु पर) सीमान्त उत्पाद की मात्रा शून्य होती है ।

(ii) सीमान्त उत्पाद मे वृद्धि की अवस्था में कुल उत्पाद मे वर्द्धमान दर से वृद्धि (A से B बिन्दु के मध्य), सीमान्त उत्पाद की मात्रा के समान रहने पर कुल उत्पाद मे समान दर से वृद्धि (B से C बिन्दु के मध्य), सीमान्त उत्पाद मे कमी होने की अवस्था मे कुल उत्पाद मे ह्रासमान दर से वृद्धि (C से E बिन्दु के मध्य) एव सीमान्त उत्पाद की मात्रा शून्य होने पर कुल उत्पाद स्थिर एव सर्वाधिक (E बिन्दु पर) होता है । इस स्तर पर कुल उत्पाद वक्र रेखा सबसे अधिक ऊँचाई पर होती है ।

सीमान्त उत्पाद एव औसत उत्पाद मे सम्बन्ध—सीमान्त उत्पाद एव औसत उत्पाद मे अग्रांकित सम्बन्ध पाये जाते हैं—

(i) सीमान्त उत्पाद की मात्रा मे वृद्धि होने पर औसत उत्पाद मे वृद्धि होती है। सीमान्त उत्पाद वक्र रेखा (A से G बिन्दु तक) के औसत उत्पाद वक्र रेखा से ऊपर होने की अवस्था मे औसत उत्पाद वक्र-रेखा ऊपर की ओर बढती जाती है। अर्थात् जब तक सीमान्त उत्पाद औसत उत्पाद से अधिक होता है औसत उत्पाद बढता रहता है।

(ii) सीमान्त उत्पाद के औसत उत्पाद से कम होने अथवा सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा के औसत उत्पाद वक्र-रेखा के नीचे आने पर (G से I एव उसके आगे तक) औसत उत्पाद कम होता है। अर्थात् जब तक सीमान्त उत्पाद की मात्रा औसत उत्पाद की मात्रा से कम होती है, औसत उत्पाद कम होता जाता है।

(iii) सीमान्त उत्पाद के औसत उत्पाद के समान होने के बिन्दु (G) पर औसत उत्पाद सर्वाधिक होता है। इसी बिन्दु से सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा औसत उत्पाद वक्र-रेखा से नीचे की ओर हो जाती है। सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा औसत उत्पाद वक्र रेखा को उसके अधिकतम बिन्दु (G) पर ऊपर से काटती है।

उत्पादन-फलन के क्षेत्र – उत्पादन-फलन को उत्पादन साधनो के इष्टतम उपयोग के निर्णय के आधार पर निम्न तीन क्षेत्रो/भागो मे विभक्त किया जाता है

(i) क्षेत्र I—उत्पादन फलन का प्रथम क्षेत्र उत्पादन के प्रारम्भ बिन्दु से उस बिन्दु तक होता है, जहाँ पर सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा, औसत उत्पाद वक्र-रेखा को काटती है (A से H उत्पाद-साधन के प्रयोग स्तर या 6 इकाई तक)। इस क्षेत्र मे औसत-उत्पाद की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है। सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा, औसत उत्पाद वक्र-रेखा से ऊपर होती है। जिस स्थान पर सीमान्त उत्पाद, औसत उत्पाद की मात्रा के बराबर होता है, वह बिन्दु इस क्षेत्र का अन्तिम बिन्दु होता है।

उत्पादन-फलन का यह क्षेत्र विवेकशून्य क्षेत्र (Irrational Zone) कहलाता है, क्योकि इस क्षेत्र मे उत्पादन करने पर उत्पादन साधन की मात्रा के बढाने से प्राप्त लाभ की मात्रा भी बढती जाती है। कृषक का उत्पादन करने का उद्देश्य लाभ कमाना ही नही होता, बल्कि लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त करना होता है। इस क्षेत्र मे औसत उत्पाद एव सीमान्त उत्पाद की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि होती है जिसके कारण उत्पादन साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई पहले से अधिक लाभ प्रदान करती है। अत इस क्षेत्र मे उत्पादन करने का निर्णय लेना उचित नही होता है।

(ii) क्षेत्र II – उत्पादन फलन का द्वितीय क्षेत्र उस बिन्दु से प्रारम्भ होता है, जहाँ पर सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा, औसत उत्पाद वक्र-रेखा को काटती है तथा

उस बिन्दु तक होता है जहाँ पर सीमान्त उत्पाद शून्य हो जाता है या सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा OX अक्ष को छूती है (चित्र 6 1 मे उत्पादन-साधन के प्रयोग स्तर 6 से 9 इकाई या H से I बिन्दु के मध्य मे)। इस क्षेत्र मे उत्पादन-साधन के प्रयोग से सीमान्त उत्पाद की मात्रा निरन्तर कम होनी जाती है तथा कुल उत्पाद मे वृद्धि ह्रासमान दर से होती है।

उत्पादन-फलन का यह क्षेत्र विवेकसगत क्षेत्र (Rational Zone) कहलाता है, क्योंकि इस क्षेत्र मे कृषको को उत्पादन करने के निर्णयो से सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। इस क्षेत्र मे कृषको द्वारा अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए अनुकूलतम उत्पादन-साधन की मात्रा ज्ञात करने की विधि का विवेचन अगले पृष्ठो मे किया गया है।

(iii) क्षेत्र III—उत्पादन-फलन का तृतीय क्षेत्र उस बिन्दु (उत्पादन-साधन के I बिन्दु अथवा 9 इकाई के आगे) से प्रारम्भ होता है जहाँ से सीमान्त उत्पाद की मात्रा शून्य से कम हो जाती है। इस पूरे क्षेत्र मे सीमान्त उत्पाद की मात्रा ऋणात्मक होती है जिसके कारण कृषको को प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा उत्पादन-साधन की मात्रा मे वृद्धि करने के साथ-साथ निरन्तर कम होती जाती है।

उत्पादन-फलन का यह क्षेत्र भी विवेकशून्य क्षेत्र (Irrational Zone) कहलाता है। इस क्षेत्र मे उत्पादन करने के निर्णय लेने से कृषको को दो प्रकार की हानियाँ होती हैं—

(अ) उत्पादन-साधन की अतिरिक्त प्रयुक्त मात्रा की लागत की हानि।

(ब) उत्पादन-साधन के प्रयोग से कुल उत्पाद मे हुई कमी से हानि।

कृषको को उत्पादन-साधन यदि बिना किसी लागत के भी प्राप्त होता है तब भी इस क्षेत्र मे उत्पादन नही करना चाहिए, क्योकि इस क्षेत्र मे उत्पादन करने से प्राप्त लाभ की राशि कम होती जाती है।

परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त मे प्रतिफल

परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त मे प्रतिफल तीन दर से होता है जिनका विस्तृत विवेचन नीचे दिया गया है—

(1) ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त :

कृषको के पास उत्पादन के लिए भूमि, पशु आदि स्थिर साधन एव श्रम, पूँजी, बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयां, सिंचाई, चारा, दाना आदि परिवर्तनशील साधन होते हैं। ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त मुख्यतया उस समय प्रदर्शित होता है जब कृषक भूमि के एक इकाई क्षेत्र या एक पशु से अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। उत्पाद की अधिक मात्रा की प्राप्ति के लिए वे परिवर्तनशील साधनो के प्रयोग की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि करते हैं, लेकिन प्रकृति की देन के

कारण जैसे-जैसे परिवर्तनशील साधन की मात्रा मे प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र अथवा प्रति पशु वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पाद की मात्रा में वृद्धि होती है किन्तु उत्पादन में वृद्धि की मात्रा क्रमशः पहले उत्पादन वृद्धि की मात्रा से निरन्तर कम होती जाती है। दूसरे शब्दो मे, परिवर्तनशील साधनों की विभिन्न इकाइयो में जो उत्पादन-वृद्धि ह्रासमान दर से होती है। इसे ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त कहते हैं। प्रो मार्शल[1] ने ह्रासमान प्रतिफल के सिद्धान्त को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया है—

"यदि साथ-साथ कृषि कला मे उन्नति नही होती है तो भूमि पर नियोजित श्रम एव पूंजी की मात्रा मे वृद्धि करने से सामान्यतः कुल उत्पाद मे अनुपात से कम वृद्धि होती है।"

कृषि के क्षेत्र मे प्रत्येक उत्पादन-साधन के प्रयोग के उदाहरण मे ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त पाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई कुल उत्पाद की मात्रा मे 25 इकाई वृद्धि करती है तो उत्पादन-साधन की दूसरी इकाई कुल उत्पाद मे पहले से कम अर्थात् 20 इकाई की वृद्धि करेगी। इसी प्रकार उत्पादन-साधन की तीसरी इकाई उत्पादन में 15 इकाई की वृद्धि एव चौथी उत्पादन-साधन की इकाई कुल उत्पाद की मात्रा मे 10 इकाई वृद्धि करती है। चित्र 6 2 उत्पादन का ह्रासमान प्रतिफल-सिद्धान्त प्रदर्शित करता है।

ह्रासमान प्रतिफल के सिद्धान्त मे प्राप्त कुल उत्पाद वक्र-रेखा उद्गम विन्दु से अवतल (Concave to the Origin) होती है। ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था मे निम्न सम्बन्ध पाये जाते हैं—

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} > \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} > \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} > \;\ldots\ldots > \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

चूंकि $\Delta_1 X = \Delta_2 X = \Delta_3 X \ldots = \Delta_n X$, अत ΔY की मात्रा *निरन्तर कम होती जाती है जिससे $\Delta Y/\Delta X$ का अनुपात उत्पादन-साधन की* मात्रा के वढने के साथ-साथ कम होता जाता है।

1. "An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture

—A. Marshall, Principles of Economics. Macmillan and Company, London, 1956, P. 125
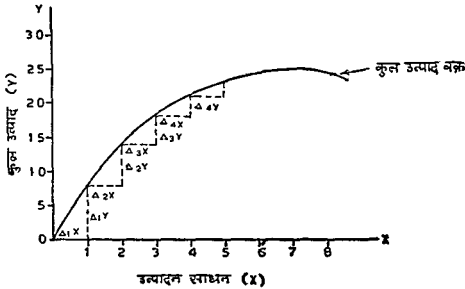
चित्र 6 2 ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था मे कुल उत्प दक-वक्र

ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त कृषि क्षेत्र मे सदैव लागू होता है, लेकिन निम्न स्थितियो मे यह सिद्धान्त कृषि क्षेत्र मे भी विलम्ब से लागू होता है—

(i) कृषि उत्पादन की विधि मे सुधार होने की स्थिति मे ।

(ii) उत्पादक-कृषक की निपुणता, कार्यकुशलता एव दक्षता मे वृद्धि होने की अवस्था मे ।

(iii) परिवर्तनशील साधनो—श्रम, पूंजी, खाद, उर्वरक, चारा, दाना, सिचाई के पानी आदि की इकाइयो का बहुत ही कम अथवा अल्प मात्रा मे प्रयोग किये जाने की अवस्था मे । परिवर्तनशील साधनो की प्रयुक्त की गई इकाइयो की मात्रा कम होने पर उत्पादन मे ह्रासमान प्रतिफल के प्रारम्भ होने मे विलम्ब होना स्वाभाविक होता है ।

कृषि के क्षेत्र मे ह्रासमान प्रतिफल सिद्धान्त लागू होने के कारण कृषको के सामने समस्या होती है कि फार्म पर उपलब्ध स्थिर साधनो के साथ परिवर्तनशील साधन—श्रम, पूंजी, उर्वरक आदि उत्पादन साधनो की कितनी मात्रा उपयोग मे लेनी चाहिए अथवा उत्पादन का कौन सा स्तर प्राप्त करना चाहिए जिससे प्रति हैक्टर भूमि या प्रति पशु सम्भावित लाभ की राशि अधिकतम प्राप्त हो सके ? उपर्युक्त निर्णयो मे कृषको का उद्देश्य स्थिर उत्पादन-साधनो से अधिकतम लाभ की

राशि प्राप्त करना होता है। फार्म-प्रबन्ध विज्ञान उपर्युक्त निर्णय लेने में सहायक होता है। फार्म-प्रबन्ध विज्ञान का उद्देश्य उत्पादन की अधिकतम भौतिक मात्रा प्राप्त करना न होकर, अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करना होता है। कृषकों द्वारा उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर परिवर्तनशील साधनों की काम में ली गई मात्रा, उनकी लागत व उनसे प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद के मूल्य के आधार पर ज्ञात किया जाता है।

ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था में निर्णय लेने का नियम—ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था में निर्णय लेने के नियम के अनुसार अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए परिवर्तनशील उत्पादन साधन की मात्रा में उस स्तर तक वृद्धि करते रहना चाहिए जब तक कि सीमान्त आय की राशि (Marginal Revenue or MR), सीमान्त लागत की राशि (Marginal Cost or MC) से अधिक होती है। सीमान्त आय एवं सीमान्त लागत की राशि के बराबर हो जाने की स्थिति के उपरान्त परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की मात्रा में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। इस स्तर पर प्राप्त उत्पादन की मात्रा कृषक को अधिकतम लाभ प्रदान करती है। उत्पादन की मात्रा अथवा परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की मात्रा में इस स्तर से आगे वृद्धि करने के प्रयास करने पर कृषकों को प्राप्त होने वाले कुल लाभ की राशि में कमी होती है।

ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था में परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की मात्रा का अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाला स्तर निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जाता है—

$$\frac{\text{उत्पाद की अतिरिक्त मात्रा}}{\text{उत्पादन-साधन की अतिरिक्त मात्रा}} \text{ का अनुपात } \frac{\text{उत्पादन-साधन की प्रति इकाई कीमत}}{\text{उत्पाद की प्रति इकाई कीमत}}$$

के अनुपात के बराबर होना चाहिए।

अर्थात् $\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{P_x}{P_y}$

$= \Delta Y P_y = \Delta X P_x$

जहाँ ΔY = उत्पाद की मात्रा में परिवर्तन,
ΔX = उत्पादन-साधन की मात्रा में परिवर्तन
P_x = उत्पादन-साधन की प्रति इकाई कीमत
P_y = उत्पाद की प्रति इकाई कीमत
$\Delta Y P_y$ = अतिरिक्त/सीमान्त आय
$\Delta X P_x$ = अतिरिक्त सीमान्त लागत

ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था मे निर्णय लेने का उदाहरण— एक कृषक फार्म पर एक हैक्टर गेहूँ की फसल मे नत्रजन उर्वरक की विभिन्न मात्राओ का उत्पादन-वृद्धि के लिये उपयोग करता है जिससे उत्पादन की सारणी 6.2 के अनुसार वृद्धि होती है । अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिये ज्ञात कीजिये की उत्पादन-साधन की कितनी मात्रा का निम्न कीमतो की अवस्था मे कृषक के लिये उपयोग करना लाभकर होगा :

(अ) नत्रजन उर्वरक 2 00 रु० प्रति किलोग्राम एवं गेहूँ 100 रु० प्रति क्विन्टल ।

(ब) नत्रजन उर्वरक 1.75 रु० प्रति किलोग्राम एव गेहूँ 75 रु० प्रति क्विन्टल ।

सारणी 6.2 मे नत्रजन उर्वरक की विभिन्न इकाइयो से प्राप्त प्रति हैक्टर गेहूँ का उत्पादन, उर्वरक उपयोग की अतिरिक्त लागत एव प्राप्त अतिरिक्त आय प्रदर्शित की गई है ।

उपर्युक्त उदाहरण उत्पादन मे ह्रासमान प्रतिफल के सिद्धान्त को प्रदर्शित करता है क्योकि प्रथम 10 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक से 20 क्विन्टल गेहूँ का उत्पादन होता है, द्वितीय 10 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक के उपयोग से कुल उत्पादन 23 क्विन्टल प्राप्त होता है अर्थात् 10 किलोग्राम अतिरिक्त नत्रजन उर्वरक से 3 क्विन्टल गेहूँ का अतिरिक्त उत्पादन होता है । नत्रजन उर्वरक की मात्रा 30 किलोग्राम करने पर कुल उत्पादन 25 क्विन्टल प्राप्त होता है अर्थात् जैसे जैसे नत्रजन उर्वरक की मात्रा मे वृद्धि की जाती है, वैसे-वैसे अतिरिक्त उत्पादन क्रमश. पहले की अपेक्षा कम होता जाता है ।

कीमतो के परिवर्तन से लाभप्रद उत्पादन के स्तर की मात्रा मे आने वाले परिवर्तन को प्रदर्शित करने के लिये सारणी मे गेहूँ एव नत्रजन उर्वरक की कीमतो के दो विभिन्न स्तर लिये गये हैं । नत्रजन-उर्वरक की कीमत 2 00 रु० प्रति किलोग्राम तथा गेहूँ की कीमत 100 रु० प्रति क्विन्टल होने की अवस्था मे कृषक को अधिकतम लाभ 60 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक के उपयोग से प्राप्त होता है । इस नत्रजन स्तर पर अतिरिक्त लागत 20 00 रु० और अतिरिक्त आय 25 00 रु० की होती है । अतिरिक्त आय, अतिरिक्त लागत से अधिक है । नत्रजन-उर्वरक का प्रयोग 70 किलोग्राम करने से कुल उत्पाद की मात्रा मे वृद्धि नही होती है, बल्कि कुल उत्पाद की मात्रा स्थिर रहती है, जिसके कारण अतिरिक्त लागत 20 रु० व अतिरिक्त आय शून्य होती है । कृषक द्वारा 70 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक का प्रयोग करने से फार्म पर 60 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक के उपयोग की अपेक्षा प्राप्त कुल

सारणी 6.2

नत्रजन उवरक की विभिन्न मात्राओ के उपयोग से प्राप्त गेहू के उत्पादन की अवस्था मे निर्णय लेना

(काल्पनिक आकडे)

क्रम सख्या	नत्रजन उर्वरक की मात्रा (किग्रा)	गेहूँ का प्रति हैक्टर कुल उत्पादन (क्विण्टल)	उर्वरक की सीमान्त मात्रा (किलोग्राम)	गेहूँ की सीमान्त मात्रा (क्विण्टल)	उर्वरक की अतिरिक्त/सीमान्त लागत 2 00 रु प्रति कि ग्रा की दर पर	उर्वरक की अतिरिक्त/सीमान्त लागत 1 75 रु प्रति कि ग्रा की दर पर	उत्पाद से प्राप्त अतिरिक्त सीमान्त आय 100 रु प्रति क्वि की दर पर	उत्पाद से प्राप्त अतिरिक्त सीमान्त आय 75 00 रु. प्रति क्वि की दर पर
	X	Y	ΔX	ΔY	MC	MC	MR	MR
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1	0	16 00						
			10	4 00	20 00	17 50	400	300
2	10	20 00						
			10	3 00	20 00	17 50	300	225
3	20	23 00						
			10	2 00	20 00	17 50	200	150

1	2	3	4	5	6	7	8	9
4	30	25 00						
			10	1.00	20 00	17 50	100	75
5	40	26.00						
			10	0 50	20 00	17 50	50	37.50
6	50	26 50						
			10	0 25	20 00	17 50	25	18.75
7	60	26 75						
			10	0 00	20 00	17 50	0	0
8	70	26.75						
			10	—0.25	20 00	17 50	—25	—18 75
9	80	26.50						

लाभ की राशि मे $(10 \times 2) = 20$ रु० की कमी होती है। अतः उपर्युक्त कीमत स्तर पर 60 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक ही कृषक को अधिकतम लाभ प्रदान करता है।

यदि गेहूँ की कीमत 75 रु० प्रति क्विण्टल एव नत्रजन उर्वरक की कीमत 2 रु० प्रति किलोग्राम हो तो 50 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक का उपयोग ही कृषक के लिए सबसे अधिक लाभकर होता है। नत्रजन उर्वरक का 60 किलोग्राम तक उपयोग करने से अतिरिक्त लागत 20 रु० आती है जबकि अतिरिक्त आय 18 75 रु की ही प्राप्त होती है। इससे प्राप्त कुल लाभ की राशि मे 1 25 रु० की कमी होती है। उर्वरक की कीमत 1 75 रु० प्रति किलोग्राम तथा गेहूँ की कीमत 100 रु० प्रति क्विन्टल होने पर 60 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक का उपयोग कृषक के लिए सबसे अधिक लाभकर होता है। इस प्रकार उत्पादन-साधन व उत्पाद की कीमतो मे परिवर्तन की अवस्था मे उत्पादन साधन का अधिकतम लाभकारी स्तर ज्ञात किया जाता है। उत्पादन साधनो का अधिकतम लाभकारी स्तर विभिन्न कीमतो की अवस्था मे विभिन्न होता है।

ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था मे परिवर्तनशील उत्पादन साधन की मात्रा का अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाला स्तर, सीमान्त आय एव सीमान्त लागत के आधार के सूत्र की सहायता से भी ज्ञात किया जा सकता है। सूत्र की सहायता से उत्पादन-साधन का अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाला स्तर ज्ञात करने मे समय कम लगता है। सूत्र द्वारा विभिन्न कीमतो के स्तर पर उर्वरक की अनुकूलतम मात्रा ज्ञात करने की विधि सारणी 6 3 प्रदर्शित की गई है।

उर्वरक की कीमत 2 00 रु प्रति किलोग्राम व गेहूँ की कीमत 100 रु प्रति क्विन्टल होने की अवस्था मे 60 किलोग्राम उर्वरक का उपयोग अधिकतम लाभ प्रदान करने वाला स्तर है क्योकि इस स्तर पर अतिरिक्त उत्पाद एव अतिरिक्त उत्पादन-साधन की मात्रा का अनुपात 0 025 है जबकि उनकी कीमतो का विलोम अनुपात 0 020 है। चूँकि यह अनुपात कीमतो के विलोम अनुपात से अधिक है तथा इसके बाद यह कम होता जाता है, अत इन कीमतो के स्तर पर 60 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक का उपयोग कृषक के लिए अनुकूलतम लाभ की राशि प्रदान करने वाला स्तर है। इसी उत्पादन-फलन मे उर्वरक की कीमत 1 75 रु प्रति किलोग्राम व गेहूँ की कीमत 100 रु प्रति क्विन्टल तथा उर्वरक की कीमत 1 75 रु प्रति किलोग्राम व गेहूँ की कीमत 75 रु प्रति क्विण्टल होने की दोनो ही अवस्थाओ मे 60 कि ग्रा नत्रजन उर्वरक के उपयोग-स्तर तक अतिरिक्त उत्पाद व अतिरिक्त उत्पादन साधन का अनुपात उनकी प्रति इकाई कीमतो के विलोम अनुपात से अधिक है। अत उपर्युक्त कीमतो की अवस्था मे भी 60 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक के उपयोग से कृषक

को अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त होती है। उपर्युक्त उत्पादन-फलन की अवस्था मे उर्वरक की कीमत 200 रु प्रति किलोग्राम तथा गेहूँ की कीमत 75 रु प्रति क्विण्टल होने पर 50 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक की मात्रा ही अधिकतम लाभ प्राप्त कराती है, क्योंकि 50 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक के स्तर पर अतिरिक्त उत्पाद एव अतिरिक्त उत्पान-साधन का अनुपात, उनकी कीमतो के विलोम अनुपात से अधिक होता है। इस स्तर के उपरान्त उर्वरक की मात्रा में वृद्धि करने पर कीमतो का विलोम अनुपात, अतिरिक्त उत्पाद व अतिरिक्त उत्पादन-साधन के अनुपात से अधिक होता जाता है जो लाभ की प्राप्त राशि मे कमी करता है।

इस प्रकार सीमान्त लागत एव सीमान्त आय की राशि अथवा सूत्र की सहायता से ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था मे परिवर्तनशील साधनो की अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाली मात्रा ज्ञात की जाती है।

(ii) समान प्रतिफल का सिद्धान्त

समान प्रतिफल के अन्तर्गत परिवर्तनशील उत्पादन साधन की प्रत्येक इकाई का जब स्थायी साधनो के साथ प्रयोग किया जाता है तो उससे प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमश समान होती है, अर्थात् परिवर्तनशील उत्पादन साधन की प्रत्येक इकाई, उत्पाद के उत्पादन मे समान मात्रा से वृद्धि करती है। कृषि क्षेत्र मे समान प्रतिफल का सिद्धान्त बहुत ही कम पाया जाता है। समान प्रतिफल का सिद्धान्त कृषि क्षेत्र मे निम्न दो अवस्थाओ मे ही साधारणतया पाया जाता है—

(1) उत्पादन के लिए आवश्यक किसी भी उत्पादन-साधन के स्थिर न होकर परिवर्तनशील होने की अवस्था मे समान प्रतिफल का सिद्धान्त पाया जाता है। जैसे—एक एकड भूमि, 50 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक, 8 बार सिंचाई एव 30 मानव-श्रम दिवस से 20 क्विण्टल गेहूँ उत्पन्न होता है, तो दूसरी एक एकड भूमि, 50 किलोग्राम नत्रजन उर्वरक, 8 बार सिंचाई एव 30 मानव-श्रम दिवस से भी 20 क्विण्टल गेहूँ उत्पन्न होगा।

(2) उत्पादन मे एक या एक से अधिक साधन स्थिर हो, लेकिन उनकी क्षमता का पूर्णरूप से उपयोग नही किया गया हो, अर्थात् उनकी क्षमता अधिशेष मात्रा मे हो।

समान प्रतिफल के सिद्धान्त का वक्र सीधी रेखा के रूप मे होता है तथा वक्र पर ढाल सभी स्थानो पर समान होता है। समान प्रतिफल की अवस्था मे निम्न सम्बन्ध पाया जाता है—

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} = \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} = \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} = \ldots\ldots\ldots = \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

सारणी 63

विभिन्न कीमतों के स्तर पर सूत्र द्वारा नत्रजन उर्वरक की अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाली मात्रा ज्ञात करना

नत्रजन उर्वरक की मात्रा (किलोग्राम) (X)	गेहूँ का प्रति हैक्टर कुल उत्पादन (क्विण्टल) (Y)	उत्पाद एव उत्पादन साधन की अतिरिक्त मात्रा का अनुपात $\left(\frac{\Delta Y_1}{\Delta X_1}\right)$	विभिन्न कीमतो की अवस्था मे उत्पाद एव उत्पादन-साधनो की कीमतो का विलोम अनुपात			
			P_x=2 00 रु P_y=100 रु	PX=1 75 रु PY=100 रु	PX=1 75 रु PY=75 रु	PX=2 00 रु PY=75 रु
1	2	3	4	5	6	7
0	16 00					
		0 40	0 02	0 0175	0 023	0 026
10	20 00					
		0 30	0 02	0 0175	0 023	0 026
20	23 00					
		0 20	0 02	0 0175	0 023	0 026
30	25 00					
		0 10	0 02	0 0175	0 023	0 026

1	2	3	4	5	6	7
40	26 00					
		0 05	0 02	0 0175	0 023	0 026
50	26 50					
		0 025	0 02	0 0175	0 023	0 026
60	26 75					
		0 00	0 02	0 0175	0 023	0 026
70	26 75					
		−0 025	0 02	0 0175	0 023	0 026
80	26 50					

सारणी 6 4 काल्पनिक आंकडो के आधार पर समान प्रतिफल के सिद्धान्त एव उनके अन्तर्गत निर्णय लेने की विधि को स्पष्ट करती है।

उदाहरण मे प्रत्येक उत्पादन साधन की एक इकाई (10 किलोग्राम उर्वरक) से समान मात्रा (2 क्विण्टल) मे अतिरिक्त उत्पाद प्राप्त होता है। उत्पादन-साधन की प्रत्येक इकाई के उपयोग मे समान राशि मे लाभ भी प्राप्त होता है, क्योंकि उत्पादन-साधन की एक इकाई का मूल्य उससे प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद के मूल्य से कम है। *समान प्रतिफल की अवस्था मे उत्पादन वृद्धि करने से लाभ की राशि मे निरन्तर वृद्धि होती है।* अत. उपर्युक्त उदाहरण मे 50 इकाई उत्पादन साधन के उपयोग से सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है।

समान प्रतिफल की अवस्था मे निर्णय लेने का नियम—समान प्रतिफल की *अवस्था मे यदि उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई का उपयोग लाभप्रद है तो आगे की सभी इकाइयां लाभप्रद होगी।* अत. जब तक समान दर से उत्पादन मे वृद्धि होती रहती है, *उत्पादन-साधन की इकाइयो मे वृद्धि करते रहना चाहिए।* *यदि उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई लाभप्रद नहीं है तो आगे की कोई की इकाई लाभप्रद नही होती है।* अत ऐसी अवस्था मे उत्पादन-साधन की किसी भी इकाई का उपयोग नही किया जाना चाहिए।

समान प्रतिफल की अवस्था का रेखीय चित्र—*समान प्रतिफल की अवस्था मे प्राप्त कुल उत्पाद वक्र सीधी रेखा होती है जो चित्र 6 3 मे प्रदर्शित है।*

(iii) वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त :

वर्द्धमान प्रतिफल के सिद्धान्त के अन्तर्गत परिवर्तनशील साधन की प्रत्येक इकाई का जब स्थिर साधनो के साथ उपयोग किया जाता है तो परिवर्तनशील साधन की प्रत्येक इकाई पहले वाली इकाई की अपेक्षा क्रमश अधिक मात्रा मे अतिरिक्त उत्पादन करती है अर्थात् कुल उत्पाद मे वर्द्धमान दर से परिवर्तन होता है। कृषि क्षेत्र मे वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त बहुत कम पाया जाता है। कृषि क्षेत्र मे सम्भवत. निम्न अवस्थाओ मे वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त पाया जाता है—

(अ) जब स्थिर उत्पादन-साधनो का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं हो रहा है अर्थात् उनमे उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता होती है।

सारणी 64
समान प्रतिफल का सिद्धान्त

उत्पादन-साधन की इकाइयाँ (किलोग्राम) (X)	कुल उत्पाद की मात्रा (क्विण्टल) (Y)	उत्पादन-साधन की सीमान्त मात्रा (किलोग्राम) ($\triangle X$)	उत्पाद की सीमान्त मात्रा (क्विण्टल) ($\triangle Y$)	उत्पाद व उत्पादन-साधन की सीमान्त मात्राओं का अनुपात $\left(\frac{\triangle Y}{\triangle X}\right)$	उत्पाद एव उत्पादन साधन की कीमतो का विलोम अनुपात PX=रु. 1 50 PY=रु 10 $\left(\frac{P_X}{P_Y}\right)$
1	2	3	4	5	6
0	12				
		10	2	0 2	0 15
10	14				
		10	2	0 2	0 15
20	16				
		10	2	0 2	0 15
30	18				
		10	2	0 2	0 15
40	20				
		10	2	0 2	0 15
50	22				

(ब) जब प्रारम्भ मे परिवर्तनशील उत्पादन साधन की उपयोग की गई इकाई की मात्रा बहुत कम होती है।

वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे प्राप्त कुल उत्पाद वक्र का ढाल उद्गम से उत्तल (Convex to the Origin) होता है तथा प्राप्त सम्बन्ध निम्न प्रकार का होता है—

$$\frac{\triangle_1 Y}{\triangle_1 X}<\frac{\triangle_2 Y}{\triangle_2 X}<\frac{\triangle_3 Y}{\triangle_3 X}< \dots <\frac{\triangle_n Y}{\triangle_n X}$$

अर्थात् उत्पादन-साधन की इकाइयो मे वृद्धि के साथ-साथ $\triangle Y/\triangle X$ का अनुपात क्रमशः बढ़ता जाता है।

वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे निर्णय लेने का नियम—वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था म भी निर्णय का नियम ह्रासमान प्रतिफल के सिद्धान्त के समान ही

होता है। अर्थात् जब तक उत्पाद व उत्पादन साधन की सीमान्त-दर का अनुपात उनकी विलोम कीमतों के अनुपात से अधिक है, तब तक उत्पादन-साधन की मात्रा में वृद्धि करते रहना चाहिए।

चित्र 6 3 समान प्रतिफल की अवस्था में कुल उत्पाद का वक्र

सारणी 6 5 काल्पनिक आँकडो के आधार पर वर्द्धमान प्रतिफल सिद्धान्त एव उसके अन्तर्गत निर्णय लेने की विधि स्पष्ट करती है। उदाहरण मे उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई का उपयोग लाभप्रद है। वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे आगे वाली सभी उत्पादन साधन की इकाइयाँ पहले वाली इकाई की अपेक्षा अधिक लाभप्रद होती हैं, जिससे उनके प्रयोग से लाभ की राशि मे निरन्तर वृद्धि होती है। अत वर्द्धमान प्रतिफल के सिद्धान्त मे यदि उत्पादन साधन की प्रथम इकाई लाभप्रद है तो आगे की सभी इकाइयाँ लाभप्रद होगी तथा प्रत्येक इकाई के उपयोग से लाभ की राशि क्रमश पहले से अधिक होती है। अत प्रस्तुत उदाहरण मे उत्पादन-साधन की 60 इकाइयो के उपयोग से कृषक को सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है।

वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था का रेखीय चित्र—वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे प्राप्त कुल उत्पाद वक्र चित्र 6 4 मे प्रदर्शित किया गया है।

(ब) पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त मे उत्पादन के सभी आवश्यक साधन परिवर्तनशील होते है अर्थात् कोई भी उत्पादन-साधन स्थिर मात्रा मे नही होता है। पैमाने के

प्रतिफल के सिद्धान्त का अध्ययन कृषको, राजनैतिक तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओ एव कृषि-अर्थशास्त्रियो के लिए आवश्यक होता है । पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त कृषकों को बडे अथवा लघु फार्म बनाने से सम्बन्धित समस्याओ के निर्णय लेने मे सहायक होता है । पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त राष्ट्रीय स्तर पर भी फार्म के आकार के निर्धारण मे सहायक होता है ।

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त मे उत्पादन-वृद्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन-साधनो की मात्रा मे वृद्धि की दर समान अथवा विभिन्न अनुपातो मे हो सकती है । यदि उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन-साधनो की मात्रा मे समान अनुपात मे वृद्धि की जाती है तो उसे शुद्ध पैमाने का सम्बन्ध (Pure Scale Relationship) कहते हैं । जैसे यदि उत्पादन साधन X_1 की मात्रा मे

सारणी 65.

वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त

उत्पादन-साधन की इकाइयाँ (किलोग्राम) (X)	उत्पाद की कुल मात्रा (क्विण्टल) (Y)	उत्पादन-साधन की सीमान्त मात्रा (किलोग्राम) (ΔX)	उत्पाद की सीमान्त मात्रा (क्विण्टल) (ΔY)	उत्पाद व उत्पादन-साधन की सीमान्त मात्रा का अनुपात $\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)$	उत्पाद व उत्पादन साधन की कीमतो का विलोम अनुपात $\left(\frac{P_X}{P_Y}\right)$ यदि PX=1.50 रु. PY=10 रु
10	10				
		10	2	0.2	0.15
20	17				
		10	3	0.3	0.15
30	15				
		10	4	0.4	0.15
40	19				
		10	5	0.5	0.15
50	24				
		10	6	0.6	0.15
60	30				

होता है। अर्थात् जब तक उत्पाद व उत्पादन साधन की सीमान्त-दर का अनुपात उनकी विलोम कीमतो के अनुपात से अधिक है, तब तक उत्पादन-साधन की मात्रा मे वृद्धि करते रहना चाहिए।

चित्र 6 3 समान प्रतिफल की अवस्था मे कुल उत्पाद का वक्र

सारणी 6 5 काल्पनिक आँकडो के आधार पर वर्द्धमान प्रतिफल सिद्धान्त एव उसके अन्तर्गत निर्णय लेने की विधि स्पष्ट करती है। उदाहरण मे उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई का उपयोग लाभप्रद है। वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे आगे वाली सभी उत्पादन-साधन की इकाइयाँ पहले वाली इकाई की अपेक्षा अधिक लाभप्रद होती हैं, जिससे उनके प्रयोग से लाभ की राशि मे निरन्तर वृद्धि होती है। अत: वर्द्धमान प्रतिफल के सिद्धान्त मे यदि उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई लाभप्रद है तो आगे की सभी इकाइयाँ लाभप्रद होगी तथा प्रत्येक इकाई के उपयोग से लाभ की राशि क्रमश पहले से अधिक होती है। अत प्रस्तुत उदाहरण मे उत्पादन-साधन की 60 इकाइयो के उपयोग से कृषक को सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है।

वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था का रेखीय चित्र—वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे प्राप्त कुल उत्पाद वक्र चित्र 6 4 मे प्रदर्शित किया गया है।

(ब) पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त मे उत्पादन के सभी आवश्यक साधन परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् कोई भी उत्पादन-साधन स्थिर मात्रा मे नही होता है। पैमाने के

प्रतिफल के सिद्धान्त का अध्ययन कृषकों, राजनैतिक तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं एवं कृषि-अर्थशास्त्रियों के लिए आवश्यक होता है। पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त कृषकों को बड़े अथवा लघु फार्म बनाने से सम्बन्धित समस्याओं के निर्णय लेने में सहायक होता है। पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त राष्ट्रीय स्तर पर भी फार्म के आकार के निर्धारण में सहायक होता है।

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में उत्पादन-वृद्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन-साधनों की मात्रा में वृद्धि की दर समान अथवा विभिन्न अनुपातों में हो सकती है। यदि उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन-साधनों की मात्रा में समान अनुपात में वृद्धि की जाती है तो उसे शुद्ध पैमाने का सम्बन्ध (Pure Scale Relationship) कहते हैं। जैसे यदि उत्पादन साधन X_1 की मात्रा में

सारणी 65

वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त

उत्पादन-साधन की इकाइयाँ (किलोग्राम) (X)	उत्पाद की कुल मात्रा (क्विण्टल) (Y)	उत्पादन-साधन की सीमान्त मात्रा (किलोग्राम) (ΔX)	उत्पाद की सीमान्त मात्रा (क्विण्टल) (ΔY)	उत्पाद व उत्पादन-साधन की सीमान्त मात्रा का अनुपात $\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)$	उत्पाद व उत्पादन साधन की कीमतों का विलोम अनुपात $\left(\frac{P_x}{P_Y}\right)$ यदि PX=1.50 रु. PY=10 रु
10	10				
		10	2	0.2	0.15
20	12				
		10	3	0.3	0.15
30	15				
		10	4	0.4	0.15
40	19				
		10	5	0.5	0.15
50	24				
		10	6	0.6	0.15
60	30				

चित्र 6 4 वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था मे कुल उत्पाद का वक्र

100 प्रतिशत वृद्धि की जाती है तो उत्पादन के लिये आवश्यक अन्य सभी उत्पादन-साधनो की मात्रा मे भी 100 प्रतिशत वृद्धि की जाती है । अत जब सभी उत्पादन-साधनो की मात्रा में समान अनुपात मे वृद्धि की जाती है तो उन्हे एक समुच्चय उत्पादन साधन के रूप मे मानकर विश्लेषण किया जाता है । यदि विभिन्न उत्पादन-साधनो की वृद्धि की दर विभिन्न होती है तो उसे पैमाने का परिवर्तनीय अनुपात का सम्बन्ध (Variable Proportion Scale Relationship) कहते है । जैसे उत्पादन साधन X_1 की मात्रा मे 100 प्रतिशत वृद्धि, उत्पादन-साधन X_2 की मात्रा मे 50 प्रतिशत वृद्धि, उत्पादन साधन X_3 की मात्रा मे 40 प्रतिशत वृद्धि उत्पादन-साधन X_4 की मात्रा मे 25 प्रतिशत वृद्धि आदि ।

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी उत्पादन साधनो की मात्रा मे समान अनुपात मे वृद्धि करने की अवस्था मे उत्पादन मे वृद्धि समान, वर्द्धमान एव ह्रासमान दर से हो सकती है, जिसके कारण पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त मे भी उत्पादन-वृद्धि की निम्न तीन दरें होती हैं—

(1) पैमाने के समान प्रतिफल का सिद्धान्त—इसके अन्तर्गत उत्पादन-

साधनो मे एक इकाई मात्रा से क्रमिक वृद्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमश समान रहती है।

(ii) पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त—इसके अन्तर्गत उत्पादन-साधनो मे एक इकाई मात्रा मे क्रमिक वृद्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमश· पहले की अपेक्षा अधिक होती जाती है।

(iii) पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त—इसके अन्तर्गत उत्पादन-साधनो मे एक इकाई मात्रा से क्रमिक वृद्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमश पहले की अपेक्षा कम होती जाती है।

1 परिवर्तनीय अनुपात प्रतिफल सिद्धान्त एव पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त मे अन्तर :

परिवर्तनीय अनुपात के प्रतिफल सिद्धान्त एव पैमाने के प्रतिफल सिद्धान्त मे निम्न अन्तर होते हैं —

(i) परिवर्तनीय अनुपात के प्रतिफल सिद्धान्त मे उत्पादन के लिए आवश्यक सभी उत्पादन साधनो मे परिवर्तन नही होता है। इसके अन्तर्गत उत्पादन के कुछ साधन स्थिर होते हैं और एक या अनेक साधनो की मात्रा मे परिवर्तन होता है। जैसे उर्वरक की मात्रा म परिवर्तन होता है तथा उत्पादन के लिये आवश्यक अन्य सभी साधन स्थिर मात्रा मे होते हैं। पैमाने के प्रतिफल मे उत्पादन के लिये आवश्यक सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् कोई भी उत्पादन-साधन स्थिर मात्रा मे नही होता है।

(ii) परिवर्तनीय अनुपात के प्रतिफल का सिद्धान्त साधारणतया एक उत्पादन-साधन की अनुकूलतम मात्रा अथवा परिवर्तनशील उत्पादन-साधन से अनुकूलतम उत्पादन-मात्रा ज्ञात करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जबकि पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त का उपयोग फार्म पर अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले फार्म के आकार अथवा सभी उत्पादन साधनो का अनुकूलतम उपयोग करने वाले फार्म के आकार को ज्ञात करने मे किया जाता है।

2. न्यूनतम लागत का सिद्धान्त/साधनों या क्रियाओ के प्रतिस्थापन का सिद्धान्त :

फार्म पर विभिन्न परिवर्तनशील साधनो की अनुकूलतम मात्रा ज्ञात करने के अतिरिक्त कृषकों की अन्य समस्याएँ भी होती हैं, जैसे अमुक कार्य को करने के लिये विभिन्न उपलब्ध विधियो मे से कौन-सी विधि उत्तम है। फसल की कटाई, खरपतवार-नियन्त्रण, उर्वरक-उपयोग, पशुओ का दूध निकालना, पशुओ को खिलाने के लिये चारे व दाने की उपलब्धि आदि अनेक कार्य हैं। प्रत्येक साधन/क्रिया की लागत

विभिन्न आती है, जिसके कारण कार्य को करने मे विभिन्न विधियो/साधनों मे कुल लागत भी विभिन्न आती है। साथ ही उत्पादन साधनो को विभिन्न दरो से प्रतिस्थापित भी किया जा सकता है। अत: कृषको की समस्या होती है कि अमुक कार्य को करने के लिये उत्पादन की कौन सी विधि या कौन से उत्पादन-साधन की कितनी मात्रा का प्रयोग किया जाए, जिससे कार्य करने की लागत कम से कम आए। अर्थात् कृषक उत्पादन-साधनो/क्रियाओ के सयोग का वह स्तर ज्ञात करना चाहता है, जहाँ उस कार्य को करने की लागत न्यूनतम आती है।

उत्पादन-साधनो/विधियो/क्रियाओ को जो एक-दूसरे के लिये प्रतिस्थापित की जा सकती है, तीन श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है :

(i) वे उत्पादन साधन/विधियाँ/क्रियाएँ, जो एक-दूसरे के लिये समान दर से प्रतिस्थापित की जा सकती हैं और जिनके उपयोग से उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन नही होता है। जैसे मानव-श्रम या दूध निकालने की मशीन द्वारा पशुओ का दूध निकालना, फसल की कटाई के लिये रीपर या मानव-श्रम का उपयोग करना; फसल की गहराई के लिये थ्रेसर या बैलो के श्रम का उपयोग करना, कुट्टी काटने के लिये कुट्टी की हाथ से चलने वाली मशीन अथवा ट्रैक्टर द्वारा कुट्टी कटवाना आदि।

(ii) वे उत्पादन-साधन/विधियाँ/क्रियाएँ, जो एक दूसरे के लिए विभिन्न दर से प्रतिस्थापित की जा सकती हैं और जिनके उपयोग से उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन नही होता है। जैसे— नत्रजन उर्वरक की पूर्ति के लिये उपलब्ध विभिन्न नत्रजन उर्वरक—यूरिया, अमोनियम सल्फेट, कैलशियम अमोनियम नाइट्रेट अथवा अन्य उर्वरको को विभिन्न अनुपातो मे मिलाना; सन्तुलित भोजन की पूर्ति के लिये विभिन्न चारे एव दाने को विभिन्न मात्रा मे मिलाना।

(iii) वे उत्पादन-साधन/विधियाँ/क्रियाएँ, जो एक-दूसरे के लिये प्रतिस्थापित की जा सकती हैं और जिनके उपयोग से उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन होता है। जैसे विभिन्न फसलो के देशी एव सकर/बौने किस्म के बीजो का उपयोग–देशी मक्का एव सकर मक्का के बीज, देशी किस्म एव बौनी किस्म के गेहूँ के बीज आदि।

विभिन्न उपलब्ध विधियो या क्रियाओ मे से एक विधि या क्रिया का चुनाव उत्पादन-साधनो की प्रतिस्थापन दर, विधि या क्रिया के उपयोग से होने वाली लागत व उनसे प्राप्त प्रतिफल की राशि पर निर्भर होता है। ऐसा माना जाता है कि उत्पादन प्रक्रिया मे प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न विधियो के प्रयोग से प्राप्त प्रतिफल

की मात्रा मे कोई परिवर्तन नही होता है। अत: प्रतिफल की मात्रा की समानता की अवस्था मे न्यूनतम लागत के निर्णय, विधियो की लागत एव उनकी प्रतिस्थापन दर के आधार पर ही लिये जाते हैं। प्रत्येक कृषक फार्म पर उत्पादन की न्यूनतम लागत लाने के लिये अधिक लागत वाले साधन/क्रिया के स्थान पर कम लागत वाले साधन/क्रिया का चुनाव करता है।

साधनो/विधियो/क्रियाओ की प्रतिस्थापन की समस्याओ को हल करने के लिये उनकी प्रतिस्थापन की दर व कीमतो का ज्ञान होना आवश्यक है। उत्पादन-साधनो के प्रतिस्थापन की दर व उनकी कीमतो का विलोम अनुपात निम्न प्रकार से ज्ञात किये जाते हैं :—

उत्पादन साधनो की प्रतिस्थापन की दर

$$=\frac{\text{प्रतिस्थापित किये गये साधन/क्रिया की इकाइयाँ}}{\text{वृद्धि किये गये साधन क्रिया की इकाइयाँ}}=\frac{-\triangle X_2}{\triangle X_1}$$

जबकि $\triangle X_2$ = प्रतिस्थापित साधन क्रिया मे परिवर्तन की मात्रा

$\triangle X_1$ = वृद्धि किये गये साधन/क्रिया मे परिवर्तन की मात्रा

साधनो/क्रियाओ की प्रतिस्थापन दर ($\triangle X_2/\triangle X_1$) का चिह्न ऋणात्मक होता है,[2] क्योकि जब एक साधन/क्रिया की मात्रा मे वृद्धि की जाती है तो दूसरे साधन/क्रिया की मात्रा मे कमी होती है।

कीमतो का विलोम अनुपात

$$=\frac{\text{वृद्धि किये गये साधन की प्रति इकाई कीमत}}{\text{प्रतिस्थापित किये गये साधन की प्रति इकाई कीमत}}=\frac{Px_1}{Px_2}$$

साधनो/क्रियाओ के प्रतिस्थापन को अवस्था मे निर्णय लेने के नियम—साधनों/क्रियाओ के प्रतिस्थापन की अवस्था मे निर्णय लेने के निम्न तीन मुख्य नियम होते हैं :—

(1) यदि साधनो/क्रियाओ की प्रतिस्थापन दर उनकी विलोम कीमतो के अनुपात से अधिक $\left(\frac{-\triangle X_2}{\triangle X_1}>\frac{Px_1}{Px_2}\right)$ है तो क्रियाओ के प्रतिस्थापन करने से फार्म पर लागत कम होती है। अतः उपर्युक्त अवस्था मे साधनो/क्रियाओ का प्रतिस्थापन उस स्थिति तक करते रहना चाहिये, जब तक दोनो अनुपात परस्पर समान नही हो जाते हैं।

2. साधारणतया लिखने मे ऋणात्मक चिन्ह का प्रयोग नहीं किया जाता है।

(ii) यदि साधनो/क्रियाओ की प्रतिस्थापन दर, उनकी विलोम कीमतो के अनुपात मे कम $\left(\frac{-\Delta X_2}{\Delta X_1} < \frac{Px_1}{Px_2}\right)$ है तो प्रतिस्थापन करने से फार्म पर लागत मे वृद्धि होती है । अत उपर्युक्त अवस्था मे प्रतिस्थापन नहीं करना चाहिये ।

(iii) यदि साधनो/क्रियाओ की प्रतिस्थापन दर उनकी विलोम कीमतो के अनुपात के बराबर $\left(\frac{-\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{Px}{Px_2}\right)$ है तो वह स्तर उत्पादन साधन के सयोग का न्यूनतम लागत का स्तर कहलाता है ।

विभिन्न साधनो क्रियाओं/विधियो के प्रतिस्थापन के निर्णय लेते समय मुख्य रूप से ध्यान रखना चाहिये कि जो उत्पादन-साधन/क्रिया प्रतिस्थापित की जाती है उसकी लागत जिस साधन/क्रिया द्वारा प्रतिस्थापित की जाती है उससे अधिक होनी चाहिये । साधनो क्रियाओ के प्रतिस्थापन का मुख्य उद्देश्य फार्म पर साधनो के लागत व्यय को कम करना होता है ।

एक निश्चित उत्पत्ति की मात्रा के लिए साधनो/क्रियाओ का प्रतिस्थापन निम्न दरो से होता है —

(i) समान दर से उत्पादन साधनो मे प्रतिस्थापन :

समान दर से उत्पादन-साधनो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे एक उत्पादन-साधन की प्रत्येक एक इकाई की वृद्धि दूसरे उत्पादन साधन की मात्रा मे क्रमश समान मात्रा मे प्रतिस्थापन करती है, जैसे—दूध निकालने की मशीन एव मानव-श्रम द्वारा पशुओ का दूध निकालना रीपर अथवा मानव श्रम द्वारा फसल की कटाई करना आदि । निम्न उदाहरण समान दर स उत्पादन साधनो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे निर्णय लेने की विधि को स्पष्ट करता है —

उदाहरण— एक फार्म पर 1000 लीटर दूध का उत्पादन होता है । फार्म पर मशीन एव मानव श्रम द्वारा पशुओ का दूध निकाला जा सकता है । निम्न आकडो के आधार पर न्यूनतम लागत स्तर ज्ञात कीजिये ।

1

सारणी 66

समान दर से उत्पादन साधनों के प्रतिस्थापन की अवस्था में न्यूनतम लागत स्तर ज्ञात करना

मशीन द्वारा दूध निकालना मशीनो की सख्या (X_1)	मानव-श्रम द्वारा दूध निकालना श्रमिको की सख्या (X_2)	विधियो की प्रतिस्थापन दर $\left(\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}\right)$	विधियो की विलोम कीमतो का अनुपात X_1=24 00 रु X_2= 3 00 रु $\left(\frac{Px_1}{Px_2}\right)$	एक हजार लीटर दूध निकालने की कुल लागत (रु०)
0	50			150
		10	8	
1	40			144
		10	8	
2	30			138
		10	8	
3	20			132
		10	8	
4	10			126
		10	8	
5	0			120

सारणी मे क्रियाओ की प्रतिस्थापन दर, उनकी विलोम कीमतो के अनुपात से अधिक है। साधन/क्रियाओ के सयोग के नियम के अनुसार मानव-श्रम के स्थान पर मशीन प्रतिस्थापित करने से लागत मे कमी होती जाती है। इस उदाहरण मे 1000 लीटर दूध निकालने की मशीन द्वारा कुल लागत 120 रु आती है जो मानव-श्रम द्वारा दूध निकालने अथवा मानव-श्रम एव मशीन के संयोग के उपयोग से कम है। उपर्युक्त प्रतिस्थापन दर व कीमतो की अवस्था मे मशीन द्वारा दूध निकालने मे लागत कम आती है। साधारणतया समान-दर से उत्पादन-साधनो/क्रियाओ के प्रतिस्थापन की अवस्था मे दोनो मे से एक उत्पादन-साधन का उपयोग न्यूनतम लागत स्तर प्रदान करता है।

(ii) ह्रास-दर से उत्पादन-साधनो मे प्रतिस्थापन ·

ह्रास-दर से उत्पादन-साधनो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे निश्चित उत्पत्ति के लिये एक उत्पादन-साधन की प्रत्येक एक इकाई की वृद्धि, दूसरे उत्पादन साधन की मात्रा मे क्रमश पहले की अपेक्षा कम मात्रा प्रतिस्थापित करती है। उदाहरण-तया, पशुओ को खिलाने के लिये विभिन्न चारे (सूखा एव हरा चारा) एक-दूसरे को ह्रास-दर से प्रतिस्थापित करते हैं। निम्न उदाहरण ह्रास-दर से उत्पादन-साधनो की प्रतिस्थापन अवस्था मे निर्णय लेने की विधि को स्पष्ट करता है।

उदाहरण— एक पशु से दैनिक 10 किलोग्राम दूध प्राप्त करने के लिये सूखा चारा 'क' एव हरा चारा 'ख' के निम्न सयोग उपयोग मे लाये जा सकते हैं। निम्न आकडो के आधार पर 10 किलोग्राम दूध दैनिक प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यूनतम लागत वाले चारे का सयोग ज्ञात कीजिये।

सारणी मे सूखे चारे की प्रत्येक इकाई, हरे चारे की पहले की अपेक्षा क्रमश कम मात्रा प्रतिस्थापित करती है। सूखा चारा 'क' व हरा चारा 'ख' के उपर्युक्त किसी भी सयोग को खिलाने से पशु से दूध की समान मात्रा प्राप्त होती है। इस स्थिति मे कृषक लागत कम करने के लिये न्यूनतम लागत वाले चारे का सयोग ज्ञात करना चाहता है। न्यूनतम लागत-सयोग वह है जहा पर साधनो की प्रतिस्थापन दर का अनुपात उनकी विलोम कीमतो के अनुपात के बराबर होता है।

सारणी मे 16 किलोग्राम सूखा चारा 'क' व 12 किलोग्राम हरा चारा 'ख' के सयोग तक प्रतिस्थापन दर विलोम कीमतो के अनुपात से अधिक है और उसके पश्चात् चारे की प्रतिस्थापन दर का अनुपात उनकी विलोम कीमतो के अनुपात से कम होता जाता है। साधनो के प्रतिस्थापन नियम के अनुसार 16 किलोग्राम सूखा चारा व 12 किलोग्राम हरा चारा का सयोग ही न्यूनतम लागत-सयोग है। इस सयोग की कुल लागत 3 20 रु० होती है जो अन्य सभी सयोगो की लागत से कम है। अतः पशु से 10 किलोग्राम दूध प्राप्त करने के लिये 16 किलोग्राम सूखा चारा व 12 किलोग्राम हरा चारा खिलाना चाहिये, क्योंकि यह स्तर न्यूनतम लागत का सयोग है।

सारणी 6 7

ह्रास दर से उत्पादन-साधनो के प्रतिस्थापन मे न्यूनतम लागत वाले चारे का सयोग ज्ञात करना

सूखा चारा 'क'	हरा चारा 'ख'	चारा 'क' की चारा 'ख' के लिए प्रतिस्थापन की दर	विलोम कीमतो का अनुपात चारा 'क' रु 14/क्वि. एव चारा 'ख' रु 8/क्वि	दस किलोग्राम दूध प्राप्त करने के लिये पशु को चारा खिलाने की कुल लागत
(किलोग्राम)	(किलोग्राम)	$\left(\frac{\Delta ख}{\Delta क}\right)$	$\left(\frac{Pक}{Pख}\right)$	(रु०)
10	30			3.80
		4 0	1 75	
12	22			3 44
		3 0	1 75	
14	16			3 24
		2 0	1 75	
16	12			3 20
		1 0	1 75	
18	10			3 32
		0 75	1 75	
20	8 5			3 48
		0 50	1 75	
22	7 5			3 68
		0 25	1 75	
24	7 0			3 92

समोत्पत्ति-वक्र—समोत्पत्ति-वक्र की विधि भी उत्पादन साधनो के इष्टतम सयोग को ज्ञात करने मे प्रयुक्त की आती है। चू कि दो उत्पादन-साधनो व एक उत्पाद के सम्बन्ध को ग्राफ की सहायता से स्पष्ट नही किया जा सकता, लेकिन समोत्पत्ति वक्र द्वारा उपर्युक्त सम्बन्ध को सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है। समोत्पत्ति-वक्र भी उदासीनता-वक्र (Indifference Curve) की तरह एक सामान्य किस्म का वक्र होता है। उदासीनता-वक्र दो वस्तुओ के उन विभिन्न सयोगो को दर्शाता है जो उपभोक्ता को समान सन्तोष प्रदान करते हैं। उसी प्रकार

समोत्पत्ति-वक्र भी दो साधनो के उन विभिन्न सयोगो को दर्शाता है जिनके उपयोग से उत्पाद की समान मात्रा प्राप्त होती है। समोत्पत्ति-वक्र पर प्रत्येक बिन्दु समान उत्पत्ति की मात्रा का द्योतक होता है।

समोत्पत्ति-वक्र की भी सामान्य विशेषताए वे ही हैं जो उदासीनता-वक्र की होती हैं, जैसे—दो समोत्पत्ति-वक्र एक-दूसरे को नही काटते हैं तथा समोत्पत्ति-वक्र दायी ओर नीचे की तरफ झुकता है। समोत्पत्ति-वक्र का नीचे की ओर ढाल एक साधन के लिये दूसरे साधन को प्रतिस्थापित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। किसी वस्तु की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने के लिये साधनो का जो सयोग आवश्यक होता है, वह एक साधन की मात्राओ को दूसरे साधन की मात्राओ से प्रतिस्थापित करके परिवर्तित किया जा सकता है। समोत्पत्ति-वक्र का ढलान सीमान्त उत्पत्ति की मात्राओ का अनुपात $\left(\frac{MPX_1}{MPX_2}\right)$ होता है।

पिछले पृष्ठो मे उत्पादन-साधनो के प्रतिस्थापन के सिद्धान्त को स्पष्ट करते समय उत्पादन-साधनो की दो विभिन्न प्रतिस्थापन दरो के आधार पर साधनो का इष्टतम सयोग ज्ञात किया गया था। उपर्युक्त समस्या को समोत्पत्ति-वक्र एव सम-लागत वक्र (Isocost Curve) द्वारा भी हल किया जा सकता है।

साधनो के ह्रासमान दर से प्रतिस्थापन की स्थिति में समोत्पत्ति-वक्र— साधनो के ह्रासमान दर से प्रतिस्थापन के उदाहरण मे प्राप्त समोत्पत्ति-वक्र चित्र 6.5 मे प्रदर्शित किया गया है।
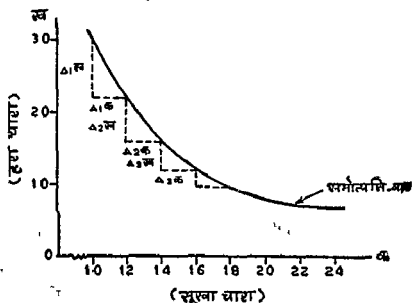
चित्र 6 5- साधनो के ह्रासमान दर से प्रतिस्थापन की स्थिति मे समोत्पत्ति-वक्र

उपर्युक्त चित्र मे प्राप्त समोत्पत्ति-वक्र पर विभिन्न बिन्दु उत्पादन-साधन (क) और उत्पादन-साधन (ख) के उन सयोगो को प्रदर्शित करते हैं, जिनसे उत्पत्ति की 10 इकाइयां प्राप्त होती हैं। ह्रासमान दर से प्रतिस्थापन की अवस्था मे समोत्पत्ति-वक्र कम ढालू (Less steep) होता है। साधनो की प्रतिस्थापन दर निम्न प्रकार से होती है—

$$\frac{-\Delta_1 ख}{\Delta_1 क} > \frac{-\Delta_2 ख}{\Delta_2 क} > \frac{-\Delta_3 ख}{\Delta_3 क} > \quad . \quad . \quad > \frac{-\Delta_n ख}{\Delta_n क}$$

अर्थात् इसके अन्तर्गत उत्पादन-साधन 'क' की प्रत्येक इकाई उत्पादन-साधन 'ख' को उत्तरोत्तर कम मात्रा मे प्रतिस्थापित करती है।

विभिन्न उत्पादन-स्तर की मात्राओ को भिन्न-भिन्न समोत्पत्ति-वक्रो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। अधिक उत्पादन-स्तर वाला समोत्पत्ति-वक्र अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई पर होता है। इस प्रकार एक ही चित्र मे विभिन्न उत्पादन की मात्राएँ प्रदान करने वाले समोत्पत्ति वक्रो को प्रदर्शित किया जा सकता है और प्राप्त चित्र को समोत्पत्ति वक्र का चित्र कहते हैं। विभिन्न समोत्पत्ति-वक्रो के लिए उत्पादन-साधनो के विभिन्न सयोगो की आवश्यकता होती है। चित्र 6 6 मे प्रत्येक समोत्पत्ति-वक्र उत्पादन की एक निश्चित मात्रा प्रदर्शित करता है।

साधनों के समान-दर से प्रतिस्थापन की स्थिति में समोत्पत्ति-वक्र—उत्पादन साधनो के समान-दर से प्रतिस्थापन की अवस्था मे प्राप्त समोत्पत्ति वक्र एक सीधी रेखा के रूप मे होता है। इसमे एक उत्पादन-साधन दूसरे उत्पादन-साधन को उत्तरोत्तर समान-दर से प्रतिस्थापित करता है। समान-दर मे साधनो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे समोत्पत्ति-वक्र का ढाल सभी बिन्दुओ पर समान होता है एव साधनों की प्रतिस्थापन दर अग्राकित होती है—
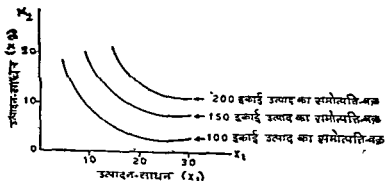
चित्र 6.6 उत्पाद की विभिन्न मात्राओ के लिए समोत्पत्ति-वक्र

$$\frac{-\Delta_1 X_2}{\Delta_1 X_1} = \frac{-\Delta_2 X_2}{\Delta_2 X_1} = \dots\dots\dots = \frac{-\Delta_n X}{\Delta_n X}$$

इस अवस्था मे प्राप्त समोत्पत्ति वक्र चित्र 6 7 मे प्रदर्शित किया गया है।
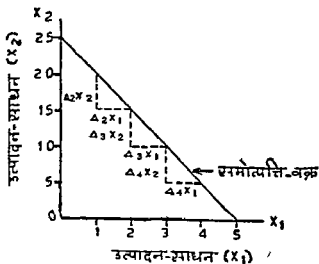
चित्र 6 7 साधनों के समान-दर से प्रतिस्थापन की स्थिति में समोत्पत्ति-वक्र

समोत्पत्ति-वक्र एव समलागत वक्र द्वारा न्यूनतम लागत वाले साधनों का सयोग ज्ञात करना

समोत्पत्ति वक्र एव समलागत-वक्र द्वारा न्यूनतम लागत वाले साधनो के सयोग को ज्ञात करने से पूर्व समलागत वक्र का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है।

समलागत-वक्र से तात्पर्य—समलागत-वक्र साधनो के उन विभिन्न सयोगो को प्रकट करता है जिन्हे कृषक उसके द्वारा किये जाने वाले लागत परिव्यय और प्रत्येक उत्पादन साधन की प्रति इकाई कीमत ज्ञात होने पर क्रय कर सकता है। साधनों के प्रत्येक सयोग (जो लागत परिव्यय की राशि से क्रय किये जा सकते है) की कुल लागत समान होती है।

उदाहरणतया कृषक के फार्म पर दूध निकालने के दो साधन x_1 और x_2 हैं। उनकी कीमतें क्रमश Px_1 और Px_2 है और कुल लागत परिव्यय की राशि C है। यदि कृषक केवल x_1 साधन का उपयोग करता है तो वह उसकी $\frac{C}{Px_1}$ इकाइयां क्रय

कर सकता है । यदि केवल x_2 साधन का उपयोग करता है तो इसको $\frac{C}{Px_2}$ इकाइयाँ क्रय कर सकता है । x और y अक्षो पर अंकित दो बिन्दुओ को मिलाने वाली एक सरल रेखा x_1 और x_2 साधनो के उन समस्त सयोगो को प्रकट करती है, जिन्हे कृषक अपने दिये हुए लागत-परिव्यय से क्रय कर सकता है । यह रेखा समलागत-वक्र कहलाती है । समलागत वक्र का ढाल निम्न प्रकार का होता है—

$$\frac{\frac{C}{Px_2}}{\frac{C}{Px_1}} = \frac{C}{Px_2} \times \frac{Px_1}{C} = \frac{Px_1}{Px_2}$$

जहाँ C=कुल लागत परिव्यय
P=प्रति इकाई कीमत
x_1 और x_2=उत्पादन-साधन

समलागत वक्र चित्र 6 8 मे प्रदर्शित किया गया है ।
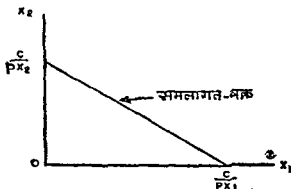
चित्र 6 8 समलागत-वक्र

चित्र 6 8 समलागत-वक्र

समोत्पत्ति-वक्र व समलागत-वक्र ज्ञात करने के पश्चात् साधनो के न्यूनतम लागत वाले सयोग को ज्ञात करने के लिए दोनो वक्रो को एक ही ग्राफ पेपर पर अंकित करते हैं । जिस बिन्दु पर समलागत-वक्र, समोत्पत्ति-वक्र का स्पर्शी (Tangent) होता है, वह बिन्दु उत्पादन-साधनो का न्यूनतम लागत का सयोग होता है । उत्पादन साधनो के न्यूनतम लागत सयोग-बिन्दु पर समोत्पत्ति-वक्र एव समलागत वक्र का ढाल बराबर होता है । इस प्रकार इस साम्य बिन्दु पर

$$\frac{MPX_1}{MPX_2} = \frac{-\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{Px_1}{Px_2}$$ की स्थिति होती है ।

समान-दर से साधनो के प्रतिस्थापन मे समोत्पत्ति-वक्र एवं समलागत-वक्र द्वारा साधनो के न्यूनतम लागत का संयोग बिन्दु ज्ञात करने की विधि चित्र 6 9 मे प्रदर्शित की गई है ।
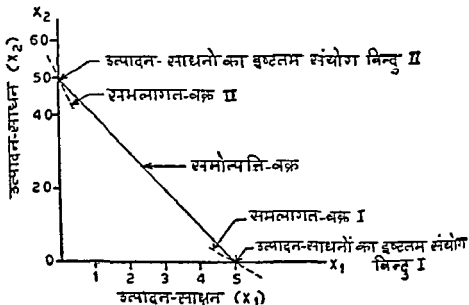
चित्र 6.9 समान-दर से साधनों के प्रतिस्थापन में समोत्पत्ति-वक्र एवं समलागत-वक्र द्वारा उत्पादन-साधनों का न्यूनतम लागत संयोग बिन्दु ज्ञात करना।

ह्रासमान दर से साधनों के प्रतिस्थापन में समोत्पत्ति-वक्र व समलागत-वक्र द्वारा साधनों के संयोग का न्यूनतम लागत-बिन्दु ज्ञात करने की विधि चित्र 6.10 में प्रदर्शित की गई है।
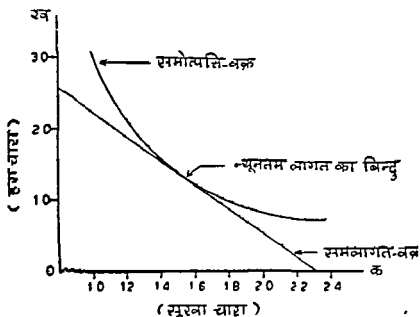
चित्र 6.10 ह्रासमान-दर से साधनों के प्रतिस्थापन में समोत्पत्ति-वक्र एवं समलागत-वक्र द्वारा उत्पादन-साधनों का न्यूनतम लागत संयोग-बिन्दु ज्ञात करना।

दो से अधिक उत्पादन-साधनों के उपयोग की अवस्था में न्यूनतम लागत संयोग ज्ञात करना :

पिछले पृष्ठो मे दो उत्पादन-साधनो के न्यूनतम लागत सयोग का विवेचन किया गया है। न्यूनतम लागत सयोग ज्ञात करने के निर्णय के लिये उत्पादन साधनो की प्रतिस्थापन दर के अनुपात को उनकी कीमतो के विलोम अनुपात के बराबर किया जाता है :

$$\frac{\Delta X_1}{\Delta X_2}=\frac{Px_2}{Px_1}$$

$$+X_1 \quad Px_1=\Delta X_2\, Px_2$$

प्रतिस्थापित साधन की लागत=वृद्धि किये गये साधन की लागत

उत्पादन-प्रक्रिया मे दो से अधिक उत्पादन साधन विधियाँ भी प्रयुक्त की जाती हैं जैसे नत्रजन की पूर्ति के लिये यूरिया, अमोनियम सल्फेट, कैलशियम अमोनियम नाइट्रेट उर्वरक प्रयुक्त किये जा सकते हैं। न्यूनतम लागत के निर्णय के उपर्युक्त नियम का दो से अधिक उत्पादन साधन/क्रियाओ के लिये भी उपयोग किया जा सकता है। उत्पाद की निश्चित मात्रा की प्राप्ति के लिये तीन उत्पादन-साधनो की न्यूनतम लागत का सयोग निम्न प्रकार से ज्ञात किया जाता है :

$$\frac{\Delta X_1}{\Delta X_2}=\frac{Px_2}{Px_1}$$

$$\frac{\Delta X_3}{\Delta X_2}=\frac{Px_2}{Px_3}$$

$$\frac{\Delta X_3}{\Delta X_1}=\frac{Px_1}{Px_3}$$

जबकि X_1, X_2 एवं X_3 तीन उत्पादन-साधन हैं।

3. **सम-सीमान्त प्रतिफल का सिद्धान्त अथवा सीमित-साधन और अवसर परिव्यय (वैकल्पिक लागत) का सिद्धान्त :**

कृषको के पास असीमित मात्रा मे उत्पादन-साधन होने की अवस्था मे साधनो के आवटन से सम्बन्धित समस्याएँ उत्पन्न नही होती हैं तथा वे विभिन्न उद्यमो को इच्छानुरूप स्तर मे अपना सकते हैं। बहुधा कृषको के पास पूँजी एव उत्पादन के अन्य साधन—भूमि, उर्वरक, श्रम, सिंचाई के लिए पानी आदि सीमित मात्रा मे होते हैं। उत्पादन-साधनो की सीमितता की अवस्था मे कृषक विभिन्न उद्यमो/फसलो को इच्छित मात्रा मे उत्पादित नही कर सकते हैं जिसके कारण कृषको की समस्या होती है कि सीमित उत्पादन-साधनो को विभिन्न उद्यमो/फसलो मे किस प्रकार आवटित

करें ताकि उपलब्ध सीमित उत्पादन-साधनो से फार्म पर अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त हो सके। उदाहरणतया क्षेत्रफल की सीमितता की अवस्था मे एक फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल मे वृद्धि तभी सम्भव है जब दूसरी फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल कम किया जाए। इसी प्रकार उर्वरक के सीमित मात्रा मे होने की स्थिति मे कृषक के लिए समस्या उत्पन्न होती है कि उपलब्ध उर्वरक की मात्रा को विभिन्न फसलो मे किस प्रकार आवटित करे ताकि उर्वरक के उपयोग से फार्म पर अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। सम सीमान्त प्रतिफल का सिद्धान्त अथवा सीमित साधनो एव अवसर परिव्यय का सिद्धान्त कृषको के लिए उपलब्ध सीमित साधनो के समुचित आवटन से सम्बन्धित समस्याओ को अधिकतम लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य के लिए हल करने मे सहायक होता है।

अवसर परिव्यय या लागत (Opportunity Cost) से तात्पर्य फार्म पर चुने गए विकल्प के बाद दूसरे उत्तम विकल्प से प्राप्त होने वाले मूल्य से है जो फार्म पर नही चुना गया है। फार्म पर नही चुने गए उद्यम से प्राप्त आय, चुने गये उद्यम की लागत कहलाती है।

सम सीमान्त प्रतिफल के सिद्धान्त का नियम—अवसर लागत के सिद्धान्त के अनुसार फार्म पर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए सीमित साधनो की प्रत्येक इकाई का विभिन्न उद्यमो/फसलो मे इस प्रकार उपयोग किया जाना चाहिये कि उत्पादन साधन की प्रत्येक इकाई से अधिकतम सीमान्त आय प्राप्त हो सके। कृषको को अधिकतम लाभ, सीमान्त-आय के ज्ञान के आधार पर निर्णय लेने से प्राप्त होता है। सम-सीमान्त-प्रतिफल के सिद्धान्त के अनुसार निर्णय लेने के लिये कृषको को निम्न आंकडो की आवश्यकता होती है :

(i) विभिन्न उद्यमो/वस्तुओ की कीमतें।

(ii) विभिन्न उद्यमों/वस्तुओ की उत्पादन-लागत।

(iii) एक वस्तु के उत्पादन से दूसरी वस्तु के प्रतिस्थापन द्वारा हुई उत्पत्ति की कम मात्रा।

उदाहरण, निम्न उदाहरण सम-सीमान्त प्रतिफल के सिद्धान्त द्वारा निर्णय लेने की विधि को स्पष्ट करता है :—

— एक कृषक के फार्म पर विभिन्न उद्यमो के उत्पादन के लिए 1000 रु० की सीमित पूंजी उपलब्ध है। कृषक उपलब्ध सीमित पूंजी से गेहूँ, चना, सरसो व दूध उत्पादन करना चाहता है। विभिन्न वस्तुओ मे 200 रु पूंजी की प्रत्येक इकाई निवेशित करने से निम्न प्रकार से सीमान्त आय (काल्पनिक आंकडे) प्राप्त होती है। ज्ञात कीजिए कि उपलब्ध सीमित पूंजी से अधिकतम आय की प्राप्ति के लिए विभिन्न उद्यमो मे कितनी पूंजी निवेश करना चाहिए ?

सारणी 68

फार्म पर विभिन्न उद्यमों मे पूँजी की विभिन्न राशि निवेशित करने से प्राप्त सीमान्त आय

पूँजी निवेश की राशि (रु)	विभिन्न उद्यमो से प्राप्त सीमान्त आय			(रुपये)
	गेहूँ	चना	सरसो	दूध
प्रथम 200	500 IV	400	600 I	550 II
द्वितीय 200	450	300	500 III	475 V
तृतीय 200	400	275	450	400
चतुर्थ 200	300	250	400	300
पचम 200	250	200	300	200
1000 रु की कुल पूँजी निवेश करने से प्राप्त कुल सीमान्त आय	1900	1425	2250	1925
प्रति रुपया निवेश से प्राप्त औसत आय	1 90	1 425	2 25	1 925

कृषक की सीमित पूँजी के उपयोग से विभिन्न उद्यमो मे सबसे अधिक 2250 रु की आय सरसो की फसल उत्पन्न करने से प्राप्त होती है। इस फसल से प्रति रुपया औसत आय 2.25 रु प्राप्त होती है। लेकिन अवसर लागत का सिद्धात औसत आय के अनुसार निर्णय न लेकर सीमान्त आय के आधार पर निर्णय लेने की सलाह देता है। अवसर लागत के सिद्धान्त के अनुसार प्रथम 200 रु सरसो उद्यम मे निवेश करना चाहिए क्योकि सरसो उद्यम स अन्य उद्यमो की अपेक्षा आय अधिक होती है। द्वितीय 200 रु का दूध-उत्पादन उद्यम मे निवेश किया जाना चाहिये क्योकि दूध उद्यम से प्राप्त आय अन्य सभी उद्यमो की अपेक्षा अधिक होती है। इस प्रकार अवसर लागत के सिद्धान्त के अनुसार कृषक को अपनी सीमित पूँजी मे से 400 रु सरसो उद्यम, 400 रु दूध उद्यम व शेप 200 रु गेहूँ उद्यम मे निवेशित करना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार से विभिन्न उद्यमो मे पूँजी निवेश करने से कृषक को 2625 रु की आय प्राप्त होती है, जो फार्म पर विभिन्न उद्यमो को वैयक्तिक रूप मे लेने या उद्यमों के अन्य सयोग पर पूँजी निवेश करने से प्राप्त आय से अधिक होती है। अत अवसर लागत का सिद्धान्त फार्म पर कृषको को प्राप्त होने वाली आय की राशि मे वृद्धि करता है।

अवसर-लागत का सिद्धान्त कृषकों की अन्य समस्याओ, जैसे-फसल की कटाई, गायटा, मक्का छीलने की मशीन का क्रय करने अथवा उन्हे किराये पर लेने आदि के सम्बन्ध में निर्णय लेने मे भी सहायक होता है ।

4 लागत का सिद्धान्त

फार्म-प्रबन्ध का यह सिद्धान्त कृषकों को फार्म पर होने वाली विभिन्न प्रकार की लागतो के आधार पर निर्णय लेने मे सहायता करता है । कृषि या अन्य उद्योगो मे होने वाली लागतें दो प्रकार की होती हैं

(अ) स्थिर या बंधी लागत—फार्म पर होने वाली वह सभी लागत, जो उद्यमो के उत्पादन की मात्रा मे किसी निश्चित योजनाकाल मे परिवर्तन नहीं लाती है, स्थिर लागत कहलाती है । स्थिर लागत का उद्यम के उत्पादन की मात्रा से सम्बन्ध नही होता है । अधिक उत्पादन होने या उत्पादन न करने या उत्पादन कम होने की सभी स्थितियो म स्थिर लागत समान रहती है । भूमि का लगान, प्राप्त ऋण का ब्याज, मशीनो का मूल्य-ह्रास, कर, फसल बीमा की किश्त की राशि, बिजली के मीटर का किराया आदि फार्म पर स्थिर लागत कहलाती है ।

(ब) परिवर्तनशील लागत—फार्म पर होने वाली वे सभी लागतें, जो उद्यमो के उत्पादन की मात्रा मे अल्पावधि मे परिवर्तन लाती है, परिवर्तनशील लागत कहलाती हैं । परिवर्तनशील लागत की राशि अधिक व कम करने पर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि व कमी होती है । उत्पाद की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए परिवर्तनशील लागत की राशि अधिक आती है । उत्पादन नही करने की स्थिति मे परिवर्तनशील लागत शून्य होती है । परिवर्तनशील लागत व उत्पाद की मात्रा मे *सीधा सम्बन्ध होता है । बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइया, श्रम, बिजली आदि* की लागत परिवर्तनशील लागत कहलाती है । स्थिर और परिवर्तनशील लागत के योग को कुल लागत कहते हैं । कुल आय-राशि मे से कुल लागत की राशि के घटाने पर जो राशि शेष रहती है, वह लाभ कहलाती है । अल्पावधि मे फार्म पर निर्णय लेने मे परिवर्तनशील लागतें ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, स्थिर लागत महत्त्वपूर्ण नही होती है ।

लागत के सिद्धान्त के नियम—इस सिद्धान्त के अनुसार फार्म पर निर्णय निम्न आधार पर लेना चाहिए

(1) यदि फार्म से प्राप्त कुल आय, कुल लागत से अधिक है, तो कृषक को उस समय तक कृषि करते रहना चाहिये जब तक कि फार्म से प्राप्त अतिरिक्त आय की राशि अतिरिक्त लागत की राशि से अधिक होती है । इस नियम के आधार पर निर्णय लेने से कृषको को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि मे निरन्तर वृद्धि होती है ।

(ii) यदि फार्म से प्राप्त कुल आय, कुल लागत की राशि से कम है परन्तु प्राप्त आय परिवर्तनशील लागत की राशि से अधिक है तो कृषको को अल्पावधि मे कृषि उस समय तक करते रहने का निर्णय लेना चाहिए जब तक कि प्राप्त अतिरिक्त आय की राशि, अतिरिक्त लागत की राशि से अधिक होती है। इस नियम के आधार पर निर्णय लेने से कृषको को होने वाली हानि की राशि मे कमी होती है।

(iii) यदि फार्म से प्राप्त कुल आय, परिवर्तनशील लागत की राशि से भी कम है तो कृषको को कृषि नही करने का निणय लेना चाहिए। कृषि करने से फार्म पर होने वाली हानि की राशि मे निरन्तर वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति मे भूमि को या तो परती छोड देना चाहिए अथवा दूसरो को बटाई पर दे देना चाहिए।

लागत के सिद्धान्त का उदाहरण—निम्न उदाहरण लागत के सिद्धान्त एव निर्णय लेने की विधि को स्पष्ट करता है—

उदाहरण 1 एक फाम पर वर्ष मे 56'0 रुपये की स्थिर व 10,000 रु की परिवतनशील लागत होती है। प्रतिवर्ष फार्म पर उपर्युक्त लागत करने से आगामी तीन वर्षों मे निम्न प्रकार से आय प्राप्त होने की सम्भावना है। ज्ञात कीजिये कि क्या कृषक को आगामी वर्षों में कृषि करनी चाहिए ?

प्रथम वप—सम्भावित आय रु 19,200

द्वितीय वर्ष—सम्भावित आय रु. 11,500

तृतीय वर्ष—सम्भावित आय रु 4,500

लागत के सिद्धान्त के नियमो के अनुसार कृषक को कृषि करने सम्बन्धित निर्णय विभिन्न वर्षों मे निम्न प्रकार से लेना चाहिए–

(अ) प्रथम वर्ष मे कृषक को फार्म से 19,200 रु की कुल आय प्राप्त होने की सम्भावना है जबकि वर्ष म कुल लागत 15,600 रु की आती है। कृषि करने से कृषक को 3,600 रु (19,200–15,600=3,600 रु) का शुद्ध लाभ प्राप्त होता है। अत प्रथम वर्ष म कृषि करना लाभकर है।

(ब) द्वितीय वर्ष मे कृषक को फार्म मे 11,500 रु की कुल आय प्राप्त होने की सम्भावना है जबकि फार्म पर वर्ष मे कुल लागत 15,600 रु की होती है। कृषि करने से कृषक 4,100 रु (15,600–11,500 =4,100 रु) की शुद्ध हानि होती है। लेकिन प्राप्त कुल आय की राशि, परिवर्तनशील लागत की राशि (रु 10,000) से अधिक है। इस अवस्था मे कृषक को कृषि नही करने से पूरी स्थिर लागत 5,600 रु की हानि होती है क्योकि कृषि करने अथवा नही

करने की दोनो ही अवस्थाओं मे स्थिर लागत समान रहती है। कृषक द्वारा कृषि करने की स्थिति मे 4,100 रु की ही हानि होती है। कृषि करने से हानि की राशि मे 1,500 रु की कमी होती है। अतः दूसरे वर्ष मे भी कृषक को कृषि करने का निर्णय लेना चाहिए।

(स) तृतीय वर्ष मे कृषक को फार्म से 4,500 रु की कुल आय प्राप्त होने की सम्भावना है। सम्भावित कुल आय की राशि, फार्म पर कुल लागत तथा परिवर्तनशील लागत की राशि से बहुत कम है। अतः लागत के सिद्धान्त के नियम तीन के अनुसार तृतीय वर्ष मे कृषि नही करने का निर्णय लेना चाहिए। इस वर्ष मे कृषि करने से फार्म पर कुल स्थिर लागत (5,600 रु) व शेष परिवर्तनशील लागत 5,500 रु. (10,000–4,500=5,500 रु.) अर्थात् कुल 11,100 रु. की हानि होती है तथा कृषि नही करने की अवस्था मे हानि मात्र स्थिर लागत 5,600 रु. की ही होती है।

उदाहरण 2. एक कृषक फार्म पर गेहूँ की फसल के उत्पादन मे फसल की कटाई के पूर्व अर्थात् मार्च माह तक 2,750 रु प्रति हैक्टर की लागत कर चुका है। अप्रैल माह मे मौसम की प्रतिकूलता के कारण गेहूँ की फसल से 1,500 रु प्रति हैक्टर की आय ही प्राप्त होने की सम्भावना रह जाती है। अप्रैल माह मे फसल की कटाई, गायटा व सफाई की परिवर्तनशील लागत शेष रह जाती है, जो 750 रु. प्रति हैक्टर है। क्या उपर्युक्त स्थिति मे कृषक को गेहूँ की फसल की कटाई करने का निर्णय लेना चाहिए?

कृषक को फार्म से प्राप्त होने वाली सम्भावित कुल आय 1,500 रु. कुल लागत की राशि 3,500 रु (,750 रु स्थिर + 750 रु परिवर्तनशील) से कम है; लेकिन सम्भावित आय, सम्भावित परिवर्तनशील लागत की राशि से अधिक है। लागत के सिद्धान्त के नियम दो के अनुसार कृषक को फसल की कटाई करने का निर्णय लेना चाहिए। फसल की कटाई का निर्णय लेने से कृषक को होने वाली हानि की राशि मे 750 रु की कमी होती है। चूंकि गेहूँ की फसल की कटाई करने पर हानि 2,000 रु प्रति हैक्टर तथा कटाई नही करने पर हानि समस्त स्थिर लागत 2,750 रु. की होती है। अतः कृषक को फसल की कटाई करने का निर्णय लेना चाहिए।

उदाहरण 3. एक फार्म पर एक एकड भूमि से उत्पन्न गेहूँ की मात्रा व उस पर होने वाली लागत के आँकड़े सारणी 6.9 मे प्रदर्शित हैं। यदि गेहूँ की कीमत 200 रु. प्रति क्विन्टल हो तो ज्ञात कीजिए कि कृषक को अधिकतम लाभ के लिए कितनी मात्रा मे गेहूँ का उत्पादन करना चाहिए?

सारणी 6.9

एक एकड़ भूमि से प्राप्त गेहूँ की मात्रा एवं उसकी विभिन्न लागतें

(रुपये में)

उत्पाद की मात्रा (क्वि)	कुल लागत	कुल आय	सीमान्त आय	सीमान्त लागत	औसत लागत
10	1500	2000			150.00
			200	140	
11	1640	2200			149.09
			200	145	
12	1785	2400			148.75
			200	155	
13	1940	2600			149.23
			200	160	
14	2100	2800			150 00
			200	175	
15	2275	3000			151 66
			200	215	
16	2490	3200			155 62
			200	220	
17	2710	3400			159 41

उदाहरण से स्पष्ट है कि सभी उत्पादन स्तरों पर प्राप्त कुल आय, कुल लागत की राशि से अधिक है। लागत सिद्धान्त के नियम एक के अनुसार कृषक को उस स्तर तक उत्पादन वृद्धि करते रहना चाहिए, जब तक कि प्राप्त अतिरिक्त आय, अतिरिक्त लागत के बराबर न हो जाय। उपर्युक्त उदाहरण में कृषक को 15 क्विन्टल प्रति एकड़ तक गेहूँ का उत्पादन करना चाहिए। उत्पादन के इस स्तर पर सीमान्त आय 200 रु व सीमान्त लागत 175 रु होती है। गेहूँ का उत्पादन 16 क्विन्टल प्रति एकड़ करने की अवस्था में सीमान्त लागत 215 रु व सीमान्त आय 200 रु होती है अर्थात् लागत 15 रु आती है, जिससे प्राप्त लाभ की राशि में 15 रु. की कमी होती है। अत. कृषक को अनुकूलतम लाभ 15 क्विंटल प्रति एकड़ गेहूँ उत्पादन करने की अवस्था में प्राप्त होता है।

कृषकों को निर्णय सीमान्त आय व सीमान्त लागत के आधार पर ही लेना चाहिए। औसत लागत के आधार पर निर्णय नहीं लेना चाहिये। गेहूँ के उत्पादन की औसत लागत 12 क्विन्टल प्रति एकड़ की मात्रा तक गिरती है और इसके उपरान्त उत्पादन में वृद्धि होने पर औसत उत्पादन-लागत में भी वृद्धि होती है।

औसत लागत के आधार पर निर्णय लेने मे 12 क्विन्टल प्रति एकड तक ही गेहूँ का उत्पादन करना चाहिये। उत्पादन के इस स्तर पर कृषक को लाभ तो प्राप्त होता है लेकिन अनुकूलतम लाभ की राशि प्राप्त नही होती है।

5 उद्यमो के सयोग/प्रतिस्थापन का सिद्धान्त।

फार्म-प्रबन्ध का यह सिद्धान्त फार्म पर विभिन्न उद्यमो,—खाद्यान्न, दालो, कपास, गन्ना, तिलहन, पशु-पालन, कुक्कुट-पालन, फल एव सब्जी की फसलो के सयोग ज्ञात करने एव विभिन्न उद्यमो के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्धो का विश्लेषण करता है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य कृषको द्वारा फार्म पर लिए जाने वाले विभिन्न उद्यमो से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करना है। उद्यमो के सयोग का सिद्धान्त, विभिन्न उद्यमो को फार्म पर किस अनुपात मे मिलाया जाए, समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, ताकि फार्म पर उपलब्ध उत्पादन साधनो से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

उद्यमो का सयोग, उद्यमो मे पाए जाने वाले सम्बन्ध के ऊपर निर्भर होता है। विभिन्न उद्यमो मे चार प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते है।

(i) असम्बद्ध/स्वतन्त्र उद्यम—असम्बद्ध उद्यम वे है जिनम आपस मे कोई सम्बन्ध नही होता है। एक उद्यम के स्तर मे वृद्धि करने से दूसरे उद्यम के स्तर पर कोई प्रभाव नही आता है। अर्थात् दोनो उद्यम एक-दूसरे से न तो उत्पादन साधनो के लिए स्पर्धा रखते हैं और न ही वे एक-दूसरे उद्यम की उत्पादन वृद्धि मे सहायक होते हैं। जब विभिन्न उद्यमो मे कोई सम्बन्ध नही होता है तो दोनो उद्यमो को पृथक् रूप से फार्म पर उत्पन्न करने का निर्णय लेना चाहिये। जैसे—खरीफ के मौसम मे बाजरा एव रबी के मौसम मे गेहूँ। उपर्युक्त उत्पादो मे असम्बद्धता की स्थिति तब पायी जाती है, जब फार्म पर उपलब्ध उत्पादन साधन असीमित मात्रा मे होते हैं।

(ii) सम्पूरक (Supplementary) उद्यम—जब विभिन्न उद्यम उत्पादन-साधनो के लिए न तो स्पर्धा करते हैं और न ही एक दूसरे की उत्पादन वृद्धि मे सहायक होते है, बल्कि उनका लेने से फार्म आय म वृद्धि होती है तो ऐसे उद्यमो को सम्पूरक उद्यम कहते है। सम्पूरक उद्यमो की अवस्था मे एक उत्पाद की मात्रा मे की गई वृद्धि अथवा कमी का दूसरे उत्पाद के उत्पादन स्तर पर कोई प्रभाव नही पडता है। उदाहरणतया खाद्यान्न उत्पादन के फार्म पर कुछ सख्या मे कुक्कुट पालना, दूध के लिए एक या दो दुधारू पशु रखना, कुछ फल वाले वृक्ष लगाना मधुमक्खी पालन करना आदि सम्पूरक उद्यम कहलाते हैं, क्योकि इनके साथ साथ करने से फार्म पर मुख्य फसल उद्यम के स्तर अथवा उत्पादन पर कोई विपरीत प्रभाव नही पडता है। साथ ही सम्पूरक उद्यम फार्म पर उपलब्ध बेकार अथवा अधिशेष उत्पादन-साधनो, जैसे—भूमि, भवन, चारा दाना आदि का सदुपयोग करके फार्म आय मे वृद्धि करते हैं।

चित्र 6 11 उद्यमो मे सम्पूरकता सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। यह रेखाचित्र दो उत्पादो (Y_1 एव Y_2) के उत्पादन-सम्भावना वक्र (Production posibility curve) को प्रदर्शित करते हैं, तथा इनके प्रत्येक बिन्दु पर उद्यमकर्त्ता समान कुल
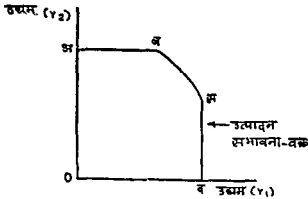
चित्र 6 11 उद्यमो मे सम्पूरकता का सम्बन्ध

लागत वहन करता है। अत उत्पादन-सम्भावना वक्र के ढलाव को सीमान्त लागतो के अनुपात के रूप मे (MCy_1/MCy_2) भी जानते हैं।

उद्यम Y_1 एव Y_2 मे अ से ब एव द से स स्तर तक सम्पूरकता का सम्बन्ध विद्यमान है। उद्यमो मे इस स्तर से आगे उत्पादन मे वृद्धि करने पर वे मुख्य उद्यम से उत्पादन साधनो के लिए स्पर्धा करने लगते हैं। सम्पूरक उद्यम के क्षेत्रफल अथवा स्तर मे वृद्धि करने के फलस्वरूप मुख्य उद्यम के क्षेत्रफल अथवा स्तर मे कटौती करनी होती है।

कुछ उद्यम आपस मे एक उत्पादन-साधन के लिए सम्पूरक होते हैं, लेकिन दूसरे उत्पादन-साधन के लिए स्पर्धा करते हैं, जैसे छोटे अनाज (Small Millets) एव मक्का। ये उद्यम एक ही मौसम मे बोये जाने के कारण भूमि के लिए आपस मे स्पर्धा करते है जबकि श्रमिको एव मशीनो के उपयोग के लिए ये सम्पूरक होते हैं, क्योकि दोनो उद्यमो मे कटाई, निराई गुडाई एव अन्य कृषि कार्यों का समय भिन्न होता है।

विभिन्न उद्यमो मे सम्पूरकता का सम्बन्ध पाए जाने की अवस्था मे दोनो उद्यमो का उस स्तर तक उत्पादन करते रहना चाहिए, जब तक कि उनमे सम्पूरकता का सम्बन्ध विद्यमान रहता है एव वैयक्तिक रूप से उनका उत्पादन लाभकर होता है। यदि सम्पूरक उद्यम से प्राप्त आय, उस पर होने वाली लागत की राशि से अधिक होती है तो सम्पूरक उद्यम को फार्म पर उत्पादन करना लाभप्रद होता है। ऐसी स्थिति मे सम्पूरक उद्यम को उस स्तर तक बढाना चाहिए जब तक कि वह मुख्य उद्यम से स्पर्धा नही करता है। विभिन्न उद्यमो मे एक उत्पादन-साधन के लिए

स्पर्धा एव अन्य उत्पादन साधनो के उपयोग मे सम्पूरकता का सम्बन्ध विद्यमान होने की स्थिति मे निर्णय प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो के समान लेना चाहिये।

(iii) सहायक या पूरक (Complementary) उद्यम—पूरक उद्यम वे होते हैं जो दूसरे उद्यम की उत्पादन वृद्धि म सहायक हाते हैं अर्थात् जब एक उद्यम की उत्पादन वृद्धि के लिये प्रयास किये जाते हैं, तो दूसरे उद्यम का उत्पादन स्वत ही बढ जाता है। जैसे फलीदार फसलें (बरसीम, मटर आदि) एव खाद्यान्न वाली फसलें। फलीदार फसलो की उत्पादन-वृद्धि के लिये किये गये प्रयासो से उस भूमि पर अगले मौसम म बोयी जाने वाली खाद्यान्न फसल का उत्पादन भूमि मे नत्रजन की अधिक मात्रा मे पूर्ति के कारण स्वत ही बढ जाता है। उद्यमो मे पाये जाने वाले पूरकता के सम्बन्ध को चित्र 6 12 मे प्रदर्शित किया गया है।
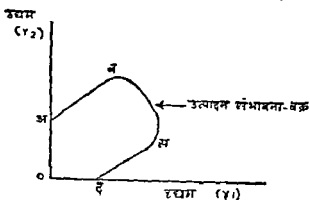
चित्र 6 12 उद्यमो में पूरकता का सम्बन्ध

उपर्युक्त चित्र विभिन्न उत्पादों Y_1 एव Y_2 में पूरकता का सम्बन्ध विद्यमान होने की अवस्था के उत्पादन सम्भावना-वक्र को प्रदर्शित करता है। चित्र में अ से व एव द से स स्तर तक पूरकता का सम्बन्ध पाया जाता है। उसके उपरान्त उत्पाद की मात्रा मे वृद्धि करने पर दोनो उद्यमो म प्रतिस्पर्धा का सम्बन्ध पाया जाना है। अत उद्यमों के सभी सयोगो मे पूरकता का सम्बन्ध विद्यमान नही होता। प्रारम्भ मे उद्यमो मे पूरकता का सम्बन्ध होता है तथा नियत स्तर से आगे उद्यमो के स्तर मे वृद्धि करने पर उनमे विद्यमान पूरकता का सम्बन्ध समाप्त हाकर वे एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगते हैं।

विभिन्न उद्यमों मे पूरकता का सम्बन्ध होने की स्थिति मे दोनो उद्यमो की फार्म पर उस स्तर तक लेते रहना चाहिये जब तक उनमे पूरकता का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। लेकिन पूरक उद्यम मे आवश्यकता से अधिक वृद्धि करने पर वह मुख्य उद्यम से उत्पादन-साधनो के लिए प्रतिस्पर्धा करने लगता है, जिसके

कारण मुख्य उद्यम के क्षेत्रफल अथवा स्तर मे कमी करनी होती है। उद्यमो मे पूरकता के सम्बन्ध की समाप्ति अथवा प्रतिस्पर्धा की अवस्था उत्पन्न होने पर उनके चुनाव एव सयोग का निर्णय दोनो उद्यमो के उत्पादन मे प्रतिस्थापन की दर एव उनकी कीमतो के अनुपात के आधार पर लिया जाता है।

(iv) प्रतिस्पर्धात्मक उद्यम (Competition)—प्रतिस्पर्धात्मक उद्यम वे होते हैं जो फार्म पर उपलब्ध विभिन्न उत्पादन-साधनो जैसे भूमि, श्रम, पूंजी, कृषि-यन्त्र आदि के लिये एक-दूसरे से स्पर्धा रखते हैं। प्रतिस्पर्धा की अवस्था मे एक उद्यम के अन्तर्गत क्षेत्रफल अथवा उत्पादन-साधन की मात्रा मे वृद्धि करने पर दूसरे उद्यम के अन्तर्गत क्षेत्रफल अथवा उत्पादन-साधन का उपयोग कम करना होता है। प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो के उदाहरण मे गेहूँ एव जौ, कपास एव मूगफली, चावल एव जूट, बाजरा एव मक्का प्रमुख हैं।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के अनुसार उत्पादो के सम्बन्ध का सक्षिप्त विवरण निम्न है—

	उत्पादो की सीमान्त प्रतिस्थापन दर	उद्यमो का सम्बन्ध
(i)	$\Delta Y / \Delta Y_2$ or $\Delta Y_2/\Delta Y_1 <$ Zero	प्रतिस्पर्धात्मक सम्बन्ध
(ii)	$\Delta Y_1/\Delta Y_2$ or $\Delta \quad /\Delta Y_1 =$ Zero	सम्पूरक सम्बन्ध
(iii)	$\Delta Y_1' \Delta \ _2$ or $\Delta Y_2/\Delta Y_1 >$ Zero	पूरक सम्बन्ध

प्रतिस्पर्धात्मक उद्यमो मे वस्तुओ का अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाला सयोग ज्ञात करने के लिये कृषको को निम्न ज्ञान होना आवश्यक होता है—

(i) प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की प्रतिस्थापन दर।

(ii) प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की कीमतो का ज्ञान।

(iii) प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की प्रति इकाई उत्पादन-लागत।

प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की प्रति इकाई उत्पादन लागत की राशि समान होने की अवस्था मे उद्यमो के सयोग/प्रतिस्थापन के निर्णय उद्यमो की प्रतिस्थापन दर एव उनकी विलोम कीमतो के अनुपात के आधार पर ही लिये जाते है। उद्यमो की उत्पादन-लागत मे भिन्नता की अवस्था मे उत्पादो की कीमतो का अनुपात, शुद्ध कीमतो (बाजार कीमत—उत्पादन लागत) के अनुपात के रूप मे ज्ञात किया जाता है और प्राप्त शुद्ध कीमतो के विलोम अनुपात को उत्पादो की प्रतिस्थापन-दर के बराबर करते हैं।

प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो मे सयोग के नियम—प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो मे उद्यमो के सयोग प्रतिस्थापन के निर्णय निम्न नियमो के आधार पर लिये जाते है—

(i) यदि प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की विलोम कीमतो का अनुपात

$$\left(\frac{\text{वृद्धि किये गये उद्यम की प्रति इकाई कीमत}}{\text{प्रतिस्थापित उद्यम की प्रति इकाई कीमत}} \text{ या } \frac{Py1}{Py_2}\right)$$ उनकी

प्रतिस्थापन दर $\left(\frac{\text{प्रतिस्थापित उद्यम मे परिवर्तन की मात्रा}}{\text{वृद्धि किये गये उद्यम म परिवतन की मात्रा}}\right.$ या $\left.\frac{-\Delta Y_2}{\Delta Y_1}\right)$ से अधिक है तो उद्यमो का प्रतिस्थापन करना लाभकर होता है। अत उपर्युक्त अवस्था मे उस स्तर तक उद्यमो मे प्रतिस्थापन करते रहना चाहिये जब तक कि उपर्युक्त दोनो अनुपात $\left(\frac{-\Delta Y_2}{\Delta Y_1}=\frac{Py_1}{Py_2}\right)$ समतुल्य अवस्था मे नही आ जाते हैं।

(ii) यदि प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की विलोम कीमतो का अनुपात उनकी प्रतिस्थापन दर से कम $\left(\frac{Py_1}{Py_2}<\frac{-\Delta Y_2}{\Delta Y_1}\right)$ होता है तो उद्यमो का प्रतिस्यापन नही करना चाहिए। प्रतिस्थापन करने से फार्म पर प्राप्त आय मे कमी होती है।

(iii) उद्यमो मे प्रतिस्थापन की अवस्था मे कृषको को फार्म से अनुकूलतम अर्थात् अधिकतम लाभ दोनो अनुपात के समतुल्य $\left(\frac{-\Delta Y_2}{\Delta Y_1}=\frac{Py}{Py_2}\right)$ होने पर प्राप्त होता है।

प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमों मे प्रतिस्थापन-दर एव निर्णय लेना—प्रतिस्पर्धा वाले उद्यम एक-दूसरे को निम्न दो दरो से प्रतिस्थापित करते हैं—

(i) समान दर से उद्यमों का प्रतिस्थापन—एक उद्यम मे की गई एक इकाई की वृद्धि यदि दूसरे उद्यम की मात्रा मे क्रमोत्तर समान दर से कटौती करती है तो उन उद्यमो को समान दर से प्रतिस्थापित करने वाले उद्यम कहते हैं। जैसे–गेहूँ एवं जौ, मक्का एव कपास आदि उद्यम एक-दूसरे के लिये भूमि को समान दर से प्रतिस्थापित करते हैं। समान दर से प्रतिस्थापन की अवस्था मे उद्यमो में निम्न प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है—

$$\frac{-\Delta_1 Y_2}{\Delta_1 Y_1}=\frac{-\Delta_2 Y_2}{\Delta_2 Y_1}=\ldots\ldots\ldots\ldots=\frac{\Delta_n Y_2}{\Delta_n Y_1}$$

निम्न उदाहरण (काल्पनिक आंकडे) एक 5 एकड के फार्म पर गेहूँ एव जौ उद्यम मे समान दर से प्रतिस्थापन की अवस्था मे निर्णय लेने की विधि को स्पष्ट करता है।

सारणी 6.10

समान दर से उद्यमों के प्रतिस्थापन की अवस्था में उद्यमों का अनुकूलतम लाभ वाला संयोग ज्ञात करना

उत्पाद गेहूँ		उत्पाद जौ		उत्पादो की प्रतिस्थापन दर	उत्पादो की विलोम कीमतो का अनुपात	
क्षेत्रफल (एकड)	उत्पादन (क्वि)	क्षेत्रफल (एकड)	उत्पादन (क्वि)		गेहूँ=280 रु /क्विन्टल जौ=160 रु /क्विन्टल	गेहूँ=200 रु/क्विन्टल जौ=160 रु /क्विन्टल
0	0	5	100			
				1 33	1 75	1 25
1	15	4	80			
				1.33	1 75	1 25
2	30	3	60			
				1 33	1 75	1 25
3	45	2	40			
				1 33	1 75	1 25
4	60	1	20			
				1 33	1 75	1 25
5	57	0	0			

उपर्युक्त उदाहरण मे उत्पादो की प्रतिस्थापन-दर समान है। कीमतो के प्रथम स्तर (गेहूँ 280 रु प्रति क्विन्टल एव जौ 160 रु प्रति क्विन्टल) की अवस्था मे गेहूँ का उत्पादन लाभप्रद होता है। अत जौ के अन्तर्गत क्षेत्रफल नही लेना चाहिए। कीमतो के द्वितीय स्तर की अवस्था (गेहूँ की कीमत 200 रु प्रति क्विन्टल एव जौ की कीमत 160 रु प्रति क्विन्टल) मे फार्म पर जौ का उत्पादन लाभप्रद होता है, क्योकि उत्पादो की विलोम कीमतो का अनुपात उनके प्रतिस्थापन दर से कम है। अतः फार्म पर गेहूँ के अन्तर्गत क्षेत्रफल नही लेना चाहिए।

समान दर से उद्यमो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे साधारणतया सर्वाधिक लाभ फार्म पर एक उद्यम को लेने से प्राप्त होता है। वस्तुओ के विभिन्न सयोगो की अवस्था मे प्राप्त लाभ की राशि समान रहती है। चित्र 6 13 उद्यमो के समान दर से प्रतिस्थापन को प्रदर्शित करता है।

(ii) वर्द्धमान-दर से उद्यमो का प्रतिस्थापन—एक उद्यम की मात्रा मे की गई एक इकाई वृद्धि, यदि दूसरे उद्यम के अन्तर्गत क्रमोत्तर अधिक (बढती हुई) मात्रा मे कमी करती है तो दोनो उद्यमो के सम्बन्ध को वर्द्धमान दर से उद्यमो का प्रतिस्थापन कहते हैं। इसके अन्तर्गत एक उद्यम की मात्रा मे प्रत्येक एक इकाई की वृद्धि दूसरे उद्यम की मात्रा मे क्रमागत पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे कमी करती है। वर्द्धमान-दर से उद्यमो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे पाया जाने वाला सम्बन्ध निम्न प्रकार का होता है—

$$\frac{-\Delta_1 Y_2}{\Delta_1 Y_1} < \frac{-\Delta_2 Y_2}{\Delta_2 Y_1} < \ldots\ldots < \frac{-\Delta_n Y_2}{\Delta_n Y_1}$$
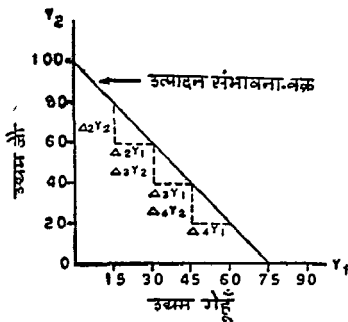
चित्र 6 13 समान दर से उद्यमो का प्रतिस्थापन

निम्न उदाहरण (काल्पनिक आंकडे) वर्द्धमान-दर से उद्यमो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे अनुकूलतम लाभ स्तर ज्ञात करने की विधि को स्पष्ट करता है।

कीमतो के प्रथम विकल्प की अवस्था मे प्रतिस्पर्धा वाले उद्यमो की विलोम कीमतो का अनुपात उद्यमो के प्रतिस्थापन के अनुपात से उत्पादो के संयोग क्रमांक 8 (49 इकाई उत्पाद अ तथा 70 इकाई उत्पाद ब) तक अधिक है। अत उत्पादो के संयोग के नियम के अनुसार इस स्तर तक उद्यमो का प्रतिस्थापन करना लाभकर है। उत्पादो के इस संयोग स्तर के आगे, उद्यमो की विलोम कीमतो का अनुपात,

उद्यमा की प्रतिस्थापन दर से कम है, जिसके कारण प्रतिस्थापन करने से लाम की राशि कम होती जाती है । अत प्रतिस्थापन नही करना चाहिए ।

कीमता के द्वितीय विकल्प की अवस्था मे, उद्यमो की विलोम कीमतो का अनुपात उद्यमो की प्रतिस्थापन दर उत्पादो के सयोग क्रमाक 2 (133 इकाई उत्पाद अ तथा 10 इकाई उत्पाद ब) तक अधिक है। उत्पादो के सयोग के नियम के अनुसार उपर्युक्त सयोग कृषको को फार्म से अधिकतम लाभ प्राप्त कराता है । इस सयोग के आगे उनकी विलोम कीमतो का अनुपात, प्रतिस्थापन दर से कम होता जाता है जिससे प्रतिस्थापन करने से लाम की राशि मे कमी होती है । अत प्रतिस्थापन नहीं करना चाहिये ।

सारणी 6 11

वर्द्धमान दर से उद्यमो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे अनुकूलतम लाभ वाले उत्पादो का सयोग ज्ञात करना

उत्पादो के सयोग का क्रमाक	उत्पादन साधनो की समान इकाइयो से विभिन्न उत्पादो के उत्पादन की सम्भावनाएँ		उत्पादो की प्रतिस्थापन दर	उत्पादो की विलोम कीमतो का अनुपात	
	उत्पाद अ	उत्पाद ब	$\left(\frac{\Delta अ}{\Delta ब}\right)$	प्रथम विकल्प अ=1 00 रु/ इकाइ तथा ब=2 00 रु/ इकाई	द्वितीय विकल्प अ=1 00 रु/ इकाई तथा ब=0 80 रु/ इकाई
1	140	0			
			0 70	2 00	0 80
2	133	10			
			0 90	2.00	0 80
3	124	20			
			1 10	2 00	0 80
4	113	30			
			1 30	2 00	0 80
5	100	40			
			1 50	2 00	0 80
6	85	50			
			1 70	2 00	0 80

7	68	60			
			1.90	2 00	0 80
8	49	70			
			2.10	2 00	0 80
9	28	80			

वर्द्धमान-दर से उत्पादो के प्रतिस्थापन की अवस्था मे दोनो उद्यमो के सयोग का वह स्तर जहाँ प्रतिस्थापन-दर उनकी विलोम कीमतो के समतुल्य होती है, अधिकतम लाभ की राशि प्रदान करता है । वर्द्धमान दर से उद्यमो के प्रतिस्थापन को चित्र 6.14 मे प्रदर्शित किया गया है ।

कृषिगत उत्पादो के उत्पादन मे विशिष्टीकरण एवं विविधता

कृपको द्वारा विभिन्न क्षेत्रो अथवा विभिन्न कृपको द्वारा एक ही कृषि-क्षेत्र मे उत्पादो के सयोग का चुनाव किया जाता है । कुछ कृपक फार्म पर एक ही फसल का चुनाव करके कृषि उत्पादन मे विशिष्टीकरण करते हैं, जबकि अन्य कृपक कृषि की विविधता वाली पद्धति अपनाते है । कृषि के विशिष्टीकरण से तात्पर्य फार्म पर एक ही उद्यम को चुनने से है, जबकि विविधता के अन्तर्गत फार्म पर अनेक उद्यमो का चुनाव किया जाता है तथा चुना हुआ कोई भी उद्यम फार्म पर प्राप्त कुल आय का
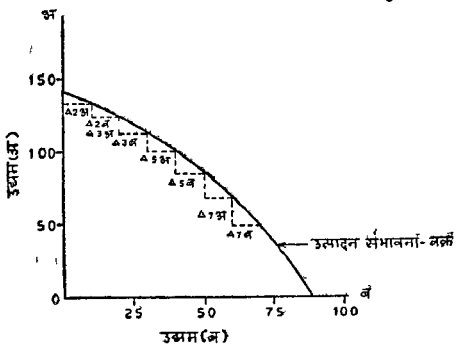
चित्र 6 14 वर्द्धमान-दर से उद्यमो का प्रतिस्थापन

50 प्रतिशत अश प्रदान नहीं करता है। कृपको द्वारा इस प्रकार की उत्पादन विधि का चुनाव करने के प्रमुख कारण निम्न हैं —

(i) **विभिन्न उत्पादों मे सम्बन्ध**—उत्पादो मे पूरकता एव सम्पूरकता के सम्बन्ध होने की अवस्था मे उत्पादन मे विविधता वाली पद्धति प्रचलित होती है। उत्पादो मे प्रतिस्पर्द्धा का सम्बन्ध होने पर उनका विशिष्टीकरण अथवा विविधता, उत्पादो की प्रतिस्थापन की दर पर निर्भर करती है। उत्पादो मे वर्द्धमान दर से प्रतिस्थापन की अवस्था मे विविधता वाली कृषि-पद्धति एव उत्पादो म समान दर से प्रतिस्थापन की अवस्था मे विशिष्टीकरण वाली कृषि पद्धति अपनाई जाती है।

(ii) **भारत के अधिकाश क्षेत्रों में दो फसल मौसम होते हैं** जबकि अनेक क्षेत्रो मे एक फसल मौसम होता है। प्रत्येक मौसम मे अनेक फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं, जिसके कारण भारत मे विविधता वाली कृषि अधिक प्रचलित है।

(iii) **कृषि मे जोखिम एव अनिश्चितता**—भारतीय कृषि मे जोखिम एव अनिश्चितता के कारण विविधता वाली कृषि प्रणाली अधिक अपनाई जाती है।

(iv) **व्यापारिक योग्यता**—वर्तमान मे कृषि व्यवसाय मे प्रत्येक उद्यम के लिए व्यापारिक योग्यता की आवश्यकता होती है। कृषक प्रत्येक फसल के लिए व्यापारिक योग्यता प्राप्त करने मे सक्षम नही होता है। अत ऐसी स्थिति में कृषक विशिष्टीकरण की तरफ ध्यान केंद्रित करते हैं।

(v) कृषि मे पूंजी की अधिक आवश्यकता के कारण कृषक एक ही फसल का उत्पादन अर्थात् विशिष्टीकरण वाली पद्धति अपनाने का अधिक प्रयास करते हैं।

6 तुलनात्मक समय का सिद्धान्त

तुलनात्मक समय सम्बन्धी निर्णय फार्म पर निम्न दो अवस्थाओ म कृपको को लेने होते हैं

(i) जब फार्म पर लिये गये विभिन्न उद्यमो से लाभ एक समय मे प्राप्त न होकर विभिन्न समयो मे प्राप्त होता है।

(ii) जब फार्म पर लिये गये विभिन्न उद्यमो मे पूंजी निवश एक समय मे न होकर विभिन्न राशियो मे विभिन्न समयो मे होता है।

उपर्युक्त परिस्थितियो मे कृपको को निर्णय लेना होता है कि कौन सा उद्यम या उत्पादन विधि फाम के लिये अधिक लाभकर है। विभिन्न समय पर लाभ प्राप्त

होने अथवा लागत होने की स्थिति मे तुलनात्मक समय के सिद्धान्त के द्वारा उद्यमो/विधियो का चुनाव आर्थिक दृष्टिकोण से सरलता से किया जा सकता है। तुलनात्मक समय का सिद्धान्त कृषको को निम्न प्रकार की समस्याओ की अवस्था मे निर्णय लेने मे सहायक होता है :

(i) उपलब्ध सीमित पूंजी से कृषक चार दुधारू गायें या 10 बछड़ियाँ क्रय कर सकते हैं। उपर्युक्त विकल्पों मे प्रथम विकल्प से आय शीघ्र प्राप्त होती है, जबकि दूसरे विकल्प से आय कुछ वर्षों के बाद प्राप्त होना प्रारम्भ होती है।

(ii) एक कृषक 10,000 रु की लागत से पशुओ के लिये 60 वर्ष की अवधि वाली पक्की पशुशाला या 6,000 रु की लागत से 30 वर्ष की अवधि वाली कच्ची पशुशाला का निर्माण करवा सकता है। प्रथम विकल्प मे सम्पूर्ण लागत प्रारम्भ मे लगानी होती है, जबकि दूसरे विकल्प मे कुछ लागत प्रारम्भ मे लगानी होती है और 30 वर्ष पश्चात् पुन उतनी ही लागत लगानी होती है।

(iii) कृषक 1,50 000 रु मे 12 वर्ष तक कार्य देने वाला नया ट्रैक्टर अथवा 75,000 रु मे 6 वर्ष तक कार्य देने वाला पुराना ट्रैक्टर क्रय कर सकता है और 6 वर्ष पश्चात् पुन उतनी ही लागत लगानी होती है।

इसी प्रकार के समय सम्बन्धी अन्य निर्णय, जिनमे विभिन्न विकल्पो से लाभ विभिन्न समयो मे प्राप्त होता है अथवा इन विकल्पो पर लागत व्यय विभिन्न समयो मे होता है, तुलनात्मक समय के सिद्धान्त द्वारा सुगमता से लिये जा सकते हैं।

उपर्युक्त विकल्पो की स्थिति मे भविष्य मे प्राप्त होने वाले लाभ का वर्तमान मूल्य बट्टाविधि (Discounting) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है, तथा वर्तमान लागत का भविष्य मूल्य ज्ञात करने मे चक्र-वृद्धि (Compounding) काम मे ली जाती है। उपर्युक्त दोनो विधियो मे वर्तमान या भविष्य मूल्य ज्ञात करने मे ब्याज दर का प्रयोग किया जाता है। ब्याज दर विभिन्न पूंजी की राशि वाले कृषको के लिये पृथक् होती है। असीमित मात्रा मे पूंजी वाले कृषको के लिये वर्तमान या भविष्य मूल्य ज्ञात करने के लिये ब्याज दर के स्थान पर प्रचलित बैंक ब्याज दर तथा सीमित पूंजी वाले कृषको के लिये ब्याज की दर अन्य उद्यमो से प्राप्त होने वाली आय की दर अथवा अवसर-लागत दर प्रयुक्त की जाती है। अत सीमित पूंजी वाले कृषको के लिये ब्याज की दर, असीमित पूंजी वाले कृषको की अपेक्षा अधिक होती है।

भविष्य मे प्राप्त होने वाले लाभ का वर्तमान-मूल्य बट्टा-विधि द्वारा ज्ञात किया जाता है जिसका सूत्र अग्रानुसार होता है :

$$\text{वर्तमान मूल्य} = \frac{\text{भविष्य मे प्राप्त होने वाले लाभ की राशि}}{(1+\text{प्रति रुपया ब्याज दर})^{\text{वर्षों की सख्या}}}$$

अथवा $PV = \dfrac{Q}{(1+r)^n}$ जबकि PV=वर्तमान-मूल्य

Q=भविष्य मे प्राप्त होने वाले लाभ की राशि

r=ब्याज-दर प्रति रुपया

n=वर्षों की सख्या

वर्तमान लागत की राशि का भविष्य-मूल्य ज्ञात करने के लिये चक्रवृद्धि विधि प्रयुक्त की जाती है। ब्याज के कारण भविष्य की लागत-राशि बढती जाती है जिसे निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जाता है —

भविष्य मूल्य=वर्तमान लागत राशि $(1+\text{प्रति रुपया ब्याज दर})^{\text{वर्षों की सख्या}}$

अथवा $Q = PV\,(1+r)^n$

तुलनात्मक समय के सिद्धान्त का उदाहरण—निम्न उदाहरण तुलनात्मक समय के सिद्धान्त को स्पष्ट करता है —

एक कृषक पशुशाला का निर्माण करना चाहता है। पक्की पशुशाला जो 60 वर्ष तक उपयोग मे आ सकती है, का निर्माण करने पर कुल लागत 5,000 रु आती है। कच्ची पशुशाला का निर्माण करने पर वर्तमान मे 4,000 रु की लागत आती है, लेकिन वह 30 वर्ष तक ही उपयोग मे ली जा सकती है। तीस वर्ष पश्चात् पुन. पशुशाला का निर्माण करना होता है जिस पर 4,000 रु फिर से लागत आती है। ज्ञात कीजिये कि उपर्युक्त विकल्पो मे से सीमित एव असीमित पूंजी वाले कृषक के लिये कौनसा विकल्प का चुनाव (पक्की अथवा कच्ची पशुशाला) लाभकर है ?

प्रथम विकल्प—पक्की पशुशाला के निर्माण मे कृषक को वर्तमान मे 5,000 रु की लागत लगानी होती है जो 60 वर्ष तक उपयोग मे ली जा सकती है।

द्वितीय विकल्प—कच्ची पशुशाला के निर्माण पर कृषक को वर्तमान मे 4,000 रु की लागत लगानी होती है और 30 वर्ष पश्चात् पुन नई पशुशाला के निर्माण पर 4,000 रु की लागत लगानी होती है, अत कच्ची पशुशाला के निर्माण पर 60 वर्ष की अवधि मे कुल लागत 8,000 रु की होती है, लेकिन यह लागत विभिन्न समयो मे होती है। ऐसी स्थिति मे लाभकर विकल्प का चुनाव करने के लिये कृषक द्वारा 30 वर्ष पश्चात् लगाई जाने वाली लागत की राशि 4,000 रु का वर्तमान लागत मूल्य ज्ञात करना होता है। सीमित एव असीमित पूंजी वाले कृषको

के लिये 30 वर्ष पश्चात् व्यय किये जाने वाले 4,000 रु का वर्तमान मूल्य निम्न प्रकार से ज्ञात किया जाता है :

सीमित पूंजी वाला कृषक—सीमित पूंजी वाला कृषक अपने धन को बैंक मे जमा नही कराता है, बल्कि उस धन को विभिन्न उद्यमो मे निवेश करता है जहां उसे बैंक ब्याज दर से अधिक आय प्राप्त होती है। अतः सीमित पूंजी वाले कृषको के लिये ब्याज-दर उद्यमो से प्राप्त होने वाली आय की दर होती है। यदि सीमित पूंजी वाले कृषक को उद्यमो मे पूंजी निवेश करने पर 15 प्रतिशत आय प्राप्त होती है तो भावी मूल्य-लागत से वर्तमान मूल्य-लागत ज्ञात करने मे 15 प्रतिशत ब्याज-दर का प्रयोग किया जाता है।

तीस वर्ष उपरान्त कच्ची पशुशाला के निर्माण पर होने वाले 4,000 रु की लागत का वर्तमान मूल्य $\frac{4000}{(1+15)^{30}} = 60.42$ रु होता है। सीमित पूंजी वाला कृषक कच्ची पशुशाला के निर्माण पर 60 वर्ष की अवधि मे कुल 4060 42 रु (4000 + 60 42) रु की लागत लगाता है। यह लागत पक्की पशुशाला के निर्माण की लागत 5,000 रु से कम है। अत सीमित पूंजी वाले कृषक के लिये जिसे उद्यमो मे पूंजी-निवेश करने से 15 प्रतिशत की आय प्राप्त होती है, कच्ची पशुशाला का निर्माण करना लाभकर होता है।

असीमित पूंजी वाला कृषक—असीमित पूंजी वाला कृषक अपनी पूंजी बैंक मे जमा कराता है जहां उसे 4 प्रतिशत ब्याज प्राप्त होता है। अतः असीमित पूंजी वाले कृषक के लिए 30 वर्ष उपरान्त पशुशाला के निर्माण पर किये जाने वाले 4,000 रु. की लागत का वर्तमान मूल्य 4 प्रतिशत ब्याज-दर पर

$$\left(\frac{4000}{(1+0\ 40)^{30}}\right) = 1235 \text{ रु}$$

होता है। इस कृषक के लिए कच्ची पशुशाला के निर्माण पर कुल लागत 60 वर्ष की अवधि के लिए 5235 रु (रु. 4000+1235) आती है, जो पक्की पशुशाला की *वर्तमान लागत 5000 रु से अधिक है। अत. असीमित पूंजी वाले कृषक* के लिये पक्की पशुशाला का निर्माण करना लाभकर है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि सीमित एव असीमित पूंजी वाले कृषको के लिये एक ही निर्णय उपयुक्त नही होता है। इसी प्रकार समय सम्बन्धी अन्य समस्यायें भी तुलनात्मक समय के सिद्धान्त द्वारा हल की जा सकती हैं।

7 तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त :

यह सिद्धान्त फार्म स्तर पर प्रयोगित नही होकर क्षेत्र स्तर पर प्रयोगित होता है ।

विभिन्न क्षेत्रो मे भौतिक व आर्थिक तत्त्वो की विभिन्नता के कारण विभिन्न फसलें उत्पन्न की जाती हैं और ये फसलें एक क्षेत्र मे दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा अधिक लाभ प्रदान करती हैं। तुलनात्मक-लाभ का सिद्धान्त विभिन्न क्षेत्र के कृषको को अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए फसलो के चुनाव मे सहायक होता है। विभिन्न फसलो से प्राप्त लाभ दो प्रकार के होते है—

(अ) **निरपेक्ष लाभ** (Absolute Margin)—निरपेक्ष लाभ से तात्पर्य प्राप्त शुद्ध लाभ की राशि से होता है । यह लाभ उत्पादन-साधनो के उपयोग से होने वाली आय व लागत की राशि का शुद्ध अन्तर होता है । यदि किसी क्षेत्र मे एक फसल के लिए यह लाभ दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा अधिक होता है, तो प्रथम क्षेत्र उस फसल को उत्पन्न करने मे निरपेक्ष लाभ प्रदान करता है ।

(ब) **सापेक्ष/तुलनात्मक लाभ** (Relative/Comparative Margin)—सापेक्ष लाभ के अन्तर्गत विभिन्न उद्यमो/फसलो मे उत्पादन-साधनो के उपयोग से विभिन्न क्षेत्रो मे प्रति रुपया लागत पर लाभ या प्रतिशत लाभ का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और प्रति रुपया लागत के आधार पर प्राप्त लाभ अथवा प्रतिशत लाभ के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं ।

तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त का उदाहरण—निम्न उदाहरण तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त को स्पष्ट करता है—

गेहूँ व मक्का की फसल क्षेत्र 'अ' एव क्षेत्र 'ब' मे भौतिक कारको के अनुसार उत्पादित की जा सकती है । विभिन्न क्षेत्रो मे इन फसलो के उत्पादन से प्राप्त शुद्ध लाभ व प्रति रुपया सकल लाभ सारणी 6 12 मे प्रदर्शित किया गया हैं ।

सारणी 6 12

तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न क्षेत्रो मे फसलो का चुनाव

(रुपये प्रति एकड)

विवरण	क्षेत्र 'अ'		क्षेत्र 'ब'	
	गेहूँ	मक्का	गेहूँ	मक्का
प्राप्त कुल आय	500	450	450	400
कुल लागत	300	300	300	260
शुद्ध लाभ	200	150	150	140
प्रति रुपया सकल लाभ	1.67	1 50	1 50	1 54

सारणी से स्पष्ट है कि क्षेत्र 'अ' मे क्षेत्र 'ब' की अपेक्षा गेहूँ एवं मक्का दोनो ही फसलों का उत्पादन करने से प्रति एकड़ शुद्ध लाभ अधिक प्राप्त होता है। क्षेत्र अ के कृषक गेहूँ व मक्का दोनो ही फसलो को उत्पादित करके क्षेत्र ब की अपेक्षा अधिक लाभ कमा सकते हैं। क्षेत्र अ के कृषको को दोनो ही फसलो से निरपेक्ष लाभ अधिक प्राप्त होता है। कृषको का उद्देश्य अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक लाभ कमाने के अतिरिक्त, अपने क्षेत्र मे उत्पादित की जाने वाली विभिन्न फसलो से भी अधिकतम लाभ कमाना होता है। अधिकतम लाभ प्राप्त करना तभी सम्भव है जब कृषक फार्म पर अधिक से अधिक क्षेत्रफल उस फसल के अन्तर्गत लेते हैं, जो उस क्षेत्र मे उत्पादित की जाने वाली फसलो मे पूँजी के निवेश से प्रति रुपया अधिकतम लाभ प्राप्त कराती है। सारणी से स्पष्ट है कि क्षेत्र अ के कृषको को गेहूँ की फसल से सापेक्ष लाभ एव क्षेत्र ब के कृषको को मक्का की फसल से सापेक्ष लाभ अधिक प्राप्त होता है। अतः क्षेत्र अ के कृषको को गेहूँ व क्षेत्र ब के कृषको को मक्का की फसल उत्पन्न करने से लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त होती है।

तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त कृषको को अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए उन्ही फसलो के उत्पादन की सलाह देता है, जिनसे अपेक्षाकृत लाभ अधिक प्राप्त होता है। विभिन्न फसलो के उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेने मे निरपेक्ष लाभ को अधिक महत्त्व नही देना चाहिए। तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर ही बडे शहरो के समीप के क्षेत्रो मे सब्जी व फल की खेती, चीनी मिलो के समीप के क्षेत्रो मे गन्ने की खेती, निचली व नम भूमि मे धान की खेती विशिष्ट रूप से की जाती है। फार्म पर विशिष्ट या विविधीकृत कृषि अपनाने से सम्बन्धित निर्णय भी तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर लिए जाते हैं।

फार्म-प्रबन्ध के उपर्युक्त सिद्धान्त कृषको को फार्म पर कृषि-क्रियाओ एव उत्पादन-साधनो मे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के सुलझाने में सहायक होते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तो के आधार पर निर्णय लेने से कृषको को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि मे वृद्धि होती है, निर्णय लेने मे समय कम लगता है एव लिए गए निर्णय सही होते हैं।

☐☐☐

अध्याय 7

फार्म-योजना एवं बजट

प्रत्येक व्यवसायी कार्य शुरू करने के पूर्व कार्य करने की क्रिया, लागत एव लाभ के विषय मे विचार करता है। कुछ व्यवसायी इन कार्यों को लिखित रूप भी देते हैं। उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार एक ठेकेदार भवन निर्माण मे पूर्व, भवन के मालिक द्वारा चाही गई सभी आवश्यकताओ को अंकित करके भवन का नक्शा तैयार करता है, जिससे भवन सुव्यवस्थित ढग से सुन्दर, सस्ता एव समय पर तैयार हो सके तथा भवन निर्माण के समय होने वाली त्रुटियो से बचाव हो सके। नक्शे के द्वारा ठेकेदार भवन-निर्माण के लिए आवश्यक सामान की सूची तैयार कर लेता है, जिसके आधार पर भवन की सम्भावित लागत ज्ञात हो जाती है। इसी प्रकार फार्म योजना एव फार्म-बजट, फार्म पर होने वाली प्रस्तावित लागत एव प्राप्त होने वाली आय का ज्ञान कृषक को प्रदान करते हैं और कृषक कृषि मे होने वाली त्रुटियो से बच जाता है।

फार्म योजना—फार्म योजना, कृपक द्वारा फार्म पर किये जाने वाले कृषि-कार्यों की सूची होती है, जिसमे फार्म पर आगामी वर्ष या मौसम मे उत्पन्न की जाने वाली फसलों, उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल, उपयोग किये जाने वाले उत्पादन-साधनो जैसे बीज, खाद, उर्वरक, सिंचाई आदि की पूर्ण जानकारी होनी है। फार्म के लिए उपर्युक्त कार्यक्रम बनाने की क्रिया को फार्म योजना कहते हैं। दूसरे शब्दो मे फार्म-योजना बनाने से तात्पर्य वर्तमान फार्म-व्यवस्था मे त्रुटियों एव उन्हे सुधारने के तरीको का पता लगाने से है, जिससे फार्म की भावी योजना अधिकतम लाभ प्रदान करने वाली हो सके।

फार्म योजना बनाने का मुख्य उद्देश्य कृपक को फार्म से प्राप्त होने वाली आय को अधिकाधिक बढाना होता है। कृपक फार्म की योजना एक मौसम, वर्ष या अधिक समय के लिए तैयार कर सकते हैं। साधारणतया फार्म-योजना एक से अधिक वर्षों के लिए तैयार नही की जाती, क्योकि उत्पादन की विधियो, उत्पादन-साधनो तथा कृषिगत वस्तुओ की कीमतो मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, जिसके कारण निर्मित योजना मे उपर्युक्त परिवर्तनो के साथ-साथ परिवर्तन करना होता है।

फार्म बजट—फार्म-बजट, फार्म-योजना के विश्लेषण की विधि है, जिसके अन्तर्गत फार्म-योजना की सभी क्रियाओं को मुद्रा के रूप में परिवर्तित किया जाता है। फार्म-बजट, फार्म-योजना से प्राप्त होने वाली कुल आय, लागत एवं लाभ ज्ञात करने की विधि है। फार्म बजट से कृषकों को ज्ञात हो जाता है कि फार्म पर कौनसी फसल या उद्यम को अपनाने से, उत्पादन की कौनसी विधि अपनाने से एवं उत्पादन साधन की कितनी मात्रा के प्रयोग से लाभ अधिक प्राप्त होता है। फार्म-बजट, फार्म-योजना के अनुसार भविष्य में मुद्रा व्यय करने एवं प्राप्त होने वाली आय की योजना को सूचित करता है।

फार्म-योजना एवं फार्म बजट की आवश्यकता

कृषकों के लिए फार्म योजना एवं फार्म-बजट बनाना उतना ही आवश्यक है जितना एक भवन-निर्माण के ठेकेदार के लिए भवन के ब्ल्यूप्रिन्ट का बनवाना आवश्यक होता है। फार्म-योजना कृषक को क्रमबद्ध विधि से फार्म पर कार्य करने की सलाह देती है, जिससे कार्य करने में त्रुटि नहीं होती है एवं कार्य की लागत भी कम आती है।

पूर्व में कृषक कृषि को व्यवसाय के रूप में न लेकर, जीविकोपार्जन के साधन के रूप में लेते थे। अतः उस काल में कृषक कृषि-व्यवसाय की सफलता के लिए अधिक चिन्तित नहीं थे। वर्तमान में कृषि ने व्यवसाय का रूप ले लिया है। कृषि की सफलता के लिए व्यवसाय पर होने वाली लागत, आय व शुद्ध लाभ का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान कृषकों को तभी प्राप्त हो सकता है जब वे फार्म-व्यवसाय की नियमित योजना बनाएँ और प्रत्येक कार्य का पूरा लेखा जोखा रखें। अतः कृषि-व्यवसाय की सफलता के लिए फार्म-योजना बनाना आवश्यक है।

मौसम व कीमतों की अनिश्चितता की स्थिति में भी फार्म योजना का बनाना आवश्यक होता है। एक बार की तैयार की हुई फार्म योजना, मौसम एवं कीमतों की अनिश्चितता की अवस्था में आगामी वर्षों में लागू नहीं हो सकती। अमुक फसल जो वर्तमान कीमतों के स्तर पर लाभप्रद है, वह उत्पाद या उत्पादन साधन की कीमतों में परिवर्तन के कारण भविष्य में कम लाभप्रद या नुकसानदेह भी हो सकती है। अतः प्रत्येक मौसम व वर्ष में फार्म-योजना बनाना व उसका पुनरावलोकन करना आवश्यक होता है।

फार्म योजना बनाना वर्तमान में कृषि के क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान के प्रसार एवं कृषकों द्वारा तकनीकी ज्ञान के अधिक प्रयोग के कारण भी आवश्यक हो गया है। तकनीकी ज्ञान के प्रयोग से फार्म-व्यवसाय की आय एवं लागत पर प्रभाव पड़ता है। अतः तकनीकी ज्ञान के प्रसार की अवस्था में फार्म से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कृषकों द्वारा फार्म-योजना एवं बजट बनाना आवश्यक होता है।

उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त, कृषकों के पास व्यवसाय में निवेश करने के लिए अधिक पूँजी होने, कृषक द्वारा अधिक भूमि पट्टेदारी पर लेने अथवा

पुरानी फार्म-योजना मे परिवर्तन करने की इच्छा होने पर भी फार्म-योजना का बनाना आवश्यक है।

फाम योजना एवं फार्म बजट के प्रकार :

फार्म योजना एव् बजट दो प्रकार के होते हैं :

1 **सम्पूर्ण फार्म-योजना एवं बजट**—सम्पूर्ण फार्म-योजना एव बजट के अन्तर्गत पूरे फार्म के लिए आगामी वर्ष या वर्षो के लिए नई योजना तैयार की जाती है। सम्पूर्ण फार्म-योजना, फार्म से प्राप्त होने वाली कुल आय, लागत एव शुद्ध लाभ की राशि का ज्ञान प्रदान करती है। सम्पूर्ण फार्म-योजना एव बजट बनाते समय, उन सभी क्रियाओ को ध्यान मे रखना आवश्यक है जिनको अपनाने से फार्म पर होने वाली लागत अथवा प्राप्त होने वाली आय मे अन्तर आता है। निम्न परिस्थितियो मे सम्पूर्ण फार्म योजना एव बजट बनाना आवश्यक होता है :

(i) जब कृषक कृषि के लिए अतिरिक्त भूमि क्रय करता है या बटाई पर लेता है।

(ii) जब कृषक फार्म पर शक्ति के साधन मे परिवर्तन करता है, जैसे बैलो के स्थान पर ट्रैक्टर का उपयोग।

(iii) जब कृषक फार्म पर सिचाई के पानी की मात्रा मे वृद्धि करता है, जैसे फार्म पर नए कुओ का निर्माण पुराने कुओ को गहरा करना, नलकूप लगाना आदि।

(iv) जब कृषक फार्म पर लिए जाने वाले उद्यमो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना चाहता है, जैसे खाद्यान्न के स्थान पर सब्जी, फल, पशुपालन आदि का चुनाव।

2. **आशिक फार्म-योजना एव बजट**—आशिक फार्म-योजना एव बजट के अन्तर्गत पूरे फार्म की फार्म-योजना न बनाकर, फार्म पर किसी एक उद्यम अथवा उसकी उत्पादन विधि अथवा उत्पादन साधनो की मात्रा का प्रयोग करने से जो परिवर्तन आता है, उसकी योजना बनाई जाती है। आशिक फार्म-योजना एव बजट से ज्ञात होता है कि कौनसी फसल, उत्पादन-विधि या उत्पादन साधन की कितनी मात्रा का उपयोग कृषको के लिए लाभकर होता है। आशिक फार्म-योजना एव बजट निम्न परिस्थितियो मे बनाना आवश्यक होता है :

(i) दूध उत्पादन के लिए फार्म पर गाय के स्थान पर भैंस पालना।

(ii) सिचाई के लिए डीजल पम्प के स्थान पर विद्युत् पम्प का उपयोग अथवा रहँट के स्थान पर पम्पिग सेट का उपयोग करना।

(iii) निराई के लिए श्रमिको के स्थान पर खरपतवारनाशी दवाइयो का उपयोग।

(iv) फसल की कटाई के लिए श्रमिकों के स्थान पर रीपर का उपयोग।

(v) फसलों के गायटा के लिए बैलों के स्थान पर थ्रैसर का उपयोग।

(vi) नत्रजन उर्वरक की पूर्ति के लिए यूरिया के स्थान पर कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट या अन्य नत्रजन उर्वरक का उपयोग।

(vii) देशी किस्म के बीजों के स्थान पर संकर या बौन किस्म के बीजों का उपयोग।

(viii) देर से पकने वाली किस्म के स्थान पर जल्दी पकने वाली किस्म का चुनाव।

निम्न उदाहरण आंशिक बजट बनाने की विधि प्रदर्शित करते हैं :

उदाहरण 1 वर्तमान में कृषक फसलों में होने वाली खरपतवार को निराई-गुड़ाई द्वारा दूर करते हैं जिसमें मानव-श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। खरपतवार को नष्ट करने के लिए खरपतवारनाशी दवाइयों का भी उपयोग किया जा सकता है। दोनों विधियों की आर्थिक दृष्टि से तुलना आंशिक बजट द्वारा की जा सकती है।

सारणी 7 1 में किए गए विश्लेषण से स्पष्ट है कि फार्म पर निराई-गुड़ाई के लिए श्रमिकों के स्थान पर खरपतवारनाशी दवाई का उपयोग किया जाए तो कृषकों को एक एकड़ क्षेत्र से 48 रु की अतिरिक्त आय प्राप्त होती है।

उदाहरण 2. वर्तमान में कृषक खेत की जुताई बैलों द्वारा देशी हल की सहायता से करते हैं। कृषक खेत की जुताई ट्रैक्टर की सहायता से भी कर सकते हैं। ट्रैक्टर द्वारा खेत की जुताई समय पर तथा उचित गहराई तक की जाने के कारण गेहूँ का उत्पादन बैलों द्वारा जुताई किए जाने की अपेक्षा 0 25 क्विन्टल प्रति हैक्टर अधिक होता है। भूमि की जुताई की दोनों विधियों की आर्थिक दृष्टि से तुलना आंशिक बजट बना करके की जा सकती है।

सारणी 7 2 में दिए गए आंशिक बजट से स्पष्ट है कि बैलों द्वारा जुताई करने के स्थान पर ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से कृषकों की आय में 52 50 रु प्रति हैक्टर की अतिरिक्त वृद्धि होती है।

सारणी 7 1

खरपतवार नष्ट करने के लिए मानव-श्रम एव खरपतवारनाशी दवाइयों के उपयोग का आंशिक बजट

व्यय	आय
(अ) खरपतवारनाशी दवाई के उपयोग से प्रति एकड लागत मे वृद्धि	(अ) खरपतवारनाशी दवाई के उपयोग से प्रति एकड लागत मे होने वाली कमी
(i) खरपतवारनाशी दवाई की लागत रु 40 00 (ii) दवा छिडकने के यन्त्र की घिसावट एव ब्याज की लागत रु/2 00	एक एकड क्षेत्र की खरपतवार को मानव-श्रम के स्थान पर दवाई से नष्ट करने पर श्रम की बचत=56-16=40 घटे @ रु 2 50 प्रति घटे=रु 100 00
(ब) दवा छिडकने से उत्पादन/आय मे प्रति एकड होने वाली कमी-कुछ नही	(ब) दवाई के उपयोग से उत्पादन आय मे होने वाली प्रति एकड वृद्धि-कुछ नही
खरपतवारनाशी दवाई के उपयोग से होने वाली अतिरिक्त लागत एव आय मे कमी की कुल राशि रु 52 00	खरपतवारनाशी दवाई के उपयोग से लागत मे कमी तथा आय मे वृद्धि की कुल राशि रु 100 00
आय मे शुद्ध अन्तर (लाभ)=रु 48 00	

फार्म योजना की विशेषताए—एक अच्छी फार्म-योजना मे निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए :

(i) निर्मित फार्म-योजना मे फार्म पर उपलब्ध सभी उत्पादन-साधनो का पूर्ण एव इष्टतम उपयोग होना चाहिए ।

(ii) निर्मित फार्म-योजना कृषक को अधिकतम आय की राशि प्रदान करने वाली होनी चाहिए ।

(iii) निर्मित फार्म-योजना मे फार्म पर उत्पादो का अनुकूलतम सयोग होना चाहिए जिससे कृपको को आवश्यकता के सभी खाद्यान्न, दालें, तिलहन, चारा आदि आवश्यक मात्रा मे फार्म से उपलब्ध हो सकें एव भूमि की उर्वरा-शक्ति मे किसी प्रकार का ह्रास नही होने पाए ।

(iv) निर्मित फार्म-योजना मे कृषि की उन्नत एव आधुनिकतम विधियो का अधिकतम समावेश होना चाहिए।
(v) निर्मित फार्म-योजना मे, कृषि की परिवर्तनशील परिस्थितियो के कारण हेरफेर करने की सुविधा होनी चाहिए।
(vi) निर्मित फार्म-योजना कृषक के लिए कम जोखिम वाली होनी चाहिए।
(vii) निर्मित फार्म-योजना मे उत्पादन-प्रणाली के अतिरिक्त उत्पाद के विपणन, फार्म के लिए ऋण-प्राप्ति एव भुगतान की योजना भी सम्मिलित होनी चाहिए।

सारणी 72

खेत की जुताई करने के लिए बैलो के श्रम एव ट्रैक्टर के उपयोग का आशिक बजट

व्यय	आय
(अ) ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से प्रति हैक्टर लागत मे वृद्धि ट्रैक्टर द्वारा एक हैक्टर क्षेत्र मे जुताई किए जाने की लागत रु 160 00	(अ) ट्रैक्टर द्वारा एक हैक्टर क्षेत्र मे एक जुताई किए जाने पर प्रति हैक्टर लागत मे कमी (i) मानव श्रम मे कमी 20 घटे @ रु 2 50 प्रति घटे= रु 50 00 (ii) बैलो के श्रम की बचत 20 घटे @ रु 3 75 प्रति घटे= रु 75 00
(ब) ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने पर प्रति हैक्टर उत्पादन/आय मे कमी-कुछ नही	(ब) ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से प्रति हैक्टर उत्पादन/आय मे वृद्धि, 0 25 क्वि गेहूँ @ रु 3 50/क्वि = रु 87 50
ट्रैक्टर के उपयोग से होने वाली प्रति हैक्टर अतिरिक्त लागत एव आय मे कमी की कुल राशि = रु /60 00 ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से प्रति रु 52 50।	ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने पर प्रति हैक्टर लागत मे कमी तथा आय मे वृद्धि = रु 212 50 हैक्टर आय मे शुद्ध अन्तर (लाभ)=

फार्म-योजना एवं बजट बनाना :

फार्म-योजना एव बजट कृषक स्वय अथवा फार्म-प्रबन्ध विशेषज्ञ अथवा कृषि विस्तार-अधिकारी की सहायता से बना सकते हैं। फार्म-योजना बनाने की विधि सरल है, लेकिन निर्मित योजना के विश्लेषण की विधि थोडी जटिल होती है। अत. योजना के परिणाम योजना बनाने वाले पर निर्भर करते हैं। प्राप्त परिणामो का दायित्व कृषक को वहन करना होता है। फार्म-योजना एव बजट बनाते समय कृषक अथवा विशेषज्ञ को निम्न बातो का ज्ञान होना आवश्यक है :—

(i) कृषको के उद्देश्य—फार्म-योजना बनाने के उद्देश्य विभिन्न कृषको के लिये विभिन्न होते है। कुछ कृषको का फार्म-योजना बनाने मे उद्देश्य अधिक आय की राशि प्राप्त करना होता है जबकि दूसरे कृषको का उद्देश्य कम पूंजी-निवेश करना अथवा कम जोखिम वहन करना होता है। उपर्युक्त सभी उद्देश्यो को एक ही फार्म-योजना मे सम्मिलित कर पाना सम्भव नहीं होता है।

(ii) कृषक के पास उपलब्ध उत्पादन-साधनों की मात्रा—विभिन्न कृषको के पास उपलब्ध उत्पादन-साधन—भूमि, सिंचाई की सुविधा, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध क्षमता मे विभिन्नता के कारण, प्रत्येक कृषक के लिये पृथक् रूप मे फार्म-योजना निर्मित करनी होती है।

(iii) तकनीकी ज्ञान का स्तर—कृषको मे कृषि से सम्बन्धित तकनीकी ज्ञान के उपयोग स्तर मे परस्पर विभिन्नता पाई जाती है जिसके कारण कुछ कृषक नयी विधियो अथवा उद्यमों को फार्म पर अपनाने को तत्पर होते हैं, जबकि अन्य कृषक ज्ञान के अभाव मे उन्हे फार्म पर अपनाना नही चाहते हैं।

(iv) कृषको की फार्म-प्रबन्ध क्षमता एव जोखिम-वहन शक्ति का ज्ञान।

(v) कृषको के योजना क्षितिजो (Planning-Horizons) की विभिन्नता का ज्ञान। विभिन्न कृषको के योजना-क्षितिज मे भी विभिन्नता पायी जाती है, जैसे कुछ कृषक आगामी एक या दो वर्षों मे फार्म से अधिक आय प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि अधिकाश कृषक फार्म से भविष्य मे निरन्तर अधिक आय प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार भू-स्वामियो एव आसामियो के योजना-क्षितिज मे भी अन्तर होता है। अतः विभिन्न योजना-क्षितिज वाले कृषको के लिये पृथक् रूप से फार्म-योजना तैयार की जाती है।

(vi) उत्पादन-साधनो एव प्रचलित बाजार कीमतो का ज्ञान।

फार्म-योजना एव बजट बनाने की विधि :

फार्म-योजना एव बजट बनाने मे कृषक अथवा विशेषज्ञ को अग्रसूची के अनुसार कार्य करना होता है—

(1) फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनों की सूची तैयार करना—फार्म-योजना बनाने का कार्य शुरू करने से पूर्व सर्वप्रथम कृषक के पास उपलब्ध साधनो की सूची तैयार करना आवश्यक होता है। उपलब्ध उत्पादन-साधनो की मात्रा के आधार पर ही कृषक के फार्म की भावी योजना तैयार की जाती है। उत्पादन-साधनों की सूची मे भूमि की किस्म के अनुसार फार्म का क्षेत्रफल, उपलब्ध पूंजी की मात्रा, श्रम की उपलब्धि, सिंचाई के पानी की व्यवस्था, बैल एव यान्त्रिक शक्ति की उपलब्धि, फार्म पर उपलब्ध यन्त्र एव मशीनें आदि सम्मिलित होती है। फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनो की सूची तैयार करते समय फार्म का नक्शा भी तैयार किया जाता है, जिससे फार्म के विभिन्न खण्डो की भूमि की किस्म, उनकी समतलता, उर्वरता, सिंचाई के साधन की स्थिति आदि अकित होती है।

उत्पादन-साधनो की सूची के आधार पर फार्म की भावी योजना तैयार की जाती है। निर्मित योजना की सफलता के लिये फार्म पर आवश्यक मात्रा मे उत्पादन-साधनो का होना आवश्यक है। उत्पादन-साधनो के अभाव मे फार्म पर निर्मित योजना कार्यान्वित नही हो सकती है। फार्म पर उत्पादन के सभी साधन आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध होने की अवस्था मे ही कृपक फार्म-योजना को कार्यान्वित करके लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त कर सकते है। फार्म पर सभी उत्पादन-साधनो का बाहुल्य होते हुये भी फार्म-योजना से प्राप्त होने वाले लाभ की राशि, फार्म पर सोमित उत्पादन-साधन की उपलब्ध मात्रा पर निर्भर करती है।

(2) फार्म की वर्तमान योजना का अध्ययन एवं विश्लेषण करना—फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनो की विस्तृत सूची तैयार करने के पश्चात् योजना-विशेषज्ञ का दूसरा कार्य कृषक द्वारा ली जाने वाली वर्तमान फसल-योजना, उत्पादन विधियो एव उत्पादन-साधनो की विभिन्न फसलो मे प्रयुक्त की जाने वाली मात्रा का अध्ययन करना है। फार्म की वर्तमान फार्म-योजना के अध्ययन एव विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य फार्म पर पायी जाने वाली कमियो को ज्ञात करना है, जिनके कारण कृषक को वर्तमान मे अनुकूलतम लाभ की राशि प्राप्त नही हो रही है। फार्म की भावी योजना बनाते समय इन कमियो को दूर करने की कोशिश की जाती है, जिससे कृषक निर्मित भावी फार्म-योजना से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कर सके।

(3) फार्म-योजना के लिये उद्यमो का चुनाव एवं उनके बजट तैयार करना—कृषक की वर्तमान फार्म-योजना का विश्लेषण करने के उपरान्त, फार्म की भावी योजना बनाने का कार्य शुरू किया जाता है। फार्म की भावी योजना बनाने मे सर्वप्रथम फार्म के लिये उद्यमो का चुनाव करना होता है। उद्यमो का चुनाव करते समय कृषक द्वारा वर्तमान मे अपनाये जाने वाले उद्यमो एवं अन्य उद्यम, जो उस क्षेत्र मे लिये जा सकते हैं, को ध्यान मे रखा जाता है। फार्म पर विभिन्न उद्यमो का चुनाव अग्र कारको पर निर्भर करता है—

(i) क्षेत्र की जलवायु एव मिट्टी की किस्म ।
(ii) विभिन्न उद्यमों के उत्पादन मे कृषक का अनुभव एव दक्षता ।
(iii) कृषक परिवार के लिये खाद्यान्न, तिलहन, दालें, सब्जी की आवश्यक मात्रा ।
(iv) पशुओं के लिये चारे की आवश्यक मात्रा ।
(v) विभिन्न फसलों के लिये आवश्यक उत्पादन-साधनों, जैसे—सिचाई के लिये पानी, पूँजी, श्रम आदि की मात्रा का ज्ञान ।
(vi) क्षेत्र विशेष मे उद्यमों के उत्पादन पर सरकारी प्रतिबन्ध ।
(vii) विभिन्न उद्यमों से प्राप्त होने वाले प्रति हैक्टर आकलित लाभ की राशि ।
(viii) भूमि की उर्वरा-शक्ति को बनाये रखने वाले उद्यमों का ज्ञान ।
(ix) उद्यमों की विपणन सम्भावना एव फार्म की बाजार से दूरी ।
(x) विभिन्न उद्यमों के चुनाव मे सामाजिक एव धार्मिक बन्धन ।

उपर्युक्त कारकों के आधार पर फार्म के लिये उद्यमों/फसलों का चुनाव करने के उपरान्त, उनके बजट तैयार किये जाते हैं। उद्यमों/फसलो के बजट से तात्पर्य विभिन्न उद्यमों/फसलो पर प्रति हैक्टर होने वाली सम्भावित लागत, सम्भावित आय एव शुद्ध लाभ की राशि ज्ञात करने से होता है। विभिन्न फसलो को कृषित करने की प्रति हैक्टर लागत ज्ञात करते समय बाजार से क्रय किये गये उत्पादन-साधन एव कृषक द्वारा अपने फार्म एव घर से पूर्ति किये गये उत्पादन-साधनों की लागत सम्मिलित की जाती है। साधारणतया कृषक फार्म एव घर से पूर्ति किये गये उत्पादन-साधनो की लागत को फसल की प्रति हैक्टर लागत ज्ञात करने मे सम्मिलित नही करते हैं तथा बाजार से क्रय किये गये साधनो की लागत का ही लेखा रखते हैं। प्रति हैक्टर कुल कृषित लागत ज्ञात करते समय व्यवस्थापन एव जोखिम की लागत सम्मिलित नहीं की जाती है। फसल से प्राप्त होने वाली प्रति हैक्टर कुल आय, प्राप्त मुख्य उत्पाद एव उपोत्पाद की मात्रा को उनकी विपणन मौसम मे प्रचलित कीमत से गुणा करके ज्ञात की जाती है।

फसलो के बजट द्वारा विभिन्न फसलो की प्रति क्विण्टल उत्पादन-लागत भी ज्ञात की जा सकती है। विभिन्न फसलो की प्रति क्विण्टल उत्पादन लागत के आँकडो के आधार पर सरकार बफर स्टॉक निर्माण हेतु उनकी वसूली कीमत निर्धारित करती है। मुख्य उत्पाद की प्रति क्विण्टल उत्पादन लागत निम्न दो विधियों से ज्ञात की जाती है—

(1) उपोत्पाद को सम्मिलित नहीं करते हुये—इस विधि मे उपोत्पाद पर हुई लागत व उससे प्राप्त आय को मुख्य उत्पाद के साथ सम्मिलित

नहीं किया जाता है। मुख्य उत्पाद की प्रति क्विण्टल उत्पादन-लागत ज्ञात करने का सूत्र निम्न है—

$$\text{उत्पाद की प्रति क्विण्टल उत्पादन-लागत} = \frac{\text{प्रति हैक्टर कुल कृषिन लागत}}{\text{मुख्य उत्पाद की प्रति हैक्टर प्राप्त मात्रा (क्विण्टल मे)}}$$

(ii) उपोत्पाद को सम्मिलित करते हुये इस विधि मे उपोत्पाद से प्राप्त आय को प्रति हैक्टर कुल की गई लागत मे से घटाने पर प्राप्त शेष लागत मे मुख्य उत्पाद की मात्रा का भाग दिया जाता है। सूत्र के अनुसार—

$$\text{उत्पाद की प्रति क्विण्टल उत्पादन-लागत} = \frac{\text{प्रति हैक्टर कुल कृषित लागत} - \text{उपोत्पाद से प्राप्त आय}}{\text{मुख्य उत्पाद की प्रति हैक्टर प्राप्त मात्रा (क्विण्टल मे)}}$$

फसलों के बजट बनाने का प्रोफार्मा आगे दिया जा रहा है। फसलो के समान ही पशुओ के बजट तैयार किये जाते हैं।

फसलों के बजट बनाने का प्रोफार्मा

फसल का नाम............ किस्म .... वर्ष .... क्षेत्र ....

विवरण	मात्रा (प्रति हैक्टर)	कीमत (रु प्रति इकाई)	कुल मूल्य रु
1. कुल कृषिन लागत			
(i) भूमि की तैयारी			
(ii) बुवाई से पूर्व सिंचाई			
(iii) खाद एव उर्वरक की लागत			
गोबर की खाद			
नेत्रजन उर्वरक			
फासफोरस उर्वरक			
पोटास उर्वरक			
(iv) बीज एव बीज उपचार			
(v) सिंचाई			
(vi) अन्त कृषि कार्य, जैसे— निराई, गुडाई आदि।			

(vii) कीटनाशक दवाइयो का उपयोग
(viii) कटाई, गायटा एव ओसाई
(ix) विद्युत डीजल तेल का उपयोग
(x) श्रम की आवश्यकता
(xi) विविध लागत
(xii) कार्यशील पूँजी का फसल के औसत समय से आधे समय का ब्याज

कुल कृषित लागत

2 कुल आय
(i) मुख्य उत्पाद (ii) उपोत्पाद

कुल आय

3. शुद्ध लाभ/स्थायी फार्म उत्पादन-साधनो का प्रतिफल

4 प्रति क्विन्टल उत्पादन लागत

विभिन्न फसलो के बजट प्रचलित कृषि-उत्पादन विधियो के अतिरिक्त कृषि विभाग एव कृषि विश्वविद्यालय द्वारा सिफारिश किए गए तकनीकी ज्ञान के स्तर पर भी बनाए जाते हैं। प्रस्तावित तकनीकी ज्ञान मे प्रयुक्त उत्पादन-साधनो एव प्राप्त होने वाली उत्पत्ति के गुणाक (Input-Output-Coefficients) क्षेत्र के अनुसन्धान एव प्रदर्शन फार्म, प्रगतिशील कृषक, क्षेत्र के कृषि विश्वविद्यालय या कृषि विभाग से प्राप्त किए जा सकते हैं।

(4) फार्म के लिए फसल-योजना तैयार करना—फार्म के लिए उद्यमो/फसलो के चुनाव एव उनके बजट बनाने के पश्चात् चुनी हुई फसलो को फसल-चक्र मे लगाना एव विभिन्न फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल निर्धारित करना होता है। फसल-चक्र द्वारा फसलो का क्रम निर्धारित किया जाता है। फार्म पर विभिन्न फसलो के अन्तर्गत लिया जाने वाला क्षेत्रफल निम्न कारको पर निर्भर करता है—

(i) फार्म पर सीमित उत्पादन-साधनों की उपलब्ध मात्रा।
(ii) विभिन्न फसलो से प्राप्त प्रति हैक्टर लाभ की राशि।
(iii) पशुओ के लिए चारे की आवश्यक मात्रा।
(iv) परिवार के सदस्यो के उपयोग के लिए खाद्यान्न, तिलहन, दालो की आवश्यक मात्रा।
(v) कृषकों की जोखिम वहन क्षमता।

(vi) कृषको द्वारा चाही गई फसल-गहनता (Cropping intensity)।

(vii) फसल-चक्र के नियम।

(viii) भूमि की उर्वरा शक्ति मे वृद्धि करने वाली फसलो का समावेश।

उपर्युक्त कारको के आधार पर फार्म के लिए दो या तीन फसल-चक्र योजनाएँ तैयार की जाती हैं। विभिन्न फसल क्रम योजनाओ मे फसलो के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रफल होता है। एक फार्म के लिए दो या तीन योजनाएँ बनाना इसलिए आवश्यक है कि प्रस्तावित एक फसल-क्रम योजना के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनों के पूर्ण मात्रा मे फार्म पर उपलब्ध नही होने की अवस्था मे फार्म-योजना बनाने का कार्य फिर से प्रारम्भ नही करना पड़े।

(5) प्रस्तावित फसल-क्रम योजनाओ के जाच पत्र तैयार करना—फार्म-योजना बनाने के इस क्रम मे प्रस्तावित फसल-क्रम योजनाओ मे से फार्म के लिए एक योजना का चुनाव किया जाता है। विभिन्न प्रस्तावित योजनाओ मे से एक योजना का चुनाव उसके लिए आवश्यक उत्पादन-साधनो की मात्रा एव फार्म पर उपलब्ध साधनों के जाँच-पत्र के आधार पर किया जाता है। यह जाँच-पत्र सिंचाई, श्रम, पूंजी आदि उत्पादन-साधनो के लिए तैयार किये जाते हैं। अन्त मे एक फार्म योजना का, जो जाँच-पत्रो के आधार पर पूर्णतया अपनायी जा सकती है, चुनाव किया जाता है।

(6) प्रस्तावित फार्म-योजना का विश्लेषण करना—निर्मित फार्म-योजना के फार्म पर कार्यान्वित करने के पूर्व कृषक की जिज्ञासा होती है कि चुनी हुई योजना को फार्म पर कार्यान्वित करने से वर्तमान फार्म-योजना की अपेक्षा कितना अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा। अत फार्म-योजना से प्राप्त होने वाले अतिरिक्त लाभ की राशि ज्ञात करने के लिए फार्म-योजना का आर्थिक विश्लेषण करना होता है। प्रस्तावित फार्म-योजना आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभ प्रदान करने वाली होने की अवस्था मे ही कृषको द्वारा फार्म पर कार्यान्वित की जाती हैं।

वर्तमान फार्म-योजना एव प्रस्तावित फार्म-योजना का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए दोनों योजनाओ के फार्म कार्यकुशलता के उपाय (Farm efficiency measures) ज्ञात किये जाते हैं। विभिन्न उत्पादन-साधनो के फार्म कार्यकुशलता उपाय ज्ञात करने के सूत्र अग्राकित दिए गए हैं—

(i) भूमि-साधन की कार्यकुशलता या दक्षता करने के उपाय

(अ) फसल-गहनता $= \dfrac{\text{कुल फसल क्षेत्रफल}}{\text{कुल कृषित क्षेत्र}} \times 100$

(ब) प्रति हैक्टर शुद्ध फार्म आय $=\dfrac{\text{कुल शुद्ध फार्म आय}}{\text{फार्म पर कुल भूमि क्षेत्र (हैक्टर)}}$

(स) प्रति हैक्टर शुद्ध फार्म अर्जन $=\dfrac{\text{कुल शुद्ध फार्म अर्जन}}{\text{फार्म पर कुल भूमि क्षेत्र (हैक्टर)}}$

(ii) श्रम साधन की कार्यकुशलता ज्ञात करने के उपाय

(अ) प्रति श्रमिक समग्र आय $=\dfrac{\text{फार्म से प्राप्त कुल आय}}{\text{फार्म पर कुल श्रमिको की सख्या}}$

(ब) प्रति मानव उत्पादित मानव कार्य इकाई

$=\dfrac{\text{कुल उत्पादित मानव कार्य इकाईयाँ}}{\text{कुल श्रमिक (मानव इकाई के समतुल्य)}}$

(स) प्रति श्रमिक फसल-क्षेत्रफल $=\dfrac{\text{फार्म पर कुल फसल-क्षेत्रफल}}{\text{कुल श्रमिक सख्या}}$

(द) श्रम अर्जन=शुद्ध फार्म अर्जन—निवेश की गई पूँजी का ब्याज

(iii) पूँजी-साधन की कार्यकुशलता ज्ञात करने के उपाय

(अ) स्थायी फार्म साधनो का प्रतिफल=फार्म से प्राप्त कुल आय—फार्म की कुल परिवर्तनशील लागत

(ब) उत्पादन से प्राप्त शुद्ध आय=उत्पादन से प्राप्त कुल नकद आय—कुल कार्यशील नकद उत्पादन-लागत

(स) शुद्ध फार्म आय=उत्पादन से प्राप्त शुद्ध नकद आय±फार्म सम्पत्ति मे परिवर्तन की राशि±मूल्य-ह्रास की राशि

(द) शुद्ध फार्म अर्जन=शुद्ध फार्म आय+फार्म से प्राप्त उत्पादो के घर पर उपयोग का मूल्य

(य) पूँजी-निवेश प्रतिफल=शुद्ध फार्म अर्जन – प्रबन्ध लागत

(र) औसत पूँजी-निवेश

$=\dfrac{\text{वर्ष के शुरू मे कुल सम्पत्ति + वर्ष के अन्त मे कुल सम्पत्ति}}{2}$

(ल) पूँजी-उत्पादन अनुपात

$=\dfrac{\text{समग्र आय}}{\text{फार्म पर पूँजी-निवेश की औसत राशि}}\times 100$

(iv) प्रबन्ध-साधन की कार्यकुशलता ज्ञात करने के उपाय

प्रबन्ध-प्रतिफल=शुद्ध फार्म अर्जन – परिवार के सदस्यो द्वारा किये गए श्रम का मूल्य – निवेश की गई पूँजी का ब्याज

(v) फसल उत्पादकता सूचकांक (Crop Yield Index) :

यह सूचकाक फार्म पर सभी फसलो की उत्पादकता का सम्मिलित सूचकाक होता है जो फार्म पर फसल योजना की दक्षता ज्ञात करने मे प्रयुक्त किया जाता है। यदि किसी फार्म पर फसल-उत्पादकता सूचकाक 100 से अधिक होता है तो उससे तात्पर्य है कि वह फार्म क्षेत्र के औसत फार्मों की अपेक्षा अधिक दक्ष है। इसे ज्ञात करने की विधि सारणी 7.3 मे दी गई है—

(7) प्रस्तावित फार्म-योजना को कार्यान्वित करना—फार्म-योजना के आर्थिक विश्लेषण के पश्चात् प्रस्तावित फार्म-योजना को कार्यान्वित करना होता है। फार्म-योजना से प्रस्तावित लाभ की राशि तभी प्राप्त हो सकती है जब प्रस्तावित फार्म-योजना फार्म पर कार्यान्वित की जाती है। बहुधा कृषक फार्म-योजना तो तैयार करते हैं, लेकिन कार्यान्वित करने मे आने वाली कठिनाइयो के कारण उसे फार्म पर पूर्णतया अपना नही पाते है। प्रत्येक नए व्यवसाय को शुरू करने मे कठिनाइयाँ होती है। अन्य व्यवसायो की भांति कृषको को भी फार्म-योजना को कार्यान्वित करने मे कठिनाइयो का होना स्वाभाविक है। फार्म व्यवसाय से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए निर्मित योजना को सभी कठिनाइयो की अवस्था मे कृषको द्वारा कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विधि से कृषको को प्रतिवर्ष अपने फार्म के लिए फार्म-योजना एव बजट बनाना चाहिए। फार्म-योजना एव बजट बनाने मे कृषको का समय अवश्य लगता है, लेकिन फार्म-योजना के अनुसार कार्य करने पर कृषको को योजना रहित कार्य करने की अपेक्षा लाभ अधिक प्राप्त होता है।

रेखीय प्रोग्रामिंग

फार्म-योजना विश्लेषण की दूसरी प्रयुक्त गणितीय-विधि रेखीय प्रोग्रामिंग है जो द्वितीय महायुद्ध के समय प्रचलित हुई थी। इस विधि के अन्तर्गत कृषको को फार्म से अधिकतम आय प्राप्त कराने के लिए उद्यमो का चुनाव, उद्यमो के अन्तर्गत क्षेत्रफल तथा उत्पादन-साधनो के उपयोग की मात्रा का ज्ञान फार्म-बजट द्वारा ज्ञात न करके मैट्रिक्स बीजगणित (Matrix algebra) की सहायता से ज्ञात किया जाता है।

रेखीय प्रोग्रामिंग वह विधि है जिसके द्वारा फार्म पर अधिकतमकरण व न्यूनतमकरण की समस्याओ का हल उपलब्ध उत्पादन-साधनो की परिसीमितता की स्थिति मे ज्ञात किया जाता है। रेखीय प्रोग्रामिंग विधि द्वारा प्राप्त परिणाम पूर्ण होते हैं

सारणी 7 3

फार्म की फसल-उत्पादकता सूचकांक ज्ञात करना

फसल	क्षेत्रफल (हैक्टर)	फार्म पर औसत उत्पादकता (क्विन्टल/हैक्टर)	फार्म पर प्राप्त कुल उत्पादन (क्विन्टल)	क्षेत्र मे औसत उत्पादकता (क्विन्टल हैक्टर)	फार्म पर प्राप्त कुल उत्पादन की प्राप्ति के लिए क्षेत्र की औसत उत्पादकता के अनुसार आवश्यक क्षेत्रफल (हैक्टर मे)
गेहूँ	10	30	300	20	15
जौ	5	16	80	10	8
चना	5	10	50	12 5	4
बाजरा	15	4	60	5	12
मूँग	5	3	15	2 50	6
योग	40				45

फार्म पर फसल-उत्पादकता सूचकांक $=\frac{45}{40}\times 100=112.5$ प्रतिशत

क्योंकि इस विधि द्वारा प्राप्त उद्यमो के सयोग व उत्पादन-साधनो के उपयोग से अनुकूलतम लाभ की राशि प्राप्त होती है। उद्यमो का अन्य सयोग अथवा उत्पादन-साधनो का अन्य उपयोग रेखीय प्रोग्रामिग विधि से प्राप्त लाभ से कम लाभ की राशि प्रदान करता है।

रेखीय प्रोग्रामिग विधि मे गणित का अधिक प्रयोग होने के कारण इस विधि के उपयोग मे आकलन मशीनो (Calculating machines) के आने से विस्तार हुआ है। मशीनो की सहायता के बिना रेखीय प्रोग्रामिग विधि का उपयोग अनुकूलतम फार्म-योजना बनाने के लिए सम्भव नही हो पाता है। अधिकाश कृषको, विस्तार सस्थाओं एव विशेषज्ञो के पास ये मशीनें उपलब्ध नही हैं एव वे इस विधि से भी अनभिज्ञ होते हैं। अत देश में अनुकूलतम फार्म-योजना बनाने के लिए फार्म-बजट विधि ही अधिक प्रचलित है। फार्म-योजना के विश्लेषण की दोनो ही विधियो-फार्म-बजट एव रेखीय प्रोग्रामिग के लिए आवश्यक सूचना एव आकडे समान होते हैं। रेखीय प्रोग्रामिग विधि किसी भी आर्थिक समस्या का हल ज्ञात करने मे प्रयुक्त की जा सकती है, जिसका उद्देश्य आय मे वृद्धि अथवा लागत मे कमी करना होता है।

रेखीय प्रोग्रामिग विधि की मूलभूत मान्यताए

रेखीय प्रोग्रामिग विधि निम्न मूलभूत मान्यताओ पर आधारित है—

(i) **रेखीयता**—रेखीय प्रोग्रामिग विधि की प्रथम मान्यता है कि इन्पुट-आउटपुट एव कीमतो के सम्बन्ध रेखीय होते हैं अर्थात् उत्पादन-साधन की प्रत्येक इकाई, उत्पत्ति मे समान मात्रा मे वृद्धि करती है। इन्पुट-आउटपुट मे $y = bx$ का सम्बन्ध होना है।

(ii) **इन्पुट-आउटपुट गुणांक व कीमतो मे एकाकीपन होना**—रेखीय प्रोग्रामिग विधि की दूसरी मान्यता है कि उत्पादन-साधनों की मात्रा, इन्पुट-आउटपुट गुणाक एव कीमतें निश्चित रूप से ज्ञात होती हैं। जहा पर इनमे अनिश्चितता होती है अथवा इनमे परिवर्तन होने की आशका होती है, वहाँ पर रेखीय प्रोग्रामिग विधि उपयोग मे नही आ सकती है। उत्पादन की मात्रा कम होने अथवा अधिक होने, फार्म पर उत्पादन-साधनो की मात्रा अधिक अथवा कम उपयोग करने की दोनो ही अवस्थाओ मे उत्पाद एव उत्पादन-साधनो की कीमतें समान रहती हैं।

(iii) **विभाज्यता**—इस मान्यता से तात्पर्य है कि उत्पादन-साधन एव क्रियाओ को छोटी-छोटी इकाइयो मे विभक्त किया जा सकता है जैसे—भूमि के क्षेत्र को छोटे-छोटे खण्डो मे, पूंजी को रुपयो एव पैसो मे, श्रम को दिन व घण्टो मे विभक्त किया जा सकता है।

(iv) **योगात्मक**—यह मान्यता विभाज्यता की विलोम है। इसके अन्तर्गत

विभिन्न उत्पादन-साधनो एवं क्रियाओं के योग से प्राप्त उत्पाद का, उस इकाई के पृथक् रूप से प्रयोग से प्राप्त उत्पाद की मात्रा के समतुल्य होना आवश्यक होता है।

(v) **सीमितता**—इस मान्यता से तात्पर्य है कि उत्पादन प्रक्रिया मे उत्पादन-साधनों की सख्या, उत्पादन विधियो/क्रियाम्रो की सख्या, उन पर प्रतिबन्धो की सख्या सीमित होती है। साधनो, क्रियाम्रो एवं प्रतिबन्धो की सख्या सीमित नही होने की अवस्था मे यह विधि प्रयोग मे नही लाई जा सकती है।

रेखीय प्रोग्रामिंग विधि का उदाहरण :

इस अनुभाग मे रेखीय प्रोग्रामिंग विधि द्वारा अनुकूलतम फार्म-योजना बनाने की विधि का विवेचन किया गया है। अनुकूलतम फार्म-योजना बनाने का मुख्य उद्देश्य लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त करने से है। यहाँ अधिकतमकरण की दो समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। सर्वप्रथम दो उत्पादो के उत्पादन मे चार उत्पादन-साधनो के अनुकूलतम उपयोग एव तत्पश्चात् अनेक उत्पादन-साधनो से अनेक उत्पादो के अनुकूलतम उत्पाद सयोग ज्ञात करने की विधि का विवेचन किया गया है।

(i) दो उत्पाद एव अनेक उत्पादन-साधन :

इस समस्या मे कृषक के कुल लाभ की राशि को उस स्थिति मे अधिकतम करना है जबकि फार्म पर अनेक कृषिगत पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं और उनके उत्पादन के लिए कई सीमित साधन प्रयुक्त किये जाते हैं। सुविधा के लिए यहाँ दो उत्पाद एव चार उत्पादन-साधन लिए गये है। प्रत्येक उत्पाद के उत्पादन के लिए प्रक्रियाएँ निर्धारित की जाती हैं। उत्पादन साधनो के प्रतिबन्धो के सहित यह समस्या विभिन्न उत्पादो के सम्भाव्य क्षेत्र को निर्धारित करती है। प्रत्येक उत्पाद के द्वारा प्रदान किये जाने वाले लाभ की राशि के ज्ञात होने पर, विभिन्न उत्पादों की मात्राम्रो के लिए समआय रेखाएँ (Iso-Revenue Lines) स्थापित की जाती हैं। समस्या का श्रेष्ठतम हल वह है जहाँ पर सम्भाव्य हलो का क्षेत्र सर्वोच्च-सम्भव सम-आय रेखा को केवल मात्र छूता है। यह बिन्दु सामान्यत. सम्भाव्य हलो के क्षेत्र के कोने (Corner) पर होता है।

उदाहरण के रूप मे एक कृषक अपने सीमित उत्पादन-साधनो—भूमि, पूंजी, बुवाई के लिए उपलब्ध श्रम एव कटाई के लिए उपलब्ध श्रम से गेहूँ एव जौ उत्पाद उत्पन्न करना चाहता है। प्रत्येक उत्पादन-साधन की क्षमता निश्चित होती है। विभिन्न उत्पादो की एक इकाई से प्राप्त लाभ, प्रत्येक उत्पाद की प्राप्त कीमत व उसकी औसत परिवर्तनशील लागत पर निर्भर करता है। यहाँ यह मान्यता है कि विभिन्न उत्पादो की औसत परिवर्तनशील लागत एव लाभ की राशि स्थिर होती है। सारणी 7 4 मे विभिन्न उत्पादन-साधनो की कुल उपलब्ध मात्रा एव प्रत्येक उत्पादन-

साधन का वह भाग जो गहू एव जौ उत्पाद की एक इकाई के उत्पादन मे आवश्यक होता है, प्रदर्शित किये गए हैं—

सारणी 7 4

फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनों की मात्रा एव विभिन्न उत्पादों की एक इकाई उत्पादन के लिए आवश्यक साधनों की मात्राएं

उत्पादन-साधन	उत्पादन-साधन की कुल उपलब्ध मात्रा	प्रति इकाइ (क्विन्टल) उत्पाद के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनों की मात्रा	
		गेहूँ (X)	जौ (Y)
1 भूमि (हैक्टर)	8 0	0 033	0 05
2 पूंजी (रुपय)	10,000	50	40
3 बुवाई के लिए उपलब्ध श्रम (मानव दिवस)	200	0 67	0 5
4 कटाइ के लिए उपलब्ध श्रम (मानव-दिवस)	150	0 67	0 5

सारणी मे दो उत्पादों के उत्पादन की प्रक्रियाएँ प्रदर्शित की गई हैं। गहूँ के उत्पादन मे एक प्रक्रिया व जौ के उत्पादन म भी एक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त सारणी के आधार पर विभिन्न उत्पादन-साधनों की सहायता से गहूँ एव जौ की अधिकतम मात्रा उत्पन्न की जा सकती है, वह ज्ञात की जाती है। उदाहरणतया 0 033 हैक्टर भूमि क्षेत्र गेहूँ की एक इकाई उत्पादन के लिए और 0 05 हैक्टर क्षेत्र जौ की एक इकाई उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। अत यदि गहूँ की मात्रा शून्य हो तो उपलब्ध भूमि के क्षेत्र (8 0 हैक्टर) से 160 इकाइयाँ जौ की उत्पन्न की जा सकती हैं। यदि जौ की मात्रा शून्य हो तो भूमि के 8 हैक्टर क्षेत्र से गहू की 240 इकाइयां उत्पन की जा सकती है। इसी प्रकार अन्य उत्पादन-साधनों की उपलब्ध सीमित मात्रा से गेहू एव जौ की जा अधिकतम इकाइयाँ उत्पन्न की जा सकती हैं वह ज्ञात की जाती हैं। सारणी 7 5 म विभिन्न उपलब्ध उत्पादन-साधनों से गेहूँ एव जौ की जो अधिकतम मात्रा उत्पन्न की जा सकती हैं, वह प्रदर्शित की गई है—

सारणी 75

विभिन्न उत्पादों की अधिकतम उत्पादन की मात्राएं

उत्पादन-साधन	उत्पाद की अधिकतम मात्रा जो उत्पन्न की जा सकती है	
	गेहूँ (X) (क्विण्टल)	जौ (Y) (क्विण्टल)
1 भूमि	240	160
2 पूंजी	200	250
3 बुवाई के लिये उपलब्ध मानव-श्रम	300	400
4 कटाई के लिये उपलब्ध मानव श्रम	225	300

दोनो उत्पादो के अधिकतम उत्पादन-बिन्दुओ को रेखाचित्र 7 1 मे प्रदर्शित किया गया है। विभिन्न उत्पादन साधनो की उपलब्धि सीमित मात्रा से अधिकतम उत्पाद के बिन्दुओ को मिलाने वाली सरल रेखा, उत्पादों का उत्पादन-सम्भावना वक्र कहलाती है। चित्र मे भूमि, पूंजी, बुवाई के लिये उपलब्ध मानव-श्रम एव कटाई के लिये उपलब्ध मानव-श्रम से उत्पादन सम्भावना रेखाचित्रीय रूप दर्शाती है। प्रत्येक वक्र उत्पादन-साधन के सम्पूर्ण उपयोग को प्रदर्शित करता है, लेकिन प्रत्येक उत्पादन साधन का सम्पूर्ण उपयोग तभी सम्भव है जब उत्पादन के अन्य साधन फार्म पर असीमित मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। उत्पादन-साधनो की सीमितता की अवस्था मे प्राप्त उत्पादन सम्भाव्य क्षेत्र ABC होता है। भूमि एव पूंजी सबसे अधिक सीमित मात्रा मे फार्म पर उपलब्ध होते हैं।

कृषक की समस्या का श्रेष्ठतम हल उत्तरोत्तर ऊँचे समआय-वक्रो पर जाकर रेखाचित्रीय विधि से निकाला जा सकता है और यह उस स्थान पर होता है जहां ऐसा समआय-वक्र आ जाता है जिसे सम्भाव्य हलो का क्षेत्र (Production feasible zone) केवल मात्र छूता है।

यदि गेहूँ एव जौ के उत्पादन से लाभ की राशि क्रमश 45 रु व 55 रु प्रति इकाई प्राप्त होती है तो कृषक को अधिकतम लाभ प्रदान करने वाला लक्ष्य-समीकरण (Objective equation) 45 गेहूँ+55 जौ=W होता है। प्रति इकाई गेहूँ की मात्रा से प्राप्त लाभ को गेहूँ उत्पादन की कुल मात्रा से गुणा करने पर प्राप्त राशि गेहूँ के उत्पादन से प्राप्त कुल लाभ की राशि होती है। प्रति इकाई जौ की मात्रा से प्राप्त लाभ को जौ उत्पादन की कुल मात्रा से गुणा करने पर प्राप्त राशि जौ के उत्पादन से प्राप्त कुल लाभ की राशि होती है। दोनो उत्पादो के
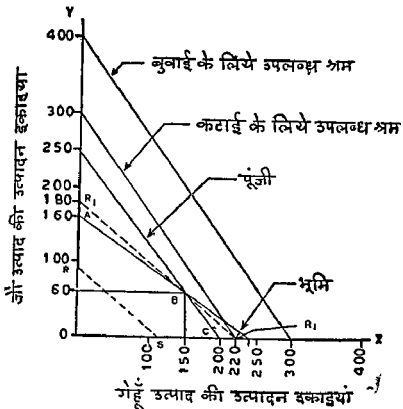
चित्र 7 1 रेखीय प्रोग्रामिंग विधि द्वारा उत्पादो की उत्पादन सम्भाव्य मात्रा

उत्पादन से प्राप्त कुल लाभ की राशि का योग W कहलाता है, जो कृपक को फार्म से प्राप्त होने वाला कुल लाभ होता है।

चित्र 7 1 मे RS रेखा कृपक के 4950 रु कुल लाभ (W) के लिये सम-आय वक्र है। यह वक्र गेहूँ एव जौ के उन समस्त सयोगो को दर्शाता है जो इस राशि के समान लाभ प्रदान करते हैं। फार्म से अधिक लाभ (W की अपेक्षा अधिक लाभ) के लिये सम-आय वक्र, पहले वाले वक्र के दाहिनी तरफ कुछ दूरी पर होता है, लेकिन सभी सम-आय वक्रो का ढाल समान होता है। इसी प्रकार फार्म से कम लाभ अर्थात् W की अपेक्षा कम लाभ के लिये समय-आय वक्र पहले वाले वक्र के बायी तरफ कुछ दूरी पर होता है। चित्र मे समय-आय वक्र का ढाल=P गेहूँ/P जौ अर्थात् 45/55 है।

सम-आय वक्र R_1R_1 उपर्युक्त चित्र मे सम्भाव्य हलो के क्षेत्र मे B बिन्दु पर छूता है। सम्भाव्य हलो के क्षेत्र की सीमा पर अथवा इसके अन्दर कोई भी दूसरा बिन्दु R_1R_1 सम-आय वक्र को नही छू पाता है। अर्थात् R_1R_1 सम आय वक्र पर B बिन्दु के अतिरिक्त अन्य सभी बिन्दु सम्भाव्य हलो के क्षेत्र के बाहर पडते

है। कृषक उपलब्ध उत्पादन साधनो से 150 इकाई गेहूँ एव 60 इकाई जौ का उत्पादन करेगा। उपर्युक्त उत्पादो के उत्पादन से कृषक को 10,050 रु का कुल लाभ (150 इकाई गेहूँ × 45 रु + 60 इकाई जौ 55 रु) प्राप्त होना है। लाभ की यह राशि सर्वाधिक होती है।

(ii) अनेक उत्पाद एव अनेक उत्पादन साधन

फार्म पर साधारणतया दो से अधिक उत्पाद उत्पन्न किये जाते है। अत दो से अधिक उत्पाद एव अनेक उत्पादन साधनो की अवस्था मे अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले उत्पादो का सयोग ज्ञात करने का कार्य रखा चित्र की सहायता से कर पाना सम्भव नही होता है। यह कार्य मैट्रिक्स बीजगणित की सहायता से सुगमता से हो सकता है। निम्न उदाहरण मे फार्म पर 4 सीमित उत्पादन साधनो से 6 उत्पादो के उत्पादन मे अधिकतम लाभ की राशि प्रदान करने वाले सयोग ज्ञात करने की विधि मैट्रिक्स बीजगणित की सहायता से प्रस्तुत की गई है। मैट्रिक्स बीजगणित की सहायता से उत्पादो के सयोग की विभिन्न पुनरुक्तियाँ (Iterations) ज्ञात की जाती है। प्रत्येक पुनरुक्ति फाम की एक वैकल्पिक योजना है जिसको अपनाने से प्राप्त लाभ की राशि सारणी के B कालम म ज्ञात हो जाता है।

कृषक फाम पर चार सीमित उत्पाद साधनो की सहायता म उद्यम/फसलें—गेहूँ, जौ चना, बाजरा मूग एव ग्वार का वह सयोग उत्पन्न करना चाहता है जिसको अपनाने से उसे अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त हो सके। उपलब्ध सीमित उत्पादन साधन निम्न हैं—

(i) खरीफ की भूमि—7 0 एकड
(ii) रबी की भूमि—5 5 एकड
(iii) सिचाई का अधिकतम क्षेत्र—4 5 एकड
(iv) श्रम उपलब्धि (अक्टूबर— नवम्बर)—1528 घटे।

सर्वप्रथम फाम से प्राप्त आँकडा की सहायता से विभिन्न फसलो के बजट तैयार किये जाते है जो विभिन्न फसलो से प्रस्तावित प्रति एकड लाभ की राशि प्रदर्शित करते है। उसके बाद उपर्युक्त सभी आकडो को मैट्रिक्स सारणी रूप मे नियत किया जाता है। सारणी 7 6 म प्राप्त आँकडो को मैट्रिक्स विधि मे प्रस्तुत किया गया है।

सारणी 7 7 मे प्रस्तावित योजना फार्म पर अपनाने से कृषकों को 2250 रु का लाभ प्राप्त होता है। यह योजना अनुकूलतम फार्म योजना कहलाती है क्योकि इस योजना म यदि कुछ भी परिवर्तन किया जाता है तो फाम से प्राप्त होने वाले लाभ की राशि बढने के स्थान पर कम हो जाती है। प्राप्त परिणामो के अनुसार कृषक को फार्म पर 7 एकड क्षेत्र मे खरीफ के मौसम मे मू ग की फसल एव रबी के मौसम मे एक एकड क्षेत्र मे चना एव 4 5 एकड क्षेत्र मे गेहूँ की फसल लेनी

सारणी 7.6

मैट्रिक्स सारणी

Z	सीमित उत्पादन-साधन	$C_j \rightarrow$	0	0	0	0	300	270	200	125	100	90	
			Disposal प्रक्रियाएँ				Real प्रतिक्रियाएँ						R
		B	A_7	A_8	A_9	A_{10}	A_1	A_2	A_3	A_4	A_5	A_6	
0	खरीफ भूमि (A_7)	7 0 एकड	1	0	0	0	0	0	2	1	1	1	∞
0	रबी भूमि (A_8)	5.5 एकड	0	1	0	0	1	1	1	0	0	0	5.5
0	सिंचाई का अधिकतम क्षेत्र (A_9)	4.5 एकड़	0	0	1	0	1	1	0	1	0	0	4.5
0	उपलब्ध मानव श्रम (अक्टूबर-नवम्बर) (A_{10})	1528 घंटे	0	0	0	1	114	90	50	40	0	0	13.89
	Z_j	0	0	0	0	0	0	0	0	0	0	0	
	Z_j-C_j	0	0	0	0	0	−300	−270	−200	−125	−100	−90	

सारणी मे C_j=विभिन्न फसलो के प्रति एकड भूमि क्षेत्र से प्राप्त लाभ की राशि–रुपयो मे

$A_1, A_2....A_6$ विभिन्न फसलें—गेहूँ, जौ, चना, बाजरा, मूंग एव ग्वार

$A_7, A_8... A_{10}$ सीमित उत्पादन-साधन जैसे—खरीफ भूमि, रबी भूमि, सिंचित क्षेत्र एव उपलब्ध मानव-श्रम

उपर्युक्त सारणी की सिम्पलैक्स विधि[1] (Simplex Technique) द्वारा हल करके अनुकूलतम योजना की पुनरुक्तियाँ निकालते रहते हैं जब तक कि Zj–Cj पंक्ति में सभी संख्याएँ धनात्मक नहीं हो जाती हैं। प्राप्त परिणाम (अन्तिम पुनरुक्ति) सारणी 7.7 में प्रदर्शित है।

सारणी 7.7
प्राप्त अन्तिम पुनरुक्ति

सीमित	Cj→	0	0	0	0	300	270	200	125	100	90
Z उत्पादन-साधन	B	A_7	A_8	A_9	A_{10}	A_1	A_2	A_3	A_4	A_5	A_6
100 मूंग (A_5)	7.0 एकड़	1	0	0	0	0	0	0	1	1	1
200 चना (A_3)	1.0 एकड़	0	1	–1	0	0	0	1	–1	0	0
300 गेहूं (A_1)	4.5 एकड़	0	0	1	0	1	1	0	1	0	0
0 श्रम (A_{10})	808 मानव घंटे	0	0	–160	1	–50	–70	50	–120	0	0
Zj	2250	100	200	100	0	300	300	200	200	100	100
Zj-Cj	2250	100	200	100	0	0	30	0	75	0	10

1. E. O. Heady & W. Candler, Linear Programming Methods, The Iowa State University Press, Ames, Iowa, 1958.

चाहिये । उपर्युक्त फसलो को लेने के उपरान्त कृषक के पास 808 मानव श्रम घटे अधिशेष रह जाते है । अत कृषक को इन अधिशष मानव-घटो मे दूसरो के फार्म पर कार्य करके अपनी आय मे वृद्धि करनी चाहिये ।

अनुकूलतम फसल-योजना

अनुकूलतम फसल योजना से तात्पर्य फार्म की उस युक्ति-सगत उत्पादन-योजना से है जो कृषको को फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनो की सीमितता एव उत्पादन सम्भावनाओ के ढाचे मे अधिकतम शुद्ध लाभ की राशि प्राप्त कराती है । कृषकों को प्राप्त होने वाला अधिकतम लाभ एक वर्ष के लिए अधिक न होकर आने वाले वर्षों मे अधिक प्राप्त होना चाहिए ।

प्रत्येक जोत के लिए उत्पादन-साधनो की विभिन्नता के कारण अनुकूलतम फसल-योजना विभिन्न होती है। अत देश की अनेक जोतो के लिए एक ही अनुकूलतम योजना प्रस्तावित नही की जा सकती है । अनुकूलतम फसल योजना वर्तमान तकनीकी ज्ञान स्तर एव उन्नत तकनीकी ज्ञान-स्तर पर तथा साधनो की प्रस्तावित उपलब्ध मात्रा के अनुसार उपर्युक्त दोनो विधियों—फार्म योजना एव बजट तथा रेखीय प्रोग्रामिग—द्वारा बनाई जा सकती है ।

लागत सकल्पना
(Cost Concepts)

विभिन्न फार्म व्यवस्थापन अध्ययनो मे उत्पादन की लागत ज्ञात करने मे निम्न चार लागत सकल्पनाएँ प्रयोगित की गई हैं । इन्ही लागतो के आधार पर विभिन्न उत्पादन कारको को प्राप्त होने वाली आय की परिकल्पना की गई है । इन लागतो की सक्षिप्त व्याख्या निम्न है .

(i) लागत अ$_1$ (Cost A_1)

इस लागत मे वे सभी खर्चे सम्मिलित होते है जो कृषक द्वारा नकद या वस्तु के रूप मे भुगतान किए जाते हैं । इसमे सम्मिलित लागत के अवयव निम्न हैं ·

(i) स्थायी एव अस्थायी श्रमिको की लागत ।
(ii) स्वय एव किराये पर लिए गए बैलो के श्रम की लागत ।
(iii) स्वय एव किराये पर ली गई मशीनो की लागत ।
(iv) उर्वरक की लागत ।
(v) खाद की लागत (स्वय एव क्रय किए गए) ।
(vi) बीज की लागत (फार्म पर उत्पादित एव क्रय किये गये) ।
(vii) कीटनाशी दवाइयो की लागत ।
(viii) सिचाई की लागत ।
(ix) नहर के पानी की दी गई लागत राशि ।
(x) भू-राजस्व, अधिभार एव अन्य भुगतान किए गए करो की राशि ।

(xi) फार्म भवन, मशीनो, सिचाई साधनो एव फार्म औजारो की घिसावट की लागत ।

(xii) अन्य लागत जैसे–छोटे औजारो के रख-रखाव की लागत एव अन्य कार्यों की लागत ।

(xiii) कार्यशील पूंजी का ब्याज ।

(ii) लागत अ$_2$ (Cost A_2)

लागत अ$_1$ मे बटाई पर ली गई भूमि की देय लगान राशि सम्मिलित करने पर जो लागत आती है, वह लागत अ$_2$ कहलाती है । दूसरे शब्दो मे एक आसामी कृषक (Tenant farmer) द्वारा दिए गए सभी व्यय लागत अ$_2$ कहलाती है ।

लागत अ$_2$=लागत अ$_1$+बटाई पर ली गई भूमि की देय लगान की राशि ।

(iii) लागत 'ब' (Cost B)

लागत अ$_2$ मे स्वय की भूमि की आरोप्य लगान राशि (Imputed rental value) एव स्वय की स्थायी निवेश पूंजी (भूमि के अतिरिक्त) का ब्याज सम्मिलित करने से प्राप्त लागत को लागत ब कहते है ।

लागत ब=लागत अ$_2$+स्वय की भूमि की आरोप्य लगान राशि+स्वय की स्थायी निवेश पूंजी (भूमि के अतिरिक्त) का ब्याज ।

(iv) लागत 'स' (Cost C) :

लागत 'ब' मे पारिवारिक श्रम की आरोप्य राशि (Imputed value of family labour) सम्मिलित करने पर प्राप्त राशि लागत 'स' कहलाती है । यह लागत फार्म पर होने वाली कुल लागत भी कहलाती है ।

लागत 'स' = लागत 'ब'+पारिवारिक श्रम की आरोप्य राशि ।

भारत सरकार ने वर्ष 1979 मे डा एस आर सेन की अध्यक्षता मे एक विशेष विशेषज्ञ समिति, कृषि उत्पादो की उत्पादन लागत ज्ञात करने की विधि मे सुझाव देने हेतु नियुक्त की थी । इस समिति ने अन्य सुझावो के अतिरिक्त, लागत सकल्पना को निम्न 6 श्रेणी मे वर्गीकृत करने की सिफारिश की है—

(1) लागत अ$_1$ (Cost A_1)-इसमे स्वामित्व भूमि वाले कृषक द्वारा फार्म पर किए गए सभी नकद एव वस्तु के रूप मे वास्तविक व्यय सम्मिलित होता है ।

(2) लागत अ$_2$ (Cost A_2)=लागत अ$_1$+बटाई पर ली गई भूमि का दिये गये लगान की राशि ।

(3) लागत ब$_1$ (CostB_1)=लागत अ$_1$+स्वय की पूंजी राशि (भूमि के अतिरिक्त) पर देय ब्याज की राशि ।

(4) लागत ब$_2$ (Cost B_2)=लागत ब$_1$+स्वय की भूमि का आरोप्य लगान राशि (सरकार को दिए गए राजस्व राशि को शेष निकालकर)+बटाई पर प्राप्त भूमि की देय लगान राशि ।

(5) लागत स$_1$ (Cost C_1)=लागत ब$_1$+पारिवारिक श्रम की आरोप्य राशि।

(6) लागत स$_2$ (Cost C_2)=लागत ब$_2$+पारिवारिक श्रम की आरोप्य राशि।

उपर्युक्त लागत सकल्पना के आधार पर फार्म पर विभिन्न उत्पादन-साधनों को प्राप्त होने वाली आय ज्ञात हो जाती है जो अनेक प्रकार के निर्णय लेने में सहायक होते हैं।

(i) लागत 'स'

इस लागत में सभी प्रकार के फार्म पर होने वाले व्यय सम्मिलित होते हैं। फार्म से प्राप्त उत्पादों से होने वाली आय में से लागत 'स' राशि शेष निकालने पर जो राशि शेष रहती है, वह फार्म व्यवसाय की सफलता का सूचक होती है। इस राशि की मात्रा फार्म दक्षता का सर्वोत्तम मापदण्ड होता है। इस लागत के आधार पर फार्म पर शुद्ध लाभ या व्यवस्थापन साधन का प्रतिफल ज्ञात हो जाता है।

शुद्ध लाभ का व्यवस्थापन साधन का प्रतिफल = फार्म पर उत्पादों से प्राप्त आय − लागत 'स'

(ii) लागत 'ब'

फार्म पर प्राप्त उत्पादों से होने वाली आय में से लागत 'ब' राशि शेष निकालने पर प्राप्त राशि पारिवारिक श्रम एवं व्यवस्थापन साधन का प्रतिफल (Reward for Family Labour and Management) अथवा पारिवारिक श्रम की आय (Family Labour Income) कहलाती है।

पारिवारिक श्रम की प्राप्त आय=फार्म पर उत्पादों से प्राप्त आय−लागत 'ब'

(iii) लागत अ$_2$

फार्म पर उत्पादों से प्राप्त आय की राशि में लागत अ$_2$ राशि शेष निकालने पर प्राप्त राशि को फार्म व्यवसाय से प्राप्त आय (Farm Business Income) कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह राशि स्वयं पारिवारिक श्रम, भूमि का प्रबन्ध एवं स्थायी पूंजी निवेश राशि के लिए प्राप्त प्रतिफल है।

फार्म व्यवसाय से प्राप्त आय=फार्म पर उत्पादों से प्राप्त आय−लागत अ$_2$

(iv) लागत अ

फार्म पर उत्पादों से प्राप्त आय की राशि में से लागत अ$_1$ की राशि शेष निकालने पर प्राप्त आय शुद्ध फार्म आय (Net-farm Income) कहलाती है। साधारणतया कृषक अपने फार्म पर पूंजी निवेश करने के उपरान्त फार्म से अधिकाधिक शुद्ध फार्म आय प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं।

शुद्ध फार्म आय=फार्म पर उत्पादों से प्राप्त आय−लागत अ$_1$

□□□

अध्याय 8

कृषि के विभिन्न रूप एवं प्रणालियाँ

देश के विभिन्न राज्यो, जिलो एव क्षेत्रो मे प्राकृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक कारको की विभिन्नता के कारण कृषि के विभिन्न रूप एव प्रणालियाँ पाई जाती हैं। कृषि के विभिन्न रूपो एव प्रणालियो का विस्तृत अध्ययन करने से पूर्व इनके अभिप्राय का ज्ञान होना आवश्यक है।

कृषि के रूप—कृषि के रूपो से तात्पर्य कृषि को भूमि की उपयोगिता, पशु तथा फसल उत्पादन एव प्रयुक्त फार्म क्रियाओ के आधार पर वर्गीकरण करने से है जैसे–विशिष्ट कृषि, विविधीकृत कृषि (Diversified farming), मिश्रित कृषि, शुष्क कृषि, यान्त्रिक कृषि आदि। जानसन[1] ने कृषि के रूपो की निम्न परिभाषा दी है—

"जब क्षेत्र मे बहुत से फार्म, फसलो एव पशुओ के उत्पादन के अनुपात व उत्पादन मे प्रयोग की गई विधियो एव प्रणालियो मे बिल्कुल समान होते है तो उन फार्मों को कृषि के रूपो के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।"

कृषि प्रणालियाँ—कृषि-प्रणालियो से तात्पर्य कृषि का सामाजिक एव आर्थिक प्रबन्ध के आधार पर वर्गीकरण करने से है जैसे–व्यक्तिगत कृषि, राजकीय कृषि, पूंजी-प्रधान कृषि, सहकारी कृषि, सामूहिक कृषि आदि। जॉनसन[2] ने कृषि-प्रणालियो की निम्न परिभाषा दी है—

1 "When farms in a group are quite similar in the kinds and proportions of the crops and livestock that are produced and in the methods and practices followed in production, that group is described as a type of farming"

—Sherman E. Johnson, Neil W Johnson, Martin, R Cooper; Orlin, J Secville, and Samuel W. Mendum, Managing A Farm, D Von Nostrand, Company, INC, New-york, 1946 P 27.

2 "The Combination of production on a given farm and the Methods or practices that are used in the production of those products is known as the system of farming that is followed on that farm"

—Sherman E Johnson, et al, Ibid, 1946, p 27

जब क्षेत्र मे फार्म, उत्पादित वस्तुओ के सयोजन एव उन वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयुक्त विधि या क्रिया मे समान होते हैं तो फार्मो को कृषि-प्रणालियो के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है ।

कृषि के रूप निर्धारित करने वाले कारक

कृषि के रूप निर्धारण करने वाले प्रमुख कारक निम्नांकित हैं—

(1) प्राकृतिक कारक—क्षेत्र विशेष मे प्राकृतिक कारक कृषि के रूप के निर्धारक होते हैं । ये निम्नलिखित होते हैं—

(अ) भूमि—भूमि के अन्तर्गत भूमि की अम्लता, क्षारीयता, बनावट, पानी राकने की शक्ति, जल निकास आदि सम्मिलित होते हैं । विभिन्न फसलो के उत्पादन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता होती है जैसे—कपास के लिए काली, गेहूँ के लिए दुमट मिट्टी, आदि । अत. विभिन्न क्षेत्रो मे भूमि की भिन्नता के कारण कृषि के रूप मे भी भिन्नता होती है ।

(ब) भूमि का धरातल—भूमि के धरातल के अन्तर्गत भूमि की सतह, ढाल आदि सम्मिलित होते है । निचली भूमि पर जहाँ पानी के निकास की उचित व्यवस्था नहीं होती है वहाँ चावल व जूट की खेती अच्छी नही होती है । असम व बगाल मे चाय, काफी के बागान भूमि के धरातल के कारण ही पाये जाते है ।

(स) जलवायु—जलवायु मे वर्षा, नमी, तापक्रम सम्मिलित होते हैं । जलवायु भी क्षेत्र मे कृषि के प्रकार मे परिवर्तन लाती है । अधिक वर्षा वाले क्षेत्रो मे चावल, गन्ना, जूट की खेती अच्छी होती है । नमी वाले क्षेत्रो मे कपास एव सूखे क्षेत्रो मे बाजरा, ग्वार, मोठ, मूग अधिक होते हैं । जलवायु की अनुकूलता के कारण ही कुल्लू व कश्मीर मे सेब के बाग अधिक पाये जाते हैं ।

(2) आर्थिक कारक—आर्थिक कारको के होने से एक क्षेत्र मे फसल का उत्पादन दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा अधिक लाभकर होता है । निम्न आर्थिक कारक कृषि के रूप मे परिवर्तन लाते हैं—

(अ) वस्तुओं की विपणन लागत—वस्तुओ की प्रति इकाई विपणन लागत की अधिकता व कमी कृषि के रूप म परिवर्तन लाती है । प्रति इकाई पर उत्पाद की विपणन लागत की कमो के कारण ही गन्ने की खेतो चीनी मिलो तथा सब्जी, फल, दूध का उत्पादन शहरो के नजदीक अधिक होता है । उत्पादन व उपभोग स्थान मे दूरी के बढने से अम्बार वाली एव शीघ्रनाशी वस्तुओ की परिवहन लागत मे वृद्धि होती है । फलत ऐसी वस्तुओ का उत्पादन उपभोग स्थान से दूर करने पर विपणन लागत अधिक आती है जिससे उस क्षेत्र मे उस वस्तु का उत्पादन करना कम लाभप्रद होता है ।

(ब) श्रम व पूंजी की उपलब्धि—क्षेत्र मे श्रम व पूंजी की बहुलता एव कमी भी कृषि के रूप मे परिवर्तन लाती है । गन्ना, कपास एव आलू की फसल श्रम

बाहुल्य क्षेत्रो मे ही अधिक उत्पादित की जाती है। श्रम व पूँजी के कम मात्रा मे उपलब्ध होने वाले क्षेत्रों में उपर्युक्त फसलों को लेना आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं होता है।

(स) भूमि की कीमत—शहरो के नजदीक भूमि की माग की अधिकता के कारण कीमत अधिक होती है जिसके कारण इन क्षेत्रो की भूमि मे अधिक आय देने वाली फसलें जैसे—सब्जी, फल, फूल आदि का उत्पादन ही लाभप्रद होता है। शहर से दूरी बढने पर भूमि की प्रति इकाई कीमत कम होती जाती है जिसके कारण इन क्षेत्रो मे खाद्यान्नो का उत्पादन अधिक होता है।

(द) उद्योगो मे पारस्परिक प्रतिस्पर्धा—कृषको के पास उत्पादन-साधन सीमित मात्रा मे होते है। विभिन्न उद्योगो मे उत्पादन-साधनो के लिए आपस मे प्रतिस्पर्धा होती है। प्रतिस्पर्धा के कारण कृषक उत्पादन-साधनो का उपयोग क्षेत्र मे अधिकतम लाभ प्रदान करने वाली फसल के अन्तर्गत करते हैं, जिसके कारण क्षेत्र मे कुछ फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल अधिक होता है तथा दूसरी फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल कम होता है। इससे कृषि के रूप मे परिवर्तन आता है।

(य) बीमारियों एव कीडों का प्रकोप—क्षेत्र विशेष मे कुछ फसलो मे बीमारी एव कीडो का प्रकोप दूसरे क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक होता है। अत कृषक उस क्षेत्र मे ऐसी फसलों का उत्पादन करते हैं जिन पर बीमारियो एव कीडो का आक्रमण नही होता है। इससे भी कृषि के रूप मे परिवर्तन आता है।

(र) कृषि-उत्पादों की कीमतों मे परिवर्तन—कृषि-उत्पादो की कीमतो मे निरन्तर परिवर्तन के कारण भी क्षेत्र मे कृषि के रूप में परिवर्तन आता है। गेहूँ की कीमत मे अन्य फसलो की अपेक्षा अधिक वृद्धि होने पर क्षेत्र के कृषक गेहूँ के अन्तर्गत अधिक क्षेत्रफल लेते हैं जिससे अन्य फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल मे कमी होती है।

(ल) जोत का आकार—जिन क्षेत्रो मे जोत का औसत आकार कम होता है वहाँ पर यान्त्रिक साधनो से खेती करना लाभकर नहीं होता है, जबकि अधिक जोत आकार वाले क्षेत्रो मे यान्त्रिक खेती अपनाई जा सकती है।

(व) सिंचाई की सुविधा—सिंचाई की पर्याप्त सुविधा वाले क्षेत्रो मे वे सभी फसलें, जिन्हे अधिक मात्रा मे पानी की निरन्तर आवश्यकता होती है, उगाई जा सकती है जैसे—सब्जियाँ, गेहूँ, रिजका आदि। अन्य क्षेत्रो मे जहाँ पर सिंचाई की पर्याप्त सुविधा नहीं है, वहाँ पर वे फसलें उगाई जा सकती हैं जिन्हें पानी की कम आवश्यकता होती है जैसे—बाजरा, ग्वार, मूँग, मोठ आदि।

(3) सामाजिक कारक—कृषि के रूप मे परिवर्तन लाने वाले प्रमुख सामाजिक कारक अग्रांकित होते हैं—

(अ) व्यक्तिगत रुचि —कृषक साधारणतया वे ही फसलें उत्पन्न करना पसन्द करते हैं जिनके उत्पादन मे उनकी व्यक्तिगत रुचि होती है। फसल का लेना आर्थिक दृष्टि से लाभकारी होते हुए भी कृषक उनको तब तक उत्पन्न नही करते हैं जब तक कि उनकी व्यक्तिगत रुचि उस फसल को लेने की नही होती है। कृषको की व्यक्तिगत रुचि फसल के उत्पादन मे उनके अनुभव, प्रशिक्षण आदि पर निर्भर होती है।

(ब) सामाजिक रिवाज—सामाजिक रिवाज भी कृषि के रूप मे परिवर्तन लाते हैं जैसे—सिख-समुदाय के कृषक तम्बाकू की फसल उत्पन्न नही करते हैं।

(स) समुदाय-प्रभाव--कृषक क्षेत्र मे वे ही फसलें अधिक उत्पन्न करते हैं जो समुदाय के अन्य कृषको द्वारा उस क्षेत्र मे उत्पन्न की जाती हैं। वे नये उद्यम या फसलो को फार्म पर उत्पन्न करने के कम इच्छुक होते हैं।

कृषि के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण :

निम्न आधारो के अनुसार कृषि के रूपो का वर्गीकरण किया जा सकता है—

1 उत्पादो से प्राप्त आय के अनुपात के आधार पर
- (अ) विशिष्ट कृषि
- (ब) विविधीकृत कृषि
- (स) मिश्रित कृषि

2 उत्पादों की प्रकृति के आधार पर
- (अ) खाद्यान्नो की कृषि
- (ब) सब्जी की कृषि
- (स) फलो के बाग
- (द) डेयरी फार्म
- (य) कुक्कट पालन फार्म
- (र) पशुओ की चराई/रैंचिंग

3 भूमि के क्षेत्रफल के आधार पर
- (अ) छोटे पैमाने पर कृषि
- (ब) बड़े पैमाने पर कृषि

4 व्यावसायिक उद्यमो के आधार पर
- (अ) पारिवारिक कृषि
- (ब) व्यापारिक कृषि
- (स) अंश-कालीन कृषि

5 सिंचाई की सुविधा के आधार पर

(अ) सिंचित कृषि
(ब) शुष्क कृषि
6 यान्त्रिक साधनो के उपयोग के आधार पर
(अ) प्रचलित कृषि
(ब) यान्त्रिक कृषि
7. श्रम उपलब्धि के आधार पर
(अ) पारिवारिक सदस्यो के श्रम द्वारा कृषि
(ब) श्रमिको के श्रम द्वारा कृषि
8 उत्पादन साधनो के उपयोग के अनुपात के आधार पर
(अ) सघन कृषि/पूंजी तथा श्रम प्रधान कृषि
(ब) विस्तृत कृषि/भूमि-प्रधान कृषि

कृषि की प्रणालियों का वर्गीकरण :

कृषि की प्रणालियो को निम्न आधार पर वर्गीकृत किया जाता है—

1. फार्म सचालन एव प्रबन्ध के आधार पर
(अ) व्यक्तिगत कृषि
(ब) पूंजी प्रधान कृषि
(स) राजकीय कृषि
(द) सहकारी कृषि
(य) सामूहिक कृषि
(र) निगमित कृषि
2 भू-धृति के आधार पर
(अ) पैतृक भू-धारण कृषि
(ब) काश्तकार कृषि
(स) ऐच्छिक भू-धारण कृषि
(द) पट्टा पर प्राप्त भूमि पर कृषि।

कृषि के प्रमुख रूपो एव प्रणालियो का विस्तृत विवेचन नीचे किया जा रहा है—

कृषि के रूप

1 फार्म पर उत्पादित उत्पादो से प्राप्त आय के अनुपात के आधार पर :

(अ) विशिष्ट कृषि

फार्म पर प्राप्त कुल आय का 50 प्रतिशत या अधिक भाग एक ही उद्यम या फसल से प्राप्त होता है तो ऐसे फार्म को उस उद्यम या फसल के उत्पादन का विशिष्ट फार्म तथा इस प्रकार की कृषि को विशिष्ट कृषि कहते हैं। हॉपकिन्स के अनुसार विशिष्ट कृषि से तात्पर्य "फार्म पर विपणन के लिए एक ही वस्तु के

उत्पादन करने से है।" देश के कुछ राज्यो मे चाय, काफी, पटसन, तम्बाकू, कपास, गन्ना, सब्जियो के विशिष्ट फार्म हैं।

विशिष्ट कृषि से लाभ—विशिष्ट कृषि अपनाने से कृषको को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

1. **भूमि का उत्तम उपयोग**—जिस फसल के लिये भूमि उपयुक्त होती है उस फसल की विशिष्ट कृषि करने से भूमि का उत्तम उपयोग होता है तथा प्रति हैक्टर उत्पादन की मात्रा अधिक प्राप्त होती है।
2. **उत्तम प्रबन्ध**—फार्म पर फसलो की सीमित सख्या के कारण फार्म प्रबन्धक फार्म के प्रबन्ध मे दक्षता प्राप्त कर लेता है, जिससे फार्म का प्रबन्ध उत्तम होता है।
3. **श्रमिको की कार्यकुशलता एव दक्षता मे वृद्धि**—फार्म पर निरन्तर एक ही फसल या उद्यम के उत्पादन से श्रमिक फसल की प्रत्येक उत्पादन-क्रिया मे दक्षता प्राप्त कर लेते हैं, जिससे उनकी कार्य-कुशलता व दक्षता मे वृद्धि होती है।
4. **विपणन दक्षता**—विशिष्ट कृषि के कारण फार्म पर उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओ का उत्पादन अधिक मात्रा मे होता है। उत्पादन की अधिकता के कारण, उस वस्तु की विक्रेय अधिशेष की मात्रा अधिक होती है। वस्तुओ का अधिक मात्रा मे एक साथ विक्रय करने से विपणन लागत कम आती है एव विपणन प्रक्रिया मे दक्षता आती है।
5. **फार्म पर उन्नत यन्त्र एव मशीनो को क्रय करना**—विशिष्ट कृषि मे फसलो के लिए आवश्यक उन्नत औजारो एव कीमती मशीनो का क्रय करके उपयोग किया जा सकता है। विशिष्ट फार्म पर रीपर थ्रेसर आदि मशीनो का क्रय एवं उपयोग आर्थिक दृष्टि से लाभकर होता है।
6. **समय की बचत**—विशिष्ट कृषि के अन्तर्गत मशीनो के उपयोग से फार्म पर विभिन्न कार्य करने मे समय की बचत होती है, जिसके कारण कृषको को दूसरे कार्य करने के लिए अधिक समय मिल जाता है।

विशिष्ट कृषि से हानियाँ—विशिष्ट कृषि अपनाने से कृषको को निम्न हानिया होती हैं—

1. **जोखिम की अधिकता**—मौसम की प्रतिकूलता अथवा उत्पाद की कीमत मे गिरावट से कृषको को विशिष्ट कृषि की स्थिति मे हानि अधिक होती है क्योकि आय के स्रोत सीमित होते हैं।

2 भूमि की उर्वरा-शक्ति मे ह्रास-भूमि पर निरन्तर एक ही फसल के उत्पादन करने तथा उचित फसल-चक्र के अभाव मे भूमि की उर्वरा-शक्ति मे ह्रास होता है जिससे भूमि की उत्पादकता कम हो जाती है।

3. विशिष्ट कृषि मे फार्म पर उपलब्ध उत्पादन साधनों—भूमि, श्रम, पूंजी आदि का पूर्ण उपयोग नही हो पाता है जिससे काफी मात्रा मे उत्पादन-साधन बेकार रहते है।

4 विशिष्ट कृषि के अन्तर्गत कृषक को वर्ष मे एक या दो बार ही आय प्राप्त होती है जबकि विभिन्न कृषि कार्यों के करने के लिए निरन्तर पूंजी की आवश्यकता होती है।

5 विशिष्ट कृषि मे फार्म पर उपोत्पादो का अधिक मात्रा मे उत्पादन होने के कारण उनका उचित एव पूर्ण उपयोग नही हो पाता है।

6 विशिष्ट कृषि अपनाने से कृषको को खाद्यान्नो की घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी दूसरे कृषको पर निर्भर रहना होता है।

7 विशिष्ट कृषि मे कृषको को एक या दो फसलो के उत्पादन मे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है लेकिन वे अन्य फसलो के उत्पादन ज्ञान से पूर्णतया अनभिज्ञ होते हैं।

(ब) विविधीकृत कृषि (सामान्य कृषि)

विविधीकृत कृषि के अन्तर्गत कृषक फार्म पर वर्ष मे अनेक उत्पाद उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार की कृषि के अन्तर्गत कृषक को फार्म से प्राप्त आय का 50 प्रतिशत या अधिक भाग किसी भी एक फसल या उद्यम के उत्पादन के प्राप्त नही होता है। विविधीकृत कृषि वाले फार्म को 'विविध व्यवसाय-फार्म' भी कहते हैं। ऐसे फार्म पर खाद्यान्न, सब्जी, पशुपालन, कुक्कुट-पालन आदि सभी उद्यम लिए जाते हैं।

विविधीकृत कृषि से लाभ—फार्म पर विविधीकृत कृषि अपनाने से कृषको को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(1) जोखिम का कम होना—इस प्रकार की कृषि मे मौसम की प्रतिकूलता एव उत्पादो की कीमतो के गिरने की स्थिति मे हानि, विशिष्ट कृषि की अपेक्षा कम होती है। मौसम की प्रतिकूलता का प्रभाव विभिन्न फसलो पर विभिन्न मात्रा मे होता है। इसी प्रकार कीमतो मे उतार चढाव भी विभिन्न फसलो मे समान न होकर विभिन्न मात्रा मे होते हैं।

(2) उत्पादन-साधनो का पूर्ण एव उचित उपयोग—विविधीकृत कृषि के अन्तर्गत फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधनो—भूमि, श्रम, पूंजी आदि का पूर्ण एव उचित उपयोग होता है क्योकि विभिन्न उद्यमो के उत्पादन के लिए उत्पादन साधनो की आवश्यकता विभिन्न मात्रा में होती है। कुछ उद्यम पूंजी अधिक चाहते हैं, जबकि दूसरे उद्यम श्रम अधिक चाहते हैं।

(3) इस तरह की कृषि मे कृषको को वर्ष भर आय प्राप्त होती रहती है, जिससे कृषको को घरेलू आवश्यकताओ की पूर्ति एव फार्म के लिए उत्पादन साधनो के क्रय करने मे परेशानी नही होती है।

(4) इस प्रकार कृषि मे फार्म पर उत्पादित विभिन्न उपोत्पाद कम मात्रा मे होने के कारण इनका पूर्ण एव उचित उपयोग होता है।

(5) फार्म पर उचित फसल चक्र अपनाने मे भूमि की उर्वरा-शक्ति मे ह्रास नही होता है और उचित उर्वरता-स्तर बना रहता है।

(6) कृषको को खाद्यान्न एव सब्जी की घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरे कृषको पर निर्भर नही रहना होता है।

विविधीकृत कृषि से हानियाँ—विविधीकृत कृषि के अपनाने से कृषको को निम्न हानियाँ होती है—

(1) **फार्म सचालन एव प्रबन्ध मे असुविधा**—फार्म पर विभिन्न उद्यमो के होने से वर्ष भर कृषको को विभिन्न कार्य करने होते हैं। कार्य की विविधता के कारण फार्म प्रबन्ध मे असुविधा होती है एव दक्षता नही आ पाती है।

(2) **प्रति इकाई विपणन लागत की अधिकता**—इस प्रकार की कृषि के अन्तर्गत फार्म पर विभिन्न फसलो के विक्रेय अधिशेष की मात्रा कम होती है। अत उत्पादो का विक्रय करने मे प्रति इकाई विपणन लागत अधिक आती है एव कृषको को उत्पाद की शुद्ध कीमत कम प्राप्त होती है।

(3) फार्म पर उन्नत औजारो एव मशीनो का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही होता है। मशीनें वर्ष मे अधिक समय बेकार पडी रहती है जिससे स्थायी लागत अधिक आती है।

(4) भूमि की उपयुक्तता एक फसल के लिए होते हुए भी उस पर अनेक फसलें उत्पादित की जाती है जिससे भूमि का उचित उपयोग नही हो पाता है।

(5) कार्य की विभिन्नता के कारण श्रमिक भी कार्य मे दक्षता प्राप्त नही कर पाते हैं।

विशिष्ट एव विविधीकृत कृषि के लाभ व हानियो को दृष्टिगत रखते हुए भारत जैसी अर्थव्यवस्था के लिए, जिसमे मौसम की अनिश्चितता कृषि का वर्षा पर निर्भर होना, विशिष्ट उत्पादो की मण्डियो का अभाव, कृषको के पास उत्पादन-साधनो की सीमितता एव कृषको की जोखिम वहन क्षमता कम होने के कारण, विविधीकृत कृषि ही अधिक उपयुक्त है।

(स) मिश्रित कृषि

मिश्रित कृषि से तात्पर्य फार्म पर कृषि-उत्पादन के साथ साथ पशुपालन उद्यम या दूध उत्पादन व्यवसाय को लेने से है। मिश्रित कृषि मे फार्म से प्राप्त कुल

आय में फसलो के अतिरिक्त पशुपालन व्यवसाय भी आय का प्रमुख स्रोत होता है। मिश्रित कृषि मे पशुपालन एव फसल उत्पादन उद्यम एक-दूसरे के सहायक उद्यम होते हैं। भारतीय कृषि अर्थशास्त्र सस्था ने मिश्रित कृषि को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया है—

"किसी भी फार्म को मिश्रित श्रेणी मे होने के लिए फार्म से प्राप्त कुल आय का कम से कम 10 प्रतिशत व अधिकतम 49 प्रतिशत आय पशुपालन उद्यम से प्राप्त होना आवश्यक है। पशुपालन मे गाय एव भैंस ही सम्मिलित किए जाते है। भेड़, बकरी, कुक्कुट आदि पशुपालन उद्योग मे शामिल नही किये जाते हैं।"[3] उदाहरणतया यदि किसी फार्म पर प्राप्त कुल आय का 10 प्रतिशत से अधिक भाग गाय एव भैंस उद्यम से प्राप्त होता है तो वह फार्म 'मिश्रित फार्म' कहलाता है। इसी प्रकार यदि फार्म से प्राप्त कुल आय का 10 प्रतिशत से अधिक भाग सभी प्रकार के पशुओं से सम्मिलित रूप मे प्राप्त होता है तो वह फार्म विविधीकृत फार्म कहलाएगा।

मिश्रित कृषि देश मे लघु कृषको, मौसम की अनिश्चितता वाले क्षेत्रो, कम नमी या सूखा वाले क्षेत्रो के लिए अधिक लाभकारी होती है। फसल उद्यम, पशुपालन उद्यम के लिए सहायक उद्यम होने के कारण मिश्रित कृषि अन्य प्रकार की कृषि का अपेक्षा अधिक लाभकारी होती है। राजस्थान राज्य के जयपुर जिले मे किए गए अध्ययन से स्पष्ट है[4] कि फार्म पर मिश्रित कृषि अपनाने से लघु, मध्यम व बडे फार्मों पर 20 29,63 28 एव 52.15 प्रतिशत लाभ विविधीकृत फार्म की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है। मिश्रित कृषि अपनाने से उसी भूमि के क्षेत्र से अधिक व्यक्तियो को रोजगार उपलब्ध होता है तथा फार्म आय मे स्थिरता आती है।

विभिन्न देशो मे मिश्रित कृषि से तात्पर्य विभिन्न उद्यमो के सयोजन से होता है, जैसे—भारत मे फसल उत्पादन के साथ दूध-उत्पादन, अमेरिका मे फसल उत्पादन के साथ मास उत्पादन, इगलैण्ड मे खाद्यान्न-उत्पादन के साथ घास उत्पादन आदि।

मिश्रित कृषि से लाभ :

1 मिश्रित कृषि मे पशुपालन उद्यम के होने से कृषि के लिए आवश्यक अच्छे बैल, कृषक फार्म पर ही तैयार कर लेते हैं, जिससे बैलो की लागत कम आती है।

3 Indian Journal of Agricultural, Economics, Vol XVI, No 1, January-March, 1961.

4 N L Agarwal, Possibilities of Increasing Farm Income through optimum combination of Crops and Livestock Enterprise in Jaipur District, Rajasthan, M Sc. Ag. Thesis, Punjab Agricultural University, Ludhiana, 1966, p. 66

2 मिश्रित कृषि मे पशुओ से प्राप्त गोबर भूमि की उर्वरता-शक्ति को बनाए रखने मे सहायक होता है ।

3 मिश्रित कृषि मे कृषक एव परिवार के अन्य सदस्यो को नियमित रूप से वर्ष भर रोजगार उपलब्ध होता है ।

4 मिश्रित कृषि के अपनाने से फार्म पर प्रति हैक्टर लाभ विविधीकृत कृषि की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है तथा फसलो की प्रति इकाई उत्पादन लागत भी कम आती है ।

5. मिश्रित कृषि मे फसलो से प्राप्त उपोत्पाद–भूसा, कडबी एव अन्य प्रकार के चारे का पशुओ द्वारा उचित उपयोग हो जाता है ।

6. मिश्रित कृषि मे कृषको को वर्ष भर निरन्तर आय प्राप्त होती रहती है ।

7 मिश्रित कृषि को अपनाने से उपलब्ध पशु स्रोत प्रोटीन की मात्रा मे भी वृद्धि होती है । वर्तमान मे पशु-प्रोटीन की खपत भारत मे मात्र 6 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिदिन है, जबकि अमेरिका मे 65 ग्राम, आस्ट्रेलिया मे 61 ग्राम, न्यूजीलैण्ड एव इगलैण्ड मे 52 ग्राम है ।[5] पशु प्रोटीन के कम उपलब्ध होने से भारत के निवासियो के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव आता है । पश-प्रोटीन स्रोत-मास, अ डे, दूध एव दुग्ध पदार्थ एव मछली की कीमतें निरन्तर बढती जा रही हैं जो एक साधारण व्यक्ति के लिए क्रय कर पाना सम्भव नही है ।

8 मिश्रित कृषि के अपनाने से पशुओ से प्राप्त गोबर से गोबर गैस प्लाट लगाया जा सकता है और घरेलू आवश्यकता की विद्युत्-ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है ।

2 उत्पाद की प्रकृति के आधार पर

(अ) खाद्यान्नो की कृषि—वे फार्म, जिन पर मुख्यतया खाद्यान्न वाली फसलें जैसे–गेहूँ, जौ, चावल, बाजरा, ज्वार, मक्का आदि उत्पन्न किये जाते हैं, खाद्यान्नो के फार्म कहलाते है ।

(ब) सब्जी की कृषि—वे फार्म, जिन पर मुख्यतया सब्जी जैसे–गोभी, टमाटर, बैंगन, मटर, मूली, शलजम आदि उत्पन्न की जाती हैं, सब्जी के फार्म कहलाते हैं ।

(स) फलो के बाग—वे फार्म, जिन पर आम, पपीता, सेव, अमरूद, सन्तरे आदि के बाग लगाए जाते हैं ।

5 R G Maiti Mixed Farming for All Round Rural Development, Yojana, Vol XXII (3), 16 February 1978, p 32

(द) दूध उत्पादन के फार्म/डेरी फार्म—वे फार्म, जिन पर दूध उत्पादन के लिए गाय या भैंस पाली जाती है।

(ध) कुक्कुट पालन फार्म—वे फार्म, जिन पर अण्डे उत्पादन के लिए कुक्कुट पाले जाते हैं।

(र) पशुओं की चराई/रैंचिंग—इसके अन्तर्गत पशु भूमि पर होने वाली प्राकृतिक वनस्पति की चराई करते है। भूमि पर किसी प्रकार की जुताई नहीं की जाती और न ही बीज बोए जाते है। स्वत उत्पन्न वनस्पति को चरने के लिए पशुओं को छोड दिया जाता है। उपर्युक्त प्रकार के चरागाहों पर व्यक्ति विशेष का स्वामित्व न होकर सभी ग्राम वालो का सामूहिक स्वामित्व होता है। रैंचिंग कृषि अमेरिका, आस्ट्रेलिया, तिब्बत व भारत के रेगिस्तानी इलाको मे अधिक प्रचलित है।

3 उत्पादन-साधनों के उपयोग के अनुपात के आधार पर

(अ) विस्तृत कृषि भूमि प्रधान कृषि—जब फार्म पर कृषि उत्पादन के लिए भूमि-साधन का श्रम व पूँजी की अपेक्षा अधिक मात्रा मे उपयोग किया जाता है तो उस फार्म को 'विस्तृत कृषि फार्म' एव कृषि को 'विस्तृत कृषि' कहते हैं। जनसख्या के कम घनत्व वाले क्षेत्रो मे साधारणतया विस्तृत कृषि अपनाई जाती है, क्योंकि इन क्षेत्रो मे भूमि आसानी से व कम लगान राशि पर उपलब्ध हो जाती है। उत्पादन के अन्य साधन श्रम व पूँजी या तो कम मात्रा मे उपलब्ध होते हैं अथवा उनकी लागत अधिक होती है।

(ब) सघन कृषि/श्रम तथा पूँजी प्रधान कृषि—जब फार्म पर कृषि उत्पादन के लिए श्रम तथा पूँजी उत्पादन साधनो का भूमि की अपेक्षा अधिक मात्रा मे उपयोग किया जाता है तो उस कृषि को सघन कृषि कहते है। जनसख्या के अधिक घनत्व वाले क्षेत्रो मे सघन कृषि अपनाई जाती है। उत्पादन वृद्धि के लिए उपलब्ध सीमित भूमि के क्षेत्रफल पर श्रम तथा पूँजी की अधिक इकाइयाँ प्रयुक्त की जाती हैं।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के पश्चात् कृषि क्षेत्र मे उत्पादन वृद्धि करने के लिए सघन-कृषि अपनायी गयी है। सघन-कृषि योजना की सफलता के लिए पैकेज प्रोग्राम सघन कृषि विस्तार क्षेत्र योजना सकर एव उन्नत किस्म के बीजो का आविष्कार, उवरको एव कीटनाशी दवाइयो का अधिक मात्रा में प्रयोग, बिजली की अधिक उपलब्धि एव उपयोग आदि कार्यक्रम मुख्य हैं।

4 सिंचाई की सुविधा के आधार पर

(अ) सिंचित कृषि—जिन क्षेत्रो मे सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ होती हैं उन क्षेत्रो मे वे फसलें उत्पादित की जाती हैं जिन्हे पानी की अधिक मात्रा मे निरन्तर आवश्यकता होती है। ऐसी कृषि को सिंचित कृषि कहते हैं।

(ब) शुष्क कृषि—शुष्क व अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रो मे जहा वार्षिक औसत वर्षा 20 इच या 50 से मी से कम होती है तथा सिंचाई की पर्याप्त सुविधा नही होती है, ऐसे क्षेत्रो मे की जाने वाली कृषि को शुष्क कृषि कहते हैं। शुष्क क्षेत्रो मे फसलें मुख्यतया वर्षा पर ही निर्भर होती हैं। देश मे कुल खाद्यान्न उत्पादन का 42 प्रतिशत भाग शुष्क क्षेत्रो से प्राप्त होता है।

देश की कुल कृषित भूमि का 60 प्रतिशत भाग असिंचित है एव कृषित क्षेत्र का 36 प्रतिशत क्षेत्र शुष्क क्षेत्र की श्रेणी मे आता है। देश के 128 जिलो मे न्यूनतम से मध्यम श्रेणी की वर्षा होती है। राजस्थान का उत्तरी-पश्चिमी भाग, दक्षिणी-पूर्वी पजाब, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश के कुछ भाग जो शुष्क क्षेत्रो की श्रेणी मे आते हैं, उनमे शुष्क कृषि अपनाई जाती है।

शुष्क क्षेत्रों मे फसलें उत्पादित करने के लिए भूमि मे नमी की मात्रा को बनाए रखने की समस्या प्रमुख होती है। शुष्क क्षेत्रो का नमी सरक्षण विधियो द्वारा अल्पकालीन विकास किया जा सकता है। भूमि मे नमी की मात्रा का निम्न उपायो द्वारा सरक्षण किया जा सकता है—

1. शुष्क क्षेत्रो मे कम पानी की आवश्यकता वाली फसलें जैसे—बाजरा, ज्वार (सी एस एच 1 व 2), अरण्ड (अरण्ड), अरहर (पूसा अगेती एस 5 व एस 8) आदि जो शुष्कता सहन कर सके, उगानी चाहिए।
2 शुष्क क्षेत्रो मे जीवास खाद का अधिक मात्रा मे उपयोग किया जाना चाहिये जिससे भूमि की जलधारण शक्ति मे वृद्धि हो सके।
3 शुष्क क्षेत्रो मे भूमि की जुताई उचित समय पर की जानी चाहिये, जिससे वर्षा का जल अधिक से अधिक मात्रा मे भूमि सोख सके एव जल बहकर बेकार नही जा पाए।
4 भूमि की जुताई व अन्य कार्यों के लिए उचित कृषि यन्त्रो का प्रयोग करना चाहिए, जिससे भूमि मे नमी अधिक सरक्षित रह सके। देशी हल से निरन्तर जुताई करने पर भूमि के अन्दर जो कडी परत बन जाती है उसे सबसोइलर या मिट्टी पलटने वाले हल द्वारा दूसरे या तीसरे वर्ष अवश्य तोडना चाहिये। ढालू भूमि को बक स्क्रेपर एव करहा द्वारा समतल करना चाहिए, जिससे पानी बहकर दूसरे खेतो मे नही जाने पाए।
5 ढालू खेतो की जुताई हैरो चलाकर तथा बुवाई समोच्च रेखा के समानान्तर करना चाहिए।
6 शुष्क क्षेत्रो मे पट्टीदार कृषि (Strip Cropping) की जानी चाहिए तथा भू-सरक्षण सहायक फसलें व अवरोधक फसलें एक के बाद दूसरी पट्टियो मे उगाई जानी चाहिए।

वर्तमान मे 40 प्रतिशत क्षेत्र से कम क्षेत्र मे ही सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अत देश की बढती हुई खाद्यान्न माँग को पूरा करने के लिए शुष्क

क्षेत्रों का विकास करना अति आवश्यक है। शुष्क क्षेत्रों के विकास के बिना देश का खाद्यान्न उत्पादन में पूर्णतः आत्म-निर्भर हो पाना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। देश में शुष्क व अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों के विकास के लिए वर्तमान में कई योजनाएँ बनाई गई हैं तथा तकनीकी ज्ञान के प्रसार के आधार पर कृषि की नई विधियाँ भी निकाली गई हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में शुष्क कृषि के विकास के लिए बहुत धन व्यय किया गया है। जून, 1970 में भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् ने शुष्क कृषि के विकास के लिए *अखिल भारतीय शुष्क भूमि कृषि समन्वय अनुसन्धान प्रोजेक्ट* (All India Co-ordinated Research Project on Dry-land Agriculture) स्थापित किया है, जिसके विभिन्न प्रकार की भूमि एवं जलवायु वाले क्षेत्रों में 23 केन्द्र हैं।

विभिन्न केन्द्रों से प्राप्त अनुसन्धान परिणामों से स्पष्ट है कि शुष्क भूमि वाले क्षेत्रों में ली जाने वाली फसलों की उत्पादकता में फसलों एवं उनकी किस्मों के सही चुनाव, फसलों के उचित प्रतिस्थापन, अन्त सस्य, उचित समय पर बुवाई एवं निराई-गुड़ाई तथा उचित मात्रा में उर्वरकों का उपयोग करके न्यूनतम 100 प्रतिशत की वृद्धि की जा सकती है। यह भी स्पष्ट है कि नई फसलों की किस्मों से शुष्क भूमि वाले क्षेत्रों में प्रचलित फसलों की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त हुआ है। शुष्क खेती की महत्ता एवं अखिल भारतीय शुष्क भूमि समन्वय अनुसन्धान केन्द्रों के अच्छे परिणामों से प्रभावित होकर भारत सरकार ने शुष्क कृषि का केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थान (Central Research Institute for Dry land Agriculture) हैदराबाद *(आन्ध्रप्रदेश) में स्थापित किया है। शुष्क भूमि से विभिन्न योजनाओं के काल में* हुई फसलों की उत्पादकता वृद्धि को सारणी 8 1 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 8 1

शुष्क क्षेत्रों में विभिन्न फसलों की औसत उत्पादकता

(किलोग्राम प्रति हैक्टर)

फसल	औसत उत्पादकता			
	आधार वर्ष (1950–51)	चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969–74)	पंचम पंचवर्षीय योजना (1974–79)	छठी पंचवर्षीय योजना (1980–85)
ज्वार	353	488	670	695
बाजरा	288	476	448	483
मक्का	547	1052	1068	1158
दालें	441	491	502	480
तिलहन	481	541	580	603

स्रोत : S S Khanna and M P Gupta, Using Improved Technology for Dry-land Farming, Yojana, Vol 32 (24), January 1–15, 1989, p. 7

5 यान्त्रिक साधनों के उपयोग के आधार पर :

(अ) **प्रचलित कृषि**—इसके अन्तर्गत फार्म पर कृषि कार्यों को करने के लिए देशी औजार व हल प्रयुक्त किये जाते है। देशी हल व औजारो से खेती करने पर लागत अधिक आती है, कार्य करने मे समय अधिक लगता है और जुताई भी उचित गहराई तक नहीं हो पाती है। इन कारणो से कृषकों को इस कृषि विधि मे लाभ कम प्राप्त होता है।

(ब) **यान्त्रिक कृषि**—यान्त्रिक कृषि से तात्पर्य उस कृषि के प्रकार से है जिसके अन्तर्गत फार्म पर किये जाने वाले सभी या आशिक कृषि-कार्य पशु एव मानव-श्रम के स्थान पर यन्त्रो की सहायता से किये जाते हैं। यान्त्रिक कृषि म श्रम की अपेक्षा पूँजी का अधिक उपयोग होता है। फाम पर यान्त्रिक कृषि का पूर्णत व अशत होना क्षेत्र म यन्त्रो की उपलब्धि, कृषि मे निवेश की जाने वाली पूँजी की राशि श्रम उपलब्धि एव मजदूरी की दर, जोत का आकार, कृषको का मशीनो के प्रायोगिक ज्ञान के स्तर, कृषको का उपलब्ध ऋण सुविधा आदि पर निर्भर करता है। कृषि कार्यो म प्रायोगिक यान्त्रिक शक्ति के आधार पर यन्त्रीकरण दो प्रकार का होता है—

(i) **गतिशील यन्त्रीकरण**—गतिशील यन्त्रीकरण (Mobile Mechanization) से तात्पर्य उस यन्त्रीकरण से है जिसमे फार्म पर कृषि कार्यों को करने मे गतिशील यन्त्रो का उपयोग किया जाता है। इसमे शक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान तक गतिमान होना आवश्यक होता है। जैसे-ट्रैक्टर एव उसके साथ के यन्त्र—हैरो, कल्टीवेटर, बीज बोने की मशीन कटाई की मशीन आदि।

(ii) **स्थायी यन्त्रीकरण** - स्थायी यन्त्रीकरण (Stationary Mechanization) से तात्पर्य उस यन्त्रीकरण से है जिसमे फार्म पर कृषि कार्यों को करने मे ऐसे यन्त्रो का उपयोग किया जाता है जो एक स्थान पर स्थिर रहते हुए शक्ति उत्पन्न करते हैं और उस शक्ति मे विभिन्न कृषि कार्य सम्पन्न किये जाते हैं, जैसे-कुओ से पानी निकालने के लिए मोटर एव पम्प, कुट्टी काटने की मशीन गन्ने पेरने का कोल्हू, गहाई के लिए थ्रैसर आदि यन्त्रो का उपयोग।

भारत मे कृषि यन्त्रीकरण के क्षेत्र मे हुई प्रगति

कृषि यन्त्रीकरण के क्षेत्र मे हुई प्रगति का आकलन देश मे ट्रैक्टर, पावर टिलर, थ्रैसर एव सिंचाई के लिए पम्पिग सेटो के उपयोग आंकडो के आधार पर किया जाता है। कृषि यन्त्रीकरण की प्रगति का सर्वप्रथम द्योतक ट्रैक्टरो की सख्या है। भारत मे वर्ष 1951 मे 8,635 ट्रैक्टर, वर्ष 1961 मे 31,016 ट्रैक्टर, वर्ष

1971 मे 1,43,000 ट्रैक्टर, वर्ष 1981 मे 5,72,973 ट्रैक्टर एव वर्ष 1991 मे 14 68 लाख ट्रैक्टर थे। कृषि यन्त्रीकरण की बढती हुई आवश्यकता को देखते हुए देश मे उपलब्ध ट्रैक्टरो की सख्या बहुत कम है। भारत मे वर्ष 1984–85 मे प्रति एक लाख हैक्टर भूमि क्षेत्र के लिए 450 ट्रैक्टर ही उपलब्ध थे। भारत के विभिन्न राज्यो मे ट्रैक्टर उपलब्धि मे बहुत विभिन्नता है। सर्वाधिक ट्रैक्टर पजाब एव हरियाणा राज्य मे हैं।

देश मे वर्ष 1960 के पूर्व ट्रैक्टर का उत्पादन नही होता था। अत ट्रैक्टरो की उपलब्धि आयात पर ही निर्भर थी। भारत मे ट्रैक्टरो का उत्पादन सर्वप्रथम वर्ष 1961–62 मे प्रारम्भ हुआ। उस समय देश मे 880 ट्रैक्टरो का उत्पादन प्रति वर्ष किया जाता था। वर्तमान मे देश मे 15 ट्रैक्टर बनाने की इकाईयाँ कार्यरत हैं, जिनमे प्रतिवर्ष 1 40 लाख ट्रैक्टर का उत्पादन होता है। ट्रैक्टरो का आयात वर्ष 1976–77 तक हुआ है। वर्तमान मे देश की ट्रैक्टरो की आवश्यकता देश मे उत्पादन किए गए ट्रैक्टरो से ही की जाती है।

कृषि यन्त्रीकरण हेतु पावर टिलर का उपयोग भी वर्ष 1961–62 के बाद निरन्तर बढा है। देश मे पावर टिलर का उत्पादन वर्ष *1965–66* मे मात्र *329* था, जो बढकर 1981–82 मे 2352 व 1990–91 मे 6228 हो गया। पावर टिलर के उत्पादन मे वृद्धि के लिए अनेक कारखाने स्थापित किए गए। वर्ष 1971–72 म सर्वाधिक 1,583 पावर टिलर का आयात देश म किया गया। वर्ष 1974–75 के पश्चात् इनका आयात भी बन्द कर दिया गया। थ्रैसर का उपयोग भी हरित क्रान्ति के उपरान्त के *20–25* वर्षो मे निरन्तर बढा है। थ्रैसर के उपयोग से कृषक फसल की समय पर गहाई करके, मण्डी मे खाद्यान्नो का सही समय पर विक्रय करके अच्छी कीमत प्राप्त कर पाने मे सक्षम हो सके हैं। कम्बाइन्ड हार वेस्टर का उपयोग भी बढता जा रहा है। वर्ष 1987–88 मे इनकी उत्पादन सख्या 149 थी, जो बढकर वर्ष 1990–91 मे 337 प्रति वर्ष हो गई।

कृषि मे सिंचाई की समय पर एव बढती हुई आवश्यकता के पूरी करने के लिए डीजल चलित एव विद्युत् चलित पम्पिग सेटो की सख्या मे भी वृद्धि हुई है। इनके अपनाने से सिचाई की लागत मे कमी हो पाई है, साथ ही कम समय मे कृषक अधिक क्षेत्र मे सिचाई कर पात हैं। वष 1950–51 मे मात्र *87* हजार पम्पसेट कायरत थे जो बढकर वर्ष 1960–61 मे 4 28 लाख, 1968–69 मे *18 10* लाख, *1979–80* मे *61 02* लाख एव *1990–91* मे 133 47 लाख हा गए।

कृषि यन्त्रीकरण के लिए प्रयोगित विभिन्न यन्त्रो की प्रगति को सारणी 8 2 मे प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 8 2

कृषि में यन्त्रीकरण के लिए आवश्यक यन्त्रों की प्रगति

वर्ष	ट्रैक्टर			पावर टिलर उत्पादन प्रति वर्ष	पम्प सेट		
	उत्पादन प्रति वर्ष	आयात प्रति वर्ष	कुल संख्या		डीजल चलित (कुल)	विद्युत् चलित (कुल)	कुल पम्पिंग सेट
1950–51	—	—	—	—	66,000	21,000	87,000
1960–61	—	—	—	—	230,000	198,000	428,000
1961–62	880	2,997	3,877	—	—	—	—
1968–69	15,437	12,397	27,834	—	721,000	1089,000	1810,000
1979–89	62,756	Nil	62,756	2535	2553,000	3449,000	6102,000
1986–87	80,369	Nil	80,369	3325	3553,000	6732,000	10285,000
1990–91	139,826	Nil	139,826	6228	4355,000	8992,000	13347,000

यान्त्रिक कृषि से लाभ :

1 फार्म पर यान्त्रिक साधनो से कृषि करने पर श्रमिको की कार्य-कुशलता एक क्षमता मे वृद्धि होती है, जिससे प्रति श्रमिक उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है।

2 कृषि मे यान्त्रिक साधनो के उपयोग से कृषि कार्य उचित समय पर एव शीघ्रता से पूरे किये जा सकते हैं, जिससे कृषक अधिक क्षेत्र मे कृषि कर सकने मे सक्षम होते हैं।

3 यन्त्रो की सहायता से बडे पैमाने पर भूमि को समतल करना, फसल की बुवाई, पौध सरक्षण आदि कार्य कम लागत पर किये जा सकते हैं।

4 यन्त्रो की सहायता से कृषि कार्य करने मे, मानव एव बैलो के श्रम की अपेक्षा प्रति इकाई क्षेत्र पर लागत कम आती है एव प्रति हैक्टर लाभ अधिक प्राप्त होता है।

5 गहरी जुताई करने, भू-सरक्षण, भूमि-सुधार गहरे पानी वाले क्षेत्रो से पानी उठाने के कार्य यन्त्रो की सहायता से सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं।

6 यान्त्रिक कृषि अपनाने से कृषको की आय मे वृद्धि होती है।

7 यन्त्रो की सहायता से फार्म पर किये जाने वाले कृषि-कार्यों मे समानता आती है।

8 श्रमिको की कम उपलब्धि वाले क्षेत्रो मे बडे पैमाने पर कृषि, यन्त्रो की सहायता से सुगमतापूर्वक की जा सकती है।

यान्त्रिक कृषि से हानियाँ :

1 यान्त्रिक कृषि देश मे बेरोजगारी की समस्या को बढाने मे सहायक होती है। जो भूमि पहले काश्तकारो को कृषित करने के लिए दी जाती थी, यान्त्रिक कृषि के अपनाने से वह भूमि भू-स्वामियो द्वारा स्वय कृषित की जाती है।

2 यन्त्रो की सहायता से कार्य करने पर श्रमिको को लगातार एक ही कार्य करना होता है। जिससे उनके जीवन मे नीरसता आ जाती है।

3 यान्त्रिक साधनो को जुटाने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, जिसे जुटा पाना अधिकाश कृषको के लिए सम्भव नही होता है।

4 कृषकों की जोत छोटी एवं विखण्डित होने के कारण, बड़े कृषि यन्त्र वर्ष मे बहुत समय तक बेकार पड़े रहते हैं जिससे फार्म पर स्थायी लागत-ब्याज, मूल्य-ह्रास आदि अधिक आती है।

5 यान्त्रिक साधनो के उपयोग के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान का कृषका मे अभाव होने के कारण, उन्हे छोटी-छोटी कमियों को दूर कराने के लिए मिस्त्रियों पर निर्भर रहना होता है, जिसस दूसरो पर निर्भरता बढती है और कार्य समय पर पूरा नही हो पाता है।

6. यान्त्रिक कृषि के अपनाने से समृद्ध कृषक, लघु कृषकों की भूमि अधिक कीमत का भुगतान करके क्रय कर लते हैं जिससे भूमिहीन श्रमिको की सख्या म निरन्तर वृद्धि हो रही है।

7 गाँवो मे वर्कशाप के अभाव मे कृषि यन्त्रो एव मशीनों को सुधरवाने के लिए शहर मे ले जाना होता है जिससे लागत अधिक आती है एव कृषको का बहुत समय खराब हो जाता है।

कृषि क्षेत्र मे यन्त्रीकरण अपनाने मे कठिनाइयाँ

निम्न कठिनाइयो के कारण देश मे कृषि क्षेत्र मे यन्त्रीकरण का पूर्ण विकास नही हो पाया है—

1 **जोत का औसत आकार कम होना एव जोत विखण्डित होना**—भारत में जोत का औसत आकार कम है। साथ ही जोतें अपखण्डित रूप मे पायी जाती है।

2 **बेरोजगारी के बढने की सम्भावना**—यान्त्रिक साधनो के उपयोग से श्रमिको मे बेरोजगारी के अधिक बढने की सम्भावना के कारण भी कृषि के यन्त्रीकरण के क्षेत्र मे प्रगति नही हो पा रही है।

3 **पशुओ के बेकार होने की समस्या**—यान्त्रिक साधनो के कृषि मे उपयोग से वर्तमान मे कृषि कार्य मे आ रहे पशुओं को काय लिए विना ही चारा दाना खिलाना होगा। अत फार्म पर लागत से अनावश्यक वृद्धि होगी।

4 **कृषकों के पास पूंजी का अभाव**—*भारत मे अधिकाश कृषक गरीब* हैं। यान्त्रिक साधना को क्रय करने के लिए उनके पास पर्याप्त धन का अभाव होता है। अत पूंजी के अभाव मे यान्त्रिक कृषि लाभप्रद होत हुए भी कृषक उसे अपनाने मे असमर्थ होते है।

5 **आवश्यक तेल/विद्युत का अभाव**—यन्त्रो को चलाने के लिए आवश्यक तेल/विद्युत् भी समय एव उचित कीमत पर उपलब्ध नही होते हैं।

कीमत की अधिकता के साथ-साथ उनके समय पर उपलब्ध नही होने की अवस्था मे यन्त्र/मशीनें बेकार पडी रहती हैं ।

6 कुशल प्रशिक्षित चालकों का अभाव होना ।

7 ग्रामीण क्षेत्रो मे यन्त्रो की मरम्मत के लिए वर्कशाप का न होना एव आवश्यक पुर्जे समय पर उपलब्ध न होना ।

8. कृषको के फार्म तक मशीनें एव तेल पहुँचाने के लिए सडको एव आवश्यक परिवहन सुविधाओ का अभाव होना ।

9 देश मे कृषको की जोत के आकार के अनुसार कम शक्ति वाले एव छोटे यन्त्रो का उपलब्ध नही होना ।

उपर्युक्त कठिनाइयो के कारण देश मे यान्त्रिक कृषि के विकास की गति बहुत मन्द रही है । यान्त्रिक कृषि की सफलता के लिए उपर्युक्त कठिनाइयो को दूर करना आवश्यक है । यान्त्रिक कृषि के प्रोत्साहन के लिए सरकार ने निम्न कदम उठाये हैं —

1 सरकार ने कृषको को कृषि मे काम आने वाले यन्त्रो के उपयोग का प्रशिक्षण देने के लिए मध्यप्रदेश राज्य के बुदनी एव हरियाणा राज्य के हिसार जिलो मे ट्रैक्टर प्रशिक्षण केन्द्र खोले हैं । इन केन्द्रो पर 500 कृषको को प्रति वर्ष प्रशिक्षण देने की सुविधा उपलब्ध है ।

2 गाँव के कारीगरो को यन्त्रो के सुधार की प्रशिक्षण-सुविधा प्रदान करने के लिए सरकार ने ग्राम-सेवक प्रशिक्षण केन्द्रो के साथ साथ वर्कशाप भी खोले है जहाँ पर कारीगरो को प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध है ।

3 सरकार ने विभिन्न राज्यो मे कृषि-औद्योगिक निगमो (Agro-Industries Corporations) की स्थापना की है । ये निगम आयात किए हुए ट्रैक्टर, पावर टिलर पम्पसैट और अन्य कृषि यन्त्रो को नकद मूल्यो या किश्तो पर कृषको को देने की व्यवस्था करते हैं । कृषि-औद्योगिक निगमो ने कृषि यन्त्रो की मरम्मत के लिए वर्कशाप भी चालू किये हैं जहाँ उचित मूल्य पर मशीनो की मरम्मत की जाती है तथा निर्धारित मूल्य पर पुर्जे उपलब्ध कराये जाते हैं ।

6 भूमि के क्षेत्रफल के आधार पर

(अ) छोटे पैमाने पर कृषि—इसमे फार्म का आकार कम होता है, जिससे कृषि कार्यों के करने मे यान्त्रिक साधनो का उपयोग कर पाना सम्भव नही होता है ।

(ब) बड़े पैमाने पर कृषि—इसमे फार्म का आकार अधिक होता है। फार्म पर कृषि कार्यों को करने के लिए ट्रैक्टर एव अन्य बडे फार्म यन्त्र काम मे लिए जाते हैं।

7. व्यावसायिक उद्यमों के आधार पर :

(अ) पारिवारिक कृषि—वे फार्म जो परिवार के सदस्यो की सहायता से कृषित किए जाते है तथा उनसे प्राप्त आय परिवार के जीवनयापन के लिए पर्याप्त होती है।

(ब) व्यापारिक कृषि—वे फार्म जो पूंजीपतियो एव अन्य समृद्धशील व्यक्तियो द्वारा कृषित किए जाते हैं। इन पर कृषि की उन्नत विधियाँ तथा कृषि-यन्त्र उपयोग मे लिए जाते है। इन फार्मो का मुख्य उद्देश्य कृषि को व्यवसाय मानते हुए अधिक धन कमाना होता है।

(स) अंश-कालीन कृषि– वे फार्म जो समृद्ध व्यक्तियो द्वारा अपने अन्य कार्यों के साथ-साथ कृषित कराये जाते हैं। फार्म का स्वामी आय के लिए इन फार्मो पर पूर्णतया निर्भर नही होते हैं। उन्हे आय अपने अन्य व्यवसाय या नौकरी से भी साथ-साथ होती रहती है।

8 श्रम उपलब्धि के आधार पर :

(अ) पारिवारिक सदस्यो के श्रम द्वारा कृषि—वे फार्म जो परिवार के सदस्यो द्वारा उपलब्ध श्रम द्वारा कृषित कराए जाते है। इन फार्मो पर बुवाई एव कटाई मौसम मे विशेष आवश्यकता के होने पर श्रमिक भी लगाए जाते है।

(ब) श्रमिकों के श्रम द्वारा कृषि—वे फार्म जो पूर्णतया श्रमिको के श्रम द्वारा ही कृषित किए जाते हैं, जैसे—सरकारी फार्म, व्यापारिक फार्म। इन फार्मों पर कृषि कार्यों के करने के लिए स्थायी एव अस्थायी श्रमिक लगाए जाते हैं, जिन्हे निर्धारित दर से मजदूरी का भुगतान किया जाता हैं।

कृषि-प्रणालियाँ

1. फार्म संचालक एव प्रबन्ध के आधार पर :

(अ) व्यक्तिगत कृषि—व्यक्तिगत कृषि से तात्पर्य कृषि की उस प्रणाली से है जिसमे कृषको को फार्म पर कृषि-कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। कृषक स्वय भूमि का स्वामी, प्रबन्धक व श्रमिक होता है। कृषक अपने परिवार के सदस्यो की सहायता से फार्म पर सभी कृषक कार्य सम्पन्न करता है। फसल की बुवाई व कटाई के समय आवश्यकता होने पर फार्म पर दैनिक मजदूरी पर श्रमिक लगाते है। व्यक्तिगत कृषि मे सरकार का कृषको से सीधा सम्पर्क होता है। कृषक

भूमि का लगान सरकार को स्वय जमा कराते हैं। भारत मे अधिकाश कृषक व्यक्तिगत कृषि करते है। व्यक्तिगत कृषि करने वाले कृषकों के पास विभिन्न आकार मे जोत एव उत्पादन-साधन होते है। व्यक्तिगत फार्मो पर उत्पादन एव तकनीकी ज्ञान के उपयोग स्तर मे अन्तर पाया जाता है। बडे कृषक पूंजी की बहुलता के कारण तकनीकी ज्ञान का अधिक उपयोग करते हैं।

(ब) पूंजी प्रधान कृषि—पूंजी-प्रधान कृषि पूंजीवाद पर आधारित होती है जिसमे भूमि का स्वामित्व एव उत्पादन के अन्य साधनो पर पूंजीपतियो का स्वामित्व होता है। पूंजी-प्रधान कृषि अधिकतर अमेरिका व इगलैण्ड आदि देशो मे पाई जाती है। भारतवर्ष मे चीनी मिल मालिको के गन्ने के खेत, रबर, काफी, चाय, फल आदि के बागो के रूप मे पूंजी-प्रधान फार्म पाये जाते हैं। ऐसे फार्मों पर कृषि की उन्नत विधियां, उन्नत बीज, उन्नत तरीके अपनाये जाते हैं। पूंजीवादी कृषि मे पूंजी का निवेश अन्य उत्पादन साधनो की अपेक्षा अधिक मात्रा मे होता है। पूंजी-प्रधान कृषि के अन्तर्गत श्रमिको को कार्य के फलस्वरूप मजदूरी का भुगतान किया जाता है। पूंजीवादी फार्मों पर भूमि व पूंजी, पूंजीपति की होती है लेकिन श्रम व प्रबन्ध श्रमिको का होता है। पूंजीवादी कृषि मे उत्पादन वृद्धि के सभी नये तरीके अपनाये जाते हैं जिसके कारण भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन अन्य फार्मों की अपेक्षा अधिक होता है। पूंजीवादी कृषि का मुख्य दोष श्रमिको का शोषण होता है।

(स) राजकीय कृषि—राजकीय कृषि मे भूमि एव उत्पादन-साधनो का प्रबन्ध सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारियो द्वारा किया जाता है। राजकीय फार्म की भूमि एव पूंजी पर सरकार का स्वामित्व होता है। श्रम के लिए फार्म पर स्थायी एव अस्थायी श्रमिक नियुक्त किये जाते हैं। फार्म का प्रबन्ध एव योजनाएं बनाने का कार्य फार्म प्रबन्धक करता है। कार्य सम्बन्धी निर्णय फार्म प्रबन्धक विभिन्न विशेषज्ञो की सहायता से लेता है। राजकीय फार्म निम्न प्रकार के होते हैं—

(1) बीजवर्धन फार्म,
(2) पशुपालन फार्म,
(3) व्यापारिक फार्म,
(4) अनुसन्धान फार्म,
(5) प्रदर्शन फार्म।

राजकीय फार्मों की जोत का आकार साधारणतया अधिक होता है। राजकीय फार्म पर कृषि उत्पादन की सभी नई विधियो एव तकनीकी ज्ञान, उन्नत यन्त्र आदि का उपयोग उत्पादन वृद्धि के लिए किया जाता है। राजकीय फार्मों पर कार्य करने वाले श्रमिको की फार्म प्रबन्ध मे राय नहीं ली जाती है, जिससे श्रमिक कार्य मे विशेष रुचि नही लेते हैं।

(द) सहकारी कृषि—सहकारी कृषि कृषकों की पारस्परिक सहायता के सिद्धान्त पर आधारित है। कृषक अपने सहयोगियों की सहायता से फार्म पर उत्पादन मे वृद्धि करते हैं। कृषि के वर्तमान ढांचे म देश के लघु एव सीमान्त कृषक उत्पादन-साधनो की सीमितता के कारण बडे कृषकों के समान लाभ नही उठा पाते हैं। सहकारी कृषि द्वारा लघु कृषक भी धनी एव बडी जोत वाले कृषकों के समान लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अत सहकारी कृषि का मुख्य उद्देश्य लघु कृषकों को बडे कृषकों के समान लाभ की राशि प्राप्त कराना है।

सहकारी कृषि से तात्पर्य कृषि की उस प्रणाली से है जिसमे कृषकों द्वारा स्वेच्छापूर्वक फार्म पर सभी या कुछ कृषि-क्रियाएँ सयुक्त रूप मे की जाती हैं। कृषक उपलब्ध उत्पादन-साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, मशीनो आदि का प्रयोग सामूहिक रूप मे करते हैं किन्तु साधनो पर स्वामित्व कृषकों का पृथक् रूप म होना है। सहकारी कृषि प्रणाली मे विभिन्न कृषकों की भूमि को एक इकाई मानकर सयुक्त रूप से खेती की जाती है। प्राप्त लाभ को कृषकों मे भूमि एव अन्य उत्पादक-साधनों की मात्रा के अनुपात म वितरित कर दिया जाता है।

सहकारी कृषि के विभिन्न रूप—सहकारी नियोजन समिति ने वर्ष 1946 मे सर्वप्रथम सहकारी समितियो को चार वर्गों मे विभाजित किया था

(1) सहकारी उन्नत कृषि।
(2) सहकारी सयुक्त कृषि।
(3) सहकारी काश्तकारी कृषि।
(4) सहकारी सामूहिक कृषि।

सहकारी कृषि के कार्यकारी दल के प्रतिवेदन (Report of the Working Group on Co-operative Farming 1959) मे दिए गए सुझाव के अनुसार सहकारी कृषि समितियो को 1960 मे दो श्रेणियो मे ही वर्गीकृत किया गया था—

(1) सहकारी उन्नत कृषि,
(2) सहकारी सामूहिक कृषि।

1959 मे अखिल भारतीय काग्रेस समिति न नागपूर मे हुए अपने 64 वें अधिवेशन मे सहकारी समितियों के लिए प्रस्तावित किया कि भविष्य मे कृषि की विधि सयुक्त कृषि होनी चाहिये, जिसमे कृषको की भूमि एकत्र की जाए, कृषको की अपनी भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो, श्रमिको एव कृषको को फार्म पर किए गए श्रम की मात्रा के अनुसार मजदूरी का भुगतान किया जाए तथा प्राप्त शेष लाभ सदस्यो मे भूमि के अनुपात के अनुसार वितरित किया जाए। विभिन्न प्रकार की सहकारी कृषि का संक्षिप्त विवेचन निम्न है—

1 **सहकारी उन्नत कृषि**—सहकारी उन्नत कृषि मे भू-स्वामित्व एव कृषि का प्रबन्ध वैयक्तिक होता है। इस विधि मे कृषको की भूमि को सम्मिलित रूप मे

कृषित नही किया जाता है । प्रत्येक कृषक को अपनी भूमि के क्षेत्र पर स्वतन्त्र रूप से कृषि करने का अधिकार होता है । सहकारी समिति कृषको को समयानुसार उचित व उन्नत विधियो को अपनाने का परामर्श देती है तथा उनके लिए उन्नत किस्म के बीज, उर्वरक, उन्नत कृषि यन्त्र, कीटनाशी दवाइयो को उपलब्ध कराने तथा बडी मशीनो जैसे ट्रैक्टर थ्रेसर आदि का सयुक्त उपयोग करने हेतु प्रबन्ध करती है । सहकारी समिति कृषको के उत्पाद की उचित कीमत कर सामूहिक रूप से सहकारी-विपणन-समिति या अन्य सस्थाओ के माध्यम से विक्रय करवाने का प्रबन्ध भी करती है । प्रत्येक कृषक को सहकारी समिति से प्राप्त सेवाओ के अनुसार लागत राशि का भुगतान करना होता है । समिति प्राप्त आय मे से लागत व्यय निकालने के बाद शेष लाभ को सदस्यो मे उनके द्वारा ली गई सेवाओ के अनुसार वितरित कर देती है । सहकारी उन्नत कृषि समितियो के गठन मे सदस्य कृषको को किसी प्रकार का विरोध नही होता है ।

2. सहकारी संयुक्त कृषि – सहकारी सयुक्त कृषि मे भू स्वामित्व वैयक्तिक तथा कृषि का प्रबन्ध सयुक्त होता है । सहकारी सयुक्त कृषि मे सभी कृषको की भूमि को एक इकाई के रूप मे तथा उनके पशु, औजार आदि उत्पादन साधनो को सम्मिलित करके खेती की जाती है । इस विधि मे प्रत्येक कृषक का अपनी-अपनी भूमि पर स्वामित्व होता है । समिति का प्रत्येक सदस्य कार्यकारिणी समिति की देखरेख मे कार्य करता है और किये गये कार्य के लिए मजदूरी प्राप्त करता है । उत्पादित उत्पाद को सयुक्त रूप से विक्रय किया जाता है । समिति को प्राप्त शुद्ध लाभाश की राशि मे से प्रत्येक कृषक को भूमि के क्षेत्र के अनुपात मे लाभाश वितरित किया जाता है । प्रत्येक सदस्य को स्वेच्छा से समिति छोडने का अधिकार होता है । समिति छोडने पर सदस्यो को उनकी भूमि वापिस लौटा दी जाती है, लेकिन उपर्युक्त समय मे कृषक की भूमि पर यदि कोई सुधार कार्य किया गया है तो कृषक को उसकी लागत देनी होती है ।

कृषको मे अशिक्षा, अज्ञानता, रूढिवादिता, भूमि का स्वामित्व छिन जाने की आशका व भूमि के प्रति लगाव होने के कारण सहकारी सयुक्त कृषि का विकास द्रुत गति से नही हुआ है । सयुक्त कृषि प्रणाली के अन्तर्गत कृषको को कृषि कार्य एव प्रबन्ध के विषय म निर्णय लेने की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही होती है जिसके फलस्वरूप कृषक कार्य के प्रति उदासीन रहते हैं ।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे कृषको की जोत का आकार कम एव जोतो के विखडित होने की अवस्था म सहकारी सयुक्त कृषि लाभप्रद है । सहकारी सयुक्त कृषि मे कृषको की भूमि के प्रति भावनात्मक आसक्ति (Sent mental attachment to land) बनी रहती है । सहकारी सयुक्त कृषि मे स्वामित्व इकाइयाँ छोटी होते हुए भी प्रबन्धित इकाई बडी हो जाती है । प्रबन्ध की इकाई के आकार मे वृद्धि

होने से बड़े यन्त्रों एवं मशीनों का उपयोग सरलता से हो सकता है तथा प्रति इकाई क्षेत्र पर उत्पादन लागत कम आती है।

3 सहकारी काश्तकारी कृषि—सहकारी काश्तकारी कृषि में भूमि पर स्वामित्व समिति का होता है। समिति भूमि को छोटे-छोटे खेतों में विभक्त करके सदस्यों में कृषि करने के लिए वितरित कर देती है। प्रत्येक सदस्य को जोती गई भूमि का लगान, समिति को देना होता है। समिति कृषकों के लिए उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, उन्नत यन्त्र आदि का प्रबन्ध करती है। समिति कृषकों के फार्म की फार्म-योजना बनाने में भी सहायता करती है। कृषकों को निर्मित फार्म-योजना का पालन करने एवं फार्म से प्राप्त उत्पाद का इच्छानुसार विक्रय करने की स्वतन्त्रता होती है। प्राप्त शुद्ध लाभ को समिति के सदस्यों में उनके द्वारा दिये गये भूमि के लगान की राशि के अनुसार वितरित किया जाता है। सहकारी काश्तकारी समितियाँ साधारणतया उन क्षेत्रों में गठित की गई हैं जहाँ बंजर भूमि का सुधार करके, तराई क्षेत्र का विकास करके एवं नहरों के पास काश्तकारों को विस्थापित करके नई भूमि को कृषि-योग्य बनाया गया है।

4 सहकारी सामूहिक कृषि—सहकारी सामूहिक कृषि में भूमि पर स्वामित्व एवं कृषि का प्रबन्ध समिति का होता है। समिति यह भूमि क्रय करके अथवा नियत अवधि के पट्टे पर सरकार से प्राप्त करती है। सहकारी सामूहिक कृषि में कार्य-विधि सहकारी संयुक्त कृषि के समान ही होती है, लेकिन भूमि पर स्वामित्व व्यक्तिगत न होकर समिति का सामूहिक होता है। समिति को प्राप्त लाभ की राशि में से एक हिस्सा सुरक्षित कोष में जमा रखने के पश्चात् सदस्यों में कार्य एवं विनियोग की गई पूँजी की राशि के अनुपात में शेष लाभ को वितरित किया जाता है। सदस्यों को समिति छोड़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। सहकारी सामूहिक समितियाँ बनाने का उद्देश्य बड़े पैमाने पर की जाने वाली कृषि के समान लघु कृषकों को लाभ प्राप्त कराना होता है।

सहकारी कृषि की दिशा में प्रयत्न – सर्वप्रथम वर्ष 1944 में भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् की सलाहकार समिति ने कृषि उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं का सहकारीकरण करने का सुझाव दिया था। इसी वर्ष बम्बई-अधिवेशन में भी सहकारी कृषि पर चर्चा की गई। सहकारी नियोजन समिति ने 1946 में सहकारी कृषि को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया। इसी वर्ष फिलिस्तीन में सहकारी कृषि के अध्ययन के लिए भेजे गए प्रतिनिधि मण्डल ने भी भारत में सहकारी कृषि अपनाने का सुझाव दिया था। वर्ष 1947 में राज्यों के राजस्व मन्त्रियों के सम्मेलन में की गई सिफारिशों के अनुसार लघु जोत वाले कृषकों को मिलाकर सहकारी आधार पर कृषि करने का सुझाव दिया गया। कांग्रेस कृषि सुधार समिति ने 1949 में बहुउद्देशीय

सहकारी समितियाँ गठित करने तथा सहकारी कृषि की दिशा मे प्रयास करने के लिए सुझाव दिए ।

प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे सयुक्त ग्राम प्रबन्ध एव सहकारी कृषि पद्धति को स्वीकार किया गया तथा सहकारी कृषि समितियो के लिए आवश्यक नियम बनाए गए । प्रथम भारतीय सहकारी काग्रेस ने फरवरी 1952 मे, बम्बई अधिवेशन मे, देश मे सहकारी कृषि समितियाँ निर्माण करने का प्रस्ताव पारित किया । कृषि एव सहकारिता मन्त्रियो ने 1952 मे इसकी पुष्टि की । योजना आयोग ने भी देश मे सहकारी कृषि के विकास के लिए सहमति प्रकट की । फोर्ड सस्थान दल ने सहकारी सयुक्त कृषि अपनाने के लिए सेवा समितिया गठित करने का सुझाव दिया ।

सितम्बर 1957 मे राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थायी समिति ने निर्णय लिया कि द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे देश मे 30,000 सहकारी कृषि समितियाँ गठित की जानी चाहिए । देश मे सहकारी कृषि कार्यक्रमो को बनाने एव कार्यान्वित करने के लिए सामुदायिक विकास तथा सहकारिता मन्त्रालय ने "राष्ट्रीय सहकारी कृषि परामर्श मण्डल' की स्थापना की । चीन देश मे भेजे गए पाटिल एव कृष्णप्पा दल ने भी सहकारी कृषि अपनाने के सुझाव दिए । वर्ष 1959 मे भारतीय काग्रेस के नागपुर अधिवेशन मे भारतीय कृषि के लिए सहकारी सयुक्त कृषि अपनाने पर जोर दिया गया ।

सहकारी कृषि के विपक्ष मे तर्क

1 लघु कृषको के फार्म पर बडे कृषको के फार्म की अपेक्षा भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र मे उत्पादन अधिक होता है । अत ऐसी धारणा है कि सहकारी कृषि अपनाने से उत्पादन कम हो जाएगा ।
2 भारतीय कृषक व्यवसाय मे व्यक्तिवादी होते हैं, अतः जब वे सामूहिक रूप से कार्य करते हैं तो कार्य के प्रति उदासीन हो जाते हैं ।
3 सहकारी फार्मो पर बडी मशीनो एव उन्नत औजारो के उपयोग से देश मे बेरोजगारी की समस्या को बढावा मिलेगा ।
4 सहकारी कृषि मे कृषकों की प्रबन्ध एव उद्यमो के चुनाव की वैयक्तिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है ।
5 कृषको को भूमि का स्वामित्व छिन जाने की आशका बनी रहती है ।

सहकारी कृषि के विकास के लिए सुझाव

1 कृषको मे सहकारिता की भावना जाग्रत करने के लिये सर्वप्रथम उन्हे सहकारी उन्नत कृषि अपनाने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये, जिससे उनमे व्याप्त भूमि के स्वामित्व के छिन जाने की आशका समाप्त हो सके ।

2 सहकारी कृषि से प्राप्त होने वाले लाभो से कृषको को अवगत कराने के लिए विभिन्न क्षेत्रो मे सहकारी प्रदर्शन फार्म स्थापित किये जाने चाहिये।

3 सहकारी कृषि के विकास के लिए देश मे सहकार शिक्षा का विस्तार करना चाहिये।

4, *कृषको मे भूमि के प्रति लगाव की भावना के व्याप्त होने के कारण सर्वप्रथम* नई भूमि पर ही सहकारी कृषि की जानी चाहिए। धीरे-धीरे उनकी भूमि को सहकारी कृषि मे लेना चाहिए।

(*द*) **सामूहिक कृषि** सामूहिक कृषि से तात्पर्य कृषि की उस प्रणाली से है जिसमे उत्पादन के सभी साधनो पर समिति का नियन्त्रण होता है। सामूहिक कृषि की सदस्यता स्वीकार करने पर कृषकों के पास उपलब्ध उत्पादन के सभी *साधन—भूमि, पशु, यन्त्र पूंजी आदि समिति को देने होते है। समिति* उत्पादन-साधनो को सामूहिक रूप से कृषि मे उपयोग करती है। सदस्य निर्वाचित समिति के आदेशानुसार फार्म पर मिलजुल कर कार्य करते है। फार्म पर विभिन्न कृषि-कार्यों *को करने, कृषि उत्पादो का विक्रय, लाभाश वितरण आदि के निर्णय लेने का अधि*कार निर्वाचित समिति को होता है। सामूहिक फार्म पर सुचारु रूप से कार्य सचालन करने के लिए सदस्यो को ब्रिगेड्स मे विभाजित कर देते है। प्रत्येक ब्रिगेड का एक मुखिया होता है जो ब्रिगेड के कार्य की देख-रेख व प्रबन्ध करता है। फार्म पर कार्य करने वाले प्रत्येक सदस्य को उनके द्वारा किये गये कार्य के आधार पर मजदूरी का *भुगतान किया जाता है। सामूहिक फार्मों के सदस्य निम्न दो प्रकार से आय प्राप्त* करते हैं—

1. सामूहिक फार्म पर उत्पादित उपज के विक्रय से प्राप्त शुद्ध लाभ मे उत्पादन-साधनो की मात्रा के अनुसार हिस्सा प्राप्त करके।

2 **व्यक्तिगत सम्पत्ति से**—सामूहिक फार्म पर कृषको को दुधारू पशु एव सब्जी व फलो के उत्पादन के लिए कुछ भूमि रखने का प्रवधान होता है। *अत उनसे प्राप्त आय पर कृषक का व्यक्तिगत अधिकार* होता है।

सामूहिक फार्म मुख्यतया रूस, चीन, इजरायल तथा पूर्वी यूरोप के कुछ साम्यवादी देशो मे अधिक प्रचलित हैं। विभिन्न देशो मे प्रचलित सामूहिक फार्मों का सक्षिप्त विवरण निम्न है—

कम्यून्स (Communes)—कम्यून्स सामूहिक फार्म चीन मे पाये जाते हैं। चीन मे प्रथम कम्यून अप्रैल 1958 मे स्थापित किया गया था, जिसका नाम स्पुतनिक (Sputanik) रखा गया। कम्यून सामूहिक फार्मो के अन्तर्गत सदस्यो की भूमि एव उत्पादन के अन्य साधनो को एक इकाई के रूप में एकत्रित करके उनका सामूहिक

रूप से उपयोग किया जाता है। कम्यून्स फार्म के सदस्यो की व्यक्तिगत कोई सम्पत्ति नही होती है। इनके सदस्यो एव उनके परिवार के लोगो को भोजन, वस्त्र एव अन्य आवश्यक वस्तुएँ कम्यून्स द्वारा ही प्राप्त होती है। कम्यूस सामूहिक फार्म की निर्वाचित प्रबन्धकारिणी समिति, सदस्यो के परिवार की शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरजन एव आवास का प्रबन्ध करती है। कम्यून्स फार्मों पर सदस्यो का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही होती है।

कोलखोज (Kolkhoz)—कोलखोज सामूहिक फार्म रूस मे पाये जाते हैं। कोलखोज सामूहिक फार्मों के अन्तर्गत कृषक सदस्यो की भूमि कृषि यन्त्र एव उत्पादन के अन्य साधनो पर सदस्यो का स्वामित्व होता है, लेकिन प्रबन्ध का कार्य एक समिति करती है। सदस्यो को फार्म पर कार्य करने एव सचालन के वैयक्तिक अधिकार नही होते है। कलोखोज फार्म के सदस्य पृथक् रूप मे अपने परिवार के सदस्यो के साथ रहते है। सदस्यो को घरेलू आवश्यकता हेतु दूध उत्पादन के लिए एक या दो पशु अण्डो के लिये कुक्कुट पालन एव फलो के लिये बगीचा लगाने की स्वतन्त्रता होती है। कोलखोज फार्म पर उत्पादित उपज का एक भाग सरकार को देना होता है और शेष उत्पाद को सदस्यो म उनके द्वारा दिये गय उत्पाद साधनो की मात्रा के अनुसार वितरित किया जाता है। सदस्यो को फार्म पर किये गये कार्य के लिए मजदूरी का भुगतान किया जाता है।

किब्बुत (Kibbutz)—इजरायल मे पाये जाने वाले सामूहिक फार्म किब्बुत कहलाते हैं। किब्बुत फार्म पर सभी कृषि कार्य सामूहिक रूप से सदस्यो द्वारा किये जाते हैं। सदस्यो को रहने के लिये मकान दिये जाते हैं और उन्हे भोजन सामूहिक फार्म पर चलाये गये भोजनालय मे प्राप्त होता है। बच्चो की शिक्षा एव पालन पोषण का कार्य सामूहिक फार्मों के द्वारा चलाये गये स्कूल, नर्सरी एव शयन-शालाओ मे किया जाता है। सदस्यो को अन्य आवश्यक सभी वस्तुएँ किब्बुत फार्म के स्टोर से प्राप्त होती हैं। सदस्यो को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की छूट नही होती है। प्रत्येक सदस्य को किब्बुत सामूहिक फार्म छोडने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है लेकिन सदस्यता छोडते समय उन्हे किसी प्रकार की सम्पति नही दी जाती है।

भारत मे प्रजातान्त्रिक प्रणाली के कारण सामूहिक फार्म पद्धति उचित नही है। सामूहिक फार्म साम्यवादी देशो मे ही प्रचलित हैं।

(र) निगमित कृषि—निगमित कृषि के अन्तर्गत वे फार्म आते हैं जिनका स्वामित्व वैयक्तिक अथवा सरकारी नही होकर शेयर क्रेताओ का होता है। ऐसे निगम अर्द्ध-सरकारी रूप के होते है। निगमित कृषि वाणिज्यिक कृषि की विधि पर आधारित होती है। फार्म पर आवश्यक पूंजी की पूर्ति शेयर क्रेता करते हैं। निगमित फार्मों का प्रबन्ध वेतन भोगी कर्मचारी करते हैं। निगमित फार्मों पर पूंजी की बहुलता

के कारण कृषि की उन्नत विधियाँ, उन्नत औजार आदि का उपयोग किया जाता है, जिससे उत्पादन अधिक प्राप्त होता है। निगमित फार्मों से प्राप्त लाभ का मुख्य अंश शेयर-क्रेताओं में शेयर संख्या के अनुपात में वितरित किया जाता है।

2 भू-धृति के आधार पर.

(अ) पैतृक भू-धारण कृषि—पैतृक भू-धारण कृषि के अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व काश्तकार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होता रहता है। कृषक की मृत्यु के उपरान्त भूमि का स्वामित्व उसके उत्तराधिकारियों को स्वतः ही स्थानान्तरित हो जाता है।

(ब) काश्तकार कृषि— कृषि की इस प्रणाली के अन्तर्गत काश्तकार, जमींदार (भू स्वामी) से कृषि करने के लिये भूमि प्राप्त करता है। अधिकांश जमींदार स्वयं भूमि को कृषित नहीं करके, आसामियों को कृषि करने के लिए बटाई पर दे देते हैं। आसामी कृषक भूमि पर खेती करता है और प्राप्त भूमि के लिए जमींदार को लगान नकद या उत्पाद के रूप में भुगतान करता है। काश्तकारी भूमि में साझे की कृषि या बटाई (Share cropping) की प्रणाली भी प्रचलित है। बटाई विधि में जमींदार काश्तकार को बीज, खाद उर्वरक आदि की लागत में से एक हिस्से का भुगतान करता है। ऐसी स्थिति में जमींदार काश्तकार से लगान के अतिरिक्त उपज में से निर्धारित हिस्सा भी प्राप्त करता है।

(स) ऐच्छिक भू धारण कृषि—ऐच्छिक भू-धारण कृषि के अन्तर्गत काश्तकार की भूमि पर कृषि करने की अवधि जमींदार की इच्छा पर निर्भर होती है। जमींदार अपनी इच्छा से काश्तकार को कभी भी भूमि से बेदखल कर सकता है। इस विधि में कृषि करने के समय की अनिश्चितता के कारण, कृषक भूमि के ऊपर स्थायी सुधार करने के इच्छुक नहीं होते हैं, जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होती जाती है।

(द) पट्टे पर प्राप्त भूमि पर कृषि—कृषि की इस विधि में जमींदार काश्तकार को एक निर्धारित समयावधि के लिए भूमि कृषि करने के लिए देता है। भूमि को कृषित करने की यह अवधि जमींदार एवं काश्तकार के मध्य में पहले ही निश्चित हो जाती है। समय की अवधि पूर्व नियत हो जाने से कृषक भूमि पर स्थायी सुधार करने अथवा भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करने की कोशिश करते हैं। पट्टे पर प्राप्त भूमि पर कृषि (Lease farming) के लिए भूमि का लगान एक वर्ष/मौसम या पट्टे की पूर्ण अवधि के लिए नियत कर दिया जाता है।

□□□

अध्याय **9**

कृषि-वित्त

प्रत्येक व्यवसाय को सुचारु रूप से चलाने के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है । कृषि भी एक व्यवसाय है, जिसमे पूंजी की आवश्यकता अन्य उद्योगो की अपेक्षा अधिक होती है । कृषि-व्यवसाय मे स्थायी लागत के लिए पूंजी अधिक राशि मे निवेश करनी होती है । कृषि मे तकनीकी ज्ञान के प्रसार, उन्नत किस्म के बीजों के आविष्कार, उर्वरक एव कीटनाशी दवाइयो का कृषि मे अधिक उपयोग, कृषि में यन्त्रीकरण, सिचाई के लिए विद्युत का उपयोग आदि के कारण कृषि मे पूंजी की आवश्यकता पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गई है । फसलो की उत्पादन लागत मे वृद्धि के कारण फार्म पर पूंजी की आवश्यक राशि मे भी वृद्धि हुई है । कृषि-व्यवसाय मे बचत की राशि कम होने के कारण कृषको के पास उपलब्ध पूंजी आवश्यकता से बहुत कम होती है, जिसे वे दूसरो से ऋण लेकर पूरा करते हैं ।

कृषि वित्त के दो दृष्टिकोण हैं—प्रथम, पूंजी अधिग्रहण (Acquisition of capital) एव द्वितीय, प्राप्त पूंजी का कृषि म उचित उपयोग । प्रथम दृष्टिकोण मे उन सभी सस्थाओ के अध्ययन का समावेश होता है जो कृषको को धन की पूर्ति के लिए ऋण प्रदान करती हैं । द्वितीय दृष्टिकोण मे कृषको के स्वय के धन एव प्राप्त ऋण का कृषि-व्यवसाय मे उचित लाभ की प्राप्ति के लिए उपयोग का अध्ययन किया जाता है ।

वर्तमान मे कृषको को फार्म से प्राप्त बचत के कम होने तथा कृषि मे तकनीकी ज्ञान के विकास के कारण स्वय का उपलब्ध धन कृषि-व्यवसाय के लिए पर्याप्त नहीं होता है । अत आवश्यक पूंजी की राशि कृषक दूसरो से ऋण लेकर प्राप्त करते हैं । जो धन दूसरो से प्राप्त किया जाता है उसे ऋण कहते हैं । ऋण शब्द का उद्गम लैटिन शब्द क्रेडो (Credo) से हुआ है जिसका अर्थ विश्वास से है । ऋण-स्वीकृति प्रक्रिया म ऋणदाता का ऋणी मे विश्वास होता है कि वह प्राप्त ऋण को भविष्य मे निश्चित समय पर ब्याज सहित भुगतान कर देगा । इसी आधार पर ऋणदात्री सस्थाओ द्वारा कृषको को ऋण स्वीकृत किया जाता है ।

कृषि-ऋण से तात्पर्य निवेश किये जाने वाले धन की उस राशि से है जो फार्म विकास एवं उत्पादकता वृद्धि मे सहायक होता है।[1] कृषि ऋण मे उत्पादकता वृद्धि के लिए प्राप्त किया गया ऋण एवं उपभोग ऋण जो कृषको की दक्षता मे वृद्धि करने मे सहायक होता है, शामिल होते है।

कृषकों के लिए ऋण की आवश्यकता :

कृषक मुख्य रूप से निम्न दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न संस्थाओं से ऋण प्राप्त करते है—

(1) कृषि व्यवसाय के लिए—कृषको द्वारा ऋण प्राप्ति का प्रथम उद्देश्य कृषि व्यवसाय को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक धन की पूर्ति करना होता है। कृषको द्वारा भूमि क्रय करने, कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए तकनीकी विधियो को फार्म पर अपनाने, नए कुए का निर्माण तथा पुराने कुए की मरम्मत कराने, सिंचाई के लिए पम्प लगाने, भूमि समतल करने, उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनो का क्रय करने, बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ क्रय करने, आदि कार्यो के लिए ऋण प्राप्त किया जाता है। यह ऋण उत्पादन-ऋण कहलाता है क्योकि इस ऋण-राशि के उपयोग करने से फार्म पर उत्पादन मे वृद्धि होती है और प्राप्त ऋण का ब्याज सहित भुगतान करना सरल होता है।

(2) घरेलू उपभोग के लिए—कृषको द्वारा ऋण प्राप्त करने का दूसरा उद्देश्य घरेलू आवश्यकताओ, जैसे– खाद्यान्न, वस्त्र एवं अन्य आवश्यक वस्तुओ के क्रय, भवन निर्माण, विवाह, मृत्युभोज एवं अन्य सामाजिक उत्सवो के लिए धन प्राप्त करना होता है। घरेलू उपभोग के लिए प्राप्त ऋण को उपभोग ऋण कहते है। इस ऋण राशि के उपयोग से कृषको की आय मे वृद्धि नही होती है जिससे उपभोग-ऋण का समय पर भुगतान करना कठिन होता है।

इस अध्याय मे कृषि व्यवसाय के लिए प्राप्त उत्पादन ऋण का ही विवेचन किया गया है क्योकि ऋण-प्रबन्ध के सिद्धान्त उपभोग ऋण पर लागू नही होते है।

कृषि-ऋण का वर्गीकरण

कृषि-ऋण निम्न आधारो के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है—

1. ऋण-प्राप्ति के उद्देश्य के अनुसार—ऋण-प्राप्ति के उद्देश्यो के अनुसार ऋण दो प्रकार का होता है—

1 "Agricultural credit may be defined as the amount of investible funds made available for the purpose of development and sustenance of farm productivity."
—V. Rajagopalan, Farm Liquidity and Institutional Financing for Agricultural Development, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXIII, No 4, October-December, 1968, p 26

(i) उत्पादन-ऋण—उत्पादन-ऋण फार्म पर कृषि-उत्पादकता मे वृद्धि करने के लिए प्राप्त किया जाता है। इस ऋण के फार्म पर उपयोग करने से उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है। उत्पादन-ऋण दो प्रकार के होते हैं—

(अ) प्रत्यक्ष उत्पादन-ऋण—प्रत्यक्ष उत्पादन-ऋण फार्म पर उत्पादन-साधनो—बीज, खाद, उर्वरक, औजार, पम्प सैट आदि क्रय करने हेतु प्रयुक्त किया जाता है, जिनके प्रयोग से कृषि उत्पादन मे प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि होती है। इन साधनो का अधिक उपयोग करने से उत्पादन की अधिक मात्रा प्राप्त होती है।

(ब) अप्रत्यक्ष उत्पादन ऋण—अप्रत्यक्ष उत्पादन-ऋण वह है जिसके फार्म पर उपयोग करने से उत्पादन मे प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि नही होकर अप्रत्यक्ष रूप मे वृद्धि होनी है, जैसे—शिक्षा के लिए प्राप्त ऋण। शिक्षा से तकनीकी ज्ञान के उपयोग मे वृद्धि होती है एव उत्पादन बढता है। प्रबन्धक की दक्षता मे वृद्धि के लिए फार्म पर साईकिल क्रय करना, कृषि साहित्य क्रय करना आदि अप्रत्यक्ष उत्पादन-ऋण की श्रेणी मे आते हैं।

(ii) अनुत्पादक ऋण—अनुत्पादक ऋण वह है जो कृषको द्वारा घरेलू उपभोग की आवश्यक वस्तुओ के क्रय करने, सामाजिक उत्सवो, जैसे—विवाह, मृत्यु-भोज, जन्मोत्सव आदि पर खर्च करने, मकान बनाने आदि कार्यों के लिए प्राप्त किया जाता है। अनुत्पादक ऋण के उपयोग से फार्म पर उत्पादन मे वृद्धि नही होती है। अनुत्पादक ऋण का भुगतान कठिन होने के कारण कृषक पर ऋण का बोझ निरन्तर बढता जाता है।

2. ऋण प्राप्ति के समय के अनुसार—ऋण प्राप्ति के समय के अनुसार कृषि-ऋण को तीन श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जाता है—

(i) अल्पकालीन ऋण—अल्पकालीन ऋण वह है जो कृषको को मौसमी लागत को पूरा करने के लिए प्रदान किया जाता है। अल्पकालीन ऋण फार्म पर बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ आदि क्रय करने, श्रमिको को मजदूरी का भुगतान करने, भूमि का राजस्व जमा कराने, पशुओ के लिए चारा एव दाना खरीदने आदि कार्यों के लिए दिया जाता है। अल्पकालीन ऋण एक वर्ष की अवधि मे परिपक्व हो जाता है, लेकिन अल्पकालीन ऋण के भुगतान की अधिकतम अवधि 15 माह होती है।

(ii) मध्यकालीन ऋण—मध्यकालीन ऋण वह है जो कृषको को फार्म पर औजार, बैल, दुधारु पशु खरीदने, कुआँ गहरा करने, भूमि-सुधार, कुओ पर मोटर लगाने, बाड लगाने आदि कार्यों के लिए स्वीकृत किया जाता है। मध्यकालीन ऋण एक से अधिक वर्ष की अवधि मे परिपक्व होता है और ऋण का भुगतान दो या दो

से अधिक मौसमो मे किश्तो मे किया जाता है। मध्यकालीन ऋण के भुगतान की अधिकतम अवधि 5 वर्ष होती है।

(iii) दीर्घकालीन ऋण—दीर्घकालीन ऋण वह है जो कृषको को भूमि क्रय करने, भूमि पर स्थायी सुधार करने, ट्रैक्टर व अन्य मशीनो के क्रय करने, फार्म पर खाद्यान्न सग्रहण के लिए गोदाम, पशुशाला भवन का निर्माण करन, कुआँ बनवाने, फार्म पर बिजली लगाने आदि कार्यों के लिए स्वीकृत किया जाता है। इन कार्यों मे पूँजी के निवेश से कृषको को आय अनेक वर्षों तक निरन्तर प्राप्त होती रहती है जिसमे ऋण का भुगतान दीर्घावधि मे हो पाता है। दीर्घकालीन ऋण के भुगतान की अवधि साधारणतया 5 से 20 वर्ष होती है।

3 प्रतिभूति के अनुसार—प्रतिभूति के अनुसार ऋण दो प्रकार के होते हैं—

(i) रक्षित ऋण—रक्षित ऋण कृषको को चल व अचल सम्पत्ति अथवा व्यक्तिगत प्रतिभूति के आधार पर स्वीकृत किया जाता है। रक्षित ऋण देने मे ऋणदात्री सस्था को जोखिम नही होती है। रक्षित ऋण पर साधारणतया ब्याज की दर कम होती है। रक्षित ऋण चार प्रकार के होते है—

(अ) **व्यक्तिगत प्रतिभूति ऋण**—इस प्रकार के रक्षित ऋण मे ऋणदात्री सस्था, ऋण प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य जिम्मेदार व्यक्ति की प्रतिभूति के आधार पर ऋण स्वीकृत करती है। ऋणी द्वारा प्राप्त ऋण का समय पर भुगतान नही किये जाने की अवस्था मे प्रतिभूति देने वाला व्यक्ति ऋण भुगतान की जिम्मेदारी वहन करता है।

(ब) **स्थावर सम्पदा की प्रतिभूति**—इस प्रकार के रक्षित ऋण मे ऋणदात्री सस्था, ऋणी की अचल सम्पत्ति—भूमि, मकान आदि बन्धक रखकर ऋण स्वीकृत करती है। सम्पत्ति ऋणी के पास ही रहती है, लेकिन उस पर स्वामित्व ऋणदात्री सस्था का होता है। ऋण के भुगतान से पूर्व ऋणी सम्पत्ति को अन्य व्यक्ति को विक्रय या बन्धक नही रख सकता है।

(स) **चल सम्पत्ति की प्रतिभूति**—इस प्रकार के रक्षित ऋण मे ऋणदात्री सस्था ऋणी की चल सम्पत्ति—पशु, खाद्यान्न, मशीनें एव औजार, जेवर आदि को बन्धक रखकर ऋण स्वीकृत करती है। ऋणी द्वारा नियत समय पर ऋण का भुगतान नही करने की अवस्था मे ऋणदात्री सस्था चल सम्पत्ति को विक्रय करके ऋण वसूल कर लेती है।

(द) **संपार्श्विक प्रतिभूति (Collateral Security)**—इस प्रकार के रक्षित ऋण मे ऋणदात्री सस्था ऋणी के नाम के शेयर प्रमाण पत्र, बॉण्ड्स, बीमा पॉलिसी एव नियत अवधि वाली बैंको की जमा रसीदो को

बन्धक रखकर ऋण स्वीकृत करती है। ऋणी द्वारा ऋण का भुगतान करके अपनी सपार्श्विक सम्पत्ति वापिस प्राप्त की जाती है।

(ii) **अरक्षित ऋण**—ऋणदात्री संस्थाओ द्वारा बिना किसी प्रकार की प्रतिभूति के जो ऋण स्वीकृत किया जाता है उसे अरक्षित ऋण कहते हैं। अरक्षित ऋण मे ऋणदात्री संस्था को जोखिम अधिक होती है जिसके कारण ऋणदात्री संस्था ऋणी से ब्याज अधिक दर से लेती है।

अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण रक्षित एव अरक्षित दोनो ही प्रकार के स्वीकृत किये जाते हैं लेकिन दीर्घकालीन ऋण मुख्यत रक्षित ही स्वीकृत किया जाता है।

4 **ऋणदात्री संस्थाओ के अनुसार**—ऋणदात्री संस्थाओ के अनुसार ऋण दो प्रकार का होता है—

(i) **संस्थागत अभिकरण या एजेन्सियों से प्राप्त ऋण**—संस्थागत अभिकरणो से तात्पर्य उन ऋण संस्थाओ से है जिन पर व्यक्ति विशेष का स्वामित्व न होकर, अनेक व्यक्तियो का सामूहिक स्वामित्व होना है, जैसे सरकार, सहकारी समितियाँ, वाणिज्यिक बैंक, निगम आदि। इन संस्थाओ से प्राप्त ऋण को *संस्थागत अभिकरण से प्राप्त ऋण* कहते हैं।

(ii) **गैर-संस्थागत या निजी अभिकरण स्रोत से प्राप्त ऋण**—गैर-संस्थागत अभिकरणो से तात्पर्य उन ऋण संस्थाओ से है जिन पर एक व्यक्ति का स्वामित्व होता है, जैसे—साहूकार, व्यापारी, आढतिया, जमीदार आदि। इनसे प्राप्त ऋण को गैर-संस्थागत अभिकरण से प्राप्त ऋण कहते हैं।

5 **ऋणी कृषक के अनुसार**—ऋण प्राप्त करने वाले कृषको के अनुसार ऋण को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—

(अ) खाद्यान्न उत्पादन करने वाले ऋणी कृषक

(ब) सब्जी उत्पादन करने वाले ऋणी कृषक,

(स) फल उत्पादन करने वाले ऋणी कृषक,

(द) दूध उत्पादन करने वाले ऋणी कृषक,

(य) कुक्कुट पालन करने वाले ऋणी कृषक।

सुदृढ/ठोस कृषि ऋण-व्यवस्था के आवश्यक गुण

सुदृढ कृषि ऋण व्यवस्था मे निम्नलिखित गुणो का होना आवश्यक है—

1 कृषको को फार्म पर आवश्यक कार्यों के लिए उचित अवधि के लिए ऋण स्वीकृत करना चाहिए। ऋण को चुकाने की अवधि के कम होने पर प्राप्त ऋण का समय पर भुगतान कर पाना कृषक के लिए सम्भव नही होता है।

2 कृषको को ऋण स्वीकृत करने वाली संस्था, कृषको के विकास मे इच्छुक तथा उन्हे तकनीकी ज्ञान प्रदान करने की क्षमता रखने वाली होनी चाहिए ।

3 कृषको को ऋण न्यूनतम ब्याज दर पर उपलब्ध होना चाहिये ।

4 कृषको को ऋण की राशि उनकी वित्तीय स्थिति के अनुसार स्वीकृत करनी चाहिए, जिससे आर्थिक मन्दी काल मे भी कृषको मे ऋण-भुगतान की सामर्थ्य बनी रहे ।

5 कृषको को ऋण स्वीकृति के समय उनकी वित्तीय स्थिति के अतिरिक्त बाजार ऋण साख, कार्यक्षमता, फार्म से आकलित लाभ की राशि एव नैतिक स्तर भी दृष्टि मे रखने चाहिए ।

6 कृषको को ऋण स्वीकृति की शर्तें, ऋण-भुगतान/अदायगी का समय ब्याज की राशि ज्ञात करने की विधि आदि की जानकारी ऋण स्वीकृत करते समय ही देनी चाहिये ।

7 कृषको को उत्पादन-ऋण के साथ-साथ उपभोग-ऋण भी स्वीकृत करना चाहिए । उपभोग ऋण कम से कम राशि मे लेने के लिए उन्हे सहमत करना चाहिये ।

8 कृषको को आवश्यक स्वीकृत ऋण की कुल राशि एक किश्त मे नही देकर, आवश्यकतानुसार राशि मे समय समय पर देना चाहिए । स्वीकृत ऋण राशि को एक साथ प्राप्त करने से कृषको को ब्याज की राशि अधिक देनी होती है तथा उनके पास अनावश्यक राशि मे पूंजी होने से फिजूल खर्ची की प्रवृत्ति बढती है ।

कृषि-ऋण की समस्याए

कृषि ऋण, अन्य उद्यमो के लिए प्राप्त ऋण से भिन्न होता है । इसका प्रमुख कारण कृषि उद्यम की कुछ विशेषताओ का होना है, जिससे कृषि ऋण की समस्याए अन्य व्यवसायो की ऋण समस्याओ से भिन्न होती हैं । कृषि ऋण की प्रमुख समस्याए निम्न हैं —

1 कृषि उत्पादन पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर होता है । कृषि मे मौसम की प्रतिकूलता के कारण अनिश्चितता बनी रहती है जिसके कारण ऋणदात्री सस्थाए कृषको को ऋण स्वीकृति मे प्राथमिकता नही देती हैं ।

2 कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन कार्यों के लिए पूंजी निवेश करने के समय एव पूंजी से प्राप्त आय के समय मे विशेष समयान्तर होना है, जैसे—खाद्यान्न म 5–6 माह, पशुओ मे 4 से 5 वर्ष, फलो मे 5 से 10 वर्ष आदि । अत स्वीकृत ऋण राशि दीर्घावधि मे वसूल हो पाती है,

जिसके कारण भी ऋणदात्री सस्थाए कृषि-व्यवसायकर्त्ताओ को ऋण स्वीकृत करने को तैयार नही होती है ।

3 कृषि व्यवसाय मे छोटी छोटी जोत के असख्य कृषक होते है। प्रत्येक कृषक की ऋण आवश्यकता की पूर्ति करने एव उनसे वसूली करने का कार्य कठिन होता है । ऋण-वसूली में लागत भी अधिक आती है ।

4 कृषि व्यवसाय मे पूँजी की आवश्यकता वर्ष भर निरन्तर नही होकर मौसम विशेष मे होती है । अत मौसम विशेष मे ऋण की आवश्यक राशि की अधिकता के कारण ब्याज-दर अधिक होती है ।

5 कृषको के पास ऋण की प्रतिभूति के लिए आवश्यक मात्रा मे चल व अचल सम्पत्ति का अभाव होता है जिसके कारण भी कृषक आवश्यक राशि मे ऋण प्राप्त नही कर पाते हैं ।

6 विभिन्न कृषको की आवश्यक ऋण राशि एव उनकी भुगतान क्षमता के निर्धारण का कार्य भी कठिन होता है ।

7 कृषि, व्यवसाय के साथ-साथ जीविका-निर्वाह का साधन भी है । अत. कृषि व्यवसाय मे उत्पादन व उपभोग ऋण मे अन्तर करना कठिन होता है ।

कृषि मे पूँजी एव ऋण की आवश्यकता

प्रत्येक व्यवसाय की सफलता के लिए धन की आवश्यकता होती है । कृषि भी एक व्यवसाय है । कृषि व्यवसाय मे पूँजी की आवश्यकता निम्न प्रचलित कहावत से स्पष्ट है । 'Capital is ammunition in the farming battle' अर्थात् जिस प्रकार युद्ध मे सफलता प्राप्त करने के लिए गोला-बारूद की आवश्यकता होती है उसी प्रकार कृषि व्यवसाय मे सफलता अर्थात् अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है । पूँजी कृषि उत्पादन मे अपरिहार्य (Indispensable) कारक है । प्राचीन काल मे कृषि व्यवसाय के लिए पूँजी की आवश्यकता बहुत कम थी, क्योकि उस समय कृषक कृषि को व्यवसाय के रूप म न लेकर जीविकोपार्जन के रूप मे अपनाते थे । साथ ही कृषि मे उत्पादन के लिए आवश्यक उत्पादन-साधन कृषक बाहर से क्रय नही करते थे, बल्कि अपने पास से ही पूर्ति करते थे । सिचाई भी कुओ से चरस द्वारा करते थे । कृषि म तकनीकी ज्ञान का विकास भी नही हुआ था ।

वर्तमान मे कृषक कृषि को एक व्यवसाय के रूप म लेते है । उत्पादन के सभी आवश्यक साधनो का प्रचुर मात्रा मे उपयोग करते हैं । तकनीकी ज्ञान के विकास के कारण नए-नए उत्पादन साधनो का आविष्कार हो रहा है जिन्हे वे अन्य सस्थाओ से क्रय करते हैं । जैसे उर्वरक, कीटनाशी दवाइयां औजार, मशीन, उन्नत बीज, सिचाई के लिए विद्युत् । इन सब कारणो से कृषि-व्यवसाय मे पूँजी की

आवश्यकता प्रति इकाई क्षेत्र पर पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गई है। साथ ही कृषि व्यवसाय मे अन्य उद्योगो की अपेक्षा स्थायी पूंजी की आवश्यकता अधिक होती है। स्थायी पूंजी की कृषि मे आवश्यकता भूमि को क्रय करने, भूमि को कृषि योग्य बनाने, सिचाई के साधनो का विकास करने, फार्म पर आवश्यक भवन जैसे—पशुगृह, भण्डार-गृह आदि का निर्माण करने, कृषि कार्यों के लिए ट्रैक्टर, हारवेस्टर, थ्रैसर, सीडड्रिल, सिचाई के लिए विद्युत् चालित मोटर आदि को क्रय करने के लिए अधिक होती है। कृषि व्यवसाय मे स्थायी पूंजी की अधिक आवश्यकता के कारण पूंजी-आवर्त्त अनुपात (Capital turnover ratio) अन्य व्यवसायो की अपेक्षा कम होता है। अत: कृषि व्यवसाय मे पूंजी एक बार लगाने के बाद जल्दी-जल्दी प्राप्त नही होती है।

विभिन्न फार्मों पर पूंजी की आवश्यकता मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। निम्न कारक फार्म पर पूंजी की आवश्यक राशि मे परिवर्तन लाते हैं —

(i) क्षेत्र मे भूमि की कीमत एव फार्म का आकार।

(ii) फार्म पर भूमि को समतल करना, बाड लगाना, सिंचाई के साधनो एव मशीनो की आवश्यकता।

(iii) फार्म पर उत्पादित किये जाने वाले उद्यमो की प्रकृति एव उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल। खाद्यान्नो की अपेक्षा सब्जी, फल, तिलहन, फसलो को उत्पादित करने के लिए पूंजी की आवश्यकता अधिक होती है।

(iv) फार्म पर सघन अथवा विस्तृत कृषि की अपनाई जाने वाली प्रणाली।

(v) फार्म पर तकनीकी ज्ञान के प्रयोग का स्तर।

(vi) फार्म पर यन्त्रीकरण के प्रयोग का स्तर।

(vii) फार्म पर आवश्यक उत्पादन-साधनो जैसे उन्नत बीज, खाद, उर्वरक, श्रमिक, कीटनाशी दवाइयो की लागत राशि, आदि।

कृषि-व्यवसाय मे प्राप्त होने वाली शुद्ध आय की राशि बहुत कम होती है, जिसके कारण बचत की राशि कम होती है। अतः कृषको के पास उपलब्ध पूंजी, कृषि व्यवसाय के लिए आवश्यक पूंजी से बहुत कम राशि मे होती है। कृषक पूंजी की इस आवश्यक राशि को सस्थाओ एव गैर-सस्थाओ से ऋण लेकर पूरी करते हैं।

कृषि व्यवसाय मे पूंजी एव ऋण की आवश्यकता के आकलन—देश मे कृषि-जोत के आकार मे विभिन्नता, प्रयुक्त तकनीकी ज्ञान-स्तर एव फार्म पर लिए जाने वाले उद्यमो की विभिन्नता के कारण कृषि-क्षेत्र मे पूंजी एव ऋण की कुल आवश्यकता के आकलन का कार्य कठिन एव पेचीदा है। विभिन्न सस्थाओ ने विभिन्न वर्षों मे कृषि-ऋण की आवश्यकता के आकलन किये है। देश मे विभिन्न सस्थाओ/समितियो/अर्थशास्त्रियो द्वारा कृषि-व्यवसाय के लिए पूंजी/ऋण की आवश्यकता के सम्बन्ध मे किए गए आकलन अग्रांकित हैं—

(1) केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति ने वर्ष 1949 मे कृषि के लिए 300 से 400 करोड रुपये के अल्पकालीन ऋण एव 500 करोड रुपयो के दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता का आकलन किया था।

(2) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा वर्ष 1950–51 मे नियुक्त अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति ने कृषको की अल्पकालीन, मध्यकालीन एव दीर्घकालीन ऋण की वार्षिक आवश्यकता के रूप मे 750 करोड रुपयो के आकलन दिये थे।

(3) अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण ग्रस्तता एव निवेश सर्वेक्षण, 1961-62 के अनुसार कृषि-व्यवसाय मे कुल पूँजीगत व्यय 626 करोड रुपयो का था, जिसमे से 33 प्रतिशत ऋण के रूप मे प्राप्त किया गया था।

(4) केन्द्रीय कृषि-मन्त्रालय ने वर्ष 1966–67 के लिए कृषि मे 1003 करोड रुपयो की आवश्यकता का आकलन प्रस्तुत किया था, जिसमे से 735 करोड रुपये अल्पकालीन ऋण, 90 करोड रुपये मध्यकालीन ऋण एव ‌.28 करोड रुपये दीर्घकालीन ऋण के थे।

(5) श्री पी सी बासिल[2] ने चतुर्थ पचवर्षीय योजना के लिए कृषि मे 1677 करोड रुपयो के अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता के आकलन प्रस्तुत किये थे। इनमे से 819 करोड रुपये फार्म व्यवसाय के लिए एव 858 करोड रुपये घरेलू आवश्यकता के लिये थे।

(6) भारत सरकार के कृषि उत्पादन-मण्डल (Agricultural Production Board) द्वारा *वर्ष 1965 मे नियुक्त कार्यकारी दल ने* प्रस्तावित चतुर्थ पचवर्षीय योजना (1966–197‌) के लिये कृषि मे 4470 करोड रुपयो की पूँजी तथा 2412 करोड रुपयो के कृषि ऋण की आवश्यकता का आकलन किया था।

(7) भारत सरकार ने प्रो एम एल दातवाला की अध्यक्षता मे नियुक्त कृषि अर्थशास्त्रियो के पैनेल ने कृषि-परिवारो के लिए अल्पकालीन ऋण के सम्बन्ध मे वर्ष 1970–71 के लिए 1228 करोड रुपये व 1341 करोड के आकलन दिए थे।

अर्थशास्त्रियो के पैनेल द्वारा दिए गए अल्पकालीन ऋण के आकलन एव कार्यकारी दल के द्वारा दिए गए आकलनो मे अन्तर है जिसका प्रमुख कारण आकलन विधि मे अन्तर का होना है। कार्यकारी दल के द्वारा दिए गए मध्य एव दीर्घकालीन ऋण के आकलनो को कृषि-अर्थशास्त्रियो के पैनेल ने उचित बताया था।

2 P C Bansil, Short Term Credit Requirements at the end of the Fourth Five Year Plan, 1973-74, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXVI, No 4, October-December, 1971, p 467 73

(8) अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण पुनर्निरीक्षण समिति ने संशोधित चतुर्थ पचवर्षीय योजना (1969–74) के लिए 2000 करोड रुपये अल्पकालीन ऋण, 500 करोड रुपये मध्यकालीन ऋण एव 1500 करोड रुपये दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता का आकलन किया था।

(9) श्री पी वी शिनोय[3] ने कृषि क्षेत्र मे उन्नत किस्म के बीजो के अधिक उपयोग एव कृषि मे यन्त्रीकरण की बढती हुई आवश्यकता को देखते हुए पाचवी पचवर्षीय योजना (1974–79) के लिए कृषि-ऋण की आवश्यकता 5000 करोड रुपये होने का आकलन किया था।

(10) राष्ट्रीय कृषि आयोग ने कृषि एव सहायक उद्योगो के लिए आवश्यक सम्भावित पूँजी के आकलन मे बतलाया है कि यदि देश मे निर्धारित सभी योजनाओ को पूर्णरूप से कार्यान्वित किया जाता है तो वर्ष 1985 के अन्त तक 16,549 करोड रुपयो की आवश्यकता होगी, जिसका विवरण सारणी 9 1 मे दिया गया है।

सारणी 9 1

देश मे कृषि क्षेत्र मे सभी योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए वर्ष 1985 के अन्त तक पूँजी की आवश्यकता

(करोड रुपये)

पूँजी का विवरण	सीमान्त एव लघु कृषक	मध्य एव दीर्घ जोत कृषक	कुल
1 अल्पकालीन पूँजी	2193	5691	7884
2 मध्य एव दीर्घकालीन पूँजी	2497	5786	8265
3 कृषि यन्त्रो एव मशीनो के लिए	—	—	—
कुल पूँजी	—	—	16549

स्रोत Report of National Commission on Agriculture, Vol XII, Ministry of Agriculture and Irrigation, Government of India, New Delhi, 1976, p 57

3 P V Shenoi, Agricultural Development in India, Vikas Publishing House, New Delhi, 1975, p 280

(11) कृषि क्षेत्र मे अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता के विभिन्न वर्गों के लिए डॉ. डी के देसाई द्वारा दिए गए आकलन सारणी 9 2 मे प्रदर्शित हैं।

सारणी 9 2

अल्पकालीन ऋण आवश्यकता के विभिन्न जोत कृषको के लिए वर्ष 1984–85 से 2000 तक के आकलन

(करोड रुपये)

वर्ष		लघु एव सीमान्त कृषक	मध्य जोत कृषक	दीर्घ जोत कृषक	कुल
1984–85	A_1	7,740	15,003	6,721	29,464
	A_2	9,460	18,337	8,214	36,011
1990	A_1	9,492	18,071	6,593	34,156
	A_2	12,090	21,721	7,936	41,747
1995	A_1	11,748	21,287	7,712	40,567
	A_2	14,359	25,798	9,426	49,582
2000	A_1	14,293	25,680	9,383	49,356
	A_2	17,470	31,368	11,468	60,324

A_1=All farmers would get credit on the basis of cash and kind expenditure for production of all crops

A_2=All farmers would get credit on the basis of cash and kind expenditure plus the imputed value of family labour for production of all crops.

स्रोत D K Desai, Institutional Credit Requirements for Agricultural Production—2000 AD, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XL III, No. 3, July-September, 1988, p 341

सारणी से स्पष्ट है कि वर्ष 2000 तक कुल अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता विकल्प प्रथम के अनुसार 49,356 करोड रुपये एव विकल्प द्वितीय के अनुसार 60,324 करोड रुपये होने का आकलन है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कृषि के क्षेत्र मे पूंजी/ऋण की आवश्यकता मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। भविष्य मे कृषि मे तकनीकी ज्ञान के अधिक विस्तार के साथ-साथ कृषि ऋण की आवश्यकता मे अधिक वृद्धि होने की सम्भावना है।

कृषि-ऋण की आवश्यकता के फार्म स्तर पर भी विभिन्न क्षेत्रो मे आकलन के लिए अध्ययन किये गये है, जो क्षेत्र एव फार्म पर ली जाने वाली फसलो तथा उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल के अनुसार प्रति फार्म एव प्रति हैक्टर पूंजी एव ऋण की आवश्यकता के आँकडे प्रदर्शित करते है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता

ऋणग्रस्तता से तात्पर्य उस ऋण राशि से है जिसका ऋणी द्वारा ऋणदात्री सस्थाओ को भुगतान करना है, अर्थात् ऋणग्रस्तता ऋणदात्री सस्थाओ की कृषको पर बकाया राशि का द्योतक होता है। ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय कृषि की प्रमुख समस्या है। कृषि देश का प्रमुख व्यवसाय होते हुए भी भारतीय कृषक ऋण के भारी बोझ से दबे हुए है, जिसके कारण कृषक कृषि मे उन्नत तरीको को अपनाने के लिए आवश्यक राशि मे पूंजी के निवेश करने मे असमर्थ होते हैं। कृषको की ऋणग्रस्तता भारतीय कृषि के लिए अभिशाप है। कृषि रायल कमीशन ने 1928 मे अपने प्रतिवेदन मे लिखा है कि "भारतीय कृषक ऋण का बोझ कन्धे पर लेकर जन्म लेता है, ऋणग्रस्तता मे पूरा जीवन व्यतीत करता है ऋण मे ही उसका अन्त हो जाता है और वह अपनी सन्तान के लिए भी ऋण का बोझ छोड जाता है।" इस प्रकार कृषकों पर ऋण पीढी-दर-पीढी चलता रहता है।

कृषको की ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण कृषको द्वारा सामाजिक उत्सवो—शादी, मृत्युभोज आदि कार्यों पर अधिक धनराशि का व्यय करना है। सामाजिक उत्सवो पर व्यय करने के लिए प्राप्त ऋण उत्पादक नही होता है जिससे प्राप्त ऋण का बोझ कृषको पर निरन्तर बढता ही जाता है। निर्धनता एव ऋणग्रस्तता भारतीय कृषक के जीवन के अविभाज्य अग बन गये है।

भारत मे ग्रामीण ऋणग्रस्तता का आकलन—देश मे कृषको पर ऋणग्रस्तता का आकलन करने के लिए समय-समय पर विभिन्न सस्थाओ एव व्यक्तियो ने अपने प्रतिवेदनो मे इनकी राशि का वर्णन किया है। अकाल-आयोग ने सर्वप्रथम वर्ष 1901 में अपने प्रतिवेदन मे बताया कि 80 प्रतिशत कृषक देश मे ऋणग्रस्त हैं। सर एडवर्ड मैकलेगन (1911) के अनुसार देश मे ग्रामीण ऋणग्रस्तता की राशि 300 करोड रुपये, सर एम. एल डार्लिंग (1925) के अनुसार 600 करोड रुपये, केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (1931) के अनुसार 900 करोड रुपये, डॉ राधाकमल मुखर्जी एव डॉ पी जे थॉमस (1935) के अनुसार 1200 करोड रुपये एव

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कृषि-ऋण-विभाग (1937) के अनुसार 1800 करोड़ रुपये आकलित किये गए हैं। प्राप्त आकलनों से स्पष्ट है कि देश में ग्रामीण-ऋणग्रस्तता की राशि निरन्तर बढ रही है।

ग्रामीण-ऋण के सम्बन्ध मे किये गये दो विस्तृत सर्वेक्षणो—अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण, 1951–52 एवं अखिल भारतीय ग्रामीण कर्ज एव विनियोग सर्वेक्षण, 1961–62 मे ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्राप्त परिणाम सारणी 9.3 मे प्रस्तुत किये गये है।

सारणी 9 3

ग्रामीण-ऋणग्रस्तता का 1951–52 से 1960–61 के दशक मे तुलनात्मक अध्ययन

विवरण	1951–52	1961–62	परिवर्तन	
(1) ऋणग्रस्त परिवारो का प्रतिशत				
(अ) कृषक परिवार	58 6	52 0	(–)	6 6
(ब) अ-कृषक परिवार	38 6	40 0	(+)	1 4
(स) सभी ग्रामीण परिवार	51 7	48 8	(–)	2.9
(2) प्रति परिवार ऋण का बोझ (रु०)				
(अ) कृषक परिवार	209.5	205 4	(–)	4 1
(ब) अ-कृषक परिवार	66 1	111 8	(+)	45.7
(स) सभी ग्रामीण परिवार	159.9	NA	NA	
(3) प्राप्त कुल ऋण की राशि (करोड रु०)	750	1034	(+)	284
(4) ऋणी कृषको का प्रतिशत	69 2	66 7	(–)	2 5
(5) प्रति ऋणी कृषक ऋण का बोझ (रु०)	526	708	(+)	182

स्रोत : 1. All India Rural Credit Survey, 1951–52, Reserve Bank of India, Bombay

2. All India Rural Debt and Investment Survey, 1961–62, Reserve Bank of India, Bombay.

वर्ष 1951–52 से 1961–62 के दशक मे कुल ऋण की राशि मे 284 करोड रुपये अर्थात् 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, लेकिन ऋणग्रस्त कृषक परिवारो एव प्रति कृषक परिवार पर ऋण के बोझ म उपर्युक्त काल म कमी हुई है।

सारणी 9 4 कृषको द्वारा वर्ष 1951–52 व 1961–62 मे प्राप्त ऋण का कुल ऋण मे विभिन्न उद्देश्यो के अनुसार प्रतिशत प्रदर्शित करती है। प्राप्त ऋण का लगभग आधा भाग (47 प्रतिशत) कृषको द्वारा परिवार की उपभाग-आवश्यकताओं मे व्यय किया गया है। उपर्युक्त काल म घरेलू उपभाग व्यय के प्रतिशत म परिवर्तन नही आया है। ऋण प्राप्ति का दूसरा प्रमुख उद्देश्य कृषि-व्यवसाय मे पूंजी निवश करना है। वर्ष 1951–52 म कृषि-व्यवसाय मे पूंजी निवश करने एव चालू-व्यय का पूरा करने के लिए 42 1 प्रतिशत ऋण प्राप्त किया गया था, जो कम होकर वप 1961–62 म 35 6 प्रतिशत ही रह गया।

सारणी 9.4

कृषकों द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार प्राप्त ऋण

ऋण प्राप्ति का उद्देश्य	प्राप्त कुल ऋण का प्रनिशत	
	1951–52	1961–62
1. फार्म व्यवसाय म पूंजी निवश करने	31 5	22 1
2 फार्म व्यवसाय मे चालू व्यय करने	10 6	13 5
3 फार्म व्यवसाय के अतिरिक्त कार्यों मे व्यय करने	4 5	6 7
4 घरेलू उपभाग व्यय करन	46 9	46 6
5 अन्य व्यय हेतु	6 5	11 1
कुल	100 0	100 0

ग्रामीण श्रम-जांच समिति, 1964–65 के अनुसार कृषि श्रमिक परिवार एव सभी ग्रामीण श्रमिक परिवारा पर औसतन ऋण की राशि इस प्रकार थी—

सारणी 95

कृषि-श्रमिक परिवारो पर ऋण का बोझ

(रुपये)

परिवार	प्रति परिवार ऋण का औसत बोझ	ऋणग्रस्त परिवारो पर ऋण का औसत बोझ
1. कृषि-श्रमिक परिवार	147.89	243 87
2 सभी ग्राम्य श्रमिक परिवार	148 42	250 70

स्रोत Rural Labour Enquiry, Summary Report, 1964–65

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण ऋणग्रस्तता की राशि वर्ष 1962 मे 2789 करोड रुपये एव जून 1971 मे 3921 करोड रुपये होने का आकलन है। अखिल भारतीय स्तर पर रिजर्व बैंक द्वारा आयोजित ग्रामीण ऋण एव विनियोग सर्वेक्षणो को आधार मानते हुए प्रति कृषक परिवार ऋण का बोझ निरन्तर बढता जा रहा है। प्रति कृषक परिवार ऋण का बोझ वर्ष 1951–52 मे 526 रुपये का था, जो बढकर 1961–62 मे 708 रुपये एव 1971–72 मे 812 रुपये का हो गया, जबकि प्रति ग्रामीण परिवार पर ऋण का बोझ 1971–72 मे 303 रुपये का, प्रति गैर कृषक परिवार पर 219 रुपये का, प्रति खेतिहर मजदूर परिवार पर 162 रुपये एव प्रति गैर कृषि मजदूर परिवार पर 261 रुपये का ही था।

स्पष्ट है कि कृषि-श्रमिक परिवारो पर सभी श्रमिक परिवारो की अपेक्षा ऋण का भार कम है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण—ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) **पैतृक ऋण**—भारत मे ग्रामीण परिवारो की ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण परिवार के मुखिया की मृत्यु के उपरान्त पैतृक ऋण का उत्तराधिकारी पर हस्तान्तरण होना है, जिसके कारण ऋण का बोझ परम्परागत रूप मे चलता रहता है।

(2) **कृषि मे प्राकृतिक प्रकोपो का होना**—भारतीय कृषि प्रकृति पर निर्भर है। प्रति वर्ष ओला, सूखा, अतिवृष्टि आदि के कारण देश के किसी न किसी भाग मे फसल के खराब होने के कारण कृषको को प्राप्त होने वाली आय कम हो जाती है जिससे वे ऋण का समय पर भुगतान नही कर पाते हैं।

(3) **ग्रामीण परिवारो द्वारा अनुत्पादक कार्यों के लिए अधिक राशि व्यय करना**—देश के कृषक विवाह, मृत्युभोज, जन्मोत्सव एव अन्य सामाजिक उत्सवो पर अधिक राशि मे धन व्यय करते हैं। इसका प्रमुख कारण देश मे सामाजिक

कुरीतियों का होना है। अनुत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त ऋण से कृपकों की आय में वृद्धि नहीं होती, बल्कि उन पर ऋण का बोझ बढ़ाने में सहायक होता है।

(4) जोत उप-विभाजन एवं अपखण्डन—भारत में वंशागत कानून के कारण जोत उप-विभाजन एवं अपखण्डन में जोतें अलाभकर होती जा रही हैं। अलाभकर जोत के कारण कृषकों को बचत की राशि कम प्राप्त होती है। ऋण का भुगतान भी समय पर नहीं हो पाता है और ऋण का बोझ बढ़ता जाता है।

(5) कृषकों की निरक्षरता निरक्षरता के कारण कृषक ऋण प्राप्ति के लिए सही संस्था का चुनाव नहीं कर पाते हैं तथा अज्ञानता के कारण प्राप्त ऋण पर अधिक ब्याज राशि एवं अन्य लागतें देनी होती हैं।

(6) ग्राम्य क्षेत्रों में लघु एवं कुटीर उद्योगों का अभाव—गाँवों में कृषि-व्यवसाय के अतिरिक्त लघु एवं कुटीर उद्योगों के अभाव के कारण, वर्ष में बहुत समय तक कृषक बेकार रहते हैं। कृषि-व्यवसाय से मौसमी रोजगार ही उपलब्ध होता है। अतः रोजगार आवश्यक मात्रा में वर्ष भर उपलब्ध नहीं होने के कारण कृषकों की वार्षिक आय कम हो जाती है जिससे प्राप्त ऋण को चुकाना सम्भव नहीं होता है।

(7) ऋण पर ब्याज की दर अधिक होना—गाँवों में संस्थागत अभिकरणों के अभाव में कृषक असंस्थागत अभिकरणों से ऋण प्राप्त करते हैं। असंस्थागत अभिकरण स्वीकृत ऋण पर ब्याज अधिक दर से लेते हैं। ब्याज के अतिरिक्त अनेक कटौतियाँ भी काटते हैं जिससे भी ऋण का बोझ बढ़ता है।

(8) निर्धनता—निर्धनता, स्वास्थ्य-स्तर अच्छा नहीं होना एवं बचत का स्तर कम होने से कृषकों की कार्यदक्षता में कमी होती है और प्राप्त धन आवश्यकताओं के लिए पूरा नहीं पड़ता है।

(9) सरकार की राजस्व वसूली नीति—राजस्व वसूली की नीति में कठोरता होने से कृषकों को राजस्व भुगतान के लिए अन्य संस्थाओं से ऋण लेना होता है। कृषकों की ऋण आवश्यकता की मजबूरी का फायदा उठाते हुए साहूकार अधिक ब्याज वसूल करते हैं।

(10) फसल के विक्रय से उचित मूल्य प्राप्त न होना—देश में पर्याप्त नियन्त्रित मण्डियों के अभाव के कारण कृषकों को खाद्यान्नों की बिक्री अपने गाँव में ही व्यापारी को करनी होती है। प्रतिस्पर्धा के अभाव में कृषकों को गाँव में खाद्यान्नों की उचित कीमत प्राप्त नहीं होती है तथा विपणन लागत भी अधिक देनी होती है जिससे प्राप्त लाभ की राशि में कमी होती है।

(11) कृषकों द्वारा कृषि उत्पादन की उन्नत विधियों को न अपनाकर पुरानी विधियों से खेती करना भी ऋणग्रस्तता का एक कारण है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के दुष्परिणाम— ग्रामीण ऋणग्रस्तता के मुख्य दुष्परिणाम निम्न है —

(1) आर्थिक दुष्परिणाम—कृषको पर ऋण के बढते हुए बोझ के कारण निम्न आर्थिक दुष्परिणाम होते है—

(अ) कृषको को ऋण भुगतान के लिए साहूकारो एव जमीदारो के खेतो पर अनिवार्यतया कम मजदूरी पर कार्य करना होता है ।

(ब) कृषको द्वारा फार्म पर उत्पादित फल, सब्जी, ईधन, चारा, दूध एव अन्य वस्तुएँ साहूकारो तथा जमीदारो को समय समय पर उपहार मे देनी होती हैं ।

(स) कृषका को ऋणग्रस्तता के कारण उत्पाद गाव के साहूकार या व्यापारी के माध्यम से बेचने के लिए बाध्य होना होता है, जिससे फसल की उचित कीमत प्राप्त नही होती है ।

(द) कृषको द्वारा प्राप्त ऋण को समय पर भुगतान नही करने की स्थिति मे साहूकार एव जमीदार भूमि पर कब्जा कर लेते हैं, जिससे कृषक भूमिहीन श्रमिको की श्रेणी मे आ जाते हैं ।

(2) सामाजिक दुष्परिणाम—ऋणग्रस्तता के कारण समाज धनी एव निर्धन वर्गो मे विभक्त हो जाता है जिससे समाज मे सामाजिक वैमनस्यता बढती है ।

(3) नैतिक दुष्परिणाम—ऋण के बोझ से लदे हुए कृषक समाज मे अन्य व्यक्तियो के समान अस्तित्व नही रख पाते हैं जिससे उनका नैतिक पतन होता है ।

ऋणग्रस्तता की समस्या का निवारण—ऋणग्रस्तता की व्याप्त समस्या के निवारण के लिए उपलब्ध उपायो को निम्न तीन श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जाता है—

1 पुराने ऋण का निपटारा—कृषको की ऋणग्रस्तता के निवारण के लिए सर्वप्रथम उन पर वर्तमान ऋण राशि को कम करना आवश्यक है । इसके लिए सरकार ने समय-समय पर विभिन्न कानून पारित किये हैं । इन सब कानूनो का मुख्य उद्देश्य ऋणदात्री सस्थाओ पर पाबन्दी लगाते हुए कृषको के वर्तमान ऋण की राशि को कम करना है । इसके लिए पारित प्रमुख अधिनियम निम्नलिखित हैं—

(अ) **दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम, 1879 (The Deccan Agriculturists Relief Act)**—इस अधिनियम की मुख्य विशेषता ऋण के इतिहास की जाँच करके मूलधन एव ब्याज का अनुपात नियत करना तथा साहूकारो की कुचालो पर नियन्त्रण लगाना है ।

(ब) **समझौता कानून, 1899 (The Control Act)**—इसके अन्तर्गत साहूकारो द्वारा ऋण की राशि मे अनुचित विधि से की गई वृद्धि मे छूट देने का प्रावधान है ।

(स) अधिक ब्याज से मुक्ति दिलाने का कानून, 1918 (The Usurious Loans Act)—इस कानून के अन्तर्गत ऋणी को ब्याज की राशि मूलधन की राशि से अधिक होने पर छूट देने का प्रावधान है।

(द) हिसाब नियन्त्रण कानून (Regulation of Accounts)—हिसाब नियन्त्रण कानून बंगाल मे वर्ष 1933, असम एव मध्यप्रदेश मे 1934, बिहार मे 1938 एव उडीसा व बम्बई मे 1939 मे पारित किए गए। इनके अन्तर्गत साहूकारो को लेने-देने का पूर्ण हिसाब रखना होता है और आवश्यकता होने पर सरकार को पेश करना होता है।

(य) साहूकारो के पंजीकरण एव अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करने का कानून—इसके अन्तर्गत साहूकारो को ऋण देने के लिए अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करना होता है। ये कानून 1930 के पश्चात् राज्यो मे पारित किए गए हैं।

(र) ऋण समझौता कानून (Debt Conciliation Act)

2 भविष्य के लिए ऋण पर ब्याज की दर निर्धारित करना—ऋणग्रस्तता कम करने का दूसरा उपाय भविष्य मे दिये जाने वाले ऋण पर ब्याज की दर मे कमी करना है। इसके लिए विभिन्न राज्यो मे रक्षित एव अरक्षित ऋण के लिए अधिकतम ब्याज दर निर्धारित करने के कानून पारित किए गए हैं।

3 नए ऋणो की स्वीकृति पर पाबन्दी—इसके अन्तर्गत ऋणदात्री सस्था पर अधिक राशि मे अनुत्पादक ऋण स्वीकृत करने पर पाबन्दी लगाई गई है, जिससे कृषको मे फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति कम हो सके।

कृषको की ऋणग्रस्तता को कम करने के लिए देश के 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम मे भी इसे प्राथमिकता दी गई है जिसके अनुसार अनेक राज्यो ने असस्थागत अभिकरणो के ऋण के बोझ से कृषको को मुक्त कर दिया है तथा कुछ राज्यो ने ऋण वसूली पर एक से दो वर्ष के लिए पाबन्दी लगाई है। वर्तमान मे अनेक राज्य सरकारो ने सस्थागत ऋण के बोझ से भी कृषको को राहत दी है।

□□□

अध्याय **10**

कृषि ऋण के स्त्रोत

कृषि-ऋण प्राप्ति के प्रमुख स्रोत-सस्थागत एव गैर सस्थागत या निजी अभिकरण होते हैं। इन सस्थाओ का विस्तृत वर्गीकरण व विवरण इस अध्याय मे दिया जा रहा है।

1 संस्थागत अभिकरण—सस्थागत अभिकरण मे निम्न सस्थाएँ सम्मिलित होती हैं ·

(अ) सरकार

(ब) सहकारी समितियाँ

(स) वाणिज्यिक बैंक एवं क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक

(द) निगम—(i) कृषि पुनर्वित्त निगम
(ii) कृषि वित्त निगम
(iii) कृषि ऋण निगम
(iv) ग्रामीण विद्युतीकरण निगम

2. गैर सस्थागत या निजी अभिकरण—इसमे निम्न सम्मिलित होते हैं—

(अ) साहूकार—(i) पेशेवर साहूकार
(ii) कृषक साहूकार

(ब) व्यापारी एव आढतिया

(स) जमींदार

(द) सम्बन्धी

(य) विविध स्रोत

सारणी 10.1 कृषक परिवारो पर बकाया ऋण राशि मे संस्थागत एव गैर सस्थागत अभिकरणो द्वारा प्रदत्त ऋण का अश प्रदर्शित करती है।

सारणी 10 1

संस्थागत एव गैर सस्थागत अभिकरणो का कृषको पर बकाया ऋण मे अशदान

(प्रतिशत)

वर्ष	सस्थागत अभिकरण	गैर सस्थागत अभिकरण	कुल ऋण
1951–52	12 3	87 7	100
1961–62	18 4	81 6	100
1971–72	31 7	68 3	100
1981–82	63 3	36 7	100

स्रोत · (ı) All Indıa Rural Credıt Survey, Vol I, Part II, Reserve Bank of Indıa, Bombay, 1957

(ıı) All Indıa Rural Debt and Investment Survey, 1961 62, 1971-72 and 1981 82, Reserve Bank of Indıa, Bombay 1066 1977 & 1986–

सारणी से स्पष्ट है कि सस्थागत अभिकरणो का कृषको पर बकाया ऋण मे प्रतिशत अश मे निरन्तर वृद्धि हुई है । उनका ऋण मे अशदान 12 3 प्रतिशत से बढकर 63 3 प्रतिशत तक पहुँच गया है । गैर सस्थागत अभिकरणो का कृषक परिवारो के ऋण मे अशदान निरन्तर कम होता जा रहा है ।

सारणी 10 2 विभिन्न ऋणदात्री सस्थाओ द्वारा कृषको को वर्ष 1951–52 से 1981–82 के काल मे प्राप्त कुल ऋण मे प्रतिशत अश प्रदर्शित करती है ।

सारणी 10 2

कृषको को प्राप्त ऋण मे विभिन्न ऋणदात्री सस्थाओ का अश

ऋणदात्री सस्था	कृषको को कुल प्राप्त ऋण मे सस्था का अश			
	1951–52	1961–62	1971–72	1981–82
1	2	3	4	5
1 सस्थागत अभिकरण				
(ı) सरकार	3 3	2 6	6 9	4 6
(ıı) सहकारी समितियाँ	3 1	15 5	20 1	28 6
(ııı) वाणिज्यिक बैंक	0 9	0 6	2 2	28 0
योग	7 3	18 7	29 2	61 2

1	2	3	4	5
2 गैर सस्थागत अभिकरण				
(i) साहूकार—	69 7	49 2	36 9	16 9
(अ) कृपक साहूकार	2-.9	36 0	23 1	8 6
(ब) पेशेवर साहूकार	44 8	13 2	13 8	8 3
(ii) जमींदार एव भू स्वामी	1 5	0 6	8 6	4 0
(iii) व्यापारी एव आढतिया	5 5	8 8	8 7	3 4
(iv) सम्बन्धी, मित्र एव विविध स्रोत	16 0	22 7	16 6	14 5
योग	92 7	81 3	70 8	38 8
कुल	100	100	100	100

स्रोत (i) Reserve Bank cf India, All Ind a Pural Credit Survey, Vol I, Part 2, Bombay, 1957

(ii) Reserve Bank of India All India Rural Debt and *Investment Survey, 1971 72, Bombay, 1977*

(iii) Reserve Bank of India All India Debt and Investment Survey 1981-82 Bombay 1986

सारणी से स्पष्ट है कि उपरोक्त काल (1951 52 से 1981-82) मे कृपकों को प्राप्त कुल ऋण मे सस्थागत अभिकरणा से प्राप्त ऋण क प्रतिशत मे वृद्धि एव गैर सस्थागत अभिकरणों से प्राप्त ऋण के प्रतिशत मे कमी आई है। वर्ष 1951-52 म सस्थागत अभिकरणो के कृपको को प्राप्त कुल ऋण का 7 3 प्रतिशत अश ही प्राप्त हुआ था जो बढकर वर्ष 1971-72 म 29 2 प्रतिशत एव वर्ष 1981-82 मे 61 2 प्रतिशत हो गया। सस्थागत अभिकरणा म वाणिज्यिक बैंक एव सहकारी समितियों के प्रतिशत अश मे वृद्धि की गति अधिक रही है। गैर सस्थागत अभिकरणो द्वारा प्रदत्त ऋण के प्रतिशत अश मे निरन्तर कमी आई है। वर्ष 1951-52 मे इनका कुल ऋण म प्रतिशत अश 92 7 था, जो कम होकर वर्ष 1981-82 म 38 8 ही रह गया। यह कमी साहूकारो द्वारा प्रदत्त ऋण की प्रतिशतता मे निरन्तर कमी के कारण आ पाइ है। साहूकारो द्वारा दिए गए ऋण की प्रतिशतता 69 7 स कम होकर मात्र 16 9 ही रह गई। अत स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र को ऋण सुविधा उपलब्ध करान म वाणिज्यिक बैंको ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सहकारी समितियो की प्रगति भी उल्लेखनीय है। वर्तमान म कृषि क्षेत्र को प्राप्त ऋण मे से लगभग दो तिहाई अशदान सस्थागत अभिकरण प्रदान करते हैं।

सस्थागत अभिकरण

कृषि ऋण के क्षेत्र मे सस्थागत अभिकरण दीर्घकाल से विद्यमान है। पूर्व मे कृषि क्षेत्र मे इनकी महत्ता कम थी, क्योंकि कृषि क्षेत्र को यह बहुत ही कम राशि मे ऋण सुविधा उपलब्ध कराते थे। सरकार द्वारा किये गए प्रयासो के फलस्वरूप यह क्षेत्र भी कृषि क्षेत्र को निरन्तर अधिक राशि मे ऋण सुविधा उपलब्ध करा रहा है, जिससे इनकी महत्ता मे निरन्तर वृद्धि हुई है। पूर्व मे कृषको को जब सस्थागत अभिकरण आवश्यक मात्रा मे ऋण उपलब्ध नही कराते थे, तो कृषक गैर सस्थागत अभिकरणो से अधिक ब्याज दर पर ऋण प्राप्त करते थे। सहकारी समितियो के विकास एव वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र मे प्रवेश करने के उपरान्त सस्थागत अभिकरणो का कृषि क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया है। सस्थागत अभिकरणो मे सरकार द्वारा दिये जाने वाले कृषि ऋण नगण्य हैं। अत. इसमे सहकारी समितियाँ एव वाणिज्यिक बैंक ही प्रमुख हैं।

सारणी 10 3 सहकारी समितियो एव वाणिज्यिक बैंको द्वारा सम्मिलित रूप से दिये गये ऋण मे से प्रत्यक का अशदान एव महत्ता प्रदर्शित करती है।

सारणी 10 3

सहकारी समितियो एव वाणिज्यिक बैंकों का प्रदत्त ऋण मे अशदान

(प्रतिशत)

सस्था	1974–75		1980–81		1984–85	
	अल्पकालीन ऋण	मध्य एव दीर्घ-कालीन ऋण	अल्पकालीन ऋण	मध्य एव दीर्घ-कालीन ऋण	अल्पकालीन ऋण	मध्य एव दीर्घ-कालीन ऋण
सहकारी समितियाँ	83 69	69 27	68.69	43 59	64 15	29 68
वाणिज्यिक बैंक एव क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	16 31	30 73	31 31	54 41	35 85	70.32
कुल	100	100	100	100	100	100

स्रोत : D K Desai, Institutional Credit Requirements for Agricultural Production—2000 A D, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XLIII, No. 3, July–September, 1988, pp 326–355.

सारणी 10 4 देश मे सस्थागत स्रोतो से कृषि क्षेत्र को उपलब्ध ऋण राशि प्रदर्शित करती है—

सारणी 10 4

सस्थागत स्रोतों से कृषि क्षेत्र को उपलब्ध ऋण राशि

(करोड रुपये)

वर्ष	सहकारी बैंक				वाणिज्यिक बैंक एव क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक			कुल ऋण राशि
	अल्पकालीन ऋण	मध्यकालीन ऋण	दीर्घकालीन ऋण	योग	अल्पकालीन ऋण	मध्य एव दीर्घ-कालीन ऋण	योग	
1950–51	22 90	—	1 33	24 23	NA	NA	NA	24 23
1960–61	182 82	19 93	11 60	214 35	NA	NA	NA	214 35
1970–71	519 34	58 54	100 91	678 79	NA	NA	206 37	885 16
1980–81	1526.32	237 27	362 72	2126 31	517 00	745 83	1262 83	3389 14
1985–86	2746 87	393 00	542 76	3682 63	1424 16	1686 01	3110 17	6792 80
1986–87	2833	529	540	3902	NA	NA	3809	7711
1987–88	3116	613	599	4328	NA	NA	4009	8337
1988–89	3513	381	719	4613	NA	NA	4241	8854
1989–90	3654	416	744	4814	NA	NA	7515	12,329
1990–91	2066	317	804	3187	NA	NA	7181	10,368

Source Economic Sur ey Ministry of Finance, Government of India, New Delhi.

अल्पकालीन ऋण के क्षेत्र में सहकारी समितियाँ प्रमुख स्रोत थी, जिन्होंने वर्ष 1974–75 में 83.69 प्रतिशत ऋण उपलब्ध कराया था। वर्ष 1984–85 में इन्होंने मात्र 64.15 प्रतिशत ऋण की पूर्ति की है। दूसरी तरफ वाणिज्यिक बैंकों की भूमिका में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार मध्य एवं दीर्घकालीन ऋण पूर्ति में सहकारी समितियों के अंश में कमी एवं वाणिज्यिक बैंकों के अंश में वृद्धि हुई है।

सारणी 10.4 में स्पष्ट है कि संस्थागत स्रोतों से कृषि क्षेत्र को उपलब्ध ऋण की राशि में निरन्तर वृद्धि हुई है। इन स्रोतों से वर्ष 1950–51 में कृषि क्षेत्र को मात्र 24.23 करोड़ रुपयों का ऋण उपलब्ध कराया था, जो बढ़कर वर्ष 1990–91 में 10,368 करोड़ रुपया हो गया। सहकारी ऋण समितियों एवं वाणिज्यिक बैंकों का अंश 30 एवं 70 प्रतिशत है। वाणिज्यिक बैंक राष्ट्रीयकरण के उपरान्त कृषि क्षेत्र को ऋण उपलब्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

कृषि ऋण के प्रमुख संस्थागत अभिकरण निम्न हैं –

(अ) सरकार

संस्थागत अभिकरणों में कृषि ऋण प्राप्ति का प्रमुख स्रोत सरकार है। सरकार द्वारा कृषकों को कृषि कार्यों के लिए दिये जाने वाले ऋण को तकावी ऋण (Taccavi loan) कहते हैं। तकावी से तात्पर्य उस दिये गये ऋण से है जो सरकार द्वारा कृषकों को फसल की बुवाई के समय दिया जाता है और फसल की कटाई के समय वसूल किया जाता है। इसको राष्ट्रीय कृषि आयोग ने उचित बतलाते हुए लिखा है कि साधारण उत्पादन वाले वर्ष में कृषकों की ऋण की आवश्यकता ग्रामीण साहूकारों से पूरी हो जाती है, लेकिन सूखा अथवा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के समय उनके पास उपलब्ध वित्त आवश्यकता से कम राशि में होता है। अतः कृषकों को सरकार द्वारा ऋण उपलब्ध कराने की आवश्यकता होती है। सरकार कृषकों को तकावी ऋण निम्न दो अधिनियमों के अन्तर्गत प्रदान करती है जो कि अकाल आयोग 1880 के सुझावों पर सरकार ने पारित किये थे[1]—

(i) भूमि सुधार अधिनियम 1883 (Land Improvement Loan Act)—इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार कृषकों को भूमि पर स्थायी सुधार—कुआँ का निर्माण, मेड़बन्दी, भूमि को समतल करने, सिंचाई के लिये नालियाँ बनाने, भू संरक्षण आदि कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करती है। उपर्युक्त प्रकार के ऋण स्वीकृत करने का प्रमुख उद्देश्य भूमि की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना है,

1 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव : ग्रामीण वित्त व्यवस्था का विकास, योजना, वर्ष 17, अंक 3, 7 मार्च 1973, पृष्ठ 25

जिससे देश मे खाद्यान्न-उत्पादन मे वृद्धि हो सके। सरकार कृषकों को दीर्घकालीन ऋण भूमि की प्रतिभूति के आधार पर 25 वर्ष की अवधि के लिए स्वीकृत करती है।

(ii) **कृषक ऋण अधिनियम, 1884**—कृषक ऋण अधिनियम (The Agriculturists Loan Act, 1884) के अन्तर्गत सरकार कृषको को बीज, खाद, उर्वरक, कृषि यन्त्र, पशु क्रय करने के लिए अल्पकालीन ऋण स्वीकृत करती है। अल्पकालीन ऋण फसल की कटाई के उपरान्त तथा मध्यकालीन ऋण 4 से 5 वर्षों की अवधि मे किश्तो मे देय होते हैं।

तकावी ऋण कृषक को बीज, खाद, उर्वरक एव पशुओ को क्रय करने, भूमि को समतल करने एव मेड बनाने, भू सरक्षण कार्य करने, कुआ खोदने एव मरम्मत करने, पम्पिग सैट अथवा रहट लगाने, सिचाई की नालियाँ बनाने, बेकार भूमि को ठीक करने, कृषि यन्त्र एव मशीनो को क्रय करने, उन्नत कृषि विधियो को अपनाने, पौध सरक्षण कार्य करने, बाग लगाने, पशुओ के लिए चारा खरीदने एव बाढ से हुए भवनो के नुकसान की मरम्मत करने आदि कार्यो के लिए स्वीकृत किये जाते हैं।[2]

तकावी ऋण की प्रगति—सरकार ने वर्ष 1951–52 मे कृषको को विभिन्न स्रोतो से प्राप्त कुल ऋण का 3 3 प्रतिशत, 1961–62 मे 2 6 प्रतिशत, 1971–72 मे 6 9 प्रतिशत व 1981–82 मे 4 8 प्रतिशत ऋण तकावी के रूप मे प्रदान किया था। तकावी ऋण राज्य सरकारें अपनी-अपनी वित्तीय स्थिति के अनुसार स्वीकृत करती हैं। सारणी 10.5 मे विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे स्वीकृत तकावी ऋण की राशि प्रदर्शित करती है।

सारणी 10 5

विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं में स्वीकृत तकावी ऋण राशि

पचवर्षीय योजना	स्वीकृत तकावी ऋण (करोड रु०)
प्रथम पचवर्षीय योजना	18 5
द्वितीय पचवर्षीय योजना	41 0
तृतीय पचवर्षीय योजना	55 0
चतुर्थ पचवर्षीय योजना	62 5

स्रोत : V V Desai, Agricultural Credit, Eastern Economist, Vol 67, No 2, July, 1976, p 86

2 Report of the Committee on Taccavi Loans and Co-operative Credit, Government of India, New Delhi, 1962, pp 12 13

विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं के काल मे तकावी ऋण की स्वीकृत राशि मे निरन्तर वृद्धि हुई है, लेकिन कुल स्वीकृत ऋण मे तकावी ऋण का प्रतिशत बहुत कम है। इसके लिये प्रथम तो सरकार उत्सुक नही है, क्योकि सरकार तकावी ऋण असामान्य वर्षो मे ही अधिक स्वीकृत करती है। साथ ही कृषकों की ऋण की आवश्यकता को पूरा करने का सरकार का दायित्व भी नही है। कृषक भी तकावी ऋण लेने मे विशेष इच्छुक नही होते हैं क्योंकि उन्हें समय पर यह ऋण उपलब्ध नही होता है और प्राप्त ऋण की राशि स्वीकृत उद्देश्य के लिए अपर्याप्त होती है।

तकावी ऋण की प्रगति के आँकड़ो के विश्लेषण के आधार पर अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति इस परिणाम पर पहुँची थी कि तकावी ऋण का इतिहास कमियों का इतिहास है।[3] सरकार के पास पर्याप्त धन न होना, वितरण मे असमानता एवं समय पर ऋण उपलब्ध न होना इसकी प्रमुख कमियाँ हैं। समिति ने तकावी ऋण के लिए निम्न सिफारिशें की हैं—

1 तकावी ऋण कृषकों को सीमित राशि मे देना चाहिए।
2 तकावी ऋण आपातकालीन स्थिति जैसे—बाढ, सूखा या अन्य आपत्ति के समय मे ही स्वीकृत करना चाहिए।
3 तकावी ऋण एवं सहकारी ऋण मे समन्वय होना चाहिए।
4 तकावी ऋण एवं सहकारी ऋण पर ब्याज की दर समान होनी चाहिए।
5 देश मे विषम आपातकालीन स्थिति के होने पर सहकारी समितियो के सदस्यों को ऋण-स्वीकृति मे प्राथमिकता नही देनी चाहिए।

सरकार ने वर्ष 1958 मे निर्णय लिया कि देश मे विषम आपातकालीन ऋणों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के ऋण कृषकों को सहकारी समितियो से उपलब्ध कराये जाने चाहिए। सहकारी ऋण समिति, 1960 ने भी सिफारिश की कि सरकार के पास उपलब्ध तकावी ऋण राशि सहकारी समितियों को उपलब्ध कराई जानी चाहिए, जिससे सहकारी समितियाँ आवश्यक राशि मे कृषकों को ऋण उपलब्ध करा सकें। सहकारी ऋण समिति के इस सुझाव को कार्यान्वित करने से होने वाली कठिनाई का अध्ययन करने के लिए जुलाई, 1961 मे श्री वी पी पटेल की अध्यक्षता मे नियुक्त तकावी कर्ज एवं सहकारी ऋण समिति (*Taccavi Loan and Co-operative Credit*) ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

1. देश मे आपातकालीन स्थिति मे कृषकों को राहत प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा तकावी ऋण स्वीकृत किया जाना चाहिए।

3 All India Rural Credit Survey Report 1951 52 (The General Report), Vol II, Reserve Bank of India, Bombay, p 199

2 सहकारिता मे पिछड़े हुए राज्यो—बिहार, जम्मू एव काश्मीर, उडीसा, राजस्थान एव पश्चिम बगाल में सहकारी विकास के लिए चुने गए जिलो मे भूमि सुधार, कृषि उत्पादन आदि कार्यों के लिए तकावी ऋण बन्द कर देना चाहिए। धीरे-धीरे यह योजना दूसरे जिलो मे लागू की जानी चाहिए, जिससे सहकारिता का विकास हो सके।।

3 सरकार द्वारा कृषको को भूमि सुधार एव उत्पादन के लिए दी जाने वाली तकावी ऋण की जिम्मेदारी धीरे धीरे सहकारी समितियो को सौंपी जानी चाहिए।

4 जब सहकारी समितियाँ कृषकों को भूमि सुधार एव उत्पादन कार्यों के लिए दिए जाने वाले ऋण मे प्रमुख सस्थाएँ बन जायें, तब सरकार की तकावी ऋण की राशि को सहकारी समितियो को उपलब्ध करा देनी चाहिए।

तकावी ऋण मे व्याप्त कमियाँ—तकावी ऋण मे अनेक कमियो के कारण इसकी महत्ता दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। तकावी ऋण मे प्रमुख कमियाँ ये हैं—

1 ऋण-राशि की अपर्याप्तता—सरकार विभिन्न उद्देश्यो के लिए बहुत कम राशि तकावी के रूप मे स्वीकृत करती है। अत तकावी ऋण-राशि प्राप्त उद्देश्य के लिए अपर्याप्त होती है।

2 ऋण स्वीकृत मे अनावश्यक देरी—कृषको को तकावी ऋण प्राप्त करने के लिए काफी समय तक इन्तजार करना होता है। कभी-कभी तो ऋण स्वीकृति मे 3 से 6 माह का समय लग जाता है जिसके कारण कृषक स्वीकृत ऋण को प्राप्त उद्देश्य के लिए उपयोग मे लने मे असमर्थ होते हैं।

3. कृषको द्वारा स्वीकृत ऋण का प्राप्त उद्देश्यो के अतिरिक्त अन्य कार्यों मे उपयोग कर लेना, जिससे उनकी आय मे आकलन के अनुसार वृद्धि नही होती है।

4 तकावी ऋण की वसूली का प्रतिशत कम होना—तकावी ऋण को राशि अनेक कारणो से समय पर वसूल नही हो पाती है, जिससे बकाया ऋण राशि निरन्तर बढती जाती है तथा सरकार के पास भविष्य मे ऋण स्वीकृति के लिए उपलब्ध राशि कम हो जाती है।

5 अन्य कारण जैसे—ऋण स्वीकृति एव वितरण मे विशेष समयान्तर होना, ऋण भुगतान का समय उत्पाद के विपणन के समयानुसार निर्धारित नही करना आदि भी इसकी प्रमुख कमी है।

अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण-जांच समिति, 1969 ने अपने प्रतिवेदन में सुझाव दिया कि तकावी ऋण कृषकों को विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ कृषि कार्यों के लिए ऋण-उपलब्धि की पूर्ण व्यवस्था नहीं हो पाई है, उपलब्ध कराते रहना चाहिए। समिति के अन्य प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं—

(i) तकावी ऋण उन्हीं कार्यों के लिए स्वीकृत करना चाहिए जिनसे कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है तथा उन्हीं क्षेत्रों में स्वीकृत करना चाहिए जहाँ पर या तो सहकारी क्षेत्र का विकास नहीं हुआ है अथवा वह कमजोर स्थिति में है।

(ii) तकावी ऋण कृषकों को नकद राशि के रूप में नहीं दिया जाकर उत्पादन साधनों जैसे—बीज, उर्वरक, कृषि यन्त्र, कीटनाशी दवाइयों के रूप में दिया जाना चाहिए।

(iii) सहकारी समितियों के सदस्यों एवं बकाया ऋण राशि वाले कृषकों को तकावी ऋण स्वीकृत नहीं करना चाहिए।

(iv) तकावी ऋण पर ब्याज की दर, सहकारी समितियों के ऋण पर ब्याज की दर की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए क्योंकि तकावी ऋण के लिए कृषकों को शेयर पूँजी जमा नहीं करानी होती है।

(v) तकावी ऋण समय पर ऋण भुगतान करने वाले कृषकों को ही स्वीकृत करना चाहिए। जिन कृषकों पर पिछला ऋण बाकी है उन्हें नया तकावी ऋण स्वीकृत नहीं करना चाहिए।

(vi) तकावी ऋण प्राप्त करने वाले कृषकों को स्पष्ट कर देना चाहिए कि तकावी ऋण योजना एक या दो वर्ष के लिए है। अतः उन्हें सहकारी समितियों के सदस्य बनने को प्रेरित करना चाहिए।

(ब) सहकारी समितियाँ

संस्थागत ऋण अभिकरणों में दूसरी प्रमुख संस्था सहकारी समितियाँ हैं। वर्ष 1904 में सहकारी समितियाँ कानून पारित होने के पश्चात् कृषि ऋण के क्षेत्र में सहकारी समितियों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। देश में सहकारी समितियाँ स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य साहूकारों को ऋण व्यवसाय के क्षेत्र से प्रतिस्थापित करना रहा है। साहूकार कृषकों को अधिक ब्याज दर पर ऋण देते थे और ब्याज के अतिरिक्त अनेक प्रकार की कटौतियाँ भी काटते थे। सहकारी समितियाँ कृषकों को अल्प, मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण देती हैं। समय के आधार पर स्वीकृत ऋण के अनुसार सहकारी समितियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जाता है—

अल्प एवं मध्यकालीन ऋण—कृषकों को अल्प एवं मध्यकालीन ऋण प्रदान करने वाली सहकारी ऋण समितियों का ढाँचा तीन स्तरीय होता है—

(i) ग्राम स्तर पर—प्राथमिक सहकारी कृषि ऋण समितियाँ।

(ii) जिला स्तर पर—जिला/केन्द्रीय सहकारी बैंक।

(iii) राज्य स्तर पर—राज्य/शिखर सहकारी बैंक।

दीर्घकालीन ऋण – कृषकों को दीर्घकालीन ऋण भूमि विकास बैंक (पूर्व मे भूमि-बन्धक बैंक) द्वारा प्रदान किया जाता है। भूमि विकास बैंक दो स्तर पर होते हैं—

(i) प्राथमिक भूमि विकास बैंक।

(ii) केन्द्रीय भूमि विकास बैंक।

सहकारी समितियो ने कृषको को 1951-52 मे कुल प्राप्त ऋण का 3 1 प्रतिशत अश प्रदान किया था, जो 1961-62 मे बढकर 15 5 प्रतिशत तथा 1981-82 मे 28 6 प्रतिशत हो गया। वर्तमान मे सहकारी ऋण समितियाँ कृषको को कुल प्राप्त ऋण का 35 प्रतिशत अश प्रदान कर रही हैं। इस प्रकार उपर्युक्त 40 वर्षों मे सहकारी समितियो के द्वारा कृषको का उपलब्ध कराए गए ऋण मे 11 गुना वृद्धि हुई है, लेकिन अभी भी सहकारी समितियाँ निर्धारित उद्देश्य—साहूकारो को कृषि ऋण के क्षेत्र मे से पूर्णरूप से प्रतिस्थापित करने म सफल नही हुई है।

सहकारी ऋण की प्रगति—सहकारी ऋण की प्रगति सारणी 10 6 एव 10 7 म प्रदर्शित की गई है।

प्राथमिक कृषि सहकारी ऋण समितिया—देश मे प्राथमिक कृषि सहकारी ऋण समितिया की सख्या वर्ष 1950-51 मे 1 05 लाख एव 1960-61 मे 2 12 लाख थी, जो बाद मे उनके पुनर्गठन के फलस्वरूप कम हाकर 1985-86 म मात्र 0 92 लाख ही रह गई। इन समितियो की सदस्य सख्या 44 लाख से बढकर उपर्युक्त काल मे 722 लाख अर्थात् 16 गुना हो गई। सहकारी ऋण अभियान पूरी तरह गाँवो मे प्रवेश कर गया है। वर्ष 1985-86 तक 99 प्रतिशत गाव इस अभियान मे सम्मिलित हो चुके है। समितियो की जमा धनराशि एव कायशील पूंजी मे भी द्रुतगति से वृद्धि हुई है। समितियो ने वर्ष 1950-51 मे मात्र 22 90 करोड रुपये की ऋण राशि स्वीकृत की थी, जो बढकर 1981-82 मे 1940 करोड रुपये तक पहुँच गई। समितियो की बकाया ऋण राशि वर्ष 1985-86 मे 4323 कराड रुपये थी जो इनकी प्रगति मे बाधक है।

केन्द्रीय सहकारी बंक—देश मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की सख्या वर्ष 1951 52 मे 509 एव उनकी शाखाएँ 779 थी। बैंको के पुनर्गठन के कारण केन्द्रीय सहकारी बैंको की सख्या वष 1981-82 म 338 रह गई, लेकिन उनकी शाखाएँ 5598 हो गई। केन्द्रीय सहकारी बैंको ने 1951-52 म 106 करोड रुपये की ऋण-राशि स्वीकृत की थी, जो बढकर 1985-86 मे 7333 कराड रुपये हो गई। प्राथमिक कृषि सहकारी ऋण समितियो की तरह इन बैंको की बकाया ऋण राशि भी बहुत अधिक है। वर्ष 1985-86 मे इनकी बकाया ऋण राशि 5444 करोड़ रुपये थी।

सारणी 10 6

भारत मे प्राथमिक कृषि सहकारी ऋण समितियो की प्रगति

(राशि करोड़ रुपयो मे)

विवरण	सहकारी वर्ष (जुलाई से जून)				
	1950-51	1960-61	1970-71	1981-82	1985-86
1 समितियो की सख्या (लाखो मे)	1 05	2 12	1 61	0 95	0 924
2 समितियो के सदस्य सख्या (लाखो मे)	44 08	170 41	309 63	607 11	721 77
3 समितियो मे सम्मिलित गाँव (प्रतिशत)	NA	75	95	97	99
4 समितियो के अन्तर्गत ग्रामीण जनसख्या का प्रतिशत	9	30	NA	47	60
5 प्रति समिति सदस्य सख्या	45	80	193	638	781
6 समितियो की जमा हिस्सा पूँजी	7.61	57 75	205 74	803	832
7 समितियो की जमा राशि	4 28	14 59	69 46	317	572
8 समितियो की कार्यशील पूँजी	37 25	273 92	1153 40	NA	6548
9 समितियो द्वारा वर्ष मे स्वीकृत ऋण राशि	22 90	202 75	577 88	1940	NA
10 समितियो की बकाया ऋण राशि	NA	NA	NA	2762	4323

स्रोत : (i) Indian Agriculture in Brief, 17th Edition, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, *Government of India*, New Delhi, 1978, pp 226–227.

(ii) Reserve Bank of India—Report on Trend and Progress of Banking in India, 1982-83

(iii) Yojana, Vol. 32, No 13, 16-31 July 1988, p. 14

सारणी 10 7

भारत मे सहकारी बैंको की प्रगति

(राशि करोड रुपयो मे)

विवरण	सहकारी वर्ष (जुलाई से जून)				
	1951-52	1960-61	1971-72	1981-82	1985-86
I केन्द्रीय सहकारी बैंक					
(1) सख्या	509	380	341	338	352
(2) शाखाएँ	779	1445	4317	5598	NA
(3) स्वय की पूँजी	10	38	225	733	1007
(4) जमा पूँजी	38	111	509	2768	4932
(5) कार्यशील पूँजी	56	300	NA	5327	8663
(6) स्वीकृत ऋण राशि	106	351	NA	4059	7333
(7) बकाया ऋण राशि	36	218	889	3683	5444
II राज्य सहकारी बैंक					
(1) सख्या	16	21	26	27	29
(2) स्वय की पूँजी	4	24	103	396	616
(3) जमा पूँजी	21	72	330	1888	3385
(4) कार्यशील पूँजी	NA	NA	NA	3275	5547
(5) स्वीकृत ऋण राशि	55	258	748	3541	5514
(6) बकाया ऋण राशि	20	NA	553	2430	3853

स्रोत . (i) S. S. M. Desai, Rural Banking in India, Himalaya Publishing House, Bombay, 1979

(ii) Reserve Bank of India–Report on Trend and Progress of Banking in India, 1982-83

(iii) Yojana, Vol 32, No 13, 16-31 July, 1988, p. 14

राज्य सहकारी बैंक—देश मे वर्तमान मे 29 राज्य सहकारी बैंक हैं जिनकी कार्यशील पूँजी 5547 करोड रुपये है। इन बैंको ने वर्ष 1985-86 मे 5514 करोड रुपये की ऋण राशि स्वीकृत की है। वर्ष 1985–86 तक राज्य सहकारी बैंको की बकाया ऋण राशि 3853 करोड रुपये थी।

पाचवी पचवर्षीय योजना मे सहकारी ऋण समितियो के लिए 1300 करोड के अल्पकालीन ऋण, 325 करोड के मध्यकालीन ऋण एव 1500 करोड के दीर्घ-कालीन ऋण स्वीकृति के लक्ष्य रखे थे, जिनमे से इन्होने क्रमश 1164 करोड,

208 करोड एव 803 करोड रुपये के लक्ष्य प्राप्त किए ! सहकारी ऋण समितियो ने अपने स्वीकृत ऋण मे से 40 प्रतिशत ऋण लघु एव सीमान्त कृषक एव ग्रामीण कारीगरो को उपलब्ध कराया है।

जून 1979 के अन्त मे सहकारी ऋण समितियो के पास 3064 करोड (1206 राज्य+1654 केन्द्रीय+204 प्राथमिक) रुपये की कुल जमा पूँजी थी जबकि इसी समय वाणिज्यिक बैंको की कुल जमा पूँजी 30,000 करोड रुपये के लगभग थी। सहकारी ऋण समितियो की बकाया ऋण राशि के अधिक होने से इनके कार्य की गति मे तीव्रता नही आ पा रही है। वर्ष 1985–86 मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की बकाया ऋण राशि कुल दिए गए ऋण की 37 8 प्रतिशत एव प्राथमिक सहकारी ऋण समितियो की 40 96 प्रतिशत थी जो बहुत ज्यादा है। वाणिज्यिक बैंको की बकाया ऋण राशि भी वर्तमान मे 45 प्रतिशत के लगभग है।

सभी राज्यो मे सहकारी ऋण समितियो की प्रगति की गति समान नही है एव उनमे बहुल क्षेत्रीय विषमता है। सहकारी ऋण की प्रगति के विभिन्न आँकडो के आधार पर राज्यो की तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—

(i) सहकारी ऋण के क्षेत्र मे विशेष प्रगति करने वाले राज्य—गुजरात, महाराष्ट्र एव पजाब।

(ii) सहकारी ऋण के क्षेत्र मे मध्यम प्रगति वाले राज्य—आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, केरल, कर्नाटक, मध्य प्रदेश एव तमिलनाडु।

(iii) सहकारी ऋण के क्षेत्र मे पिछडे राज्य—असम, बिहार, उडीसा, पश्चिम बगाल, राजस्थान तथा जम्मू एव कश्मीर।

सहकारी समितियो ने अन्य प्रयास भी किये हैं जो इनकी प्रगति के सूचक हैं। सहकारी समितियो द्वारा उठाए गए विशेष कदम निम्न हैं—

(अ) सहकारी ऋण के विकास एव उत्पादन के आधार पर ऋण स्वीकृत करने के लिए फसल ऋण योजना निर्धारित की गई एव कार्यान्वित की गई।

(ब) लघु कृषको को सहकारी समितियो के द्वारा ऋण स्वीकृति मे प्राथमिकता देने के लिए कदम उठाए गए।

(स) सहकारी समितियो के माध्यम से सदस्यो में बचत करने की भावना जागृत करने की कोशिश की गई है, ताकि ग्रामीण क्षेत्रो से अधिक धन एकत्रित हो सके।

(द) सहकारी आधार पर उद्योगो मे विशेषत. चीनी उद्योग के क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति के अनुसार सहकारी समितियाँ निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति मे असफल रही हैं, लेकिन राष्ट्र के विकास के लिए सहकारिता को बढावा देना आवश्यक है। सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन मे सहकारी समितियो की विफलता के निम्न कारण बतलाये हैं—

(i) सहकारिता के ढाँचे एव प्रशासन मे कमियो का होना।

(ii) सहकारिता के विकास के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओ का अभाव होना।

(iii) कृषको मे शिक्षा का अभाव होना।

(iv) सहकारी समितियो की साहूकारो से प्रतिस्पर्धा तथा उनसे विरोध।

(v) सहकारी समितियो के पास सभी कृषको की ऋण आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त धनराशि का न होना।

(vi) कृषको एव कार्यकर्त्ताओ का सहकारिता मे विश्वास न होना।

(vii) सहकारी समितिओ के कार्यकर्त्ताओ द्वारा ऋण स्वीकृति मे लघु कृषको की उपेक्षा करना।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त निम्न अपर्याप्ताएँ भी सहकारी ऋण के क्षेत्र मे बाधक रही हैं—

(i) अनेक प्राथमिक सहकारी ऋण समितियाँ वर्तमान मे सबल व सक्षम नही हैं और वर्तमान कार्य क्षेत्र को देखते हुए उनके सक्षम होने की सम्भावना प्रतीत नही होती है।

(ii) सहकारी समितियाँ कृषको को समय पर ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने मे भी असफल रही हैं।

(iii) सहकारी समितियो द्वारा स्वीकृत उत्पादन ऋण, आवश्यकता से कम राशि मे होता है।

(iv) कृषको पर ऋण की बकाया राशि के निरन्तर बढने से अनेक राज्य मे सहकारी ऋण समितियो के पास ऋण-स्वीकृति के लिए उपलब्ध धनराशि बहुत कम रह गई है।

(v) सहकारी ऋण समितियो एव उत्पादन-साधनो की पूर्ति करने वाली सस्थाओ मे समन्वय नही होना भी इनकी प्रगति मे बाधक है।

अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण जाँच-समिति, 1969 ने देश मे सहकारी ऋण के विकास के लिए निम्न उपायो को अपनाने के सुझाव दिये थे—

1 जिन क्षेत्रो मे सहकारी विकास की गति धीमी रही है, उन क्षेत्रो मे सहकारी विकास के लिए विशेष प्रयास किये जाने चाहिए।

इस विषय पर समय-समय पर अनेक समितियो ने भी इसके पूर्व सुझाव दिये थे। कृषि ऋण के सस्थागत व्यवस्था पर अनौपचारिक दल, 1962–63 (The

Informal Group on Institutional Arrangement for Agricultural Credit) ने सहकारिता में पिछड़े राज्यों—विशेषकर राजस्थान, असम, उड़ीसा, बिहार एवं पश्चिमी बंगाल में सहकारी समितियों के विकास के लिए विशेष कदम उठाए जाने के सुझाव दिये थे। इनमें से एक सुझाव राज्यों में कृषि ऋण निगम स्थापित करने का था, जिसे कृषकों को फसल उत्पादन के लिए ऋण स्वीकृत करने के साथ साथ राज्यों में सहकारिता के विकास के लिए प्रयास भी करना था। राष्ट्रीय सहकारी संघ द्वारा सितम्बर 1968 में आयोजित सेमिनार के परिणामों के अनुसार कृषि-ऋण निगम बनाने से सहकारी ऋण के क्षेत्र में कोई विशेष लाभ नहीं होगा, क्योंकि सहकारी समितियों एवं कृषि ऋण-निगमों के कार्य क्षेत्र में विशेष अन्तर नहीं है। सहकारिता के विकास के लिए सहकारिता के ढांचे में सुधार करने की आवश्यकता है, जिसके लिए सेमिनार में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये—

(i) सहकारी समितियों द्वारा दिए जाने वाले ऋण में व्याप्त अपर्याप्तता के दोष को दूर करने के लिए उनके वित्तीय साधनों में वृद्धि एवं बकाया ऋण की वसूली के प्रयास किये जाने चाहिए।

(ii) कमजोर वित्तीय स्थिति एवं प्रबन्ध वाले केन्द्रीय सहकारी बैंक जो कृषकों के ऋण पूर्ति के दायित्व को पूर्ण रूप से निभा नहीं पा रहे हैं उनका पुनर्गठन करके आवश्यक वित्त सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

(iii) केन्द्रीय बैंक, जो बकाया ऋण राशि के कारण कृषकों की ऋण पूर्ति में सफल नहीं हो सके हैं उनको सरकार द्वारा दीर्घकाल के लिए जमा राशि प्रदान की जानी चाहिए।

(iv) सहकारी समितियों के प्रबन्ध में सुधार करने के लिए राज्य सरकार द्वारा रिजर्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सहकारी बैंक के अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(v) सहकारी समितियों/बैंकों द्वारा प्रदत्त ऋण की वसूली एवं उनकी कार्य प्रणाली में सुधार करने के प्रयास किए जाने चाहिये।

2 असंख्य छोटी छोटी समितियाँ जो आर्थिक दृष्टिकोण से सक्षम नहीं हैं, उनके पुनर्गठन द्वारा एक बड़ी सहकारी समिति का निर्माण किया जाना चाहिए। एक सक्षम समिति वह है जो प्राप्त आय से कार्यकर्त्ताओं को वेतन भुगतान, भवन किराया एवं अन्य लागत का भुगतान करके, शिक्षा एवं अन्य सामाजिक उद्देश्यों के लिए सहायता प्रदान करने, रिजर्व कोष में एक निश्चित राशि जमा करने के पश्चात् सदस्यों को उनकी हिस्सा पूँजी पर उचित लाभ की राशि प्रदान करने में सक्षम होती है। इसके लिए आवश्यक है कि विभिन्न राज्यों में सहकारी समितियों की

सबलता के लिए व्याप्त आधारो मे समानता हो। सर्वेक्षण द्वारा जो समितियाँ समर्थ नही हैं उनका पता लगाया जाये तथा उनको सबल व समर्थ बनाने के लिए कायक्रम किये जाएँ।

3 सहकारी समितियों की ऋण नीति एव कार्य प्रणाली मे परिवर्तन करना

सहकारी समितियो की ऋण नीति एव कार्य प्रणाली मे सुधार करने के लिए जाँच समिति ने निम्न प्रमुख सुझाव दिए हैं।

(i) कृपकों को ऋण उनकी आवश्यकता एव भुगतान-क्षमता के अनुसार स्वीकृत करना चाहिए। लघु कृषको को ऋण स्वीकृति मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। ऋण राशि के अनुसार ब्याज-दर मे भिन्नता होनी चाहिए।

(ii) कृपको को स्वीकृत ऋण का अधिक भाग नकद राशि के रूप मे नही दिया जाकर उत्पादन-साधनो के रूप मे दिया जाना चाहिए।

(iii) कृपको को ऋण फसल की बुवाई के पूर्व उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

(iv) ऋण उपलब्ध कराने की विधि को सरल बनाना चाहिए, जिससे ऋण प्राप्ति मे कृपको को कठिनाई महसूस नहीं हो।

(v) भूमि बन्धक मे आने वाली कठिनाइयो के कारण कृपको का अल्प-कालीन ऋण उनके द्वारा ली गई फसल की प्रतिभूति के आधार पर दिया जाना चाहिए।

4 कृपको पर बढती हुई बकाया ऋण राशि की वसूली के लिए प्रयास किए जाने चाहिए। समिति ने बकाया ऋण राशि की वसूली के लिए निम्नांकित सुझाव दिये थे—

(i) कृपको मे शिक्षा द्वारा भावना जागृत करनी चाहिये कि वे प्राप्त ऋण का स्वीकृत उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों म उपयोग नही करें।

(ii) सहकारी ऋण एव विपणन मे सामजस्य स्थापित करना चाहिए।

(iii) कृपको मे समय पर ऋण भुगतान करने की आदत डालनी चाहिए तथा समय पर ऋण भुगतान करने वालो को ब्याज एव अन्य प्रकार की छूट देनी चाहिए।

(iv) सहकारी समितियो के कार्यकर्ताओ द्वारा ऋण वसूली के लिए अथक प्रयास किये जाने चाहिए।

भूमि विकास बैंक

सहकारी समितियो के पजीयक अधिकारियो के सम्मेलन, 1926, कृषि रॉयल कमीशन, 1928 एव केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सुझावो के अनुसार देश

मे भूमि विकास बैंको की स्थापना की गई। पहले ये भूमि बन्धक बैंक कहलाते थे। इन बैंको की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य कृषको को भूमि विकास कार्यो जैसे––फार्म पर सिंचाई के लिए कुओ के निर्माण, फार्म पर नालियां एव पम्प घर निर्माण, पम्पिग सैट लगवाने, ट्रैक्टर, पावर-टिलर्स, स्प्रेयर्स, डस्टर्स, कम्बाईन्स, थ्रैसर आदि मशीनो के क्रय के लिए दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करना है। भूमि विकास बैंक कृषको को पुराने कर्जों से मुक्ति भी दिलाते हैं। भूमि विकास बैंक कृषको की भूमि को बन्धक रखकर दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करते है। कुछ राज्यो मे भूमि विकास बैंक कृषको की भूमि के अतिरिक्त अन्य स्थायी सम्पत्ति जैसे भवन बन्धक रखकर भी ऋण स्वीकृत करते हैं। वर्तमान मे ये बैंक कृषको द्वारा क्रय किये गये यन्त्र, जैसे–– ट्रैक्टर, थ्रैसर, पावर टिलर आदि को बन्धक रखकर भी ऋण स्वीकृत करते हैं।

भूमि विकास बैंको का ढांचा सभी राज्यो मे समान नही है। कुछ राज्यो मे इन बैंको का ढांचा सघीय स्तर का है अर्थात् राज्य-स्तर पर केन्द्रीय भूमि-विकास बैंक तथा जिले एव उसके नीचे के स्तर पर प्राथमिक भूमि विकास बैंक होते हैं। अनेक राज्यो मे इनका ढांचा एकात्मक होता है अर्थात् भूमि विकास बैंक केन्द्रीय स्तर पर होते है तथा विभिन्न क्षेत्रो मे उनकी शाखाएँ होती हैं।

भूमि विकास बैंको से ऋण प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम कृषको को प्रार्थना-पत्र मय आवश्यक दस्तावेजो जैसे–भूमि पर स्वामित्व का प्रमाण-पत्र, भूमि का मान-चित्र, भूमि का ऋण भार से मुक्ति का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना होता है। प्राप्त प्रार्थना-पत्रो की जांच करके भूमि विकास बैंक ऋण स्वीकृत करते है। बन्धक की गई सम्पत्ति की 50 प्रतिशत कीमत राशि ऋण के रूप मे स्वीकृत की जाती है। ऋण स्वीकृति की अधिकतम अवधि 20 वर्ष होती है। भूमि विकास बैंक स्वीकृत ऋण पर कृषको से, ऋण-पत्रो पर दी गई ब्याज की दर से एक प्रतिशत अधिक वसूल करते हैं।

भारत मे भूमि विकास बैंको की प्रगति सारणी 10 8 मे प्रदर्शित है।

सारणी 10 8

भारत में भूमि विकास बैंकों की प्रगति

(करोड रुपयो मे)

विवरण	सहकारी वर्ष (जुलाई से जून)					
	1951–52	1961–62	1968–69	1975–76	1981–82	1985–86
I प्राथमिक भूमि विकास बैंक						
1 बैंकों की सख्या	289	536	740	890	NA	1800
2 सदस्य सख्या (लाखो मे)	214	852	2800	2622	NA	3468

3 शेयर पूँजी	0 58	2 83	25.26	631 16	NA	
4. उधार प्राप्त पूँजी	6.84	34 29	277 90	569 28	NA	
5 कार्यशील पूँजी	7.59	38 51	309 76	704 22	NA	
6 स्वीकृत ऋण राशि वर्ष मे	1 30	12 59	103 76	136 09	NA	
7. बकाया ऋण राशि	6 96	38 28	285 56	576 70	NA	
II राज्य/केन्द्रीय भूमि विकास बैंक						
1 बैंको की सख्या	6	17	19	19	19	19
2 सदस्य सख्या (लाखो मे)	0 34	2 99	11 71	NA	NA	
3 शेयर पूँजी	0.44	5 37	30 90	164 00	326	
4 ऋण-पत्र बकाया (Debenture outstanding)	7.83	47 74	426 11	1591	2135	
5. कार्यशील पूँजी	NA	NA	NA	1918	2637	
6 स्वीकृत ऋण राशि वर्ष मे	2.51	14 75	143 62	249	369	
7 बकाया ऋण राशि	8 05	47 90	395 06	1211	1855	

स्रोत · (i) S.S M Desai, Rural Banking in India, Himalaya Publishing House, Bombay, 1979

(ii) Reserve Bank of India–Report on Trend and Progress of Banking in India, 1982–83.

भूमि विकास बैंक वर्ष 1961–62 तक पिछड़ी अवस्था मे थे। इसके बाद उनकी प्रगति विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है। देश मे प्राथमिक भूमि विकास बैंको की सख्या वर्ष 1951–52 मे 289 थी, वह बढकर 1985–86 मे 1800 हो गई। वर्तमान मे भूमि विकास बैंक 2100 शाखाओ के माध्यम से (जो खण्ड/तहसील एव तालुका

स्तर पर है) कृषकों को दीर्घकालीन ऋण-सुविधा उपलब्ध करा रहे हैं। अब तक भूमि विकास बैंकों द्वारा कृषकों को 3000 करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किये जा चुके हैं। स्वीकृत ऋण में से 70 प्रतिशत लघु सिंचाई कार्यक्रमों के लिए एवं शेष 30 प्रतिशत अन्य कार्य जैसे—भूमि समतल करने, बाड़ लगाने एवं भूमि को बन्धनों से मुक्त कराने के लिए स्वीकृत किये गये है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा मार्च, 1973 में श्री के माधवदास की अध्यक्षता में नियुक्त समिति का सुझाव था कि प्रत्येक राज्य में भूमि विकास बैंकों का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिये प्राथमिक सहकारी समितियों के माध्यम से बचत का इनमें सचलन करने का सुझाव भी दिया था। समितियों ने यह भी सुझाव दिया कि भूमि बन्धक रखने के स्थान पर उद्देश्य की सफलता के आधार पर ऋण स्वीकृत किया जाना चाहिये।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक, देश में कार्यरत भूमि विकास बैंकों के कार्य में सुधार लाने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील है जिससे ये बैंक विकास कार्यों हेतु ऋण प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका दक्षतापूर्वक निभा सकें। अतः राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक ने इनके कार्यरत ढांचे में वित्तीय एवं कानूनन परेशानियों को दूर करने की आवश्यकता महसूस की तथा इनके अध्ययन हेतु एक उच्चस्तरीय कार्यदल का गठन 2 जनवरी, 1985 का किया है। इस कार्यकारी दल के प्रमुख कार्य निम्न हैं[4]—

(i) इस बात का पता लगाना है कि क्या भूमि विकास बैंक अपने निहित कार्यों को सक्षमतापूर्वक पूरा कर रहे हैं अथवा उनकी कार्य-विधि में क्या परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता है ?

(ii) उनके वर्तमान सगठन, ढांचे, वित्तीय साधनों एवं कानूनन पहलुओं का अध्ययन करते हुए, उनके अधिक सक्षमतापूर्वक कार्य करने हेतु सुझाव देना।

(iii) भूमि विकास बैंकों को ऋण वसूल करने, ऋण की देखभाल, वित्तीय साधन जुटाने एवं ऋण योजनाओं की जाँच हेतु आवश्यक कानूनन सुझाव देना, जिससे वे निर्धारित कार्यों के लिए अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध करा सकें।

(iv) राज्य के भूमि विकास बैंकों एवं अन्य सहकारी ऋण संस्थानों के कार्य में समन्वय स्थापित करने हेतु सुझाव देना।

4 नेशनल बैंक न्यूज रिव्यू, राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक, खण्ड 1, संख्या 2, अप्रैल, 1985, पृष्ठ 19

(v) राज्य स्तरीय भूमि विकास बैंक एव प्राथमिक स्तर के भूमि विकास बैंको की वर्तमान ब्याज दर, सीमान्त राशि की जाँच करना एव उसमे उनके कार्य को देखते हुये परिवर्तन करने के सुझाव देना।

(स) वाणिज्यिक बैंक :

कृषको को ऋण सुविधा उपलब्ध कराने वाले सस्थागत अभिकरणो मे तृतीय सस्था वाणिज्यिक बैंक हैं। बैंको ने कृषि व्यवसाय के लिये ऋण प्रदान करने मे निरन्तर उपेक्षा बरती है। कृषको को विभिन्न स्रोतो से प्राप्त कुल ऋण मे से वर्ष 1951-52 मे 0 9 प्रतिशत अश वाणिज्यिक बैंको से प्राप्त हुआ था। यह अश वर्ष 1961-62 मे कम होकर मात्र 0 6 प्रतिशत रह गया। वर्ष 1971-72 मे वाणिज्यिक बैंको ने कृषको को प्राप्त कुल ऋण मे से 22 प्रतिशत अश प्रदान किया है। तत्पश्चात् वाणिज्यिक बैंको की प्रगति सराहनीय रही है।

वाणिज्यिक बैंको द्वारा प्रदत्त कुल ऋण का 2 5 प्रतिशत से कम अश कृषि क्षेत्र को बैंक राष्ट्रीयकरण के पूर्व प्राप्त हुआ है, जबकि उद्योग एव व्यापार को उपर्युक्त काल मे 84 से 90 प्रतिशत अश प्राप्त हुआ है।[5] कृषि क्षेत्र मे वाणिज्यिक बैंको द्वारा प्रदत्त ऋण का अधिकाश भाग चाय, काफी, रबर के बागान वाले कृषको को प्राप्त हुआ है। वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र मे ऋण स्वीकृति के लिए तत्पर नही होने के प्रमुख कारणो मे कृषि व्यवसाय का मौसम पर निर्भर होना, देश मे असख्य लघु कृषको का होना, कृषको द्वारा ऋण प्राप्ति के लिये उचित प्रतिभूति नही दे पाना, क्षेत्र मे ऋण सुविधा उपलब्ध कराने वाली सस्थाओ मे सहयोग की भावना नही होना, बैंको के कार्यकर्त्ताओ की कृषि व्यवसाय के प्रति अज्ञानता एव बैंको के प्रबन्धक व्यवसाय एव उद्योगो से सम्बन्धित होने के कारण व्यवसायियो को प्राथमिकता देना है।

वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र की ऋण स्वीकृति मे उपेक्षा बरती जाने एव देश मे कृषि व्यवसाय की बढती हुई महत्ता के कारण सरकार ने वर्ष 1968 मे बैंक सामाजिक नियन्त्रण कानून पारित किया। बैंक सामाजिक नियन्त्रण कानून निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति मे सफल नही हो सका। अत सरकार ने 19 जुलाई, 1969 को देश के चौदह बडे बैंको के राष्ट्रीयकरण के लिये अध्यादेश जारी किया। इस अध्यादेश का प्रमुख उद्देश्य कृषि, लघु उद्योगो एव अन्य प्राथमिकता वाले क्षेत्रो को वाणिज्यिक बैंको से अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराना था, जिससे ये क्षेत्र भी अन्य क्षेत्रो के समान विकसित हो सकें। इसके अतिरिक्त अग्रलिखित कारणों से भी वर्तमान मे वाणिज्यिक बैंको का कृषि-व्यवसाय के क्षेत्र मे प्रवेश आवश्यक हो गया था—

5 Chakarghar Sharma : Commercial Banks and Farm Finance, Eastern Economist, Vol 51, December 13, 1968, p 1089

1. कृषि क्षेत्र मे ऋण प्रदान करने वाले सस्थागत अभिकरणो मे सहकारी समितियो के पास धन की अपर्याप्तता के कारण वे कृषको की ऋण की आवश्यकता को पूरी कर पाने मे सक्षम नही हैं। सरकार तकावी ऋण पर प्राय' पाबन्दी लगा देती है। अतः सस्थागत अभिकरणो मे कृषको की ऋण आवश्यकता की पूर्ति के लिये वाणिज्यिक बैंक ही शेष रहते हैं। इनके पास पर्याप्त राशि मे धन होने के कारण, ये कृषको की ऋण की आवश्यकता को पूरा करने मे सक्षम हैं।
2 कृषि मे हरित-क्रान्ति के कारण कृषको की उन्नत बीज, उर्वरक, उन्नत औजार, सिंचाई के लिये पम्पिग सैट, कीटनाशी दवाइयाँ आदि के क्रय के लिये धन की आवश्यकता पहले की अपेक्षा कई गुना बढ गई है। ऋण की बढती हुई आवश्यकता को सहकारी समितियो द्वारा पूरा कर पाना सम्भव नही है। अतः हरित-क्रान्ति की सफलता के लिये ऋण की पूर्ति हेतु कृषि के क्षेत्र मे वाणिज्यिक बैंकों का प्रवेश आवश्यक हो गया है।
3 सहकारी समितियो ने बडे कृषकों को ही ऋण-सुविधा अधिक उपलब्ध कराई है। लघु कृषक बहुत ही कम राशि मे सहकारी समितियो से ऋण-सुविधा प्राप्त कर पाये हैं। अतः देश के अधिकाश लघु कृषको को पर्याप्त राशि मे समय पर ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने के लिये भी वाणिज्यिक बैंको का कृषि क्षेत्र मे प्रवेश करना आवश्यक है।
4 कृषि व्यवसाय के कुछ उद्योगो मे जैसे—पशु-पालन, दूध उद्योग, चाय, काफी, रबर, काजू, नारियल, अगूर आदि के बाग लगाने के लिये पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है और साथ ही इन उद्योगो मे निवेश की गई पूँजी से आय बहुत वर्षों के पश्चात् प्राप्त होना शुरू होती है। अत ऐसे उद्योगो को पर्याप्त ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने के लिये वाणिज्यिक बैंक एक मात्र स्रोत माने गये हैं।

वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र को प्रदान किये जाने वाले ऋण दो प्रकार के होते हैं—

(अ) प्रत्यक्ष ऋण-सुविधा—इसके अन्तर्गत वाणिज्यिक बैंक कृषको को कृषि कार्यों के लिये अल्पकालीन तथा कृषि मे पूँजी निवेश कार्यों के लिये मध्य एव दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करते हैं।

(ब) अप्रत्यक्ष ऋण-सुविधा—इसके अन्तर्गत वाणिज्यिक बैंक कृषको को सीधे रूप मे ऋण स्वीकृत नही करते हैं, बल्कि वे कृषि उद्योग निगम, राज्य विद्युत् मण्डल, कृषि यन्त्र सेवा-केन्द्र आदि को ऋण उपलब्ध कराते है, जो कृषको को विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते हैं।

वाणिज्यिक बैंकों के द्वारा कृषि क्षेत्र को अधिक ऋण-सुविधा उपलब्ध कराये जाने के लिए किये गये प्रयास :

भारत सरकार एवं भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र को अधिकाधिक ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने के लिये अनेक उपाय अपनाये गये हैं जिनमे से प्रमुख निम्न हैं—

1 बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण (Social Control Over Banks) :

भारत की नियोजित अर्थव्यवस्था मे समाजवादी समाज की रचना (Socialistic Pattern of Society) के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाज आधारभूत एव सेवा उद्योगो का सचालन एव नियन्त्रण सरकार के हाथ मे होना आवश्यक है। बैंक भी जनोपयोगी उद्योगो की श्रेणी मे आते हैं। अत इस तथ्य को दृष्टिकोण मे रखते हुए दिसम्बर, 1968 मे बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने का विधेयक ससद द्वारा पारित किया गया। बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण से अभिप्राय सरकार द्वारा बैंको पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाने से है जिससे बैंक अधिक से अधिक सामाजिक हित मे कार्य करें। इसके अन्तर्गत बैंको की नीति को सरकार की नीति के अनुकूल किया जाता है, जिससे रिजर्व बैंक अपने नियन्त्रण के अधिकारो का अधिक उपयोग कर सके।

सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य बैंको द्वारा ऋण प्रदान करने की नीति मे परिवर्तन करना है। बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण द्वारा उन क्षेत्रो को अधिक ऋण-सेवा उपलब्ध कराना है जिनकी अब तक उपेक्षा की गई थी जैसे—कृषि, लघु-उद्योग, कुटीर-उद्योग आदि। इस नीति का उद्देश्य देश के सभी उद्योगो को समान रूप से विकसित करना था। वर्तमान मे कृषि उद्योग को ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने मे वाणिज्यिक बैंको ने कोई प्रयास नही किया है। कृषि देश का प्रमुख उद्योग है, जिसका विकास करना आवश्यक है।

बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण से लाभ :

1 देश के सभी उद्योगो को समान रूप से ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना, जिससे देश का सन्तुलित विकास हो सके।
2 देश की मौद्रिक नीति पर नियन्त्रण करना।
3 मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण करना।
4 सट्टेबाजी के कार्यो के लिए बैंको द्वारा दिए जाने वाले ऋण पर पाबन्दी लगाना। आवश्यक वस्तुओं की कमी होने पर उनकी प्रतिभूति पर ऋण स्वीकृत नही करना।

2. बैंक राष्ट्रीयकरण (*Nationalization of Banks*) :

सरकार द्वारा बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण करने के उपरान्त भी वाणिज्यिक बैंको ने कृषि, लघु एव कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए ऋण स्वीकृति में

प्राथमिकता नही दी। इसका प्रमुख कारण वाणिज्यिक बैंको का परम्परागत उद्योगपतियो एव व्यापारियो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का होना है। बैंको का सामाजिक नियन्त्रण विधेयक अपने निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति मे सफल नही हुआ। अतः सरकार ने कृषि, लघु एव कुटीर उद्योगो की ऋण की बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए बैंको के राष्ट्रीयकरण का कदम उठाया। बैंक राष्ट्रीयकरण देश को समाजवाद की ओर अग्रसर करने का एक कदम माना गया है।

बैंको के राष्ट्रीयकरण से तात्पर्य बैंको पर किसी व्यक्ति विशेष का नियन्त्रण न रखकर सरकार के सीधे नियन्त्रण मे रखने तथा बैंको का कार्य-सचालन सरकार की नीति के अनुसार करने से है। बैंक राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत बैंकिग कम्पनियो के सचालको को उनके हिस्से पूँजी के मूल्य मुगतान करके सरकार बैंको पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करती है। बैंको के राष्ट्रीकरण की नीति का मुख्य उद्देश्य निम्न वर्ग के व्यक्तियो (लघु कृषक, सीमान्त कृषक, मजदूर, कारीगर) की सहायता करना है जिससे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मे सुधार हो सके एव कुटीर उद्योगो का विकास हो सके। इससे आर्थिक प्रगति एव सामाजिक न्याय प्राप्त हो सकेगा।

देश के चौदह बडे वाणिज्यिक बैंको के राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा 19 जुलाई, 1969 को राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा की गई। इस अध्यादेश ने 9 अगस्त, 1969 को कानून का रूप धारण किया। इस अध्यादेश द्वारा देश के उन चौदह बडे बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया, जिनकी 31 दिसम्बर, 1968 को जमा राशि 50 करोड रुपयो से अधिक थी। इन राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंको के पास समूचे बैंकिग क्षेत्र की 58 प्रतिशत जमा-राशि थी। स्टट बैंक एव उसके सहायक बैंको की जमाराशि को सम्मिलित करते हुए भारतीय बैंक व्यवस्था की 85 प्रतिशत जमा-राशि पर राष्ट्रीयकरण से सरकार का सीधा नियन्त्रण हो गया। सरकार ने उपर्युक्त अध्यादेश मे विदेशी बैंको को सम्मिलित नही किया क्योकि विदेशो से व्यापार करने के लिए दूसरे देशो मे भारतीय बैंको की शाखाओ का पर्याप्त रूप से विस्तार नही था।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम, 1969 को 10 फरवरी, 1970 को अवैध घोषित कर दिये जाने के कारण, राष्ट्रपति ने 14 फरवरी, 1970 को देश के चौदह बडे बैंको का राष्ट्रीयकरण 19 जुलाई, 1969 से पुनः घोषित करने का अध्यादेश जारी किया। राष्ट्रीयकरण किये गए चौदह वाणिज्यिक बैंक—सेंट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ इण्डिया, पजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ बडोदा, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, कनारा बैंक, यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, देना बैंक, यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक, सिंडीकेट बैंक, इण्डियन ओवरसीज बैंक, इण्डियन बैंक, एव बैंक ऑफ महाराष्ट्र हैं। इनमे 31 दिसम्बर, 1968 को

सर्वाधिक जमा-राशि सैंट्रल बैंक ऑफ इण्डिया की 433 करोड रुपये व सबसे कम जमा-राशि बैंक ऑफ महाराष्ट्र की 73 करोड रुपये थी। सर्वाधिक बैंक शाखाओ मे पजाब नेशनल बैंक अग्रणी था। स्थापन वर्ष की दृष्टि से सबसे पुराना राष्ट्रीयकृत बैंक इलाहाबाद बैंक है जिसकी स्थापना 1865 मे हुई थी।

सरकार ने 15 अप्रैल, 1980 को 6 और वाणिज्यिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया। हाल मे राष्ट्रीयकरण किये गये 6 बैंक—विजया बैंक, आन्ध्रा बैंक, ओरियन्टल कार्माशियल बैंक, पजाब एव सिन्ध बैंक, कोरपोरेशन बैंक एव न्यू बैंक ऑफ इण्डिया हैं। इस प्रकार अब राष्ट्रीयकरण किये गए बैंको की सख्या स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एव उसके सहायक बैंको के अतिरिक्त 20 हो गई है। सभी राष्ट्रीयकृत बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एव उसके सहायक बैंक सम्मिलित रूप से अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको का 82 6 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र मे आ गया है। इसी प्रकार वर्ष 1978 के अन्त तक 91 प्रतिशत जमा एव स्वीकृत राशि सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत आ गई थी।

राष्ट्रीयकृत बैंको की प्रगति ·

राष्ट्रीयकरण के उपरान्त ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकों की शाखाओ मे विस्तार, जमा राशि मे वृद्धि, कृषि एव प्राथमिक क्षेत्रो को अधिक राशि मे ऋण उपलब्ध कराने से बैंको की गति मे तीव्रता आई है। बैंको की प्रगति का सक्षिप्त विवरण निम्न है—

(अ) बैंक शाखाओ का विस्तार—सारणी 10 9 वाणिज्यिक बैंको की शाखाओ का विस्तार शहरीकरण के आधार पर प्रदर्शित करती है—

सारणी 10 9

वाणिज्यिक बैंकों की शाखाओं का विस्तार

शहरीकरण के आधार पर क्षेत्र	राष्ट्रीयकरण से पूर्व जून 1969	जून, 1979	जून, 1988	मार्च, 1992	जून 1969 से मार्च 1988 के मध्य में विस्तार
1. ग्रामीण क्षेत्र (दस हजार जनसंख्या तक)	1,833 (22.2)	13,337 (44.2)	31,114 (56.1)	35,218 (58.0)	33,385 (63.68)
2. अर्द्ध शहरी क्षेत्र (दस हजार से एक लाख जनसंख्या वाले क्षेत्र)	3,342 (40.[illegible])	7,889 (26.1)	11,132 (20.1)	11,397 (18.8)	8,055 (15.36)
3 शहरी क्षेत्र (एक से दस लाख जनसंख्या वाले)	1,584 (19.1)	5,039 (16.7)	7,322 (13.2)	14,077 (23.2)	10,990 (20.96)
4. राजधानी क्षेत्र (दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले)	1,503 (18.2)	3,939 (13.0)	5,842 (10.6)		
कुल	8,262 (100)	30,202 (100)	55,410 (100)	60,692 (100)	52,430 (100)

कोष्ठक में दिए गए आंकड़े कुल बैंक शाखाओं का प्रतिशत है।

स्रोत : Pigmy Economic Review, Vol 38 (No 2, 4 & 5), September 1992 and November-December 1992.

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पूर्व देश मे जून, 1969 मे मात्र 8,262 बैंक शाखाएँ थी, जो बढकर मार्च 1992 मे 60,692 हो गई। राष्ट्रीयकरण के उपरान्त वाणिज्यिक बैंको की शाखाओ मे तीव्र गति से विस्तार हुआ है। यह विस्तार ग्रामीण क्षेत्र मे सर्वाधिक हुआ है। राष्ट्रीयकरण से पूर्व कुल बैंक शाखाओ मे ग्रामीण क्षेत्र का शाखाओ का प्रतिशत मात्र 22 2 था जो बढकर मार्च, 1992 मे 58 0 प्रतिशत हो गया। अर्द्ध-शहरी, शहरी एव राजधानी क्षेत्रो मे बैंक शाखाओ की सख्या मे तो विस्तार हुआ है लेकिन उनका कुल बैंक शाखाओ की प्रतिशतता मे निरन्तर कमी हुई है। राष्ट्रीयकरण के उपरान्त जून, 1969 से मार्च, 1992 के मध्य मे खोली गई 52430 शाखाओ मे से 33,385 बैंक शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्र मे खोली गई हैं, जो कुल खोली गई शाखाओ का 63 68 प्रतिशत है। पिछले 23 वर्षों मे 2280 बैंक शाखाएँ प्रति वर्ष की दर से बढ़ोत्तरी हुई है, जो स्वय मे एक कीर्तिमान है।

बैंक शाखाओ का विस्तार उन राज्यो मे अधिक हुआ है जो बैंकिंग दृष्टि से पिछड़े हुए थे जैसे-असम, बिहार, जम्मू एव कश्मीर मध्य प्रदश उडीसा राज्य।

जनसख्या की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण के पूर्व जून, 1969 मे औसतन 64 हजार जनसख्या के लिए एक बैंक शाखा थी। शाखाओ के विस्तार के कारण मार्च, 1992 मे 10 हजार जनसख्या पर ही एक बैंक शाखा हो गई है। बैंको की शाखाओ के विस्तार की गति विभिन्न राज्यो मे समान नही है। अत विभिन्न राज्यो मे प्रति बैंक शाखा जनसख्या मे बहुत विभिन्नता है। मार्च 1988 मे मनीपुर मे 22 हजार जनसख्या पर एक बैंक शाखा व बिहार एव सिक्किम राज्यो मे 16 हजार जनसख्या पर एक बैंक शाखा थी, जबकि हिमाचल प्रदेश पजाब, जम्मू एव कश्मीर, केरल एव कर्नाटक राज्यो मे 6 से 9 हजार जनसख्या पर ही एक बैंक शाखा थी। अन्य राज्यो मे प्रति बैंक शाखा जनसख्या 10 से 12 हजार है।

(ब) बैंकों के जमा एव ऋण राशि मे विस्तार—बैंक राष्ट्रीयकरण के पूर्व जून, 1969 मे बैंको की कुल जमा राशि 4,646 करोड रुपये एव स्वीकृत ऋण राशि 3,599 करोड रुपये थी। ऋण जमा राशि का अनुपात जून, 1969 मे 77 5 प्रतिशत था। राष्ट्रीयकरण के उपरान्त बैंको की जमा-राशि एव ऋण राशि मे बहुत विस्तार हुआ है। दो दशक के उपरान्त मार्च, 1989 मे कुल जमा-राशि बढकर 146 890 करोड रुपये तथा कुल स्वीकृत ऋण राशि 96,808 करोड रुपये हो गई। इस प्रकार 20 वर्षों मे जमा राशि मे 32 गुना एव स्वीकृत ऋण राशि मे 27 गुना वृद्धि हुई है जिससे स्वीकृत ऋण एव जमा राशि का अनुपात 66 4 हो गया।

शहरीकरण के अनुसार जमा-राशि एव स्वीकृत ऋण राशि में सर्वाधिक वृद्धि ग्रामीण क्षेत्र मे अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक हुई है। प्रति बैंक शाखा जमा-

राशि एव स्वीकृत ऋण राशि मे भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। प्रति बैंक शाखा जमा-राशि जून, 1969 मे 56 लाख रुपये थी, जो बढकर मार्च, 1989 मे 258 लाख रुपये हो गई। इसी प्रकार प्रति बैंक शाखा स्वीकृत ऋण राशि उपरोक्त काल मे 44 लाख रुपये से 169 लाख रुपये हो गई।

सारणी 10 10 मे विभिन्न समय काल मे बैंको की जमा एव ऋण राशि मे विस्तार को प्रदर्शित किया गया है --

सारणी 10 10

बैंको की जमा एव ऋण राशि मे विस्तार

विवरण	जून 1969	जून 1979	जून 1985	मार्च 1989
बैंको की कुल जमा राशि (करोड रुपये)	4,646	28,671	77,075	146,890
बैंको द्वारा स्वीकृत कुल ऋण राशि (करोड रुपये)	3,599	19,116	50,921	96,008
ऋण-जमा राशि का अनुपात	77 5	66 7	66 1	65 4
प्रति बैंक शाखा जमा राशि(लाख रुपये)	56	95	150	258
प्रति बैंक शाखा स्वीकृत ऋण (लाख रुपये)	44	63	99	169

स्रोत Pigmy Economic Review, Vol 38 (2), September, 1992

राष्ट्रीयकरण के समय ग्रामीण क्षेत्रो को कुल स्वीकृत ऋण का मात्र 1 49 प्रतिशत अश ही ऋण के रूप मे उपलब्ध हुआ था। यह अशदान बढकर दिसम्बर, 1987 मे 15 3 प्रतिशत हो गया। अत स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकरण के उपरात वाणिज्यिक बैंको ने ग्रामीण क्षेत्रो को अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराई है। लेकिन ग्रामीण विकास कार्यक्रमो को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए इसमे और बढोत्तरी होना आवश्यक है।

(स) ऋण प्राप्तकर्त्ता एव धन जमाकर्त्ताओ की सख्या मे विस्तार—राष्ट्रीयकरण के उपरान्त वाणिज्यिक बैंको की शाखाओ, जमा एव ऋण राशि मे विस्तार

के साथ साथ ऋण प्राप्त करने वाले व धन जमाकर्त्ताओं की संख्या में भी विस्तार हुआ है। राष्ट्रीयकरण के पूर्व जून, 1969 में वाणिज्यिक बैंको से ऋण प्राप्तकर्त्ताओं की संख्या मात्र एक मिलियन एवं धन जमाकर्त्ताओं की संख्या 10 मिलियन थी। पिछले 20 वर्षों में इनकी संख्या में 10 से 15 गुना वृद्धि हुई है।

(द) प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्रदत्त ऋण सुविधा—प्रमुख क्षेत्रों के विकास हेतु सरकार द्वारा प्राथमिकता वाले क्षेत्र घोषित किए और सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा इन्हें अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराकर इनके लक्ष्य प्राप्त करने का उद्देश्य निर्धारित किया। वाणिज्यिक बैंको ने राष्ट्रीयकरण के उपरान्त अपनी स्वीकृत ऋण-नीति में आवश्यक परिवर्तन करके, प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराई है। यह प्राथमिकता वाले क्षेत्र ऋण स्वीकृति के क्षेत्र में वाणिज्यिक बैंको द्वारा अब तक उपेक्षित थे। बैंक राष्ट्रीयकरण करने का सरकार का एक प्रमुख उद्देश्य देश के सुनियोजित विकास के लिए निर्धारित प्राथमिकता वाले क्षेत्रों तथा लघु एवं सीमान्त कृषकों को अधिकाधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराना था।

सारणी 10 11 कृषि एवं अन्य प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को बैंको द्वारा स्वीकृत ऋण राशि प्रदर्शित करती है।

सारणी 10 11

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को स्वीकृत ऋण

वर्ष	प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्रदत्त ऋण राशि (करोड रुपये)	कुल ऋण राशि में प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्रदत्त ऋण राशि का प्रतिशत
जून, 1969	5,04	14 0
जून, 1979	5,906	30 91
जून, 1985	19,829	39 00
मार्च, 1987	25,050	40 00
मार्च 1989	34,207	43 00

स्रोत Pigmy Economic Review, Vol. 38 (2), September, 1992, p 5

बैंको ने राष्ट्रीयकरण के पूर्व जून, 1969 में प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को 504 करोड रुपये का ऋण उपलब्ध कराया था, जो कुल स्वीकृत ऋण राशि का

मात्र 14 0 प्रतिशत था। यह ऋण राशि बढकर मार्च, 1989 मे 34,207 करोड रुपये हो गई। इस प्रकार प्राथमिकता वाले क्षेत्रो का कुल स्वीकृत ऋण मे अंशदान बढकर 43 0 प्रतिशत हो गया। अत स्पष्ट है कि बैंको ने इन क्षेत्रो के व्यक्तियो को अधिक ऋण स्वीकृत करने मे रुचि ली है।

राष्ट्रीय स्तर पर प्राथमिकता वाले क्षेत्रो को कुल स्वीकृत ऋण राशि मे से मार्च, 1985 तक 40 प्रतिशत स्वीकृत करने का लक्ष्य रखा गया था। बैंक उपरोक्त लक्ष्य से अधिक राशि मे, (मार्च, 1989 मे 43 प्रतिशत) ऋण सुविधा इन क्षेत्रो को उपलब्ध करा रहे हैं। इसी प्रकार सरकार द्वारा प्राथमिकता वाले क्षेत्रो मे कृषि क्षेत्र को 17 प्रतिशत प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि वर्तमान मे यह प्रतिशत 17 6 है जो लक्ष्य से अधिक है।

भारत सरकार एव रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा जारी मार्ग दर्शन के अनुसार निजी क्षेत्र के वाणिज्यिक बैंको द्वारा भी प्राथमिकता वाले क्षेत्रो एव कृषि के विशेष कार्यक्रमो के लिए ऋण सुविधा उपलब्ध कराया जाना है। अत निजी वाणिज्यिक बैंको द्वारा प्राथमिकता वाले क्षेत्रो को जून, 1987 मे कुल स्वीकृत ऋण का 38 5 प्रतिशत अंश प्रदान किया है। वर्ष 1988-89 मे विदेशी बैंको को भी कुल स्वीकृत ऋण मे मे 10 प्रतिशत ऋण राशि प्राथमिकता वाले क्षेत्रो को उपलब्ध कराने हेतु सरकार ने सुझाव दिया है।

प्राथमिकता वाले क्षेत्रो को अधिक प्रतिशत ऋण राशि उपलब्ध कराने मे हरियाणा, मनीपुर, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू एव कश्मीर, पजाब, मेघालय एव बिहार राज्यो का स्थान अन्य राज्यो की अपेक्षा ऊपर है जबकि महाराष्ट्र एव पश्चिमी बगाल राज्यो का स्थान सबसे नीचे है।

राष्ट्रीयकृत बैंक कृषको को आवश्यकतानुसार अल्पावधि ऋण—बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, मजदूरी का भुगतान करने, मध्यावधि ऋण—सिंचाई के लिए कुआ पर मोटर लगाने, पशु क्रय करने, कृषि यन्त्र एव छोटी मशीनो का क्रय करने के लिए तथा दीर्घावधि ऋण—भूमि सुधार कार्यक्रम, ट्रैक्टर एव बडी मशीनो का क्रय आदि के लिए कम ब्याज दर पर उपलब्ध करा रहे हैं। इसके साथ ही कृषि क्षेत्र को अधिकाधिक ऋण सुविधा उपलब्ध कराने के लिए वाणिज्यिक बैंको ने अनेक योजनाएँ भी बनाई हैं, जैसे—फसल ऋण योजना अग्रणी बैंक योजना, रियायती ब्याज दर योजना आदि।

राष्ट्रीयकृत बैंकों को कृषि ऋण के विस्तार मे आ रही समस्यायें :

वाणिज्यिक बैंको ने राष्ट्रीयकरण के बाद के वर्षो मे कृषि ऋण प्रदान करने, ग्रामीण क्षेत्रा मे बैंको की शाखाएँ खोलन, कृषि ऋण की नई योजनाएँ शुरू करने

मे विशेष प्रगति की है, लेकिन ग्रामीण ऋण विस्तार मे बैंको को कई समस्याओ का सामना करना पड रहा है। बैंको के समक्ष ग्रामीण क्षेत्रो मे ऋण विस्तार में आने वाली प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं—

(1) कृषिगत ऋण विस्तार के लिए क्षेत्र एव परियोजनाओ के चुनाव से सम्बन्धित समस्याएँ—ऋण विस्तार मे सर्वप्रथम समस्या ऋण प्रदान करने के लिए क्षेत्र एव परियोजनाओ के चुनाव की होती है। किस क्षेत्र मे ऋण की अधिक आवश्यकता है और कौनसी योजनाओ को ऋण की स्वीकृति मे प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए, जैसे उत्पादन कार्य, कृषि विकास हेतु पूंजी निवेश की योजनाओ या आधारभूत संरचना के विकास की योजनाएँ आदि।

(2) बैंकों के पास कृषि ऋण-विस्तार के लिए आवश्यक वित्त की कमी—राष्ट्रीयकृत बैंको के सामने कृषि ऋण विस्तार मे दूसरी समस्या कृषि क्षेत्र के लिए आवश्यक वित्त राशि का अभाव होना है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम तो राष्ट्रीयकृत बैंक कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो को दिए जाने वाले ऋण की राशि मे कमी नही करना चाहते हैं, दूसरी ओर कृषि-क्षेत्र मे हरित-क्रान्ति एव तकनीकी ज्ञान विकास के कारण ऋण की आवश्यकता मे कई गुना वृद्धि हो गई है जिसे बैंक अपनी वर्तमान वित्त-राशि से पूरा करने में सफल नही हो पा रहे हैं। अत बैंको की जमा-राशि मे वृद्धि करना आवश्यक है।

(3) कृषको को ऋण-स्वीकृति मे आने वाली समस्याएँ—राष्ट्रीयकरण के पूर्व वाणिज्यिक बैंक उद्योगो को ही प्रमुखतया ऋण स्वीकृत करते थे, जिसके कारण वाणिज्यिक बैंको के कार्यकर्त्ता कृषि क्षेत्र मे ऋण स्वीकृत करने मे आने वाली समस्याओ से अनभिज्ञ थे। कृषि-क्षेत्र से आने वाली समस्याएँ उद्योगों के लिए ऋण-स्वीकृति मे आने वाली समस्याओ से भिन्न होती हैं। राष्ट्रीयकरण के उपरान्त ऋण-स्वीकृति मे प्राथमिकता प्रदान करने की नीति मे परिवर्तन के कारण, वाणिज्यिक बैंको को कृषि के क्षेत्र मे प्रवेश करना पडा तथा साथ ही ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि-ऋण प्रदान करने के लिए शाखाओ का विस्तार करना पडा। इन सब कार्यों मे बैंको को निम्न समस्याओ का सामना करना पड रहा है। जिसके कारण प्रगति की रफ्तार मे गति नही आ सकी—

(अ) कृषि-ऋण की स्वीकृति के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओ का अभाव—वाणिज्यिक बैंकों के पास कृषि ऋण स्वीकृत करने के पूर्व ऋणी द्वारा दी गई परियोजना की तकनीकी व्यवहार्यता (Technical feasibility) एव आर्थिक व्यवहार्यता का आकलन करने एव ऋण-प्रार्थना-पत्रो की जाँच करने के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओ (वाणिज्यिक बैंको के सिद्धान्तो एव कृषि की समस्याओं के ज्ञाता) का अभाव था, जिसके कारण ऋणप्रार्थना-पत्रो की जाँच मे काफी समय लगता था।

(ब) बैंक कार्यकर्त्ताओ द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे खोली गई शाखाओ मे कार्य करने मे रुचि नही लेना जिससे शाखाओ के विस्तार मे तेज गति से वृद्धि नही हो पाई।

(स) **कृषको के भूमि पर स्वामित्व के सही अभिलेख उपलब्ध नहीं होना**—वाणिज्यिक बैंक भूमि की प्रतिभूति पर अधिकाश ऋण स्वीकृत करते हैं। कृषको के ऋण प्रार्थना-पत्र पर भूमि के स्वामित्व को सत्यापित करने मे राजस्व अधिकारी अधिक समय लेते हैं जिसके कारण ऋण स्वीकृति मे देर हो जाती है।

(द) **प्रतिभूति के लिए भूमि बन्धक रखने मे समय लगना**—ऋण-प्राप्ति के लिए कृषको को भूमि बन्धक करके बैंक के नाम से पजीकृत करनी होनी है जिसमे राजस्व अधिकारी अधिक समय लगाते हैं और कृषको को समय पर ऋण उपलब्ध नही हो पाता है। साथ ही भूमि को बैंक के नाम पजीकृत करने मे कृषको को पजीकरण फीस देनी होती है जिसके कारण लागत अधिक आती है।

(य) **कानूनी परेशानियाँ**—बैंको द्वारा कृषको को कुछ राज्यो मे कानूनी अड़चनो का सामना करना पड़ता है, जैसे–भूमि को सस्था के नाम हस्तान्तरण करने पर रोक होना, पुराने ऋण की वसूली से छुटकारा दिलाने के नियमो मे साहूकारो एव वाणिज्यिक बैंको द्वारा प्रदत्त ऋण मे अन्तर नही होना, कृषको पर ऋण-वसूली हेतु कानूनी कार्यवाही करने पर प्रतिबन्ध होना आदि। इन सब कानूनो मे बैंको को साहूकारो के समान रखा गया है, जिसके कारण बैंक कृषको को ऋण स्वीकृत करने मे विशेष रुचि नही ले पाए हैं।

(4) **ऋण वसूली की समस्यायें**—वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र मे ऋण-स्वीकृति मे आने वाली यह भी प्रमुख समस्या है जिसके कारण बैंक कृषि क्षेत्र मे विशेष प्रगति नही कर पाए हैं। समय पर ऋण वसूल नही हो पाने के कारण ऋण की बकाया राशि कृषको पर बढती जाती है और बैंको के पास उपलब्ध वित्त कम होता जाता है जिसके कारण वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि के क्षेत्र मे ऋण स्वीकार करने की नीति पर विपरीत प्रभाव आता है। कृषि-ऋण की वसूली का प्रतिशत कम होने के प्रमुख कारण अग्राकित हैं.

(अ) **अस्वस्थ ऋण-नीति**—कृषि ऋण की वसूली का प्रतिशत कम होने का प्रथम कारण ठोस कृषि नीति का न होना है। आवश्यकता से अधिक राशि मे ऋण स्वीकृत करना, गलत समय पर ऋण स्वीकृत करना, आवश्यकता से कम राशि मे ऋण स्वीकृत करना तथा उत्पादन

कार्यों के लिए आवश्यक राशि मे ऋण स्वीकार नहीं करने के कारण कृषको को दिये गये ऋण मे सम्भावित आय प्राप्त नहीं होती है, जिससे ऋण की वसूली मे वाणिज्यिक बैंको को कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है।

(ब) *निरीक्षण का अभाव—स्वीकृत ऋण की वसूली का प्रतिशत कम होने* का दूसरा प्रमुख कारण स्वीकृत ऋण के उपयोग एव वसूली पर बैंक का पर्यवेक्षण पर्याप्त नही होना है, जिसके कारण कृषक प्राप्त ऋण का स्वीकृत उद्देश्य के लिए उपयोग न करके अनुत्पादक कार्यों मे उपयोग कर लेते हैं। समय पर ऋण-वसूली की कार्यवाही नही करने पर उत्पाद के विक्रय से प्राप्त आय को कृषक अन्य कार्यों अथवा पुराने कर्ज चुकाने म उपयोग कर लेते हैं, जिससे बैंक का ऋण समय पर वसूल नही हो पाता है। इन सबका कारण वाणिज्यिक बैंको के पास पर्याप्त कार्यकर्ताओ का नहीं होना तथा उनकी कार्य के प्रति रुचि नही होना है।

(स) फसल उत्पादन कम होना—कृषि मे प्राकृतिक प्रकोप निरन्तर आते रहते हैं। सूखा, अतिवृष्टि, बाढ, तूफान, ओले, कीडे, टिड्डी, बीमारियाँ आदि के कारण या तो फसल पूर्णतया नष्ट हो जाती है अथवा उत्पादन कम प्राप्त होता है जिससे कृषको की ऋण भुगतान-क्षमता कम हो जाती है और ऋण वसूली का प्रतिशत कम हो जाता है।

(द) राजनैतिक हस्तक्षेप—राजनैतिक हस्तक्षेप भी ऋण की समय पर वसूली मे बाधक होते हैं। ऋण की राशि बडे कृषको पर लघु कृषको की अपेक्षा अधिक बकाया होती है।

(5) *वाणिज्यिक बैंकों का अन्य सस्थाओं से समन्वय नहीं होना*—वाणिज्यिक बैंको के समक्ष कृषि ऋण विस्तार मे आने वाली अन्य समस्या ऋणदात्री एव गैर ऋणदात्री सस्थाओ जैसे—सरकार वाणिज्यिक बैंक एव सहकार उत्पादन-साधनो की पूर्ति करने वाली सस्थाओ जैसे— उर्वरक निगम, राष्ट्रीय बीज निगम, प्रोसेसिंग सस्थाओ मे पूर्ण समन्वय नहीं होना है। उपर्युक्त सस्थाओ का वाणिज्यिक बैंको से समन्वय ऋण विस्तार के लिए आवश्यक हैं। जैसे—सरकार वाणिज्यिक बैंको के ऋण विस्तार के लिए क्षेत्र का चुनाव करके, बैंको को ऋण योजनाएँ बनाने के लिए तकनीकी कार्यकर्त्ताओ की सेवाएँ प्रतिनियुक्ति पर देकर ऋण विस्तार में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इसी प्रकार विस्तार-सस्थाएँ वाणिज्यिक बैंको के लिए कृषको का सही चुनाव, ऋण वसूली, ऋण की आवश्यक राशि ज्ञात करने में

सहायक होती है। विपणन, प्रोसेसिंग एवं उत्पादन साधनों की पूर्ति करने वाली संस्थाओं से भी वाणिज्यिक बैंको का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि कृषकों को जब तक इन संस्थाओ की सेवाएँ समय पर उपलब्ध नही होगी तब तक कृषक प्राप्त ऋण का पूर्ण उपयोग नही कर पायेंगे, ऋण मे आय मे वृद्धि नही होगी और ऋण-वसूली मे वाणिज्यिक बैंको को परेशानी होगी। इसी प्रकार विभिन्न ऋणदात्री संस्थाओ मे भी आपस मे समन्वय होना आवश्यक है, विशेषकर वाणिज्यिक बैंको का दूसरे बैंको तथा सहकारी ऋण-संस्थाओ से समन्वय होना आवश्यक है। इनमे समन्वय नही होने से कृषक विभिन्न संस्थाओ से एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऋण प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार विभिन्न ऋणदात्री संस्थाओ को ऋण की वसूली मे परेशानियाँ उठानी होती हैं।

(6) *अन्य कारण*—अशिक्षा के कारण वाणिज्यिक बैंको द्वारा दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के ऋणो के विषय मे कृषको की अज्ञानता, विस्तार कार्यकर्त्ताओ को वाणिज्यिक बैंको द्वारा दी जाने वाली सुविधाओ का पर्याप्त ज्ञान न होना, कृषको द्वारा तकनीकी ज्ञान का उपयोग नही किया जाना, कृषको का गाँव के साहूकार का ऋणी होने के कारण बैंक से ऋण प्राप्त करने की इच्छा न होना, गाँवो मे सडको के अभाव के कारण वाणिज्यिक बैंको के अधिकारियो द्वारा समय पर निरीक्षण नही कर पाना, सहकारी बैंको द्वारा कम ब्याज पर ऋण स्वीकृत करना आदि कारक भी वाणिज्यिक बैंको के कृषि-ऋण विस्तार कार्यक्रम मे बाधक होते हैं।

3. फसल-ऋण-प्रणाली (Crop-Loan-System)

ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति की एक प्रमुख सिफारिश के अनुसार कृषको को अल्पकालीन ऋण फसल-ऋण-प्रणाली के अनुसार दिया जाना चाहिए, जिससे कृषक प्राप्त ऋण का उत्पादन वृद्धि के कार्यो के लिए ही उपयोग करे और कृषको को फार्म पर ली जाने वाली फसलो के लिए आवश्यकतानुसार राशि ऋण के रूप मे प्राप्त हो सके। साथ ही कृषको को स्वीकृत ऋण का अधिकांश भाग नकद रूप मे नही दिया जाकर उत्पादन साधनो के रूप मे दिया जाए तथा ऋण की वसूली फसल के विक्रय से प्राप्त आय मे से की जाए। फसल-ऋण-प्रणाली के उपर्युक्त सिद्धान्तो को सहकारिता राज्य-मन्त्रियो के सम्मेलन (अप्रैल, 195) मे सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे रिजर्व बैंक की सिफारिश के अनुसार सभी राज्यो ने उत्पादन के आधार पर ऋण स्वीकृत करने अर्थात् फसल-ऋण-प्रणाली को अपनाने का श्रीगणेश किया।

फसल-ऋण-प्रणाली के अन्तर्गत कृषको की उत्पादन-क्षमता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न फसलो को उगाने के लिए आवश्यक ऋण

फसलों की आवश्यकतानुसार ज्ञात किया जाता है। प्रत्येक कृषक के लिए पृथक् रूप से ऋण की सीमा निर्धारित की जाती है। फसल ऋण प्रणाली में कृषकों को ऋण भौतिक प्रतिभूति के अभाव में उत्पादित की जाने वाली फसलों की प्रतिभूति के आधार पर स्वीकृत किया जाता है।

फसल ऋण प्रणाली के अन्तर्गत स्वीकृत ऋण-राशि के कृषकों द्वारा स्वीकृत उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों में किये जाने वाले उपयोग को रोकने के लिए स्वीकृत ऋण के अधिकांश भाग को नकद न दिया जाकर उत्पादन-साधनों—बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, उन्नत औजार आदि के रूप में दिया जाता है और शेष राशि का नकद भुगतान किया जाता है। इस प्रकार स्वीकृत ऋण तीन भागों में दिया जाता है—

(अ) प्रचलित कृषि विधियों को अपनाने के लिए नकद राशि का भुगतान। साधारणतया यह राशि कुल उत्पादन लागत के एक-तिहाई भाग से अधिक नहीं होती है।

(ब) उत्पादन-साधनों के रूप में ऋण का एक भाग। साधारणतया यह राशि उत्पादन-साधनों में प्रयुक्त की जाने वाली राशि के समतुल्य होती है।

(स) उपर्युक्त (ब) भाग के अन्तर्गत स्वीकृत राशि की 50 प्रतिशत राशि नकद रूप में। इस राशि को स्वीकृत करने का प्रमुख उद्देश्य आधुनिक उत्पादन-साधनों के उपयोग में होने वाले अतिरिक्त व्यय की पूर्ति करना है।

कृषकों द्वारा प्राप्त ऋण के भुगतान हेतु सहकारी-विपणन-समितियों के माध्यम से उत्पाद के विक्रय का प्रबन्ध होता है ताकि कृषक विपणन समिति के माध्यम से उत्पाद विक्रय करके प्राप्त राशि से ऋण का ब्याज सहित भुगतान कर सकें।

फसल ऋण प्रणाली कृषकों के लिए ऋण-उपलब्धि के क्षेत्र में प्रगतिशील कदम होते हुए भी इसको कार्यान्वित करने में ऋणदात्री संस्थाओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना होता है, जैसे—विभिन्न फसलों की उत्पादन-लागत के सही आँकड़ों का उपलब्ध न होना, सहकारी समितियों के पास पर्याप्त राशि में ऋण प्रदान करने के लिए धन न होना, सभी क्षेत्रों में सहकारी-विपणन समितियों का न होना, सहकारी पर्यवेक्षकों की कमी आदि। अतः फसल ऋण-प्रणाली के विकास के लिए आवश्यक सेवाओं का, जो इसकी प्रगति में बाधक हैं, विकास करना आवश्यक है।

4 अग्रणी बैंक योजना (Lead Bank Scheme) :

वाणिज्यिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त बैंकों को कृषि के क्षेत्र में अग्रसर करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त नरीमन समिति के सुझाव पर दिसम्बर, 1969 में अग्रणी बैंक योजना या 'लीड बैंक योजना' निर्मित की गई। लीड बैंक योजना में देश के चौदह बड़े राष्ट्रीयकृत बैंक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एवं उसके सहायक बैंक तथा बैंक ऑफ राजस्थान एवं आन्ध्र बैंक सम्मिलित हैं। इस योजना के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए कृषि ऋण योजना को कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक राज्य में जिले निर्धारित किये गये हैं जिससे वे उन जिलों के सभी कृषकों की ऋण आवश्यकता की पूर्ति कर सकें। साथ ही बैंकों को विभिन्न क्षेत्रों में ऋण स्वीकृत करने में शुरू में जो कठिनाइयां आती हैं उनसे वे बच सकें। देश के अग्रणी बैंक योजना शुरू करने का प्रमुख उद्देश्य देश के ग्रामीण निवासियों को अधिक ऋण सेवा उपलब्ध कराना एवं जिले के सर्वांगीण विकास को प्रोत्साहन देना है।

अग्रणी/लीड बैंकों के कार्य—लीड बैंकों के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) जिले में बैंकिंग विकास के लिए उपलब्ध सुविधाओं और साधनों का सर्वेक्षण करना।

(2) जिले की औद्योगिक संस्थाओं, कृषकों एवं अन्य व्यापारिक संस्थाओं का सर्वेक्षण करना, जो बैंकों से ऋण सुविधा प्राप्त न करके साहूकारों पर ऋण के लिए निर्भर हैं।

(3) जिले की प्राथमिक ऋणदात्री संस्थाओं की सहायता करना।

(4) जिले के कृषकों को ऋण-सुविधा एवं अन्य सलाह प्रदान करने के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति करना एवं प्रशिक्षण देना।

(5) जिले में कृषि उत्पाद के विपणन संग्रहण आदि सुविधाओं के सर्वेक्षण के आधार पर ऋण को विपणन से जोड़ना तथा उत्पादन साधनों की समय पर उपलब्धि के लिए विपणन संस्थाओं को ऋण सुविधा प्रदान करना।

(6) जिले के निवासियों को अतिरिक्त बचत की राशि जमा कराने की सुविधा प्रदान करना।

अग्रणी बैंक योजना के अन्तर्गत लीड बैंकों के क्षेत्र निर्धारण के उपरान्त सेवा-योजना के लिए अपने अनुभव के आधार पर ऋण स्वीकृति की विधि में परिवर्तन की सुविधा प्रदान की गई है। इन लीड बैंकों की योजना में एक ओर ग्रामीण कृषकों को ऋण की सुविधा की व्यवस्था की जाती है, वहाँ दूसरी ओर ग्रामीण बचतों को बैंकों द्वारा आकर्षित करके जमा राशियों को बढ़ाया जाता है, ताकि उनका उत्पादन कार्यों में उपयोग किया जा सके।

अग्रणी बैंक योजना की कार्यप्रणाली की समीक्षा हेतु नवम्बर, 1981 में एक कार्य दल का गठन किया गया था। इस गठित कार्यदल की प्रस्तुत सिफारिशों को

कुछ संशोधन करके भारतीय रिजर्व बैंक ने मान ली है। प्रस्तुत सिफारिशों मे अग्रणी बैंको मे प्रमुखतया कहा गया है कि जिला परामर्शदात्री समितियों तथा स्थायी समितियो का पुनर्गठन करे, ताकि वे प्रभावशाली कार्य कर सकें. अग्रणी बैंक अधिकारी का पद भूमिका एव कार्य तय करे तथा गैर-अग्रणी जिलो मे अलग जिला समन्वयकर्त्ताओ की नियुक्ति करे। दिसम्बर, 1988 तक इस योजना मे 440 जिले सम्मिलित किये जा चुके हैं।

5. ग्राम अभिग्रहण योजना (Village Adoption Scheme) :

वाणिज्यिक बैंको ने 'ग्राम अभिग्रहण योजना' शुरू की है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्राम की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का क्रमागत विकास करना है। अतः योजना के तहत गोद लिए गए गाँव के सभी व्यक्तियो को उनकी आवश्यकतानुसार अपनाए गए कार्य के लिए ऋण-सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। इसके तहत बैंक एक ही चुने हुए गाँव मे सभी सम्भावित उद्यमियो को ऋण-सुविधा उपलब्ध कराते हैं, जिससे बैंक को पृथक्-पृथक् स्थान पर स्वीकृत ऋण से होने वाली परेशानी कम होती है।

जून, 1983 तक 70,000 गाँव राष्ट्रीयकृत बैंको द्वारा 27 राज्यो एव केन्द्रशासित प्रदेशो मे अभिग्रहण किए जा चुके है, जिससे गाँवो का एकीकृत विकास हो सके। चुने गए गाँवो मे सर्वांगीण विकास के आकलन से स्पष्ट है कि यह योजना अपने निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति मे सफल नहीं हुई है। इसकी सफलता मे बाधक प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) ग्राम स्तर पर विभिन्न वाणिज्यिक बैंको मे समन्वय नही होना, जिससे एक ही ग्राम को अलग-अलग बैंको द्वारा चुन लिया जाता है।
(2) गाँव के काश्तकारो पर ऋण की बढती बकाया राशि।
(3) लघु एव विखण्डित जोत कृषको को ऋण स्वीकृति मे होने वाली समस्याएँ।

इन समस्याओ के होते हुए भी आवश्यक है कि वाणिज्यिक बैंक इनका समाधान निकालते हुए चुने गए गाँवो के सर्वांगीण विकास का निर्धारित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए प्रयास करें।

6 भारतीय ऋण प्रतिभूति निगम
(Credit Guarantee Corporation of India) :

भारत सरकार ने श्री एस० एस० सीरलकर की अध्यक्षता मे नियुक्त अध्ययन दल के सुझाव के अनुसार वाणिज्यिक बैंको को कृषि क्षेत्र मे ऋण स्वीकृति मे होने वाली हानि से रक्षा करने के लिए भारतीय ऋण प्रतिभूति निगम स्थापित किया है, जिसका प्रमुख कार्य वाणिज्यिक बैंको को होने वाली जोखिम को पूरा

करता है। इस योजना के अनुसार कृषकों एवं प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को दिए जाने वाले सभी ऋणों पर निगम प्रतिभूति देता है। इस कार्य के लिए निगम बकाया ऋण राशि पर 0 5 प्रतिशत प्रतिभूति शुल्क वसूल करता है।

7 बहु-अभिकरण दृष्टिकोण (Multi Agency Approach) :

वर्ष 1968 तक कृषि ऋण की आवश्यकता को पूरा करने के लिए सरकारी नीति के अन्तर्गत सहकारी ऋण समितियों को एक मात्र संस्था के रूप में अपनाना था। लेकिन कृषि में ऋण की बढ़ती आवश्यकताएँ एवं सहकारी ऋण समितियों के वित्तीय, प्रशासकीय एवं प्रबन्धकीय ढाँचे में कमी के कारण सरकार ने स्वीकार किया कि इस परिस्थिति में एक संस्था से पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। अतः कृषि ऋण के क्षेत्र के बहु-अभिकरण दृष्टिकोण की महत्ता स्वीकृत की गई है। सरकार के इस दृष्टिकोण के कारण कृषकों को अधिक वित्त सुविधा उपलब्ध होने के साथ-साथ कृषि ऋण के क्षेत्र में अनेक ऋणदात्री संस्थाओं के होने से विभिन्न संस्थाओं में समन्वय के अभाव में अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न होनी शुरू हुई, जिनमें से प्रमुख यह थी कि कुछ कृषक अनेक संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने लग गए। अतः सरकार ने अगस्त, 1976 में कामथ कार्यकारी दल एवं जून, 1977 में दातवाला समिति को बहु-अभिकरण दृष्टिकोण में होने वाली कठिनाइयों के लिए सुझाव देने हेतु नियुक्त किया। इन दोनों समितियों ने अपने प्रतिवेदन में अनेक सुझाव दिए हैं।

8. विभेदक ब्याज दर योजना (Differential Rates of Interest Scheme)

समाज के गरीब-वर्ग के हितों का ध्यान में रखते हुए एक मुख्य प्रश्न उठता है कि क्या सभी वर्ग के कृषकों एवं कृषि श्रमिकों से स्वीकृत ऋण पर समान दर से ब्याज वसूल किया जाना चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने डॉ० आर० के० हजारी की अध्यक्षता में सितम्बर, 1970 में एक समिति का गठन किया था। समिति ने मई 1971 में प्रस्तुत प्रतिवेदन में विभिन्न स्तर के ऋण प्राप्तकर्ताओं के लिए विभेदक ब्याज दर योजना प्रस्तावित की थी। समिति ने सिफारिश की थी कि विभेदक ब्याज दर 4 से 10 प्रतिशत होनी चाहिए तथा गरीब ऋण प्राप्तकर्ताओं में होने वाले प्रासंगिक व्यय जैसे प्रतिभूति फीस आदि बैंक द्वारा वहन किये जाने चाहिए। साथ ही गरीब ऋण-प्राप्तकर्त्ताओं से रक्षित एवं अरक्षित ऋण पर समान ब्याज दर ली जानी चाहिए। समिति का मत था कि अधिकांश लघु कृषकों एवं कुटीर उद्योगों के व्यवसायियों को बड़े एवं समृद्ध कृषकों एवं उद्यमियों के समान लाभ प्राप्त नहीं होता है। इन वर्ग के कृषकों एवं उद्यमियों को कम ब्याज-दर पर ऋण उपलब्ध होने से वे व्यवसाय में अधिक पूँजी निवेश करने का प्रयास करेंगे और अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे। सरकार ने मार्च 1972 में हजारी समिति की रिपोर्ट स्वीकार की थी।

विभेदक ब्याज-दर की इस योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा अपनी पिछले वर्ष की बकाया राशि का न्यूनतम एक प्रतिशत राशि कमजोर वर्ग को उपलब्ध कराने का लक्ष्य निर्धारित है। कमजोर वर्ग से तात्पर्य इस योजना हेतु ग्रामीण क्षेत्र मे परिवार की वार्षिक आय 6,400 रुपये तथा शहरी क्षेत्र मे 7,200 रुपये निर्धारित की गई है। कृषको की श्रेणी मे लघु एव सीमान्त कृषक (एक हैक्टर से कम सिंचित भूमि या दो हैक्टर से कम असिंचित भूमि) सम्मिलित किए गए हैं। शुरू मे यह योजना चुने गए पिछड़े क्षेत्रो, जनजाति क्षेत्र, लघु एव सीमान्त कृषको की बाहुल्यता वाले क्षेत्रो मे शुरू की गई थी, जिसे वर्तमान मे देश के सभी क्षेत्रो मे लागू कर दिया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको के अतिरिक्त अग्रणी बैंक का कार्य करने वाले निजी क्षेत्र के बैंक भी विभेदक ब्याज दर पर ऋण स्वीकृत करते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्रो के बैंको द्वारा विभेदक ब्याज दर योजना के अन्तर्गत स्वीकृत ऋण राशि सारणी 10.12 मे प्रदर्शित है—

सारणी 10.12

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा विभेदक ब्याज दर योजना के अन्तर्गत स्वीकृत ऋण राशि

वर्ष के अन्त मे	खातो की सख्या (लाखो मे)	बकाया ऋण राशि (करोड रुपयो मे)	कुल स्वीकृत ऋण मे विभेदक ब्याज दर योजना के अन्तर्गत स्वीकृत ऋण का प्रतिशत
1972	0 26	0 87	0 02
1975	4 65	20 99	0 31
1980	25 10	193 50	1 04
1985	43 18	462 70	1 10
1988	46 19	646 58	1 00

स्रोत V V Bhat, Trends in Banking Since Nationalisation, Yojana, Vol 33 No 13, July 16–31, 1989, p 12

प्रारम्भ वर्ष 1972 के अन्त मे 26 2 हजार ऋण प्राप्तकर्त्ताओं को 87 3 लाख रुपये (कुल ऋण राशि का 0 02 प्रतिशत) का ऋण सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको ने इस योजना के अन्तर्गत उपलब्ध कराया था, जो बढकर वर्ष 1988 के अन्त मे

646 58 करोड रुपये अर्थात् कुल स्वीकृत ऋण का 1 0 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक निर्धारित लक्ष्य एक प्रतिशत ऋण इस योजना के अन्तर्गत प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार लक्ष्य के अनुसार इस योजना के अन्तर्गत स्वीकृत कुल ऋण की 40 प्रतिशत राशि अनुसूचित जाति एव जन-जाति के व्यक्तियो को उपलब्ध कराया जाना है। वर्तमान मे (दिसम्बर, 1988) मे कुल स्वीकृत ऋण मे से 331 25 करोड रुपये अर्थात् 51 21 प्रतिशत ऋण इन जातियो के ऋण प्राप्तकर्त्ताओ को उपलब्ध कराकर विभेदक ब्याज दर योजना का यह लक्ष्य भी बैंक प्राप्त कर चुके हैं।

9 **कृषक सेवा समितियाँ** (Farmer's Service Societies) •

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने अपने अन्तरिम प्रतिवेदन, 1971 मे देश मे कृषि-ऋण की सुविधा के लिए कृषक सेवा समितिया स्थापित करने का सुझाव दिया था। आयोग ने एकीकृत कृषि-ऋण के निम्न तीन अवयवो की बात कही थी—

(1) *तहसील या पचायत समिति स्तर पर सेवा समितिया स्थापित की* जानी चाहिए। समितिया ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त, कृषको के लिए आवश्यक उत्पादन-साधन एव सेवाएँ भी उपलब्ध कराने की व्यवस्था करेंगी।

(2) जिला स्तर पर कृषक सेवा समितियो का एक सघ होना चाहिए।

(3) प्रत्येक जिले का लीड बैंक इन समितियो के प्रबन्ध का मार्ग-दर्शक होगा।

राष्ट्रीय कृषि आयोग की यह सिफारिश सरकार ने मान ली एव वर्ष 1973–74 से देश मे कृषक सेवा समितियाँ स्थापित होना प्रारम्भ हो गईं। मार्च, 1977 तक देश मे 346 कृषक सेवा समितियाँ स्थापित हो चुकी थी। इनमे से सर्वाधिक समितियाँ कर्नाटक राज्य मे थी। ये समितियाँ वाणिज्यिक बैंको तथा केन्द्रीय सहकारी बैंको द्वारा स्थापित की गई हैं।

कृषक सेवा समितियो की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लघु कृषको को सभी आवश्यक उत्पादन-साधन एव सेवाएँ तथा तकनीकी परामर्श प्रदान करना है *जिससे* कृषक समाज के कमजोर वर्ग के हित मे वातावरण बन सके एव कृषक सेवा समितियो के सचालक मण्डल में उन्हे प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। कृषक सेवा समितियाँ सदस्य-कृषको को ऋण एव उत्पादन-साधनो की पूर्ति हेतु विभिन्न सस्थाओ जैसे—ऋण के लिए वाणिज्यिक बैंक एव सहकारी बैंक, उत्पादन-साधनो की पूर्ति करने वाली सस्थाएँ, सरकारी कार्यालय, कृषि विस्तार सेवाएँ, विपणन सस्थाएँ, भूमि विकास बैंक भारतीय खाद्य निगम आदि से सम्पर्क स्थापित करती है।

क्षेत्रीय/प्राचलिक ग्रामीण बैंक (Regional Rural Banks) :

श्री आर जी सरैय्या की अध्यक्षता मे 1972 मे नियुक्त बैंकिंग आयोग ने सिफारिश की थी कि वाणिज्यिक बैंको की शाखाओ के विस्तार के साथ-साथ देश मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भी स्थापित किये जाने चाहिए, जिससे लघु एव सीमान्त कृषको की ऋण समस्याओ को ज्यादा अच्छी तरह से हल किया जा सके। आयोग ने पाया कि वाणिज्यिक बैंको को ग्रामीण क्षेत्रो मे ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने मे दो मुख्य परेशानियां होती है :

(i) ग्रामीण क्षेत्रो मे वाणिज्यिक बैंको की शाखाओ के विस्तार पर व्यय बहुत आता है।

(ii) वाणिज्यिक बैंको के पास ग्रामीण काश्तकारो की वित्तीय समस्याओ के समझने एव उनके अनुसार कार्य करने के लिए आवश्यक कार्य-कर्त्ताओ का अभाव है।

तत्पश्चात् भारत सरकार ने श्री एम नरसिंहम की अध्यक्षता मे एक कार्य-कारी दल क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको के कार्य प्रणाली को समझने हेतु नियुक्त किया और उसके फलस्वरूप 26 सितम्बर, 1975 को देश मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित करने हेतु एक अध्यादेश जारी किया गया।

उद्देश्य क्षेत्रीय बैंकों का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु एव सीमान्त कृषक, कृषि श्रमिक, कारीगर एव छोटे उद्यमियो का ऋण एव अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना है। ये बैंक मुख्यतया पिछड़े एव जन जाति क्षेत्रो मे स्थापित किए जयेंगे, जहाँ वाणिज्यिक एव सहकारी बैंको की शाखाओ का विस्तार कम है।

कार्य-क्षेत्र प्रत्येक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अपने नियत क्षेत्र मे कार्य करेगा। इसके लिए वह आवश्यकतानुसार क्षेत्र मे शाखाएँ स्थापित करेगा। बैंक मे कार्य हेतु कार्यकर्त्ताओं का चयन क्षेत्र के व्यक्तियो मे से किया जावेगा; जिससे उन्हे भाषा सम्बन्धी एव क्षेत्रीय समस्याओं को समझने मे आसानी होती है। प्रत्येक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक एक समर्थक बैंक (Sponsor bank) की देख-रेख मे कार्य करेगा। समर्थक बैंक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक को अनेक प्रकार के कार्यों, जैसे शेयर पूँजी क्रय करना एव उसकी स्थापना में सहयोग देना, इसके कार्यकर्त्ताओ का चयन करना एव उनकी ट्रैनिंग मे सहयोग देना, प्रबन्धकीय एव वित्तीय सहायता देना आदि मे सहयोग देगा।

पूँजी प्रत्येक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की अधिकतम जमा पूँजी एक करोड रुपये होगी। यह अधिकृत जमा पूँजी केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक एव

समर्थक बैंक की राय से कम की जा सकती है, लेकिन 25 लाख से कम नही होगी। प्रत्येक बैंक की निर्गम पूंजी 25 लाख रुपये होगी, जिसमे से 50 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार, 15 प्रतिशत राज्य सरकार एव 35 प्रतिशत समर्थक बैंक प्रदान करेगा।

प्रबन्ध : बैंक का प्रबन्ध एव कार्य सचालक-मण्डल की देख-रेख मे होगा। सचालक मण्डल मे अध्यक्ष के अलावा 3 निदेशक केन्द्रीय सरकार द्वारा, 2 निदेशक राज्य सरकार द्वारा एव 3 निदेशक समर्थक बैंक द्वारा मनोनीत होते हैं। बैंक का अध्यक्ष केन्द्रीय सरकार द्वारा 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है जो पूर्ण समय कार्य की देख-रेख करता है।

प्रगति : सर्वप्रथम 5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, 2 अक्टूबर, 1975 को मुरादाबाद एव गोरखपुर (उत्तर प्रदेश), भिवानी (हरियाणा), जयपुर (राजस्थान) एव नालन्दा (पश्चिमी बगाल) मे स्थापित किए गए थे। इनकी प्रगति सारणी 10 13 मे प्रदर्शित की गई है।

सारणी 10 13

भारत मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की प्रगति

विवरण	मार्च 1978	जून 1981	जून 1984	जून 1987	मार्च 1992
1 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की सख्या	48	102	162	196	196
2 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की शाखाएँ	1405	3784	8727	13076	14574
3 सम्मिलित राज्यो/केन्द्र शासित प्रदेशो की सख्या	NA	18	23	23	23
4 सम्मिलित जिलोकी सख्या	NA	167	286	362	—
5 कुल जमा राशि (करोड़ रुपये)	37 11	252 83	774 34	1909 68	5559 36

6 कुल स्वीकृत ऋण राशि (करोड रुपये)	48 39	302 45	859 97	1933 53	4027 45
7 स्वीकृत ऋण एवं जमा राशि का अनुपात (प्रतिशत)	130 4	119 6	111 1	101 3	72 44

स्रोत : (i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन ।
(ii) Yojana, Vol 32 (13), 16–13 June, 1988, p 8
(iii) Pigmy Economic Review, Vol 38 (2), September, 1992

क्षेत्रीय ग्रामीण बैको की सख्या, शाखाओ, सम्मिलित जिलो की सख्या, जमाराशि एव स्वीकृत ऋण-राशि मे इनके स्थापना वर्ष (अक्टूबर, 1975) के उपरान्त निरन्तर वृद्धि हुई है। स्थापना वर्ष (1975) मे देश मे मात्र 5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक ही कार्यरत थे, इनकी सख्या बढकर जून, 1987 मे 196 हो गई। मार्च, 1992 के अन्त मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की 14574 शाखाओ मे कुल जमा राशि 5559.36 करोड़ रुपये एव उनके द्वारा स्वीकृत ऋण राशि 4027 45 करोड रुपये थी। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको ने 90 प्रतिशत शाखाएं ग्रामीण एव बैंक रहित क्षेत्रों मे खोलकर, *ग्रामीण क्षेत्रो के समुदायो को ऋण एव बैंकिग सेवाएँ* प्रदान करके तथा प्रयुक्त स्रोतो से जमा-राशि एकत्रित करके सराहनीय कार्य किया है। साथ ही इन्होने राष्ट्रीय नीति के अनुरूप कमजोर वर्गों एव ग्रामीण निर्धनो को आर्थिक उत्थान के लिए ऋण प्रदान करके राष्ट्रीय विकास मे सहयोग दिया है। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रो मे कमजोर वर्गों के व्यक्तियो को ऋण सुविधा उपलब्ध कराना था, अत इन बैंको ने मार्च, 1992 तक 4027 45 करोड़ रुपयो की ऋण सुविधा उपलब्ध कराई है। अत' स्पष्ट है कि इन बैंकों ने प्राप्त जमा राशि मे से अधिक राशि की ऋण सुविधा ग्रामीण क्षेत्रो को उपलब्ध कराई है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैको का राज्यवार विवरण दर्शाता है कि अब तक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको ने 23 राज्यो एव केन्द्र शासित प्रदेशो मे 196 बैंक 362 जिलो मे स्थापित किए हैं। इस प्रकार इन्होने 20 मिलियन परिवारो को बैंकिग सुविधा उपलब्ध कराई है। सर्वाधिक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक उत्तरप्रदेश राज्य मे हैं। मध्यप्रदेश एव बिहार राज्य दूसरे एव तीसरे स्थान पर हैं। शाखाओ की दृष्टि से उत्तरप्रदेश राज्य प्रथम स्थान पर, कर्नाटक दूसरे स्थान पर एव बिहार तीसरे स्थान पर है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैको के कार्य की प्रगति की समीक्षा करने एव उनके कार्यविधि मे सुधार लाने के लिए एक समिति प्रो. एम एल दातवाला की अध्यक्षता मे

वर्ष 1977 मे नियुक्त की गई थी। समिति ने 1978 में प्रस्तुत वृत्तान्त मे इन बैंको के दो वर्ष के कार्य एव प्रगति पर सन्तोष व्यक्त किया है। समिति ने महसूस किया कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, ग्रामीण ऋण के ढाँचे मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। अत इनके विकास के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। समिति ने सुझाव दिया कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको के क्षेत्र मे कार्यरत सभी वाणिज्यिक बैंको द्वारा धीरे-धीरे अपना सभी व्यापार इन बैंको को इनकी क्षमता के आधार पर स्थानान्तरण कर देना चाहिए। इस प्रकार वाणिज्यिक बैंको की गाँवो मे कार्यरत शाखाओ को आने वाले वर्षों मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की शाखाओ द्वारा प्रतिस्थापित कर देना चाहिए। दातवाला समिति ने इन बैंको की व्यवहार्यता की जाँच हेतु सुझाव दिया कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक तभी लाभकर हो सकता है जब इनकी 70 शाखाएँ होवें, 8 करोड का ऋण व्यवसाय करे एव 5 प्रतिशत ब्याज की दर मे अन्तर होवे।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको के वर्ष 1976 से 1986 के व्यवसाय के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनकी प्रगति मे विरोधाभास है। इनकी शाखाओ के विस्तार मे 26 गुना, जमा राशि मे 222 गुना एव ऋण स्वीकृति मे 254 गुना वृद्धि हुई है। दूसरी ओर 196 मे से 149 बैंको को हानि हुई है। मात्र 47 बैंक ही लाभ कमाते हैं। चूँकि ये बैंक एक सीमित स्तर पर कार्यरत हैं तथा ग्रामीण क्षेत्र के कमजोर वर्गों को कम ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराते हैं। अत इन बैंको का आर्थिक स्तर पर व्यवहार्य होना सम्भव नही है।

वाणिज्यिक बैंको की तुलना मे ऋण वसूली के क्षेत्र मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की प्रगति अच्छी है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अपने कार्य क्षेत्र विशेषकर कार्य की लागत एव उद्योगो की समस्याओ को समझने मे अनेक परेशानियो का सामना कर रहे है। इनका सगठनात्मक ढाँचा भी कमजोर है। अत विकास के वर्तमान बदलते हुए ढाँचे के अनुसार इन्हे कार्य करने मे अनेक परेशानियाँ हो रही है। सरकार द्वारा श्री वी के धर, अतिरिक्त सचिव बैंकिंग विभाग, वित्त मन्त्रालय भारत सरकार की अध्यक्षता मे एक कार्यकारी दल का गठन किया गया है, जिसका प्रमुख उद्देश्य इन बैंको के सगठनात्मक ढाँचे को सुदृढ बनाना तथा इनके कार्यक्षेत्र मे विकास लाना है। इस कार्यकारी दल के कार्य करने एव सुझाव देने के प्रमुख पहलू निम्न हैं—

(i) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको को नियत कार्य करने की दृष्टि से उनके वर्तमान सगठन, क्षेत्र एव कार्य-प्रणाली की जाँच करना।

(ii) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको के आकार, क्षेत्र, एव दिए जाने वाले ऋणी व्यक्तियो को दृष्टिगत रखते हुए, इनको आर्थिक दृष्टि से सक्षम बनाने

हेतु सुझाव देना और इनको होने वाली हानि की राशि को कम करने हेतु उपायो का पता लगाना ।

(iii) बैंको मे कार्य करने हेतु आवश्यक मानव शक्ति का चुनाव करना एव उनमे कार्य को पूरा करने की क्षमता का बढाना ।

(iv) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक के समर्थक बैंको के अल्पकालीन व दीर्घकालीन उत्तरदायित्व को स्पष्ट करना ।

(v) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की कार्य-क्षमता मे वृद्धि लाने सम्बन्धी अन्य पहलुओ पर सुझाव देना ।

11 राष्ट्रीय कृषि एव ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) :

भारत मे कृषि तथा ग्रामीण विकास के लिए पहले से अनेक वित्तीय सस्थाओ जैसे—सहकारी बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक वाणिज्यिक बैंक, कृषि पुन वित्त एव विकास निगम, रिजर्व बैंक का कृषि ऋण विभाग आदि के होते हुए भी भारत सरकार ने कृषि एव ग्रामीण विकास के लिए 12 जुलाई 1982 को एक पृथक् राष्ट्रीय बैंक राष्ट्रीय कृषि एव ग्रामीण विकास बैंक, (National Bank for Agriculture and Rural Development), (नाबार्ड) की स्थापना की है । इसकी स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रो में समृद्धि प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होगा तथा समन्वित ग्रामीण विकास के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध हो सकेगी ।

देश मे कृषि एव ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय स्तर पर शक्तिशाली वित्तीय सस्था की कमी सर्वप्रथम भारतीय सहकारित काग्रेस ने अनुभव की एव कृषि विकास बैंक अथवा राष्ट्रीय सहकारी बैंक अथवा कृषि एव सहकारिता के लिए राष्ट्रीय बैंक की स्थापना के लिए प्रस्ताव किया । मार्च, 1979 मे रिजर्व बैंक द्वारा कृषि एव ग्रामीण विकास के लिए सस्थागत ऋण पर विचारार्थ शिवरमन समिति की नियुक्ति की गई और समिति की सिफारिशो के आधार पर अप्रैल, 1981 में केन्द्रीय सरकार ने नाबार्ड की स्थापना का निणय लिया ।

नाबार्ड पूर्व मे जो कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का कृषि ऋण विभाग एव कृषि पुन वित्त एव विकास निगम कर रहा था, उन्हे सम्पूर्ण रूप से करेगा । इसकी स्थापना के साथ ही रिजर्व बैंक का कृषि ऋण विभाग तथा ग्रामीण नियोजन एव ऋण प्रकोष्ठ, कृषि पुन वित्त एव विकास निगम को नाबार्ड मे सम्मिलित कर दिया गया है । नाबार्ड अब रिजर्व बैंक द्वारा कृषि एव सहकारिता हेतु प्राविधित दोनो कोषो—राष्ट्रीय कृषि ऋण (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि ऋण (स्थिरीकरण) कोष की व्यवस्था भी करेगा तथा इन कोषो का परिवर्तित नाम क्रमश राष्ट्रीय ग्रामीण ऋण (दीर्घकालीन) कोष [National Rural Credit (Long-Term) Fund] तथा राष्ट्रीय ग्रामीण ऋण (स्थिरीकरण) कोष [National Rural Credit (Stabilization) Fund] होगा ।

वित्तीय व्यवस्था—नाबार्ड की प्रारम्भिक पूंजी 100 करोड रुपये रखी गई है, जिसका आधा भाग रिजर्व बैंक तथा आधा भाग भारत सरकार द्वारा दिया गया है। यह पूँजी 500 करोड रुपये तक बढायी जा सकती है। नाबार्ड अपनी अल्प-कालीन आवश्यकताओ के लिए रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकता है। दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओ के लिए केन्द्रीय सरकार से ऋण प्राप्त करने के साथ-साथ खुले बाजार से भी बॉण्ड निर्गमित कर सकता है। नाबार्ड आवश्यकतानुसार राष्ट्रीय ग्रामीण ऋण कोषो से भी राशि ले सकता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो, स्थानीय निकायो, वाणिज्यिक बैंको से भी एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए जमा भी प्राप्त कर सकता है।

सगठन—नाबार्ड का प्रधान कार्यालय बम्बई मे तथा देश भर मे इसके 16 क्षेत्रीय केन्द्र हैं। बैंक के प्रबन्ध के लिए अध्यक्ष एव प्रबन्ध सचालक के अतिरिक्त 12 सचालको का सचालक मण्डल होता है। सचालक मण्डल मे 4 ग्रामीण अर्थशास्त्र एव ग्रामीण विकास के विशेषज्ञ, 3 सचालक रिजर्व बैंक के सचालको मे से, 3 सचालक भारत सरकार के अधिकारियो मे से एव 2 सचालक राज्य सरकारो के अधिकारियो मे से केन्द्रीय सरकार द्वारा रिजर्व बैंक की सलाह से नियुक्त किये जाते हैं। अध्यक्ष एव प्रबन्ध सचालक का कार्यकाल 5 वर्ष एव अन्य सचालको का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है। नाबार्ड के सचालक मण्डल द्वारा एक सलाहकार परिषद की नियुक्ति भी की जायेगी, जिसमे कृषि, कृषि ऋण, लघु उद्योग, कुटीर उद्योग से सम्बन्धित विशेषज्ञ होगे।

कार्य—

(i) कृषि, ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योग, कुटीर एव ग्रामीण उद्योग, हस्तकला इत्यादी के लिए पुन वित्त सुविधाओ को उपलब्ध कराने हेतु नाबार्ड अल्पकालीन, मध्यकालीन, दीर्घकालीन एव मिश्रित ऋण की सुविधा वाणिज्यिक बैंको, सहकारी बैंको एव क्षेत्रीय बैंको को प्रदान करेगा।

(ii) नाबार्ड अपने कार्यकर्त्ताओ द्वारा शोध एव विकास कार्य भी करायेगा, जिससे कृषि एव ग्रामीण विकास के क्षेत्र मे शोध एव अनुसन्धान को प्रोत्साहित किया जा सके।

(iii) नाबार्ड द्वारा ग्रामीण ऋण के क्षेत्र मे सस्थागत व्यवस्था को सुदृढ किया जायेगा तथा ग्रामीण ऋण के क्षेत्र मे कार्य कर रही विभिन्न सस्थाओ जैसे— वाणिज्यिक बैंक एव सहकारी समितियो के कार्यों मे समन्वय स्थापित करेगा।

(iv) नाबार्ड कृषि एव ग्रामीण विकास सम्बन्धी समस्याओ के अध्ययन हेतु विशेषज्ञो द्वारा अध्ययन करायेगा तथा अध्ययन के आधार पर केन्द्र व राज्य सरकारो व रिजर्व बैंक को आवश्यक सलाह देगा।

सारणी 10.14

नाबार्ड द्वारा उद्देश्य अनुसार वितरित ऋण राशि

(करोड़ रुपयो मे)

वर्ष	लघु सिंचाई	भूमि विकास	फार्म यन्त्रीकरण	फल एव बागान वाली फसलें	समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम	अन्य	कुल ऋण
1981–82	251	11	128	33	98	79	600
1982–83	244	21	147	27	185	79	703
1983–84	312	29	204	38	233	76	892
1984–85	335	43	170	47	354	112	1061
1985–86	385	27	200	63	376	141	1192
1986–87	460	6	192	68	379	229	1334

स्रोत : Annual Report of National Bank for Agriculture and Rural Development.

लिये स्वतः रोजगार उपलब्ध कराने हेतु शुरू की गई थी, जिसके अन्तर्गत वर्ष 1987–88 मे 1.01 लाख लाभान्वित युवको को 207.93 करोड़ रुपये का ऋण स्वीकृत किया गया।

(स) शहरी गरीबो के लिये स्वतः रोजगार कार्यक्रम (Self Employment Programme for Urban Poor-SEPUR)—यह कार्यक्रम सितम्बर, 1986 मे शहरी गरीबो के लिये शुरू किया गया है जो समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम मे नही आते हैं। इसमे भी उनके द्वारा स्वतः रोजगार प्राप्ति के लिये बैंक ऋण-सुविधा उपलब्ध कराते हैं। वर्ष 1987–88 मे 30.63 करोड लाभान्वितो को 131.74 करोड रुपयो का ऋण इस योजना मे उपलब्ध कराया जा चुका है।

(द) सेवा-निवृत्त व्यक्तियों को स्वतः रोजगार उपलब्ध कराने का कार्यक्रम (Financial Assistance to Ex-servicemen for Self Employment–PEXSEM)—यह योजना देश के चुने हुए 18 जिलो मे सेवा-निवृत्त व्यक्तियो को स्वतः रोजगार प्राप्त कराने के लिये वित्तीय सुविधा उपलब्ध कराने हेतु कार्यान्वित है।

(य) अनुसूचित जाति एवं जनजाति तथा अल्पसंख्यक वर्गों के बाहुल्यता वाले क्षेत्रो को विशेष ऋण-सुविधा भी बैंक उपलब्ध करा रहे हैं।

(र) विशेष खाद्यान्न उत्पादन कार्यक्रम—खाद्यान्न उत्पादन मे विशेष वृद्धि के लिये 14 राज्यों मे से 169 चुने हुए जिलो मे खाद्यान्न उत्पादन के लिये आवश्यक ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने का कार्यक्रम भी इन बैंको द्वारा सचालित है।

(द) निगम :

कृषको को ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने के क्षेत्र मे चतुर्थ सस्थागत अभिकरण निगम होते हैं। निम्न निगम कृषि क्षेत्र को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ऋण-सुविधा उपलब्ध करा रहे हैं—

(1) कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम—कृषकों को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण की पर्याप्त सुविधा के लिये सस्थागत अभिकरणों के विकसित नहीं होने, साहूकारो द्वारा प्रदत्त ऋण पर ब्याज की दर अधिक होने एवं उनके द्वारा अनेक कटौतियाँ किये जाने के कारण तृतीय पंचवर्षीय योजना मे कृषको को कम ब्याज दर पर ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने एवं वर्तमान सस्थाओं को आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये एक राष्ट्रीय स्तर की सस्था–वित्त निगम स्थापित करने की

व्यवस्था की गई। ससद ने 14 मार्च, 1963 को कृषि पुनर्वित्त निगम अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक एव केन्द्रीय सरकार की सहायता से 25 करोड रु० की अधिकृत शेयर पूँजी से एक जुलाई, 1963 को कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना बम्बई मे की गई। इसके क्षेत्रीय कार्यालय अहमदाबाद, बगलौर, भोपाल, भुवनेश्वर, कलकत्ता चण्डीगढ गौहाटी, हैदराबाद, जयपुर, लखनऊ, मद्रास, नई दिल्ली, पटना एव त्रिवेन्द्रम मे स्थापित किये गये।

कार्य—इसके प्रमुख कार्य निम्न हैं

(1) कृषि पुनर्वित्त एव विकास निगम का प्रथम कार्य प्रारम्भिक ऋणदात्री सस्थाओ को वित्तीय सहायता प्रदान करना है ताकि ये सस्थाएँ कृषि विकास के लिए आवश्यक राशि मे कृषको को दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत कर सकें। वर्तमान मे सरकार, भूमि विकास बैंक एव सहकारी समितियो के लिए कृषि-उद्योग को आवश्यक राशि मे ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना सम्भव नही है, विशेषत: उन कृषि उद्योगो को, जिनमे पूँजी का अधिक राशि मे निवेश होता है तथा पूँजी के निवेश से आय के प्राप्त होने मे काफी समयान्तर होता है जैसे–चाय, कॉफी, रबर, फलो के बाग। अत कृषि पुनर्वित्त निगम, राज्य भूमि विकास बैंक, राज्य सहकारी बैंक, अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक एव पजीकृत सहकारी समितियो को पुनर्वित्त सुविधा प्रदान करता है। वर्तमान मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भी निगम से पुनर्वित्त सुविधा प्राप्त कर रहे हैं। कृषि पुनर्वित्त एव विकास निगम निम्न कृषि कार्यों के लिए उपर्युक्त सस्थाओ को वित्तीय सहायता प्रदान करता है--

(अ) भूमि सुधार एव भूमि को समतल करने के कार्यों के लिए—जिससे उपलब्ध सिंचाई सुविधा का पूर्ण उपयोग हो सके।

(ब) विशेष फसलो—सुपारी, चाय, कॉफी, नारियल, काजू, इलायची, रबर, अगूर के बगीचे एव फलो के बाग लगाने के लिए।

(स) यान्त्रिक खेती, फार्म पर विद्युतीकरण, सिंचाई के लिए पम्पिग सैट लगाने, पौध-सरक्षण के लिए दवा छिडकने वाले एव प्रकीर्णक यन्त्र क्रय करने।

(द) पशुपालन, दूध उत्पादन, कुक्कुट पालन, मत्स्य पालन आदि उद्योगो के विकास करने के लिए।

(य) सिंचाई के लिए नये कुओ का निर्माण, पुराने कुओ की मरम्मत, सिंचाई की नालियाँ बनाने।

(र) खाद्यान्नो को सग्रह करने के लिए गोदामों का निर्माण करने एव चारे के लिए साइलोघर बनाने।

(2) केन्द्रीय भूमि विकास बैंक, राज्य सहकारी बैंक अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक एव सहकारी समितियो द्वारा जारी किये गये ऋण पत्र (Deben ures) क्रय करना जिससे उनके वित्तीय साधनो मे वृद्धि हो सके।

पूंजी–निगम की पूंजी के प्रमुख स्रात निम्न हैं

(1) निगम की अधिकृत पूंजी 25 करोड रुपये है जो 25,000 शेयरो मे विभाजित है। प्रत्येक शेयर 10,000 रुपये का होता है। ये शेयर रिजर्व बैंक, भूमि विकास बैंक, राज्य सहकारी बैंक जीवन बीमा निगम व अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको द्वारा क्रय किये जाते हैं। केन्द्रीय सरकार निगम के शेयर के मूलधन व न्यूनतम लाभाश (4 25 प्रतिशत) के भुगतान की प्रतिभूति देती है।

(2) निगम को वित्तीय साधनो मे वृद्धि करने के लिए एक वर्ष की अवधि की नियत जमा केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक एव स्वायत्त सस्थाओ द्वारा प्राप्त करने का अधिकार भी प्रदान किया गया है।

(3) भारत सरकार ने कृषि पुर्नवित्त एव विकास निगम को 15 करोड रुपयो का ब्याज मुक्त ऋण भी स्वीकृत किया है। इस ऋण का भुगतान 5 वर्ष पश्चात् शुरू होकर 15 वर्ष मे वार्षिक किश्तो मे देय होगा।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध सचालक बोर्ड द्वारा किया जाता है। सचालक बोर्ड मे 9 निदेशक होते हैं जो विभिन्न सस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का उप-गवर्नर, कृषि पुर्नवित्त एव विकास निगम का अध्यक्ष होता है। उसके अतिरिक्त एक-एक प्रतिनिधि रिजर्व बैंक, राज्य सहकारी बैंक, राज्य भूमि विकास बैंक, अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक एव जीवन बीमा निगम से तथा तीन प्रतिनिधि भारत सरकार के होते हैं। कृषि पुर्नवित्त एव विकास निगम के दैनिक कार्य का सचालन बोर्ड द्वारा नियुक्त कार्यकारिणी समिति करती है।

प्रगति—कृषि पुर्नवित्त व विकास निगम की वित्तीय सहायता राज्य भूमि विकास बैंक, राज्य सहकारी बैंक एव अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको के माध्यम से आवश्यक लाभकर्त्ताओ तक उपलब्ध कराई जाती है। कृषि पुर्नवित्त व विकास निगम ने 1965 मे 36 योजनाएँ स्वीकृत की थी, जिनके लिए स्वीकृत राशि 27 84 करोड रुपये थी। इन योजनाओ की सख्या बढकर दिसम्बर, 1980 मे 3717 एव उनके लिए कुल स्वीकृत ऋण राशि 1,715 करोड रुपये की थी। दिसम्बर, 1980 तक कृषि पुर्नवित्त व विकास निगम द्वारा दिए गए वित्त मे से 54 प्रतिशत वित्त राज्य भूमि विकास बैंक के माध्यम से, 2 प्रतिशत राज्य सहकारी बैंक के माध्यम से एव 44 प्रतिशत अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको के माध्यम से वितरित किया गया था। वर्ष 1975-76 तक राज्य भूमि विकास बैंक ही मुख्य सस्था थी, जिसके माध्यम से 80 प्रतिशत वित्त का प्रवाह होता था। वर्ष 1975-76 के उपरान्त

बैंको द्वारा अनेक कार्यक्रम शुरू करने के कारण उनके माध्यम से प्रवाह करने वाले वित्त की प्रतिशतता मे आशातीत परिवर्तन हुआ है। दिनाक 12 जुलाई, 1982 को कृषि क्षेत्र के लिए एक पृथक् बैंक नाबार्ड की स्थापना के साथ ही इस निगम को समाप्त करके नाबार्ड मे सम्मिलित कर दिया गया है।

(ii) कृषि वित्त निगम—कृषि ऋण की बढती हुई आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए, कृषि व्यवसाय की अल्प, मध्य एव दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओ की वाणिज्यिक बैंको द्वारा पूर्ति करने के लिए 10 अप्रैल, 1968 को कृषि वित्त निगम की स्थापना की गई। कृषि वित्त निगम कम्पनीज कानून 1956 के अन्तर्गत पजीकृत है। कृषि वित्त निगम की अधिकृत पूँजी 100 करोड रुपये तथा जमा पूंजी 5 करोड रुपये है। वर्ष 1978 मे 35 वाणिज्यिक बैंक इसके सदस्य थे, जिनमें से 14 राष्ट्रीयकृत बैंक, 14 गैर-राष्ट्रीयकृत बैंक एव 7 विदेशी बैंक हैं।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध सचालक बोर्ड द्वारा किया जाता है, जिसमे अध्यक्ष एव सचालक निदेशक होते हैं, जो राष्ट्रीयकृत बैंक, गैर-राष्ट्रीयकृत बैंक, वित्त मन्त्रालय, कृषि एव सिंचाई मन्त्रालय, कृषि पुर्नवित्त एव विकास निगम के प्रतिनिधि एव कृषि अर्थशास्त्री होते हैं। कृषि वित्त निगम का पजीकृत कार्यालय बम्बई तथा दो क्षेत्रीय कार्यालय कलकत्ता (पूर्वी क्षेत्रो के लिए) एव लखनऊ (उत्तरी क्षेत्रो के लिए) तथा प्रोजेक्ट कार्यालय पटना, कोटा, शिलाग एव सूरत मे हैं।

कार्य—कृषि वित्त निगम, वाणिज्यिक बैंको के माध्यम से ऋण विस्तार करके कृषि विकास के लिये राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करता है। कृषि वित्त निगम के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) कृषि वित्त निगम वाणिज्यिक बैंको को कृषि विकास कार्यक्रमो में अधिक भाग लेने हेतु सहायता प्रदान करता है।

(2) कृषि वित्त निगम पिछड़े क्षेत्रो मे बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋण हेतु प्रोजेक्ट तैयार करना एव उसकी जाँच करके वाणिज्यिक बैंको को उनके लिये ऋण स्वीकृत करने के लिए आमन्त्रित करता है ताकि इन क्षेत्रो मे वाणिज्यिक बैंक अधिकाधिक ऋण सुविधा उपलब्ध करा सकें।

(3) कृषि वित्त निगम सदस्य बैंकों केन्द्रीय एव राज्य सरकारों, निगम एव निजी उद्यमियो को तकनीकी सलाह प्रदान करता है। इसके लिए योजनाओ की तकनीकी सुगमता एव वित्तीय आवश्यकताओ की जाच भी करता है। ऋण सुविधाओ को बढाने के लिए क्षेत्र मे आधारभूत सरचनाओ के विकास के लिए भी वित्त उपलब्ध कराता है।

कृषि वित्त निगम ने मुख्यतया लघु सिंचाई योजना, कमाण्ड क्षेत्र विकास, समन्वित क्षेत्र विकास, फल विकास, मत्स्य विकास, डेयरी विकास, नियन्त्रित मण्डियो के लिए यार्ड एव गोदामो के निर्माण की योजनाएँ बनाई है साथ ही फसल ऋण, मुर्गी-पालन, भेड विकास, कुओ पर विद्युतीकरण, कृषि आधारित उद्योग, वन विकास, बागान वाली फसलो की विकास योजनाएँ भी इसके कार्यक्षेत्र मे आती हैं। आधारभूत सुविधाओ का विकास, कृषि सेवा केन्द्र, सूखाग्रस्त क्षेत्रीय कार्यक्रम, विस्तृत क्षेत्र विकास कार्यक्रम, समन्वित जन-जाति विकास कार्यक्रम, बीज विकास कार्यक्रम एव कृषि क्षेत्र मे ऋण सम्बन्धी अनुसन्धान भी इसकी योजनाओ मे सम्मिलित हैं।

(4) कृषि वित्त निगम ऐसे कार्यक्रम भी लेता है जिससे कृषि क्षेत्र मे अधिक ऋणो का उपयोग करने की क्षमता मे वृद्धि हो सके जैसे-वाणिज्यिक बैंको, सरकार, योजना आयोग, राज्य सरकार, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एव अन्य सस्थाओ से सम्बन्ध बनाये रखना, ऋण के प्रपत्र मे सरलीकरण करना एव सभी बैंको को एक से ही प्रपत्र काम मे लेने हेतु तैयार करना आदि।

(5) कृषि वित्त निगम वाणिज्यिक बैंको की कृषि क्षेत्र मे ऋण सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन करके उनको हल करने के लिए सुझाव देता है।

(6) कृषि वित्त निगम वाणिज्यिक बैंको के सगठन (Consortium) के कारक प्रादेशिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की समितियो, बैंको एव ऋण मण्डलो मे प्रतिनिधित्व करता है।

(iii) कृषि-ऋण निगम—प्रो० डी० आर० गाडगिल की अध्यक्षता मे नियुक्त कृषि वित्त उप-समिति ने 1944 मे विभिन्न राज्यो मे कृषि ऋण निगम स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम सुझाव दिया था। श्री आर० जी० सरैय्या की अध्यक्षता मे 1946 मे नियुक्त सहकारी नियोजन समिति एव ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति ने भी कृषि-ऋण निगम स्थापित करने का विचार प्रकट किया तथा राज्यो मे सहकारी सस्थाओ के विकास पर अधिक बल देने का सुझाव दिया। रिजर्व बैंक के कृषि-ऋण सस्थागत अभिकरण के अनौपचारिक दल ने भी 1964 मे सहकारी आन्दोलन मे पिछड़े हुए राज्य-असम, बिहार, उडीसा, पश्चिमी बगाल, राजस्थान एव केन्द्र शासित प्रान्तो—मणिपुर एव त्रिपुरा मे कृषि-ऋण-निगम स्थापित करने का सुझाव दिया। रिजर्व बैंक का यह सुझाव 1966 मे दिल्ली मे आयोजित मुख्य-मन्त्रियो के सम्मेलन मे स्वीकृत किया गया।

कृषि-ऋण-निगम स्थापित करने के लिए एक नवम्बर, 1968 को ससद द्वारा विधेयक पारित किया गया। इस विधेयक के अनुसार सहकारी आन्दोलन में

असन्तोषजनक प्रगति वाले राज्य एव अन्य इच्छित राज्य केन्द्र सरकार की अनुमति से कृषि-ऋण निगम स्थापित कर सकते है। फलस्वरूप असम, बिहार, उडीसा, पश्चिम बगाल मणिपुर एव त्रिपुरा मे कृषि ऋण-निगम स्थापित किये गये। ये निगम प्रारम्भ में 5 वर्ष के लिए स्थापित किये गये थे तथा राज्यो में सहकारी सस्थाओ के सुदृढ होने पर कृषि ऋण निगम अपना कार्य सहकारी समितियो को सौप देंगे, लेकिन इनकी महत्ता के कारण आज भी कार्यरत हैं।

कार्य—कृषि-ऋण-निगम का प्रमुख कार्य कृषको को अल्प एव मध्यकालीन ऋण सुविधा उपलब्ध कराना है। कृषि ऋण-निगम फसल-ऋण-पद्धति के आधार पर निम्न श्रेणियो के कृषको को अल्पकालीन ऋण स्वीकार करते हैं।

(अ) वे कृषक, जो गेहूँ एव चावल का उत्पादन करना चाहते हैं तथा उत्पादित वस्तुओ को भारतीय खाद्य निगम या उनके एजेन्ट के द्वारा विक्रय करना स्वीकार करते हैं।

(ब) वे कृषक, जो गन्ना, जूट, तम्बाकू उत्पादन करना चाहते हैं तथा उत्पादित उत्पाद को राज्य-व्यापार-निगम, चीनी मिलो अथवा विपणन समितियो (जो राज्य व्यापार निगम के लिये कार्य करती हैं) द्वारा विक्रय करना स्वीकार करते हैं।

निगम बडे कृषको को प्रत्यक्ष रूप से तथा लघु कृषको को सामूहिक रूप से सामूहिक प्रतिभूति के आधार पर ऋण स्वीकृत करता है। कृषि ऋण निगम कृषको की सस्था न होकर केन्द्र सरकार एव रिजर्व बैंक की सस्था है।

पूंजी—कृषि-ऋण-निगम की अधिकृत पूंजी विभिन्न राज्यो मे आवश्यकतानुसार एक से 5 करोड रुपये रखी गई है। कृषि-ऋण-निगम केन्द्रीय सरकार, भारतीय खाद्य निगम, रिजर्व बैंक एव राज्य सरकार को शेयर विक्रय करके, स्टेट बैंक एव रिजर्व बैंक से ऋण लेकर एव प्राथमिक सहकारी समितियो से नियत अवधि की जमा स्वीकृत करके पूंजी एकत्रित करता है।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध, केन्द्र सरकार एव रिजर्व बैंक से प्रतिनियुक्ति पर आए अधिकारियो द्वारा किया जाता है। निगम की नीति-निर्धारण एव सचालन का कार्य रिजर्व बैंक के निर्देशानुसार होता है।

(IV) ग्रामीण विद्युतीकरण निगम—ग्रामीण विद्युतीकरण निगम भी कृषि के क्षेत्र मे ऋण सुविधा उपलब्ध कराने का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। वर्तमान मे कृषि के लिए फार्म पर विद्युत् आवश्यक है। विद्युत् शक्ति के उपयोग से फार्म पर सिचाई की लागत मे कमी ही नही होती हैं, अपितु फार्म पर सघन कृषि, बहुफसलीय योजना एव फसल-उत्पादन योजना मे परिवर्तन करके अधिक लाभ कमा पाना भी सम्भव हो गया है।

कृषकों को ऋण प्रदान करने वाले साहूकार दो प्रकार के होते हैं :

(i) **पेशेवर साहूकार**—पेशेवर साहूकार कृषकों को ऋण स्वीकृत करने के अतिरिक्त कृषि वस्तुओं मे व्यापार भी करते है। ये कृषकों के अतिरिक्त अन्य उद्योगों वाले व्यवसायियों को भी ऋण प्रदान कराते है। इन्होंने वर्ष 1951–52 मे कृषकों को विभिन्न अभिकरणों से प्राप्त कुल ऋण का 44 8 प्रतिशत अंश प्रदान किया था। वर्ष 1961–62 में यह अंश कम होकर 13 2 प्रतिशत व 1981–82 मे 8.3 प्रतिशत ही रह गया। इन साहूकारों को कृषकों को ऋण स्वीकृति के क्षेत्र मे उड़ीसा राज्य मे प्रथम, बिहार, मध्य प्रदेश एव राजस्थान राज्य में द्वितीय स्थान प्राप्त है।

(ii) **कृषक साहूकार**—कृषक साहूकार कृषि कार्यों के लिए ऋण स्वीकृत करने के अतिरिक्त स्वय कृषि भी करते है। कृषक साहूकार ने वर्ष 1951–52 मे कृषकों को विभिन्न अभिकरणों से प्राप्त कुल ऋण का 24 9 प्रतिशत अंश प्रदान किया था, जो वर्ष 1961–62 मे बढकर 36 प्रतिशत हो गया। वर्ष 1971–72 मे इनके द्वारा स्वीकृत ऋण का कुल ऋण मे अंश 23 1 प्रतिशत ही रह गया। कृषक, साहूकारों से ऋण प्राप्ति मे पेशेवर साहूकारों के स्थान पर कृषक साहूकारों को प्राथमिकता दे रहे हैं। कृषक साहूकार, कृषकों को ऋण स्वीकृति मे उडीसा राज्य मे चौथे स्थान पर, महाराष्ट्र एव पश्चिम बगाल मे दूसरे स्थान पर व शेष राज्यो मे प्रथम स्थान पर हैं।

कृषि-ऋण मे साहूकारों की प्रमुखता के कारण—कृषकों को ऋण-स्वीकृति के क्षेत्र मे साहूकार विशेष स्थान रखते हैं जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) ऋण स्वीकृति विधि की सरलता एव सुगमता।

(2) साहूकारों द्वारा कृषकों को सभी कार्यों के लिए अल्प, मध्य एव दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करना।

(3) साहूकारों द्वारा उत्पादन एवं उपभोग दोनों ही प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण स्वीकृत करना।

(4) साहूकारों द्वारा कृषकों को रक्षित ऋण के अतिरिक्त अरक्षित ऋण भी आवश्यक राशि मे स्वीकृत करना।

(5) साहूकारों का ऋण-स्वीकृति का निश्चित समय न होकर किसी भी समय पहुँचने की छूट होना।

(6) ऋण-स्वीकृति-अवधि मे आवश्यकता होने पर ऋणी की सुविधानुसार समय में वृद्धि कर देना।

(7) ऋण चुकाने के लिए ब्याज एव मूलधन का सम्मिलित भुगतान करने एव पृथक् रूप मे आशिक राशि का भुगतान करने की कृषको को छूट होना।

(8) साहूकारो का कृषको से व्यक्तिगत सम्बन्ध होना।

(9) साहूकारो को कृषको की वित्तीय स्थिति का ज्ञान होना।

(10) साहूकारो द्वारा कृषको की ऋण-सम्बन्धी जानकारी को गोपनीय रखना।

(11) साहूकारो द्वारा कृषको की विभिन्न मुसीबतो मे सहायता करना।

साहूकारो से ऋण-प्राप्ति मे कृषको को उपर्युक्त सुविधाओ के होते हुए भी, साहूकारो द्वारा कृषि-ऋण मे अनेक कुचालो के उपयोग के कारण ऋण की लागत अधिक आती है। साहूकारो की ऋण के क्षेत्र मे प्रयुक्त कुचालें निम्न हैं—

1 स्वीकृत ऋण पर ब्याज की दर अधिक लेना। साहूकार कृषको से स्वीकृत ऋण पर 18 से 40 प्रतिशत ब्याज वसूल करते हैं, जो सस्थागत अभिकरणो से प्राप्त ऋण के ब्याज-दर की अपेक्षा कई गुना अधिक होती है।

2 ऋण चुकाने की अवधि का ब्याज ऋण स्वीकृत करते समय अग्रिम रूप से काट लेना, जिसके कारण कृषको को स्वीकृत ऋण राशि से कम धन प्राप्त होता है और वास्तविक ब्याज की दर अधिक होती है।

3 ऋण स्वीकृत करते समय साहूकारो द्वारा स्वीकृत राशि मे से अनेक प्रकार की कटौतियाँ काट लना, जैसे—काटा, धर्मादा मुनीमी, लिखाई, गिरह खुलाई आदि।

4 स्वीकृत ऋण राशि से अधिक राशि का ऋण-पत्र लिखवा लेना और कृषको की अज्ञानता का लाभ उठाते हुए अधिक मूलधन वसूल करना।

5 ऋण वसूल करते समय कृषक से ब्याज निर्धारित दर से अधिक जोड लेना और ऋण भुगतान की रसीद नही देना।

6 ऋण स्वीकृत करते समय ऋणो की शर्तों मे भू सम्पत्ति का प्रतिबन्ध सहित विक्रयनामा लिखवा लेना जिससे कृषक द्वारा समय पर ऋण भुगतान नही किए जाने की अवस्था मे भू-सम्पत्ति पर कब्जा कर लेना।

7 कृषको से खाली कागज पर अगूठा या हस्ताक्षर करवा लेना, तत्पश्चात् इच्छित ऋण राशि एव शर्तों को उसमे लिख लेना।

साहूकारो की उपर्युक्त कुचालो पर नियन्त्रण लगाने के लिए सरकार ने समय-समय पर विभिन्न कानून पारित किये हैं। पारित किये गये कानूनों का

मुख्य उद्देश्य ऋण के क्षेत्र मे प्रचलित कुचालो से कृषको की रक्षा करना है। इसके लिए सरकार ने ब्याज दर कानून, हिसाब नियन्त्रण कानून, साहूकारो का पजीकरण करना, अनावश्यक कटौतियो पर प्रतिबन्ध, ब्याज की अधिकतम भुगतान राशि आदि के सम्बन्ध मे कानून पारित किये है, जिनके होने से ऋणी कृषक साहूकार की कुचालो से रक्षा के लिए कानून की सहायता ले सकते हैं।

(ब) व्यापारीक व आढतिया

कृषको के लिए ऋण प्राप्त करने का गैर-सस्थागत अभिकरणो मे दूसरा प्रमुख स्रोत व्यापारी एव आढतिया है। व्यापारी एव आढतिया मुख्यतया अल्प-कालीन ऋण स्वीकृत करते है और फसल के विपणन से कृषको को प्राप्त राशि मे से अपना ऋण वसूल करते हैं। व्यापारी एव आढतियो से ऋण प्राप्त करने के कारण कृषको के लिए इन सस्थाओ के माध्यम से फार्म से प्राप्त उत्पाद का विक्रय करना आवश्यक होता है। व्यापारी कृषको की मजबूरी का लाभ उठाते हुए खाद्यान्नो की बिक्री से प्राप्त आय मे से कई प्रकार की कटौतियाँ करते हैं, जिससे कृषको को खाद्यान्न की उचित कीमत प्राप्त नही होती है। व्यापारी एव आढतियो ने वर्ष 1951–52 मे कृषको को विभिन्न स्रोतो से प्राप्त कुल ऋण का 5 5 प्रतिशत ऋण ऋण के रूप मे प्रदान किया था, जो वर्ष 1961–62 मे 8 8 प्रतिशत एव 1981–82 मे 3 4 प्रतिशत ही रह गया। ऋण के क्षेत्र मे व्यापारी एव आढतियो की महत्ता कम हुई है। विभिन्न राज्यो मे कृषको को विभिन्न स्रोतो से प्राप्त ऋण की राशि के आधार पर व्यापारियो को उडीसा व जम्मू एव कश्मीर मे द्वितीय स्थान, आन्ध्रप्रदेश मे तृतीय स्थान एव असम, बिहार, गुजरात, केरल, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान एव पश्चिम बगाल मे चतुर्थ स्थान प्राप्त है।

(स) सम्बन्धी, मित्र एव विविध स्रोत

गैर-सस्थागत अभिकरणो मे कृषको के लिए ऋण का तीसरा स्रोत 'सम्बन्धी', मित्र एव विविध स्रोत हैं। उत्पादन एव उपभोग कार्यों के लिए आवश्यक ऋण कृषक अपने सम्बन्धियो एव मित्रो से प्राप्त करते हैं। कृषको को विभिन्न स्रोतो से प्राप्त कुल ऋण का वर्ष 1951–52 मे 16 0 प्रतिशत, 1961–62 मे 22 7 प्रतिशत व 1971–72 मे 16 6 प्रतिशत ऋण सम्बन्धियो से प्राप्त हुआ था। असम, गुजरात, बिहार, केरल महाराष्ट्र एव पश्चिम बगाल मे सम्बन्धियो ने अन्य राज्यो की अपेक्षा कृषकों को अधिक ऋण सुविधा उपलब्ध करायी है।

(द) जमींदार एव भू स्वामी :

जमीदार एव भू स्वामी भी कृषको को भूमि जोतने, उत्पादन-साधनो के क्रय करने आदि कार्यों के लिए ऋण-सुविधा प्राप्त कराते हैं। जमीदारो एव भू-स्वामियो ने वर्ष 1951–52 मे कृषको को विभिन्न अभिकरणो से प्राप्त कुल ऋण का 1.5

प्रतिशत अंश प्रदान किया था। यह अंश वर्ष 1961–62 मे कम होकर मात्र 0 6 प्रतिशत ही रह गया। इसका प्रमुख कारण देश मे जमीदारी प्रथा की समाप्ति के साथ-साथ देश मे जमीदारो की महत्ता का कम होना था। वर्ष 1971–72 मे भू-स्वामियो ने कृषको को प्राप्त कुल ऋण का 8 6 प्रतिशत ऋण-सुविधा उपलब्ध कराई थी।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

रिजर्व बैंक कानून, 1934 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना एक अप्रैल, 1935 को हुई थी। एक जनवरी, 1944 से इसे केन्द्रीय बैंक बना दिया गया। रिजर्व बैंक कानून की धारा 54 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक मे कृषि ऋण विभाग की स्थापना की गई। ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति ने सुझाव दिया कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय कोष स्थापित किया जाए, इसके द्वारा दिये जाने वाले मध्यकालीन ऋणो पर से प्रतिबन्ध हटाये जायें तथा कृषि-ऋण विभाग का विस्तार किया जाये। तत्पश्चात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया कानून मे वर्ष 1955 मे सशोधन किया गया। रिजर्व बैंक, बैंकिंग ससार के मित्र, पथ-प्रदर्शक एव हितैषी के रूप मे कार्य करता है। रिजर्व बैंक के कृषि-ऋण-विभाग के प्रमुख कार्य ये हैं—

(i) कृषि-ऋण से सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन के लिए विशेषज्ञो की नियुक्ति करना।

(ii) केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा सहकारी सस्थाओ को कृषि-ऋण के विषय मे तकनीकी सलाह प्रदान करना।

(iii) कृषि कार्यों के लिए राज्य सहकारी बैंक के द्वारा वित्त प्रदान करना।

(iv) रिजर्व बैंक के कृषि-ऋण कार्यों एव कृषि के क्षेत्र मे ऋण प्रदान करने वाले बैंको के कार्यो मे समन्वय स्थापित करना।

रिजर्व बैंक कृषको को सीधे रूप से ऋण-सुविधा उपलब्ध नही कराता, बल्कि राज्य सहकारी बैंक, जिला सहकारी बैंक एव प्राथमिक सहकारी समितियो के माध्यम से कृषको को ऋण सुविधा उपलब्ध कराता है। रिजर्व बैंक सहकारी समितियो एव सहकारी बैंको को ऋण-सुविधा प्रचलित ब्याज दर से 2 प्रतिशत कम ब्याज दर पर उपलब्ध कराता है।

रिजर्व बैंक के कार्य–(1) रिजर्व बैंक कानून की अग्रांकित धाराओ के अन्तर्गत अल्प-कालीन, मध्यकालीन एव दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है—

अल्पकालीन ऋण—रिजर्व बैंक धारा 17 (2) (ब) एवं 17 (4) (स) के अन्तर्गत राज्य सहकारी बैंको के माध्यम से कृषको को कृषि-कार्यों एव विपणन के लिए 12 से 15 माह की अवधि मे परिपक्व होने वाले अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक कानून की धारा 17 (4) (अ) के अन्तर्गत

भूमि-विकास बैंक द्वारा जारी किये गये ऋण-पत्रों की प्रतिभूति पर भी अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है।

मध्यकालीन ऋण—रिजर्व बैंक धारा 17 (4) (अ) के अन्तर्गत राज्य सहकारी बैंक को सरकार की प्रतिभूति पर 15 माह से 5 वर्ष की अवधि के लिए मध्यकालीन ऋण प्रदान करता है। रिजर्व बैंक द्वारा 1956 में स्थापित राष्ट्रीय कृषि ऋण (दीर्घकालीन) कोष एवं राष्ट्रीय कृषि-ऋण (स्थिरीकरण) कोष के द्वारा भी मध्यकालीन ऋण की सुविधा उपलब्ध करायी जाती है।

दीर्घकालीन ऋण—रिजर्व बैंक ने श्री ए डी गोरवाला की अध्यक्षता में नियुक्त ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति, 1954 के सुझाव के अनुसार दीर्घकालीन ऋण की सुविधा के लिए राष्ट्रीय कृषि ऋण (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operations) Fund] की स्थापना फरवरी, 1956 में की। इस कोष की स्थापना 10 करोड़ रुपयों से की गई थी और यह प्रावधान रखा गया था कि इस कोष में आगामी 5 वर्षों में प्रतिवर्ष कम से कम 5 करोड़ रुपये दिये जायेंगे। इस कोष की राशि से सहकारी ऋण संस्थाओं की पूंजी में वृद्धि करने के लिए राज्य सरकारों को 20 वर्ष की अवधि के लिए ऋण स्वीकृत एवं केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों के 20 वर्षीय अवधि के ऋण-पत्रों का क्रय किया जायेगा। एक जुलाई, 1960 को इस कोष में 40 करोड़ रुपये की धनराशि थी, जो बढ़कर 12 जुलाई, 1982 को 1,205 करोड़ रुपये हो गई। इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि ऋण (स्थिरीकरण) कोष में रिजर्व बैंक की जमा धन-राशि एक जुलाई, 1960 को 5 करोड़ रुपये थी, जो 12 जुलाई, 1982 को 440 करोड़ रुपये हो गई। नाबार्ड की स्थापना हो जाने पर 12 जुलाई, 1982 को यह दोनों कोष रिजर्व बैंक से नाबार्ड को स्थानान्तरित कर दिये गये।

(2) रिजर्व बैंक सहकारी ऋण के विकास के लिए परामर्श देता है। इसके लिए रिजर्व बैंक ने स्थायी रूप से ग्रामीण सहकारी ऋण सलाहकार समिति (Standing Advisory Committee on Rural Ccop-erative Credit) की नियुक्ति वर्ष 1951 में की थी।

(3) रिजर्व बैंक 1951 से जिला एवं राज्य सहकारी बैंकों का निरीक्षण का कार्य भी करता है।

(4) रिजर्व बैंक समय-समय पर विभिन्न राज्यों व जिलों में ऋण सर्वेक्षण करके प्रतिवेदन प्रकाशित करता है। रिजर्व बैंक के प्रकाशित प्रतिवेदनों में अखिल भारतीय ऋण सर्वेक्षण समिति का प्रतिवेदन 1951-52, अखिल भारतीय ऋण एवं विनियोग सर्वेक्षण रिपोर्ट 1961-62 एवं अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट 1969

प्रमुख है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक एक मासिक पत्रिका रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन भी प्रकाशित करता है।

(5) रिजर्व बैंक सहकारी प्रशिक्षण के लिए विभिन्न प्रशिक्षण विद्यालयो मे उच्च-स्तरीय एव मध्यम श्रणी के कायकर्त्ताओ के लिए खोले गये प्रशिक्षण केन्द्रो पर प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करता है।

कृषि-ऋण की विपणन से सम्बद्धता

ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति, 1951-52 द्वारा सुझाई गई कृषि ऋण की एकीकृत योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) का एक मुख्य भाग सहकारी समितियों द्वारा स्वीकृत कृषि ऋण की राशि का विपणन से सम्बन्ध होना था। इसके अन्तर्गत प्राथमिक सहकारी ऋण समितियो के सदस्यो को उत्पादित वस्तुओ का विपणन, विपणन समितियो के माध्यम से करना एव उनके विक्रय से प्राप्त आय मे से दिया गया उत्पादन-ऋण वसूल करना सम्मिलित है। समय समय पर अन्य समितियो ने भी कृषि ऋण एव विपणन से सम्बद्धता के सुझाव दिये। वर्तमान मे यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योकि प्रथम तो कृषको की उत्पादन-ऋण की आवश्यकता मे काफी वृद्धि हो गई है तथा दूसरी ओर सहकारी समितियो की बकाया राशि पहले की अपेक्षा अधिक बढ गई है। अत यदि कृषको से ऋण-वसूली के लिए शीघ्र कदम नही उठाये गये तो देश मे सहकारी ऋण का ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

भारत सरकार ने अगस्त, 1962 मे कृषि-ऋण का विपणन से सक्षम सम्बद्धता के लिए निम्न सिफारिशें की थी—

(1) प्राथमिक सहकारी समितियो द्वारा कृषको को उत्पादन हेतु ऋण स्वीकृत करते समय अनुबन्ध पत्र लिखवाना चाहिए कि वे ऋण भुगतान राशि के मूल्य का उत्पादित माल विपणन सस्था के माध्यम से विक्रय करेंगे। साथ ही विपणन-समिति को उसके द्वारा बचे गये खाद्यान्नो की कीमत राशि मे से, प्राथमिक सहकारी ऋण समिति से प्राप्त ऋण की राशि को काटने का अधिकार होगा।

(2) विपणन-सस्थाओ एव प्राथमिक कृषि-सहकारी ऋण समितियो के मध्य पूर्ण समन्वय होना चाहिये।

(3) फसल की कटाई के पूर्व प्राथमिक कृषि ऋण सहकारी समिति द्वारा, विपणन समिति को कृषक-सदस्यो की वसूली की राशि की पूर्ण सूची भिजवा देनी चाहिये।

(4) प्राथमिक कृषि ऋण सहकारी समिति के कार्यकर्त्ताओ द्वारा सदस्यो की फसल की कटाई पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए तथा उनके

द्वारा कोशिश की जानी चाहिए कि सदस्य किये गये वायदो को पूर्ण रूप से निभाएँ ।

(5) विपणन समिति द्वारा कृषको को बेचे गये उत्पाद की कीमत का भुगतान, प्राथमिक कृषि-ऋण सहकारी समिति को ऋण की राशि मय ब्याज के काटने के बाद ही करना चाहिए ।

(6) केन्द्रीय सहकारी बैंको के अधिकारियो द्वारा प्राथमिक कृषि-ऋण सहकारी समितियो की ऋण-राशि की वसूली मे सहायता करनी चाहिए ।

(7) उत्पादन-ऋण के भुगतान का समय, फसल की कटाई के समयानुसार नियत किया जाना चाहिए ।

(8) इस योजना द्वारा उत्पाद-विक्रय करने वाले कृषको को ब्याज की दर मे कुछ छूट देनी चाहिए तथा आवश्यकता होने पर उन्हें उपभोग-ऋण भी स्वीकृत करना चाहिए ।

अध्याय 11

ऋण-प्रबन्ध के सिद्धान्त

कृषको, ऋणदात्री संस्थाओ एव प्रसार-कार्यकर्ताओ के लिए ऋण के सिद्धातो का ज्ञान होना आवश्यक है। ऋण-प्रबन्ध के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं जिन्हे ऋण के तीन 'आर' (3 'R's of Credit) कहते हैं।

(i) ऋण के उपयोग से प्राप्त आय की राशि (Returns),

(ii) ऋणी की ऋण-प्रदायगी क्षमता (Repayment Capacity),

(iii) ऋणी की जोखिम-वहन-योग्यता (Risk Bearing Ability),

ऋणदात्री सस्था द्वारा ऋण स्वीकृत करने से पूर्व ऋण के उपर्युक्त तीनो 'आर' पक्ष मे होने चाहिए, अन्यथा ऋण स्वीकृति मे जोखिम अधिक होती है। इसी प्रकार ऋण के उपर्युक्त तीनों 'आर' पक्ष मे होने पर ही कृषको को ऋण लेना चाहिए। ऋण के उपर्युक्त तीनो सिद्धान्तो मे से किसी भी एक सिद्धान्त के पक्ष मे न होने की स्थिति मे कृषक के लिए समय पर ऋण का चुका पाना तथा ऋणदात्री सस्था द्वारा समय पर ऋण वसूल कर पाना सम्भव नही होता है। अतः ऋण के विभिन्न 'आर' लागू न होने की अवस्था मे कृषकों के लिए ऋण-प्राप्ति व ऋणदात्री सस्थाओ के लिए ऋण स्वीकृति नुकसानदेह होता है। ऋण प्रबन्ध के तीनो 'आर' सिद्धान्तो का विश्लेषण करने के उपरान्त, ऋण प्रबन्ध के अन्य सिद्धान्त, जिन्हे ऋण के चार 'सी' (4 C's of Credit) एव ऋण के पाच 'पी' (5 P's of Credit) कहते हैं, का विश्लेषण भी करना चाहिए। ऋण के चार 'सी'–गुण (Character), क्षमता (Capacity) पूंजी (Capital) एव शर्तें (Conditions) हैं। ऋण के पांच 'पी' उद्देश्य (Purpose), व्यक्ति (Person), उत्पादकता योजना (Productivity Planning) किश्त का भुगतान (Payment of instalment) एव सरक्षण प्रतिभूति (Protection Security) है।

ऋण प्रबन्ध के उपरोक्त तीनो प्रकार के सिद्धान्त—तीन 'आर', चार 'सी' एव पांच 'पी' आपस मे सम्बन्धित हैं। ऋण का तीसरा 'आर' सिद्धान्त ऋणी की

जोखिम वहन योग्यता, प्रथम एव चतुर्थ 'सी' गुण एव शर्तें तथा द्वितीय एव पाँचवा 'पी' व्यक्ति तथा सरक्षण प्रतिभूति कृषको की जोखिम वहन योग्यता के द्योतक हैं। इसी प्रकार ऋण प्रबन्ध का द्वितीय 'आर' ऋण अदायगी क्षमता, द्वितीय 'सी' क्षमता एव चतुर्थ 'पी' किश्त का भुगतान भी सम्बन्धित है जो ऋणी की ऋण अदायगी क्षमता के द्योतक हैं।

ऋण-प्रबन्ध के 'आर' सिद्धान्त

1. ऋण के कृषि मे निवेश करने से प्राप्त आय की राशि :

ऋण-प्रबन्ध का प्रथम सिद्धान्त है कि कृषि मे निवेशित राशि से जो अतिरिक्त आय प्राप्त होती है क्या वह ऋण एव ब्याज का भुगतान करने के लिए पर्याप्त है ? यदि ऋण से प्राप्त अतिरिक्त आय, ऋण एव ब्याज की सम्मिलित राशि से अधिक है तो कृषको को ऋण प्राप्त करना चाहिए एव ऋणदात्री सस्था को ऋण स्वीकृत करना चाहिए। यदि ऋण के उपयोग से प्राप्त अतिरिक्त आय, ऋण एव ब्याज की सम्मिलित राशि से कम है तो कृषको को उस कार्य के लिए ऋण प्राप्त नही करना चाहिए एव ऋणदात्री सस्था को ऋण स्वीकृत नही करना चाहिए। प्राप्त अतिरिक्त आय, ऋण एव ब्याज की सम्मिलित राशि से अधिक होने पर ही, ऋण स्वीकृति के लिए ऋण-प्रबन्ध के दूसरे सिद्धान्त-ऋण-अदायगी क्षमता की जाँच करनी चाहिए।

2 कृषको की ऋण-अदायगी-क्षमता '

ऋण-प्रबन्ध के दूसरे सिद्धान्त के अनुसार यह देखा जाता है कि क्या कृषक के पास ऋण को निश्चित समय पर निर्धारित किश्तो मे चुकाने की क्षमता है ? अर्थात् क्या कृषक को प्राप्त अतिरिक्त आय, ऋण अदायगी की निर्धारित किश्तो के समयानुसार प्राप्त होती है ? उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर सकारात्मक होने पर ही ऋण-दात्री सस्था द्वारा कृषको को ऋण स्वीकृत किया जाना चाहिए और नकारात्मक उत्तर प्राप्त होने की स्थिति मे ऋणदात्री सस्था द्वारा निर्धारित शर्तों पर ऋण स्वीकृत नही किया जाना चाहिए।

ऋण-प्रबन्ध के प्रथम एव द्वितीय सिद्धान्त का उत्तर पक्ष मे होने अर्थात् कृषक के पास पर्याप्त अतिरिक्त आय एव ऋण अदायगी क्षमता के होने पर ऋण स्वीकृति के तीसरे सिद्धान्त जोखिम वहन योग्यता की जाँच करनी चाहिए।

3 कृषकों की जोखिम-वहन योग्यता :

ऋण प्रबन्ध के तीसरे सिद्धान्त के अनुसार ऋणदात्री सस्था को यह निश्चित करना होता है कि क्या कृषको के पास आकलित उत्पादन की मात्रा प्राप्त नही होने की स्थिति मे ऋण चुकाने की क्षमता है ? कृषि व्यवसाय प्रकृति पर निर्भर होता है, एव इसमे अन्य उद्योगो की अपेक्षा जोखिम अधिक होती है। इस सिद्धान्त मे कृषको

की सम्पत्ति की पर्याप्तता की जाँच करते हैं जिससे मौसम की प्रतिकूलता—ओले, अतिवर्षा, सूखा आदि की स्थिति मे फार्म पर उत्पादन कम होने अथवा नही होने की स्थिति मे सम्पत्ति विक्रय करके ऋण का भुगतान कर सके। यदि कृषक के पास ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त सम्पत्ति है, तो उसे ऋण स्वीकृत करना चाहिए। कृषको के पास पर्याप्त मात्रा मे सम्पत्ति नही होने की अवस्था मे ऋण स्वीकृत नही करना चाहिए। कृषको के पास उपलब्ध सम्पत्ति उनके जोखिम वहन योग्यता की द्योतक होती है।

ऋण-प्रबन्ध के उपर्युक्त तीनो सिद्धान्तो की जाँच के आधार पर स्वीकृत ऋण का भुगतान सुगमता से होता है तथा ऋणदात्री सस्था को ऋण-वसूली मे परेशानी नही होती है। कृषको पर ऋण बकाया भी नही रहता है।

ऋण-प्रबन्ध के 'आर' सिद्धान्तो की जाँच करने की विधि :

ऋण-प्रबन्ध के 'आर' सिद्धान्तो की जाच करने की विधि का विस्तृत विवरण नीचे दिया जा रहा है—

1. ऋण के कृषि में निवेश करने से प्राप्त आय की राशि :

कृषक प्राप्त ऋण को कृषि मे निवेश करने से होने वाली अतिरिक्त आय की राशि का ज्ञान फार्म-योजना बनाकर कर सकते हैं। ऋण-प्राप्ति से पूर्व की फार्म-योजना से प्राप्त आय एव ऋण-प्राप्ति के उपरान्त बनाई गई फार्म-योजना से प्राप्त आय का अन्तर, ऋण के उपयोग से प्राप्त अतिरिक्त आय की राशि को प्रदर्शित करता है। फार्म-योजना कृषक, ऋणदात्री सस्था, प्रसार अधिकारी या फार्म-प्रबन्ध विशेषज्ञो के द्वारा बनाई जा सकती है। ऋण के उपयोग से होने वाली अतिरिक्त आय की राशि ज्ञात करने के लिए बनायी जाने वाली फार्म-योजना मे निम्नाकित बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है—

1. फार्म-योजना से प्राप्त आय की राशि का ज्ञान प्रस्तावित ऋण से क्रय किये जाने वाले उत्पादन साधनो के उपयोग के आधार पर करना चाहिए।
2. फार्म योजना से प्राप्त आय का निर्धारण सीमान्त लागत व सीमान्त आय के आधार पर किया जाना चाहिए।
3. फार्म मे अधिकतम आय की प्राप्ति के लिए सीमान्त ऋण राशि का उपयोग सीमान्त लागत व सीमान्त आय के सिद्धान्त के अतिरिक्त, सम-सीमान्त-प्रतिफल के सिद्धान्त के आधार पर करना चाहिए।
4. प्रस्तावित ऋण के आधार पर फार्म-योजना बनाते समय उत्पादन के अन्य साधन जैसे—भूमि, श्रम, सिंचाई आदि की उपलब्ध मात्रा को

भी ध्यान में रखना चाहिए। फार्म से प्राप्त होने वाली आय सीमित उत्पादन-साधन की मात्रा पर निर्भर करती है।

5 फार्म-योजना बनाते समय कृषकों को उत्पादन कार्यों के लिए ऋण की आवश्यकता के साथ-साथ उपभोग ऋण की आवश्यक राशि की भी पूर्ति करनी चाहिए, अन्यथा कृषक उत्पादन-कार्यों के लिए प्राप्त ऋण का उपभोग कार्यों में उपयोग करेंगे, जिससे फार्म पर आकलित आय प्राप्त नहीं होगी।

अतः कृषक की वर्तमान में फार्म से प्राप्त आय व ऋण प्राप्ति के उपरान्त फार्म से प्राप्त होने वाली आय का अन्तर ऋण के उपयोग से होने वाली अतिरिक्त आय होती है। यह अतिरिक्त आय ही ऋण चुकाने के लिए उपलब्ध होती है।

2. कृषकों की ऋण-अदायगी-क्षमता :

ऋण के उपयोग से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय की राशि, ऋण एवं ब्याज की सम्मिलित राशि से अधिक होने पर भी आवश्यक नहीं है कि कृषक प्राप्त ऋण का समय पर निर्धारित किश्तों में भुगतान कर सकेगा। अतः ऋण का समय पर भुगतान कर पाने के लिए कृषक की ऋण-अदायगी-क्षमता की जाँच करना आवश्यक होता है।

ऋण के फार्म पर उपयोग करने से आय में वृद्धि होती है, लेकिन आय में वृद्धि विभिन्न उद्यमों से विभिन्न समय पर होती है। उदाहरणतया, यदि प्राप्त ऋण का भुगतान प्रत्येक तीसरे महीने किश्तों में करना है और ऋण को कृषि उद्यम में निवेश करने से आय वर्ष में दो बार अर्थात् खरीफ एवं रबी की फसल की कटाई के पश्चात् प्राप्त होती है, तो कृषक के लिए कृषि उद्यम से पर्याप्त आय प्राप्त होते हुए भी समय पर ऋण भुगतान करना सम्भव नहीं होता है। अतः कृषकों की ऋण से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय के साथ-साथ ऋण-अदायगी-क्षमता भी ज्ञात करना चाहिए।

ऋण अदायगी-क्षमता से तात्पर्य उस अतिरिक्त आय की राशि से है जो प्राप्त आय में से उत्पादन-लागत व उपभोग खर्च घटाने के बाद शेष रहती है और जो ऋण चुकाने लिए उपलब्ध होती है। ऋण-अदायगी-क्षमता ज्ञात करते समय कृषकों की सभी स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय सम्मिलित करनी चाहिए। कृषकों की ऋण-अदायगी-क्षमता निम्नांकित विधियों द्वारा ज्ञात की जाती है—

(1) भूमि के लगान की राशि का 30 गुना एवं कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त आय का 25 प्रतिशत-इस विधि द्वारा ऋण की अधिकतम सीमा (Maximum Credit Limit), कृषकों द्वारा भूमि के लगान की दी जाने वाली राशि को 30 गुना एवं कृषि के अतिरिक्त अन्य

स्रोतो से प्राप्त आय की 25 प्रतिशत राशि के समतुल्य आकलित की जाती है। ऋण की अधिकतम सीमा के आकलन की यह विधि दिसम्बर, 1958 के पूर्व तक प्रचलित थी। इस विधि के अन्तर्गत ऋण की अधिकतम सीमा भूमि के लगान की राशि का 30 गुना आकलित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नही है।

(ii) प्राप्त आय का एक-तिहाई भाग ऋण-अदायगी-क्षमता होना-कृषको की ऋण-अदायगी-क्षमता का आकलन करने की यह विधि सहकारी समितियो द्वारा दिसम्बर, 1958 के उपरान्त प्रयुक्त की गई थी। इस विधि मे कृषको की फार्म एव अन्य स्रोतो से प्राप्त कुल आय का एक-तिहाई भाग ऋण-अदायगी-क्षमता मानी जाती है और आय का शेष दो-तिहाई भाग फार्म पर फसलो की उत्पादन-लागत एव घरेलू आवश्यक वस्तुओ को क्रय करने मे खर्च करने के लिए आवश्यक होती है। ऋण-अदायगी क्षमता ज्ञात करने की इस विधि के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं, जिनके कारण वर्तमान मे यह विधि प्रचलित नही है—

(अ) कृषको को फार्म से प्राप्त होने वाली आय का आकलन फार्म पर पिछले वर्षों मे प्राप्त औसत उत्पादन की मात्रा के आधार पर किया जाता है। औसत उत्पादन की मात्रा वर्तमान एव भावी उत्पादन की मात्रा का सही प्रतीक नही होती है।

(ब) विभिन्न फसलो की प्रति हैक्टर उत्पादकता विभिन्न क्षेत्रो, फसल-चक्र, भूमि-प्रबन्ध एव जोत के आकार के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। उपर्युक्त विधि के द्वारा ऋण-अदायगी-क्षमता ज्ञात करने मे एक ही माप दण्ड का उपयोग किया जाता है जो विभिन्न वर्गों के कृषको की वास्तविक स्थिति का प्रतीक नही होता है।

(स) इस विधि के द्वारा ऋण-अदायगी क्षमता ज्ञात करने मे पिछले वर्षों की औसत कीमतो को औसत उत्पादन की मात्रा से गुणा करते हैं। कृषि उत्पादो की कीमतो मे निरन्तर उतार-चढाव होते रहते हैं। अत फार्म उत्पाद की पिछली औसत कीमत वर्तमान कीमत का प्रतीक होना आवश्यक नही है, जिसके कारण भी कृषको की सही ऋण-अदायगी-क्षमता ज्ञात नही हो पाती है।

(द) विभिन्न फार्मों पर उत्पादन-साधनो की उपयोग की मात्रा मे भिन्नता के कारण उत्पादन-लागत की राशि मे भी भिन्नता होती है। विभिन्न कृषको का घरेलू उपभोग खर्च भी विभिन्न होता है। अत सभी फार्मों पर एक ही आधार पर उत्पादन-क्षमता का आकलन करना सही नहीं है।

(य) इस विधि द्वारा ऋणी की ऋण-अदायगी-क्षमता का निर्धारण करते

समय फार्म-प्रबन्धक की योग्यता एवं दक्षता को ध्यान में नहीं रखा जाता है, जो फार्म आय में परिवर्तन लाने का प्रमुख कारक होता है।

(र) कृषकों द्वारा फार्म पर उपभोग हेतु किए गए विभिन्न प्रकार के ऋणों जैसे स्वतः परि-समापन ऋण, आंशिक परि-समापन ऋण व अपरि-समापन ऋण से प्राप्त होने वाली आय में भिन्नता होती है, लेकिन ऋणों की ऋण-अदायगी क्षमता ज्ञात करने की इस विधि में ऋणों के उपर्युक्त रूपों को ध्यान में नहीं रखा जाता है।

3 फार्म उत्पादन योजना के आधार पर ऋण-अदायगी-क्षमता ज्ञात करना—इस विधि में कृषकों की ऋण-अदायगी-क्षमता फार्म से प्राप्त होने वाली आय की राशि के आधार पर ज्ञात की जाती है। फार्म से प्राप्त होने वाली आय का निर्धारण फार्म-योजना के आधार पर किया जाता है। फार्म-योजना के द्वारा फार्म से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय की राशि ज्ञात करने के पश्चात् विभिन्न प्रकार के प्राप्त ऋणों के निम्न सूत्रों द्वारा ऋण अदायगी-क्षमता ज्ञात की जाती है।

(अ) स्वतः परिसमापन—वे ऋण जिनके द्वारा क्रय किए गए उत्पादन-साधन उत्पादन-विधि में पूर्ण रूप से काम में आ जाते हैं, स्वतः परिसमापन ऋण कहलाते हैं। जैसे—बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ आदि के लिए प्राप्त ऋण। उपर्युक्त कार्यों के लिए प्राप्त ऋण फार्म की कार्यशील लागत में सम्मिलित हो जाते हैं और प्राप्त ऋण से क्रय किये गये उत्पादन-साधनों के उपयोग से आय मुख्यतया उसी वर्ष प्राप्त होती है। स्वतः परिसमापन ऋण की अवस्था में ऋण चुकाने की क्षमता ज्ञात करने का सूत्र निम्न है—

ऋण-अदायगी-क्षमता=फार्म से प्राप्त कुल नकद आय-(घरेलू उपभोग खर्च+फार्म की कार्यशील लागत, जिसमें प्रस्तावित ऋण सम्मिलित नहीं होता है+कर+अन्य ऋण जो भुगतान करने हैं)।

(ब) अपरिसमापन ऋण या आंशिक परिसमापन ऋण—वे ऋण जिनके द्वारा क्रय किए गए उत्पादन-साधन परोक्ष रूप से उत्पादन-विधि में काम में नहीं आते हैं बल्कि क्रय किए गए उत्पादन-साधनों की सेवाएँ ही फार्म पर उपयोग में आती है, आंशिक परिसमापन ऋण कहलाते हैं। जैसे—ट्रैक्टर, पम्पिंग सैट, उन्नत औजार, कुआँ बनवाना आदि कार्यों के लिए प्राप्त ऋण। उपर्युक्त ऋण कार्यशील लागत में सम्मिलित नहीं होता है एवं इस ऋण के निवेश से आय अनेक वर्षों

तक प्राप्त होती है। इस प्रकार के ऋण की ऋण-प्रदायगी-क्षमता ज्ञात करने का सूत्र निम्न है—

ऋण प्रदायगी-क्षमता=फार्म से प्राप्त कुल नकद आय–(कार्यशील लागत, मौसमी ऋण को सम्मिलित करते हुए+घरेलू उपभोग खर्च+कर+अन्य ऋण जो भुगतान करने हैं।)

ऋण-प्रदायगी-क्षमता में वृद्धि के उपाय—कृषकों की ऋण-प्रदायगी-क्षमता में निम्न उपाय अपनाकर वृद्धि की जा सकती है—

1. **बचत की राशि में वृद्धि करना एवं प्राप्त बचत का कृषि में निवेश करना**—फार्म से प्राप्त आय में वृद्धि करके अथवा फार्म लागत में कमी करके कृषि बचत की राशि में वृद्धि कर सकते हैं। फार्म आय में वृद्धि फार्म पर फसलों का सही चुनाव, तकनीकी ज्ञान के प्रसार, प्रबन्ध क्षमता में वृद्धि तथा विपणन के लिए उचित संस्था एवं समय का चुनाव करके कर सकते हैं। फार्म पर होने वाली लागत को उत्पादन-साधनों एवं विधियों में प्रतिस्थापन के सिद्धान्त का उपयोग करके कम किया जा सकता है। उपर्युक्त उपायों के अपनाने से बचत की राशि में वृद्धि होती है। प्राप्त बचत की राशि को कृषि में निवेश करने से आय में वृद्धि होती है जिससे ऋण-प्रदायगी-क्षमता में वृद्धि होगी।
2. **फार्म पर विभिन्न उत्पादन-साधनों की प्रयुक्त मात्रा में सन्तुलन रखना**—फार्म से प्राप्त होने वाली आय, फार्म पर उपलब्ध विभिन्न उत्पादन-साधनों में से न्यूनतम मात्रा में उपलब्ध उत्पादन-साधन की मात्रा पर निर्भर होती है। फार्म पर अनेक उत्पादन-साधन बहुतायत में उपलब्ध होते हुए भी, एक उत्पादन-साधन के कम मात्रा में उपलब्ध होने पर फार्म योजना न्यूनतम उपलब्ध उत्पादन-साधन के अनुसार बनाई जाती है जिससे बहुतायत में उपलब्ध उत्पादन-साधन बेकार रहते हैं। अतः फार्म से अधिकतम आय की प्राप्ति के लिए न्यूनतम मात्रा में फार्म पर उपलब्ध उत्पादन-साधन की मात्रा में आवश्यक वृद्धि करके उत्पादन साधनों के असन्तुलन को समाप्त करना चाहिये।
3. **ऋण चुकाने की अवधि में वृद्धि करना**—ऋण भुगतान अवधि में वृद्धि करने से ऋण की किश्तों की संख्या में वृद्धि हो जाती है और प्रति किश्त ऋण चुकाने की राशि कम हो जाती है, जिससे कृषक आसानी से प्राप्त ऋण का भुगतान कर सकता है।

1. S. S. Johl & C. V. Moore, Essentials of Farm Financial Management, Today and Tomorrow Printers and Publishers, New Delhi, 1970. pp. 76-77.

4 **उत्पादन साधनो का अनुकूलतम उपयोग**—फार्म पर उपलब्ध सीमित उत्पादन साधनो की उत्पादकता मे उनके अनुकूलतम उपयोग से वृद्धि की जा सकती है। सीमित उत्पादन-साधनो से अधिक ग्राय की प्राप्ति के लिए उनका उपयोग सम-सीमान्त प्रतिफल के सिद्धान्त के अनुसार करना चाहिए।

5 **फार्म पर तकनीकी ज्ञान का उपयोग**—तकनीकी ज्ञान के उपयोग से वर्तमान मे भूमि की प्रति इकाई उत्पादकता मे पिछले दशक मे विशेष वृद्धि हुई है और भविष्य मे भी इसके उपयोग से उत्पादकता मे वृद्धि होने की सम्भावना है। ग्रत अधिक ग्राय के लिए फार्म पर सकर व बौने किस्म के बीज उर्वरक, उन्नत विधियो द्वारा खेती तथा कीट-नाशी दवाइयों का अधिक उपयोग करना चाहिये।

6 **विक्रय-प्रणाली मे सुधार करना**—फार्म से प्राप्त ग्राय की राशि उत्पादकता मे वृद्धि के अतिरिक्त, उत्पादो की कीमतो पर भी निर्भर होती है। अधिक ग्राय की प्राप्ति के लिए उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ कृषको को उत्पाद के विपणन पर भी ध्यान देना चाहिए। उत्पादो के विपणन के लिए सही सस्था, समय एव स्थान का चुनाव करने से वस्तुओ के प्रति इकाई पर विपणन लागत मे कमी होती है तथा उत्पादो की कीमत अधिक प्राप्त होती है। नियन्त्रित मण्डियो मे अनियन्त्रित मण्डियो की अपेक्षा प्रति इकाई विपणन लागत कम होती है तथा उनमें प्रतिस्पर्धा के कारण कीमत भी अधिक प्राप्त होती है।

7 **कृषकों की प्रबन्ध-योग्यता मे वृद्धि करना**—कृषको की प्रबन्ध योग्यता मे विभिन्नता के कारण भी फार्म पर लागत एव ग्राय मे विभिन्नता होती है। तकनीकी ज्ञान के आविष्कार से प्रबन्ध-योग्यता की महत्ता पहले से अधिक बढ गई है। कृषको की प्रबन्ध-योग्यता मे सुधार के लिए उन्हें प्रशिक्षण की सुविधा अधिकाधिक उपलब्ध कराना चाहिए। प्रशिक्षण से कृषको की निर्णय लेने की क्षमता मे वृद्धि होती है।

8. **उचित ऋण-अदायगी योजना बनाकर**—कृषको के पास ऋण चुकाने के लिये आवश्यक ग्राय होते हुए भी ऋण अदायगी योजना के सही नही होने पर कृषक ऋण का समय पर भुगतान नही कर पाते हैं। ऋण-अदायगी योजना प्राप्त आय की राशि व समय के अनुसार तैयार की जानी चाहिये। यदि कृषको को ग्राय वर्ष मे एक बार प्राप्त होती है, तो ऋण चुकाने की योजना वार्षिक बनानी चाहिये। उपर्युक्त अवस्था मे ऋण चुकाने की योजना अर्द्ध-वार्षिकी या मासिक किश्तो

में होने पर कृषक के लिए ऋण की किश्त का समय पर भुगतान कर पाना सम्भव नहीं होता है।

9. कृषकों द्वारा अधिक राशि में स्वतः परिसमापन ऋण ही लेना चाहिए, क्योंकि इस ऋण का अन्य ऋणों की अपेक्षा भुगतान सरल होता है।

ऋण-अदायगी-योजना के रूप—ऋण-अदायगी-योजना चार प्रकार की होती है—

1. **एक मुश्त अदायगी योजना** (Lump sum Repayment plan or straight end repayment plan)—ऋण भुगतान की इस योजना मे कृषको द्वारा प्राप्त ऋण राशि नियत समय की समाप्ति पर एक साथ एक मुश्त में भुगतान करना होता है। ऋण भुगतान की यह योजना अपनाने से कृषक व्यवसाय से प्राप्त धन को पुनः कृषि व्यवसाय में निवेश कर सकता है बशर्ते कि पूँजी निवेश से सीमान्त उत्पादकता अधिक प्राप्त होती है। इस योजना के अपनाने में यह मान्यता होती है कि कृषि क्षेत्र में जोखिम के होने से एक वर्ष में हुई हानि, दूसरे वर्ष में प्राप्त लाभ से सन्तुलित हो जावेगी और समय पर कृषको की ऋण राशि के भुगतान की क्षमता होगी। कभी-कभी यह भी होता है कि लम्बे समय के बाद कृषकों के पास ऋण राशि के भुगतान के लिये पर्याप्त धन नहीं होता है जिससे वे ऋण का समय पर भुगतान नहीं कर पाते हैं। अतः ऋण भुगतान की यह योजना कृषको द्वारा उस स्थिति में अपनाई जानी चाहिये, जब उन्हे फार्म से ऋण राशि के समतुल्य आय एक साथ प्राप्त होने की सम्भावना होवे। इस विधि मे साधारणतया प्राप्त ऋण राशि पर ब्याज की राशि का भुगतान भी नियत समय की समाप्ति पर एक साथ ऋण राशि के साथ ही किया जाता है। कभी-कभी ऋण-राशि पर होने वाले ब्याज की राशि का भुगतान प्रतिवर्ष भी किया जाता है।

2. **समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना** (Amortised even Repayment plan)—परिशोधन ऋण (amortised loan) वह है जो मूलधन एवं ब्याज सहित निर्धारित समय मे किश्तो में भुगतान किया जाता है। परिशोधन योजना से तात्पर्य निर्धारित समय में प्राप्त मूलधन एव उस पर होने वाले ब्याज की राशि का भुगतान किश्तो मे समान राशि या ह्रासमान दर से किया जाने से है।
समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना मे कुल ऋण एवं भुगतान अवधि के ब्याज की राशि को सम्मिलित करके उसे समान रूप से

किश्तो मे विभक्त कर सकते हैं । कृषको को प्रति किश्त समान राशि मे धन का भुगतान करना होता है । इस योजना के प्रथम वर्षो मे मूलधन की राशि कम व ब्याज की राशि अधिक होती है । धीरे-धीरे मूलधन की राशि बढती जाती है और ब्याज की राशि कम होती जाती है । यह योजना कृषको द्वारा उस स्थिति मे अपनायी जानी चाहिये जब उन्हे फार्म से प्रतिवर्ष समान आय होने की सम्भावना होवे । चित्र 11 1 मे समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना के अन्तर्गत विभिन्न वर्षो मे दिये जाने वाले मूलधन एव ब्याज की राशि प्रदर्शित की गई है ।
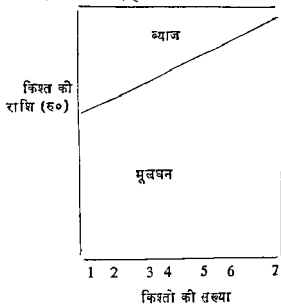
चित्र 11 1 समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना

3. ह्रासमान-किश्त परिशोधन अदायगी योजना (Amortised Decreasing Repayment Plan)—इस योजना मे ऋण चुकाने की राशि प्रति किश्त निरन्तर कम होती जाती है । इस योजना मे मूलधन की राशि भुगतान अवधि मे प्रत्येक किश्त मे समान रहती है । प्राप्त मूलधन राशि मे किश्तो की सख्या का भाग देकर प्रति किश्त मूलधन की राशि ज्ञात कर ली जाती है । ब्याज की राशि प्रथम वर्ष मे अधिक व उसके बाद वर्षो मे मूलधन के कम होने से निरन्तर कम होती जाती है । अत भुगतान राशि की किश्त प्रथम वर्ष मे अधिक व उसके बाद निरन्तर कम होती जाती है । यह योजना कृषको द्वारा उस स्थिति मे अपनायी जानी चाहिए जब उन्हे फार्म से प्रतिवर्ष समान आय प्राप्त

नही होकर प्रथम वर्ष मे अधिक व उसके बाद निरन्तर कम प्राप्त होने की आशका होवे । चित्र 11 2 में ह्रासमान-किश्त परिशोधन अदायगी योजना के अन्तर्गत विभिन्न वर्षों मे देय मूलधन एव ब्याज की राशि प्रदर्शित की गई है ।
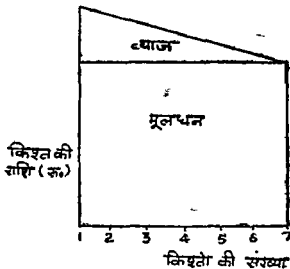
चित्र 11.2 ह्रासमान-किश्त परिशोधन अदायगी योजना

4 **परिवर्ती या आभास परिवर्ती परिशोधन योजना**—इस योजना मे ऋण मुगतान की कोई निश्चित योजना नही होती है । कृषको को ऋण-मुगतान के लिए जमा कराने की राशि मे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है । अधिक आय प्राप्त होने वाले वर्ष मे, कृषक ऋण की अधिक राशि का मुगतान कर सकते हैं तथा कम आय प्राप्त होने वाले वर्ष मे उन्हे ऋण की राशि का कम मुगतान करने अथवा बिल्कुल नही करने की छूट होती है । गावो मे कृषको द्वारा साहूकारो से प्राप्त ऋण के लिए यही मुगतान-योजना अपनायी जाती है ।

ऋण-परिशोधन अदायगी योजना में ऋण चुकाने को किश्त की राशि ज्ञात करना

ऋण-परिशोधन अदायगी योजना की दोनो विधियो मे ऋण अदायगी किश्त की राशि निम्न प्रकार से ज्ञात की जाती है—

उदाहरण—1 एक कृषक फार्म पर ट्रैक्टर क्रय करने के लिए 20,000 रु का ऋण वाणिज्यिक बैंक से 8 प्रतिशत ब्याज दर पर 10 वर्ष के लिए प्राप्त करता है । कृषक ऋण का मुगतान वार्षिक किश्तो मे करना चाहता है । परिशोधन की

उपर्युक्त दोनो योजनाओं मे कृषक द्वारा प्रतिवर्ष भुगतान की जाने वाली किश्त की राशि (मूलधन+ब्याज) ज्ञात कीजिए।

ह्रासमान-किश्त-परिशोधन अदायगी योजना—इस योजना मे विभिन्न वर्षों मे भुगतान किये जाने वाले ऋण की वार्षिक किश्त की राशि सारणी 11.1 मे प्रदर्शित की गई है।

सारणी 11 1

ह्रासमान-किश्त परिशोधन-अदायगी योजना वार्षिक किश्तो की देय राशि

(रुपयों में)

वर्ष	मूलधन राशि	ब्याज राशि	किश्त की राशि	वर्ष के अन्त मे देय ऋण-राशि
1	2,000	1,600	3,600	18,000
2	2,000	1,440	3,440	16,000
3	2,000	1,280	3,280	14,000
4	2,000	1,120	3,120	12,000
5	2,000	960	2 960	10,000
6	2,000	800	2,800	8,000
7	2,000	640	2,640	6 000
8	2,000	480	2,480	4,000
9	2,000	320	2 320	2,000
10	2,000	160	2,160	—
कुल राशि	20,000	8,800	28,800	—

समान-किश्त परिशोधन अदायगी योजना—इस विधि मे ऋण की वार्षिक किश्त निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात की जाती है[2]—

$$P = B \frac{1}{a_{\overline{n}|i}}$$

जबकि P=वार्षिक किश्त की राशि
B=प्राप्त ऋण राशि
n=ऋण स्वीकृति की अवधि (वर्षों मे)
i=वार्षिक ब्याज दर

2. A G Nelson & W. G. Murray, Agricultural Finance, Iowa State University Press, Ames, Iowa, 5th Edition, 1968, pp. 168-69.

$$a_{\overline{n}|i} = \text{वार्षिकी}$$

OR

$$P = B\frac{i}{1-(1+i)^{-n}}$$

इस सूत्र को निम्न प्रकार भी लिखा जा सकता है

$$P = B\frac{i}{1-\frac{1}{(1+i)^{n}}}$$

प्रस्तुत उदाहरण मे ऋण पर ब्याज की दर (i) 8 प्रतिशत एव ऋण अवधि (n) 10 वर्ष होने पर

$$P = B\frac{08}{1-\frac{1}{(1+0\ 08)^{108}}}$$

$$= B\frac{08}{1-\frac{1}{(1\ 08)^{10}}}$$

$$= B\frac{08}{1-\frac{1}{2\ 1589247}}$$

$$= B\frac{08}{1-0\ 4631935}$$

$$= B\frac{08}{0\ 5368065}$$

$$= B \times 0\ 14902949$$

ऋण की राशि 20,000 रुपये होने पर ऋण भुगतान की वार्षिक प्रति किश्त राशि $20,000 \times 0\ 14902949 \simeq 2980\ 59$ रु होती है।

वार्षिकी $\frac{1}{a_{\overline{n}|i}}$ की मात्रा विभिन्न ब्याज दर एवं ऋण अवधि के लिए सारणी से भी ज्ञात की जाती है। ऋण अवधि 10 वर्ष एवं ऋण पर 8 प्रतिशत ब्याज की दर होने पर $\frac{1}{a_{\overline{n}|i}}$ की मात्रा 0 14902949 होती है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे ऋण भुगतान की वार्षिक प्रति किश्त राशि

$$P = B\frac{1}{a_{\overline{n}|i}} = 20{,}000 \times 0\ 14902949 = 2980\ 59 \text{ रु होती है।}$$

अत इस अदायगी योजना मे विभिन्न वर्षों मे कृषक द्वारा देय मूलधन ब्याज एवं वार्षिक किश्त की राशि सारणी 11 2 मे प्रदर्शित की गई है।

सारणी 11.2

समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना के विभिन्न वर्षों मे मूलधन ब्याज एवं किश्त की राशि

(रुपयों मे)

वर्ष	मूलधन राशि	ब्याज राशि	प्रति किश्त भुगतान राशि	वर्ष के अन्त मे देय ऋण राशि
1	1380 59	1600 00	2980 59	18 619 41
2	1491 04	1489 55	2980 59	17 128 37
3	1610 32	1370 27	2980 59	15,518 05
4	1739 15	1241 44	2980 59	13,778 90
5	1878 28	1102 31	2980 59	11,900 62
6	2028 54	952 05	2980 59	9,872 08
7	2190 82	789 77	2980 59	7,681 26
8	2366 09	614 50	2980 50	5,315 17
9	2555 38	425 21	2980 50	2,959 79
10	2759 79	220 80	2980 50	—
कुल	20 000 00	9 805 90	29,805 90	—

यदि ऋण भुगतान वार्षिक किश्तों के स्थान पर अर्द्ध-वार्षिक, त्रैमासिक या मासिक किश्तो मे किया जाता है तो प्रति किश्त की राशि ज्ञात करने का सूत्र निम्न होता है :

$$\frac{P}{m} = B \frac{1}{a_{\overline{nm}|}\frac{1}{m}}$$ जबकि m = वर्ष मे भुगतान किश्तों की सख्या

उदाहरण—2. एक कृषक फार्म पर सिंचाई के लिए कुएँ पर पम्प लगाने के लिए बैंक से 4000 रु० का ऋण 7 प्रतिशत ब्याज दर पर प्राप्त करता है। कृपक ऋण का भुगतान 4 वर्ष की अवधि मे अर्द्ध-वार्षिक किश्तो मे करना चाहता है। ह्रासमान एव समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना मे प्रति किश्त ऋण की राशि ज्ञात कीजिए।

ह्रासमान किश्त परिशोधन अदायगी योजना—इस योजना के विभिन्न वर्षों मे ऋण भुगतान की किश्त राशि सारणी 11 3 मे प्रदर्शित की गई है।

सारणी 11 3

ह्रासमान-किश्त परिशोधन-अदायगी योजना मे विभिन्न वर्षों मे देय किश्तों की राशि

(रुपयो मे)

अर्द्ध वार्षिक किश्त सख्या	मूलधन-राशि	ब्याज-राशि	प्रति किश्त भुगतान राशि	किश्त के भुगतान के अन्त मे देय ऋण राशि
1	500	280	780	3500
2	500	245	745	3000
3	500	210	710	2500
4	500	175	675	2000
5	500	140	640	1500
6	500	105	605	1000
7	500	70	570	500
8	500	35	535	—
कुल	4000	1260	5260	—

समान-किश्त परिशोधन अदायगी योजना—इसमें ऋण की प्रति किश्त राशि

$$\frac{P}{m} = B \frac{1}{a_{\overline{nm}|\frac{1}{m}}} = \frac{P}{2} = 4000 \frac{1}{a_{\overline{4x2}|\frac{0\ 07}{2}}}$$

$= 4,000 \times 0\ 14547665 = 581\ 91$ रु होती है।

समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना के विभिन्न वर्षों में देय अर्द्ध-वार्षिक किश्त की राशि तथा उसमें मूलधन एव ब्याज की राशि सारणी 11 4 म प्रदर्शित की गई है।

सारणी 11.4

समान किश्त परिशोधन अदायगी योजना मे विभिन्न अर्द्ध-वार्षिक किश्तों की देय राशि, मूलधन एव ब्याज की राशि

(रुपयों मे)

अर्द्ध-वार्षिक किश्त सख्या	मूलधन राशि	ब्याज राशि	प्रति किश्त मुगतान राशि	किश्त के मुगतान के अन्त मे देय ऋण राशि
1	441 91	140 00	581 91	3558 09
2	457 38	124 53	581 91	3100 71
3	473 39	108 52	581 91	2627 32
4	489 95	91 96	581 91	2137 37
5	507 10	74 81	581 91	1630 27
6	524 85	57 06	581 91	1105 42
7	543 22	38 69	581 91	562 20
8	562 20	19 71	581 91	—
कुल	4000 00	655 28	4655 28	—

3 कृषकों की जोखिम वहन योग्यता

ऋण-स्वीकृति से पूर्व, ऋण के उपयोग से प्राप्त आय एव ऋण मुगतान क्षमता के अतिरिक्त प्रतिकूल मौसम में कृषकों की ऋण मुगतान कर पाने की सामर्थ्य का ज्ञान होना भी आवश्यक है। प्रतिकूल मौसम वाले वर्ष में ऋण का भुगतान

कृषको की जोखिम वहन करने की योग्यता पर निर्भर करता है। कृषको की जोखिम वहन करने की योग्यता का ज्ञान निम्नलिखित कारणो से आवश्यक होता है—

(1) कृषि-व्यवसाय की सफलता प्रकृति पर निर्भर होती है। मौसम की प्रतिकूलता – ओले, अतिवर्षा, सूखा, बीमारियो आदि के होने पर उत्पादन कम प्राप्त होता है। अतः प्रतिकूल मौसम के काल मे ऋण-भुगतान की सामर्थ्य की जाँच के लिए कृषको की जोखिम वहन करने की योग्यता का ज्ञान होना आवश्यक होता है।

(2) कृषको की आय का आकलन पिछले वर्षो की औसत उत्पादकता एव कीमतो के आधार पर किया जाता है। आकलित कीमतें व उत्पादकता अन्तिम बिन्दु तक सही नही होती है। कीमते व उत्पादकता के आकलित स्तर से नीचे गिर जाने की व्यवस्था मे प्राप्त ऋण के भुगतान की सामर्थ्य के लिए कृषको मे जोखिम-वहन योग्यता का होना आवश्यक है।

जोखिम-वहन-योग्यता ज्ञात करने की विधि—कृषको की जोखिम-वहन-योग्यता ज्ञात करने के लिए कृषको को प्राप्त होने वाली आय एव भुगतान-क्षमता की राशि को क्षेत्र के विचरण गुणाक (Variability Coefficient) की राशि तक कम करते हैं, जिससे कृषको की वास्तविक आय व भुगतान-क्षमता ज्ञात हो जाती है। यदि उत्पादन व कीमतो मे गिरावट नही आती है तो कृषको की यह राशि अतिरिक्त बचत होती है। प्रत्येक कृषक के लिए पृथक् रूप से विचरण गुणाक ज्ञात करने का कार्य कठिन होता है। अत विभिन्न क्षेत्रो के लिए पृथक् रूप से विचरण गुणाक ज्ञात किया जाता है। कुल विचरण प्रतिफल ज्ञात करने का सूत्र निम्न है :

$$\text{कुल विचरण गुणाक} = \frac{\text{कुल विचरण}}{\text{कुल प्रतिफल}} \times 100$$

कृषकों की जोखिम-वहन-योग्यता मे परिवर्तन लाने वाले कारक—निम्न कारक कृषको को जोखिम-वहन योग्यता मे परिवर्तन लाते हैं :

1 **कृषको के घरेलू उपभोग पर खर्च करने की प्रवृत्ति एव बचत करने की शक्ति**—घरेलू उपभोग पर कम खर्च करने वाले कृषको की बचत अधिक होती है, जिससे उनकी जोखिम-वहन-योग्यता अधिक होती है।

2 **कृषकों की आपातकालीन समय मे ऋण प्राप्त करने की क्षमता**—कुछ कृषक अपनी बाजार साख के कारण प्रतिकूल मौसम वाले वर्ष मे भी आवश्यक ऋण राशि प्राप्त कर सकते हैं और विपत्ति का सामना करते हैं, जबकि अन्य कृषक ऐसे समय मे घबरा उठते हैं। अत उनमे जोखिम-वहन-योग्यता कम होती है।

3 **कृषको की ईक्विटी या शुद्ध परिसम्पत्ति की राशि**—जिन कृषको के

पास सम्पत्ति अधिक होती है उनमे जोखिम-वहन-योग्यता अन्य कृषको की अपेक्षा अधिक होती है।

4. कृषको की वैयक्तिक प्रवृत्ति पर भी जोखिम-वहन-क्षमता निर्भर करती है।

कृषकों की जोखिम-वहन-योग्यता मे वृद्धि करने के उपाय—निम्न उपाय अपनाकर कृषको की जोखिम-वहन-योग्यता मे वृद्धि की जा सकती है—

1 फार्म पर कम जोखिम वाले उद्यमो का चुनाव करना एव उनके अन्तर्गत अधिक क्षेत्रफल लेना।
2 फार्म पर विशिष्ट कृषि के स्थान पर विविधीकृत कृषि अपनाना।
3. फार्म पर कृषि की उन्नत विधियो का अपनाना।
4 फार्म पर फसल बीमा पद्धति अपनाना।
5. कीमतो के अत्यधिक उतार-चढाव से रक्षा करने के लिए उत्पादो के क्रय-विक्रय का अग्रिम सौदा करना।
6 उपभोग एव उत्पादन-लागत को कम करने के प्रयास करना।
7 फार्म से प्राप्त बचत राशि को कृषि व्यवसाय मे पुन निवेश करना।
8. आर्थिक सकट काल मे कृषको द्वारा बाजार साख को बनाये रखकर भी जोखिम-वहन-योग्यता मे वृद्धि की जा सकती है।

ऋण-प्रबन्ध के 'सी' सिद्धान्त

ऋण-प्रबन्ध के दूसरे सिद्धान्त ऋण के 'सी' (C's) कहलाते है। ऋण-प्रबन्ध के 'आर' सिद्धान्तो का उत्तर ऋणदात्री सस्था एव कृषको को सकारात्मक प्राप्त होने के पश्चात् ऋण के दूसरे सिद्धान्त अर्थात् ऋण के 'सी' सिद्धान्तो की जाँच करनी चाहिए। ऋण के 'सी' सिद्धान्त ऋण अदायगी क्षमता के द्योतक होत है। ऋण-प्रबन्ध के प्रमुख 'सी' सिद्धान्त निम्न हैं—

I **गुण** (Character)—गुण से तात्पर्य यहाँ व्यक्ति के साधारण चाल-चलन से नही है, बल्कि ऋणी कृषक मे ऋण चुकाने मे ईमानदारी, सच्चाई, औचित्य, जिम्मेदारी, विश्वसनीयता तथा उसमे उद्यमशीलता या परिश्रमी होना आदि के गुण सम्मिलित होते हैं। ऋणी-कृषक मे उपर्युक्त गुण विद्यमान होने से तात्पर्य है कि उस व्यक्ति मे ऋण-भुगतान की क्षमता है। जोखिम-वहन शक्ति एव ऋणी के उपर्युक्त गुणो मे गहन सम्बन्ध होता है। उपर्युक्त गुणो वाला कृषक जोखिम वहन शक्ति के कम होते हुए भी ऋण अधिक राशि मे प्राप्त कर सकता है एव ऋण का समय पर भुगतान कर सकता है।

गैर-सस्थागत ऋण अभिकरण गाँवो मे कृषको को ऋण मुख्यतया उनमे पाये जाने वाले उपर्युक्त गुणो के आधार पर स्वीकृत करते हैं। साहूकारो, व्यापारियो एव आढतियो को कृषको मे विद्यमान उपर्युक्त गुणो की जानकारी होती है, जिसके

कारण उन्हे स्वीकृत गुणो की वसूली मे परेशानी नही होती है। बैंक एव सस्थागत अभिकरणो को कृषको मे विद्यमान उपर्युक्त गुणो की जानकारी नही होने से ऋण-वसूली मे परेशानी होती है एव ऋण की अधिक राशि कृषको पर बकाया रह जाती है।

2 क्षमता (Capacity)—क्षमता गुण से तात्पर्य कृषको मे नियत समय पर ऋण चुकाने की क्षमता के होने से है। क्षमता गुण मुख्यतया ऋण-अदायगी क्षमता का प्रतीक होता है। अत कृषको को ऋण स्वीकृत करते समय उनकी क्षमता की जाँच भी करनी चाहिए।

3 पूँजी (Capital)—पूँजी गुण से तात्पर्य ऋणी-कृषक की ईक्विटी या शुद्ध सम्पत्ति की राशि से है। पर्याप्त सम्पत्ति या ईक्विटी वाला कृषक मौसम की प्रतिकूलता की अवस्था मे सम्पत्ति को विक्रय अथवा बन्धक रख कर प्राप्त ऋण का भुगतान कर सकता है। अत ऋण स्वीकृत करते समय ऋणी कृषक की ईक्विटी की जाँच भी करनी चाहिए।

4 ऋण की शर्ते (Conditions)—ऋण की शर्तों—जैसे–ब्याज-दर, भुगतान की शर्तो आदि का ज्ञान भी ऋणी कृषक को ऋण स्वीकृति से पूर्व ही दे देना चाहिए। कृषक को ऋण-शर्ते स्वीकृत होने पर ही ऋण प्रदान करना चाहिए।

अध्याय 12

कृषि-विपणन

प्राचीन काल मे कृषक जीवन-निर्वाह के लिए कृषि करते थे। पारिवारिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ—खाद्यान्न, दालें, कपास, तिलहन, सब्जी आदि अपने फार्म पर उत्पादित करते थे। पारिवारिक आवश्यकता की वस्तुओ के कम उत्पन्न होने या उत्पन्न न होने की स्थिति मे, वे दूसरे कृषको से वस्तु-विनिमय करके कमी की पूर्ति करते थे। उस काल मे कृषको के सामने वस्तुओ के विपणन की समस्याएँ नही थी। कृषि-विपणन व्यवसाय वर्तमान की भाँति विकसित नही था। तकनीकी विकास के कारण कृषि उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने तथा शहरीकरण के कारण खाद्यान्नो के क्रेताओ की सख्या मे वृद्धि होने से खाद्यान्नो के विपणन मे अनेक समस्याएँ उत्पन्न होनी शुरू हुई, जिनमे से कृषको के सामने अधिशेष पैदावार के विक्रय एव उपभोक्ताओ के सामने आवश्यक खाद्यान्न की मात्रा के सही कीमत पर क्रय की समस्याएँ प्रमुख थी। इन समस्याओ ने कृषि-विपणन को जन्म दिया। कृषि-व्यवसाय ने जीविका-निर्वाह के स्थान पर व्यापारिक रूप ग्रहण किया। कृषि उत्पादन मे विशिष्टीकरण एव व्यवसाय के व्यापारीकरण के कारण कृषक फार्म पर उत्पादित एक या दो उत्पादो को पूर्णतया बाजार मे विक्रय के लिए ही उत्पादित करने लगे, जिससे कृषि-विपणन के क्षेत्र मे समस्याएँ अधिक जटिल होती गईं। अत. कृषि विपणन के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

कृषि-विपणन की परिभाषा—विपणन शब्द की परिभाषा पर्याप्त व्यापक एव जटिल है। कृषि-वस्तुओ का उत्पादन असख्य कृषको के फार्म पर विभिन्न आकार की जोतो पर होता है तथा उत्पादित कृषि-वस्तुओ के गुणो मे विभिन्नता पाई जाती है। समाज के विभिन्न व्यक्ति विपणन शब्द के विभिन्न अर्थ लगाते हैं। उदाहरणतया, गृह-स्वामिनी विपणन शब्द से अभिप्राय' घर के लिए आवश्यक वस्तुओ के क्रय करने से तथा कृषक फार्म से प्राप्त पैदावार के विक्रय से लगाता है। इसी प्रकार व्यापारी विपणन शब्द के अर्थ वस्तुओ के क्रय-विक्रय से लेते हैं।

सामान्य तौर पर विपणन शब्द से तात्पर्य उन सभी विपणन कार्यों एव सेवाओं के करने से है जिनके द्वारा वस्तुएँ उत्पादक से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचती हैं। इसके अन्तर्गत विपणन की सभी सहयोगी प्रक्रियाएँ— एकत्रीकरण, पैकेजिंग, परिवहन, सग्रहण, श्रेणी-चयन एव मानकीकरण, वित्त, जोखिम प्रबन्ध, विज्ञापन, आदि सम्मिलित होती हैं। *उत्पादन को उपभोग से जोड़ने वाली शृंखला की समस्त* कडियाँ विपणन मे समाविष्ट होती हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने कृषि-विपणन शब्द की परिभाषा विभिन्न शब्दो मे की है जिनमे से प्रमुख निम्नांकित हैं—

थॉमसन[1]—कृषि-विपणन के अध्ययन मे वे सभी कार्य एव सस्थाएँ सम्मिलित होती हैं जिनके द्वारा कृषको के फार्म पर उत्पादित खाद्यान्न, कच्चा माल एव उनसे *निर्मित माल का फार्म से अन्तिम उपभोक्ता तक सचालन होता है। विपणन क्रियाओं* का कृषको, मध्यस्थो एव उपभोक्ताओं पर होने वाले प्रभावो का अध्ययन भी कृषि विपणन के अन्तर्गत आता है।

कोल्स एवं उल्ल[2]—खाद्य विपणन से तात्पर्य उन सभी व्यापारिक क्रियाओ को सम्पन्न करने से है, जिनके द्वारा खाद्य वस्तुओं एव सेवाओं का प्रवाह प्रारम्भिक कृषि उत्पादन स्थान (कृषक के फार्म) से उपभोक्ताओ तक होता है।

मूर, जोहल एव खुसरो[3]– खाद्यान्न विपणन के अन्तर्गत वे सभी व्यापारिक क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं जो खाद्यान्नो को उत्पादको से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए समय (सग्रहण), स्थान (परिवहन), रूप (परिनिर्माण) एव स्वामित्व परि-

1 The study of agricultural marketing Comprises of all the operations and the agencies conducting them, involved in the movement of farm produced foods and raw materials and their derivatives such as textiles from the farms to the final consumers and the effects of such operations on farmers, middlemen and consumers

—F L Thomsen, Agricultural Marketing, Mc-Graw Hill Book Company, INC, Newyork, 1951, p 1

2 Food marketing [as the performance of all business activities involved in the flow of food products and services from the point of initial agricultural production until they are in the hands of consumers

—R L Kohls and J N, Uhl, Marketing of Agricultural Products, Macmillan Publishing Co , INC, Newyork, 1980, P 8

3 Foodgrain marketing includes all the business activities involved in moving *foodgrains from producers to consumers through time (Storage)*, space (transport), from (processing) and transfering ownership at the various stages in the marketing channels In a free enterprise system, the process is guided by prices

—J. R Moore, S S Johl and A. M. Khusro, Indian Foodgrain Marketing, Prentice Hall India Private Limited, New Delhi, 1973, p 1.

वर्तन विपणन माध्यमो के द्वारा विपणन क्रिया मे विभिन्न समय पर की जाती है। स्वतन्त्र व्यावसायिक पद्धति में ये क्रियाएँ कीमतो द्वारा निर्देशित होती हैं।

कनवर्ज हुगे, एव मिचेल[4]—विपणन मे वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित होती है जिनके द्वारा वस्तु मे स्थान, समय एवं स्वामित्व उपयोगिता उत्पन्न होती है। मैकलीन ने विपणन की परिभाषा में इन तीनो उपयोगिताओ के अतिरिक्त रूप उपयोगिताओ को भी सम्मिलित किया है?

कृषि-विपणन की आधुनिक परिभाषा मे कृषि उपकरणो एव साधनो की उपलब्धि को भी सम्मिलित किया जाता है। अबोट और स्पिक्स ने कृषि विपणन को परिभाषित करने मे उपर्युक्त तथ्यो की पुष्टि की है। अबोट[5] ने कृषि-विपणन की परिभाषा मे कहा है कि "कृषि-विपणन में वे सभी कार्य सम्मिलित हैं जिनके द्वारा खाद्य वस्तुएँ एव कच्चा-माल फार्म से उपभोक्ता तक पहुँचता है। स्पिक्स[6] के अनुसार कृषि-विपणन मे उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त परिष्करण (प्रोसेसिंग), उद्योगो को कच्चे माल की पूर्ति, परिष्करण से उत्पादित वस्तुओ के विपणन, उनकी माँग का आकलन एव उनकी नीति से सम्बन्धित पहलू भी सम्मिलित होते हैं।

कृषि-विपणन के उद्देश्य—समाज के विभिन्न वर्गों—उत्पादक, उपभोक्ता, मध्यस्थ एव सरकार के लिए विपणन-अध्ययन के उद्देश्य विभिन्न होते हैं। साथ ही प्रत्येक वर्ग के विपणन-उद्देश्य दूसरे वर्ग के विपणन उद्देश्यो से मेल नही खाते हैं। उदाहरणतया उत्पादक-कृषको का विपणन से मुख्य उद्देश्य फार्म पर उत्पादित वस्तुओ के विक्रय से अधिक कीमत प्राप्त करके अधिकतम आय प्राप्त करना होता है, जबकि उपभोक्ताओ का विपणन से प्रमुख उद्देश्य वस्तुओ की आवश्यक मात्रा कम से कम कीमत पर प्राप्त करना होता है। उपर्युक्त दोनो वर्गों के हित एक-दूसरे के विपरीत होते हैं। समाज का तीसरा वर्ग विपणन-मध्यस्थ-विपणन क्रिया से अधिकाधिक लाभ कमाना चाहता है। सरकार की दृष्टि मे विपणन के उद्देश्य उत्पादकों को उत्पाद के उचित विक्रय प्रबन्ध द्वारा लाभप्रद कीमत प्राप्त कराना, उपभोक्ताओ को वस्तुएँ आवश्यक मात्रा मे उचित कीमत पर उपलब्ध कराना एव विपणन-मध्यस्थो को सेवाओं की उचित कीमत प्राप्त कराना होता है ताकि समाज के सभी वर्ग साथ-साथ पनप सके। उत्पादक कृषक, उपभोक्ता, विपणन-मध्यस्थ एव सरकार के विपणन उद्देश्यो का विस्तृत विवेचन नीचे दिया गया है —

4 P D Converse, H W, Huegey and Mitchell, The Elements of Marketing, Prentice Hall, Englewood cliffs, New Jersey, 1946, P 1

5 J C Abbott, Marketing P oblems and Improvement Programmes, FAO, Rome 1958, p 1

6 G R. Spinks, "Myths about Agricultural Marketing," *A/D/C Teaching Forum*, No 15, March, 1972 p 1

उत्पादक-कृषकों के विपणन-उद्देश्य—उत्पादक कृषकों के लिए समुचित एव सुव्यवस्थित विपणन-विधि वह है जो फार्म पर उत्पादित माल के विक्रय से यथासम्भव अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करा सके। कृषको को फार्म से प्राप्त लाभ की राशि वस्तु की उत्पादित मात्रा एव कीमत पर निर्भर होती है। फार्म से प्राप्त आय की राशि कृषकों की उत्पादन नीति एव उत्पादन-क्षमता को प्रभावित करती है। एक अच्छी विपणन विधि के होने से कृषको को उत्पाद के विक्रय से उचित कीमत प्राप्त होती है जिससे कृषक उस वस्तु का उत्पादन बढाने को प्रेरित होते है। अत. अच्छी विपणन-विधि देश मे वस्तुओ के उत्पादन म वृद्धि करती है, जो देश को खाद्यान्न उत्पादन मे आत्म-निर्भर बनाने के लिए आवश्यक मानी जाती है।

उपभोक्ता के विपणन-उद्देश्य—देश के उपभोक्ता उस विपणन-व्यवस्था की आकाक्षा करते हैं जो उन्हे आवश्यक वस्तुएँ जैसे-खाद्यान्न, तिलहन, दालें एव अन्य वस्तुओ की उचित किस्म, आवश्यक मात्रा में न्यूनतम कीमत पर उपलब्ध करा सकें। उपभोक्ता सीमित आय से असीमित आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहते हैं। कुशल विपणन-व्यवस्था मे आवश्यक वस्तुओ की कीमतो का कम होना उचित माना जाता है।

विपणन-मध्यस्थों के विपणन उद्देश्य—विपणन-कार्य मे लगे हुए मध्यस्थ उस विपणन-व्यवस्था की आशा रखते हैं जो उनको विपणन-प्रक्रिया में किए गए विपणन-कार्य एव सेवाओ के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करा सके। विपणन-प्रक्रिया में विपणन-मध्यस्थो का होना आवश्यक है, क्योंकि देश के असख्य उत्पादको से वस्तुओ का उपभोक्ताओ तक सचालन विपणन-मध्यस्थो के द्वारा ही होता है। विपणन-क्रिया मे विपणन-मध्यस्थ तब तक रहते हैं, जब तक कि उन्हें अपनी सेवाओं की उचित कीमत प्राप्त होती रहती है। विपणन प्रक्रिया मे उचित लाभ की राशि प्राप्त नहीं होने पर विपणन मध्यस्थ अपने व्यवसाय को छोडकर अन्य व्यवसाय करने की कोशिश करते हैं, जिससे देश की विपणन-व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाती है, जो उत्पादक एव उपभोक्ता दोनो के ही हित में नुकसानदेह होती है। कुछ विपणन-मध्यस्थ अल्पकाल मे अधिकतम लाभ की अपेक्षा नही रखते हैं, बल्कि वे दीर्घकाल में निरन्तर निश्चित लाभ की राशि प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं।

सरकार के लिए विपणन उद्देश्य—सरकार के लिए अच्छी विपणन-व्यवस्था से तात्पर्य उस विपणन-व्यवस्था से है जो उपभोक्ताओ को कम से कम कीमत पर उचित किस्म की आवश्यक मात्रा मे वस्तुएँ उपलब्ध कराएँ, उत्पादको को उत्पाद की उचित कीमत दिलाते हुए उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा दें तथा विपणन मध्यस्थो को उनके द्वारा दी गई सेवाओ के लिए उचित राशि प्राप्त कराएँ, जिससे समाज के तीनो वर्ग एक साथ पनप सकें।

विपणन उत्पादक क्रिया

विपणन-प्रक्रिया से वस्तुओ की लागत मे वृद्धि होती है। अतः प्रश्न है कि क्या विपणन उत्पादक क्रिया है ? उत्पादन से तात्पर्य किसी वस्तु को उसके रूप मे परिवर्तन करके उसको उपभोग स्थिति मे लाने, उपभोग के लिए सही समय एव स्थान पर उपलब्ध कराने अथवा उन व्यक्तियो के स्वामित्व मे परिवर्तन करने से है जो उसका उपयोग कर सकें। सक्षेप मे, अर्थशास्त्रियो ने वस्तुओ मे उपयोगिता उत्पन्न करने की विधि को उत्पादन कहा है। वस्तुओ की विपणन-विधि मे निम्न चार प्रकार की उपयोगिताएँ उत्पन्न होती हैं —

1. रूप-उपयोगिता— विपणन-प्रक्रिया मे विभिन्न सस्थाएँ वस्तुओ के रूप मे परिष्करण क्रिया द्वारा परिवर्तन करके रूप उपयोगिता उत्पन्न करती हैं। वस्तुओ मे रूप-उपयोगिता उत्पन्न होने से उपभोक्ता वस्तुओ का पहले की अपेक्षा शीघ्र उपयोग कर सकते हैं। परिष्करणकर्ता गेहूँ को आटा, आटे को बिस्कुट, दूध को मक्खन व घी, कपास को कपडे, तिलहन को तेल, गन्ने को चीनी व गुड के रूप मे परिवर्तित करके रूप-उपयोगिता उत्पन्न करते हैं। परिष्करण-क्रिया विपणन-प्रक्रिया का एक भाग है।

2. स्थान-उपयोगिता—वस्तुओ को अधिक पूर्ति वाले स्थानो से कमी वाले स्थानो पर परिवहन करके इनमे स्थान उपयोगिता उत्पन्न की जाती है, क्योकि कमी वाले क्षेत्रो मे वस्तुओ की उपयोगिता अधिक पूर्ति वाले क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक होती है। स्थान-उपयोगिता वस्तुओ मे परिवहन साधनो द्वारा उत्पन्न की जाती है। परिवहन साधन वस्तुओ को देश के एक कोने से दूसरे कोने मे पहुँचाकर स्थान उपयोगिता उत्पन्न करते हैं। परिवहन-क्रिया विपणन-प्रक्रिया का एक भाग है।

3. समय-उपयोगिता—अधिक उत्पादन वाले मौसम से उत्पादन नही होने वाले मौसम मे वस्तुएँ उपलब्ध कराने से समय-उपयोगिता उत्पन्न होती है। उत्पादन की मौसम मे वस्तुओ की पूर्ति अधिक होने से उपयोगिता कम होती है,' जबकि दूसरे मौसम मे वस्तुओ का उत्पादन नही होने के कारण उपयोगिता बढ जाती है। समय-उपयोगिता वस्तुओ मे सग्रहण एव भण्डारण विधि द्वारा उत्पन्न की जाती है। सग्रहण एव भण्डारण भी विपणन-प्रक्रिया का भाग है। उदाहरणार्थ आलू के मौसम म आलू का अधिक उत्पादन होने से उपयोगिता कम होती है जबकि दूसरे मौसम मे आलू की कमी के कारण उपयोगिता अधिक होती है। अतः अधिक उत्पादन वाले मौसम मे आलू को शीत

संग्रहागारों मे सुरक्षित रखकर समय-उपयोगिता उत्पन्न की जाती है।

4. **स्वामित्व (स्वत्व) उपयोगिता**—वस्तु की उपयोगिता विभिन्न व्यक्तियो के लिए विभिन्न होती है। जिस व्यक्ति के पास अमुक वस्तु अधिक मात्रा मे होती है उसके लिए उस वस्तु की उपयोगिता दूसरे व्यक्ति जिसके पास वह कम मात्रा मे उपलब्ध होती है उसकी अपेक्षा कम होती है। अत *वस्तु की बहुतायत वाले व्यक्ति से वस्तु की आवश्यकता वाले व्यक्ति के पास हस्तान्तरित करने से वस्तु की उपयोगिता मे वृद्धि होती है।* स्वामित्व-उपयोगिता वस्तुओं मे क्रय-विक्रय-क्रिया द्वारा उत्पन्न होती हे। क्रय-विक्रय विपणन-प्रक्रिया का प्रमुख भाग है।

उपर्युक्त विपणन से स्पष्ट है कि विपणन-प्रक्रिया से वस्तुओं म उपयोगिता उत्पन्न होती है। अतः विपणन एक उत्पादक क्रिया है।

अच्छी विपणन-पद्धति की विशेषताएँ :

एक अच्छी विपणन-पद्धति मे निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए—

1 विपणन पद्धति के अन्तर्गत वस्तुओ के क्रय-विक्रय मे सरकार का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए अर्थात् वस्तुओ का क्रय विक्रय स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए।

2 विपणन-पद्धति के अन्तर्गत समाज के विभिन्न वर्गों, प्रमुखतया निर्धन वर्ग को किसी भी प्रकार की हानि नही होनी चाहिए।

3 विपणन-पद्धति, क्षेत्र की विपणन-व्यवस्था को विकास की ओर अग्रसर करने वाली होनी चाहिए।

4. विपणन-व्यवस्था क्षेत्र मे वस्तुओ की माँग एव पूर्ति मे समायोजन स्थापित करने वाली होनी चाहिए।

5 विपणन-व्यवस्था समाज मे रोजगार मे वृद्धि करने मे भी सहायक होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि उपभोक्ता अधिक से अधिक उन वस्तुओ को क्रय करने को तत्पर हो जिनकी प्रोसेसिंग होती है।

कृषि-विपणन का आर्थिक विकास मे महत्त्व

देश के आर्थिक विकास मे कृषि-विपणन का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो निम्न-तथ्यो से स्पष्ट है—

1 तकनीकी ज्ञान के उपयोग से देश मे कृषि उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि हुई है, लेकिन कृषको को उत्पादन वृद्धि से अनुकूलतम आय तभी प्राप्त हो सकती है जब उत्पादित वस्तुओ के विक्रय की देश मे सुव्यवस्थित विपणन-प्रणाली हो। उत्पादन की अधिक मात्रा प्राप्त होने से ही कृषको को अधिक मेहनत करने की प्रेरणा मिले, यह आवश्यक नही

है। देश मे उचित विपणन-व्यवस्था के होने से कृषकों को उत्पादन की उचित कीमत प्राप्त होती है, विपणन-लागत कम देनी होती है और उन्हे उत्पादन मे वृद्धि करने की प्ररणा मिलती है। कृषको की आय मे वृद्धि होने मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी तथा देश मे विकास कार्यों पर व्यय करने के लिए अधिक धनराशि उपलब्ध हो सकेगी।

2 कृषि-विपणन द्वारा देश मे उपलब्ध खाद्यान्न एव अन्य कृषि वस्तुएँ असख्य उपभोक्ताओ तक पहुँच पाती हैं और उनकी आवश्यकताएँ पूरी होती है। उचित विपणन-व्यवस्था के अभाव मे देश मे आवश्यक मात्रा मे खाद्यान उपलब्ध होते हुए भी वे उपभोक्ताओ तक उचित समय एव उचित कीमत पर पहुँच नही पाते है। विपणन-प्रक्रिया मे लागत भी अधिक आती है। अत वस्तुओ की अधिक कीमतें, समय पर उनके आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध न होने तथा विपणन-लागत की अधिकता देश के आर्थिक विकास मे घातक होती है।

3 देश के आर्थिक विकास की योजनाओ की सफलता भी कृषि विपणन पर निर्भर करती है कृषि पर आधारित जनसख्या की गरीबी को कम करने, आवश्यक वस्तुओ की बढती हुई कीमतो को रोकने, अधिक विदेशी मुद्रा कमाने आदि योजनाओ के लिए देश मे कृषि-वस्तुओ की कुशल विपणन-व्यवस्था का होना आवश्यक है।

4 देश के आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक विकास भी आवश्यक है। देश के प्रमुख उद्योगो के लिए आवश्यक कच्चा-माल जैसे—गन्ना, कपास, जूट आदि कृषि क्षेत्र से प्राप्त होता है। उत्पादित माल की लागत मे कमी एव उनका विदेशो को निर्यात बढा करके अधिक विदेशी मुद्रा कमाने मे विपणन ज्ञान सहायक होता है। कृषि-विपणन वस्तुओ को उपभोक्ताओ की आवश्यकतानुसार उत्पादित करने एव उनके रूप मे परिवर्तन करने का ज्ञान भी प्रदान करता है।

5 कृषि विपणन देश के असख्य निवासियो (उत्पादको, विपणन-मध्यस्थो, परिष्करण मे सलग्न व्यक्तियो आदि) को उचित जीवन-स्तर बनाये रखने के लिए आय प्राप्त कराने मे सहायक होता है। अधिक आय प्राप्त होने से देश के निवासी अधिक मात्रा मे औद्योगिक वस्तुओ का क्रय करते हैं जिससे उद्योगो का विकास होता है, जो देश के आर्थिक विकास मे सहायक होता है।

6 देश मे कृषि उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए भी उत्पादन-साधनो जैसे—उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, कृषि-यन्त्र आदि का समय एव उचित कीमत पर उपलब्ध होना आवश्यक है। यह

तभी सम्भव हो पाता है जब देश मे विपणन की उचित व्यवस्था होती है। उचित विपणन-व्यवस्था का अभाव देश के आर्थिक विकास मे बाधक होता है।

बाजार मण्डी

प्राचीन काल मे देश मे वस्तुओ का लेन-देन वस्तु-विनिमय प्रथा द्वारा होता था, जिसके कारण वर्तमान की भाँति मण्डियाँ/बाजार नही थे। वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि, उत्पादन में विशिष्टीकरण एव वस्तु-विनिमय के स्थान पर मुद्रा द्वारा विनिमय होने के कारण देश मे मण्डियो का विकास होना शुरू हुआ। शुरू मे यह बाजार धार्मिक मेलो के स्थान पर लगने लगे, उसके पश्चात् प्रति सप्ताह हटवाडे लगने लगे, आवश्यकताओ के बढने के साथ बाजार नियमित रूप से लगने लग गये। बाजार शब्द के विभिन्न स्थानो पर विभिन्न पर्यायवाची शब्द हैं जैसे—मण्डी, हाट, सन्डीज, पैंथस आदि। मार्केट (बाजार) शब्द का उद्गम लेटिन शब्द मारकेटस् (Marcatus) से हुआ है जिससे तात्पर्य वस्तुओ के क्रय-विक्रय के स्थान से होता है।

बाजार की परिभाषा—विभिन्न व्यक्ति बाजार शब्द से विभिन्न अर्थ लगाते हैं। *साधारणतया बाजार शब्द से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ क्रेता एव विक्रेता* एकत्रित होकर वस्तुओ का लेन-देन करते हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने बाजार शब्द को विभिन्न शब्दो मे परिभाषित किया है लेकिन उनमे आपस मे बहुत समानता है। प्रमुख परिभाषाएँ ये हैं—

कूर्नो[7]—"अर्थशास्त्रियो का बाजार शब्द से तात्पर्य किसी विशिष्ट स्थान, जहाँ पर वस्तुओ का क्रय विक्रय होता है, से नही होकर, उस समस्त क्षेत्र से होता है जिसमे क्रेताओ एव विक्रेताओ के मध्य वस्तुओ के क्रय-विक्रय की पूर्ण स्पर्धा होती है, तथा एकसी वस्तुओ की कीमतें सुगमता व शीघ्रतापूर्वक समानता की स्थिति मे आ जाती हैं।"

हिब्बार्ड[8]—बाजार वह क्षेत्र है जिसके अन्तर्गत कीमत-निर्धारण की शक्तियाँ कार्य करती हैं।

7 Economists understand by the term markets not any particular market place in which things are bought and sold, but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the prices of the same goods tend to equality easily & quickly
—Cournot Re cher ches sur les Principles Mathematiques de la Theorie des Richesses Chap IV

8 B. H Hibbard, Marketing Agricultural Products, D Appleton & Company, INC, Newyork 1921, pp. 13-15

चैपमैन—आर्थिक दृष्टिकोण से बाजार शब्द का तात्पर्य किसी स्थान से नही है बल्कि उन वस्तुओ से है जिनके क्रेता एव विक्रेता क्रय-विक्रय के लिए एक-दूसरे से सीधे स्पर्धा मे होते हैं।

समाजशास्त्र ज्ञानकोष के अनुसार[9]—बाजार शब्द से तात्पर्य उस क्षेत्र से है जिसके अन्तर्गत माँग एव पूर्ति की शक्तियाँ किसी वस्तु की एक ही कीमत निर्धारित करने मे सफल होती हैं।

बाजार के लिए आवश्यकताएँ—किसी भी क्षेत्र को बाजार शब्द की परिभाषा मे सम्मिलित करने के लिए कुछ विशेषताओ का उस क्षेत्र मे होना आवश्यक है। आवश्यक विशेषताओ के नही होने पर, क्षेत्र को बाजार की परिभाषा मे सम्मिलित नही किया जाता है। बाजार शब्द के लिए प्रमुख आवश्यकताएँ निम्न हैं—

1 बाजार मे क्रय-विक्रय के लिए वस्तुओ का होना आवश्यक है।
2 बाजार मे वस्तुओ के क्रय-विक्रय के लिए क्रेताओ एव विक्रेताओ का होना आवश्यक है।
3 बाजार के लिए स्थान एव क्षेत्र का निर्धारण आवश्यक है।
4 क्षेत्र के क्रेता एव विक्रेताओ के मध्य स्वतन्त्र व्यापारिक सम्बन्ध का होना आवश्यक है।

किसी क्षेत्र को बाजार की परिभाषा मे होने के लिए आवश्यक नही है कि बाजार के समस्त क्षेत्र मे वस्तु की एक ही कीमत प्रचलित हो एव बाजार मे पूर्ण स्पर्धा की स्थिति विद्यमान हो।

विकसित बाजार की विशेषताएँ—विकसित बाजार मे निम्न विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं—

1 बाजार मे उपभोक्ताओ द्वारा चाही गई सभी वस्तुएँ, जिन्हे वे क्रय कर सकें, उपलब्ध होनी चाहिये।
2 उपभोक्ताओ के द्वारा वस्तुओ के चयन हेतु विभिन्न किस्म की वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिये।
3 बाजार मे नुकसानदेह वस्तुएँ विपणन के लिये नही होनी चाहिये।
4 बाजार मे उपलब्ध विभिन्न वस्तुओ की सूचना एव उनके गुणो की जानकारी देने की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये।
5. बाजार मे क्रेताओ पर वस्तुओ के क्रय के लिये किसी प्रकार का दबाव नही होना चाहिये।
6 बाजार मे वस्तुओ की उचित कीमत प्रचलित होनी चाहिये।
7. बाजार मे वस्तुओ के खुदरा-विक्रय की व्यवस्था होनी चाहिये।

बाजारों का वर्गीकरण—निम्न आधारो के अनुसार बाजारो का वर्गीकरण किया जाता है—

9 Encyclopaedia of Social Sciences, Vol 10, 1933, p 133.

1. क्षेत्रफल के अनुसार—इस आधार के अन्तर्गत बाजारो का वर्गीकरण उनके फैलाव अथवा उनमे आने वाले क्रेताओ एव विक्रेताओ के स्थान से बाजार की दूरी के अनुसार किया जाता है। क्षेत्रफल के आधार पर बाजार निम्न प्रकार के होते है—

(अ) स्थानीय बाजार—स्थानीय बाजार मे क्रेता एव विक्रेता अधिक दूरी से न आकर मुख्यतया उसी गाँव या कस्बे के होते हैं। स्थानीय बाजार मुख्यतया शीघ्रनाशी वस्तुओ जैसे—दूध, सब्जी आदि के विपणन के लिये होते हैं। इन्हे ग्रामीण बाजार भी कहते है।

(ब) क्षेत्रीय बाजार—इन बाजारो का क्षेत्र स्थानीय बाजारो की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। इनमे क्रेता एव विक्रेता नजदीक के ग्रामो अथवा क्षेत्र से क्रय-विक्रय के लिये आते हैं जैसे—खाद्यान्न के बाजार।

(स) राष्ट्रीय बाजार—इन बाजारो मे क्रेता एव विक्रेता देश के विभिन्न क्षेत्रो से आते हैं अर्थात् वस्तुओ का क्रय-विक्रय सम्पूर्ण देश के निवासियो के मध्य होता है। राष्ट्रीय बाजार में उन सभी वस्तुओ का विपणन होता है जो अधिक समय तक सगृहीत की जा सकती हैं जैसे—चाय, जूट आदि।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय/विश्व बाजार—इन बाजारो मे क्रेता एव विक्रेता विभिन्न देशो के होते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से ये सबसे बडे बाजार हैं। इन बाजारो मे उन वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता है जो लम्बी अवधि तक खराब नही होती हैं जैसे—चीनी, चाय, मशीनें, सोना चाँदी आदि।

2 स्थान स्थिति के अनुसार—स्थान स्थिति के अनुसार बाजार निम्न प्रकार के होते हैं—

(अ) स्थानीय/ग्रामीण बाजार—ये बाजार ग्रामो मे स्थित होते हैं और इनमे अधिकाश क्रेता एव विक्रेता उसी ग्राम के होते हैं।

(ब) प्राथमिक थोक बाजार– ये बाजार उत्पादन स्थानो के नजदीक बडे कस्बो मे लगते हैं। इनमे वस्तुएं अधिकाश मात्रा मे विक्रय के लिये उत्पादको द्वारा लायी जाती हैं। देश के अधिकाश कृषक उत्पादित खाद्यान्नो को विक्रय के लिये इन्ही बाजारो मे लाते हैं।

(स) माध्यमिक थोक बाजार—ये बाजार बडे कस्बो, शहरो एव रेल्वे जवशनो के समीप लगते हैं। इनमे खाद्यान्नो का क्रय-विक्रय थोक मे होता है। माध्यमिक थोक बाजारो मे वस्तुओ का क्रय विक्रय ग्रामीण व्यापारियो एव थोक व्यापारियो के मध्य मे होता है। खुदरा व्यापारी वस्तुएँ इन्हीं बाजारो से क्रय करके विक्रय हेतु ले जाते हैं।

(द) खुदरा बाजार—इन बाजारो मे खाद्यान्न एव अन्य वस्तुओ की बिक्री थोडी-थोडी मात्रा मे उपभोक्ताओ एव छोटे व्यापारियो के बीच होती है। विक्रेता

छोटे दुकानदार होते हैं जो माध्यमिक थोक बाजार से वस्तुएँ क्रय करके इन बाजारों में विक्रय करते हैं। फुटकर बाजार देश के सभी स्थानों पर पाये जाते हैं।

(य) बन्दरगाहों के समीप बाजार—ये बाजार मुख्यतः उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए होते हैं जो आयात अथवा निर्यात की जाती हैं। अतः ऐसे बाजार बन्दरगाहों के समीप होते हैं, जैसे—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कांदला बन्दरगाहों के समीप के बाजार।

(र) अन्तिम बाजार अन्तिम बाजार (Terminal Market) वे हैं जहाँ से वस्तु पुनः उस रूप में बाजार में विक्रय के लिये नहीं आती है। इन बाजारों से वस्तुएँ उपभोक्ताओं अथवा दूसरे देशों को निर्यात करने वाले व्यक्तियों को विक्रय की जाती हैं।

3 समय के अनुसार—समय के अनुसार बाजार निम्न प्रकार के होते हैं—

(अ) अल्पकालीन बाजार—ये बाजार वस्तुओं में शीघ्रनाशी गुण होने के कारण अल्पकाल के लिये ही लग पाते हैं। इन बाजारों में वस्तुओं की कीमतों पर पूर्ति की अपेक्षा माँग का प्रभाव अधिक होता है। अतः वस्तुओं की कीमतें माँग की प्रबलता के अनुसार निर्धारित होती हैं क्योंकि अल्पकाल में वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है, जैसे—सब्जी बाजार, मछली बाजार आदि।

(ब) दीर्घकालीन बाजार—ये बाजार उन वस्तुओं के लिये लगते हैं जो शीघ्रनाशी नहीं होती हैं, जैसे—खाद्यान्न, तिलहन आदि। दीर्घकालीन बाजार में माँग में परिवर्तन के अनुसार पूर्ति में परिवर्तन के लिये समय मिल जाता है जिससे वस्तुओं की कीमत पर माँग की अपेक्षा पूर्ति का प्रभाव अधिक होता है।

(स) सुदीर्घकालीन बाजार—ये बाजार उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये होते हैं जो बहुत समय तक खराब नहीं होती हैं, जैसे—मशीनें, निर्मित वस्तुएँ आदि। इन बाजारों में माँग में परिवर्तन के अनुसार पूर्ति में परिवर्तन के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है, जिसके कारण वस्तुओं की कीमत पर पूर्ति का प्रभाव दीर्घकालीन बाजार की अपेक्षा अधिक होता है।

4 क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुओं की संख्या के अनुसार :

(अ) साधारण मिश्रित बाजार—इन बाजारों में अनेक वस्तुओं, जैसे—खाद्यान्न, दालें, तिलहन, कपास, गुड़ आदि का क्रय-विक्रय होता है। इस प्रकार के बाजार देश के प्रत्येक ग्राम, कस्बे एवं शहर में होते हैं।

(ब) विशिष्ट बाजार—इन बाजारों में एक या दो वस्तुओं का ही क्रय-विक्रय होता है। विभिन्न वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये पृथक् विशिष्ट बाजार होते हैं, जैसे—खाद्यान्न-मण्डी, सब्जी-मण्डी, फल-मण्डी, कपास-मण्डी, ऊन मण्डी आदि।

(स) नमूने के द्वारा विक्रय बाजार—इन बाजारों में वस्तुओं का क्रय-विक्रय

वस्तु की पूरी मात्रा के स्थान पर उसके नमूने के आधार पर होता है। विक्रेता वस्तु का नमूना क्रेता को दिखाकर सौदा करते है। वस्तु की पूरी मात्रा का मण्डी मे होना आवश्यक नही है।

(द) श्रेणी के अनुसार विक्रय बाजार—इन बाजारों मे वस्तुओं का क्रय-विक्रय वस्तु की निर्धारित श्रेणी के आधार पर होता है। इन श्रेणियो से क्रेता एव विक्रेता पूर्व परिचित होते हैं। वस्तुओ की श्रेणी के अनुसार कीमतें निर्धारित होती हैं।

5 स्पर्द्धा के अनुसार—क्रय-विक्रय मे होने वाली स्पर्द्धा के अनुसार बाजार निम्न प्रकार के होते है—

(अ) पूर्ण स्पर्द्धा वाले बाजार—वे बाजार जिनमे क्रेताओ और विक्रेताओ के मध्य वस्तुओ के क्रय-विक्रय के लिये पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति होती है। इन बाजारो मे क्रेता एव विक्रेता काफी सख्या मे होते है। इन बाजारो के सभी क्षेत्रो मे वस्तु की कीमत का समान होना आवश्यक होता है। वास्तव मे पूर्ण स्पर्द्धा वाले बाजार काल्पनिक होते हैं क्योकि उपर्युक्त शर्तें पूर्ण रूप से बाजार म नही पायी जाती हैं।

(ब) अपूर्ण स्पर्द्धा वाले बाजार—वे बाजार जिनमे क्रेताओ एव विक्रेताओ के मध्य पूर्ण स्पर्द्धा की स्थिति का अभाव होता है। इन बाजारो मे क्रेताओ एव विक्रेताओं की सख्या पर्याप्त नही होने के कारण पूर्ण स्पर्द्धा नही होती है तथा विक्रेता विभिन्न कीमतो पर क्रेताओ को वस्तुएँ विक्रय करते हैं। अपूर्ण स्पर्द्धा वाले बाजार निम्न प्रकार के होते हैं—

(i) एकाधिकार बाजार—इन बाजारो मे वस्तु का एक ही विक्रेता होता है जिसके कारण वह क्रेताओ से अपनी इच्छानुसार कीमत वसूल करता है। इन बाजारो मे कीमतें स्पर्द्धा के अभाव के कारण साधारणतया अन्य बाजारो की अपेक्षा अधिक होती हैं। जब बाजार मे वस्तु का एक ही क्रेता होता है तो उस बाजार को एक-क्रेताधिकार बाजार (Monopsony Market) कहते हैं।

(ii) द्वयाधिकार बाजार—इन बाजारो मे वस्तुओ के दो ही विक्रेता होते हैं। दोनो विक्रेता आपस मे समझौता कर लेते है और क्रेताओ से अधिक कीमत वसूल करते हैं। बाजार मे वस्तुओ के दो ही क्रेता होने की स्थिति मे बाजार को द्वि-क्रेताधिकार बाजार (*Duopsony Market*) कहते हैं।

(iii) अल्पाधिकार बाजार—इन बाजारो मे वस्तुओ के विक्रेता दो से अधिक होते है, लेकिन उनकी सख्या अधिक नही होती है। अत पूर्ण स्पर्द्धा का अभाव होता है। क्रेताओ की सख्या दो मे अधिक, लेकिन ज्यादा नहीं होने की स्थिति मे बाजार को अल्प-क्रेताधिकार बाजार (Oligopsony Market) कहते हैं।

(iv) एकाधिकारात्मक बाजार—एकाधिकारात्मक बाजार (Monopolistic Market) मे क्रेता एव विक्रेता अधिक सख्या म होते हैं। इन बाजारो मे वस्तुओ की किस्म मे विभिन्नता होती है। वस्तुओ की किस्म मे विभिन्नता,

विक्रेताओ द्वारा वस्तुओ पर विभिन्न ट्रेडमार्क देकर की जाती है, जिसके कारण उनकी कीमतो मे भी भिन्नता पायी जाती है।

6 **नियन्त्रण के अनुसार**—नियन्त्रण के अनुसार बाजार दो प्रकार के होते हैं :

(अ) नियन्त्रित बाजार—ये बाजार जो कृषि-उपज मडी समिति द्वारा नियन्त्रित किए जाते हैं। इन बाजारो मे विपणन पद्धतियो एव व्यापारियो की कुचालो को कानून द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, जिससे वस्तुओ की प्रति इकाई विपणन-लागत कम आती है और उत्पाद की कीमत अच्छी प्राप्त होती है।

(ब) अनियन्त्रित बाजार—इन बाजारो मे व्यापारी इच्छानुसार कार्य करते हैं। इन बाजारो मे विपणन की दोषयुक्त प्रणाली पायी जाती है, जिससे विपणन-लागत अधिक आती है। इन बाजारो मे विपणन के नियम व्यापारियो द्वारा बनाए जाते हैं, जिनमे कृषको के हितो की रक्षा करने के उपाय सम्मिलित नही होते हैं।

7 **वस्तुओ के आदान-प्रदान के समयानुसार** :

(अ) हाजिर बाजार—हाजिर बाजार मे वस्तुओ का लेन-देन एव आदान-प्रदान विक्रय के तुरन्त पश्चात् होता है। वस्तुओ की कीमत का शीघ्र भुगतान करके क्रेता वस्तुओ को ले जाते हैं।

(ब) वायदा बाजार—वायदा बाजार मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय वर्तमान मे होता है, लेकिन उनका आदान-प्रदान भविष्य मे निश्चित किए गए दिनाक को होता है। साधारणतया वायदा बाजारो मे वस्तुओ का वास्तविक आदान-प्रदान नही होता है, बल्कि क्रेताओ एव विक्रेताओ मे विक्रय से होने वाले लाभ अथवा हानि की राशि का ही भुगतान होता है।

8 **वस्तुओं की मात्रा के अनुसार** .

(अ) थोक बाजार—थोक बाजार मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय अधिक मात्रा मे एक साथ होता है। अधिक मात्रा मे क्रय-विक्रय साधारणतया व्यापारियो के मध्य होते हैं।

(ब) खुदरा बाजार—इन बाजारों मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय थोडी-थोडी मात्रा मे खुदरा विक्रेताओ एव उपभोक्ताओ के मध्य होता है। थोक एव खुदरा विक्रय के लिए वस्तु की मात्रा वस्तु की किस्म के अनुसार परिवर्तित होती है।

9 **वस्तुओ की प्रकृति के अनुसार** :

(अ) वस्तुओ का बाजार—इन बाजारो मे विभिन्न उत्पादित वस्तुओ (कृषि उत्पादो, निर्मित वस्तुओ एव उत्पादन साधनो) का क्रय-विक्रय होता है।

(ब) मुद्रा बाजार—इन बाजारो मे वस्तुओ का लेन-देन न होकर मुद्रा, शेयर, बॉड्स आदि का क्रय-विक्रय होता है।

मंडियों का विकास :

प्राचीनकाल मे देश में वर्तमान की भांति मण्डियाँ विकसित नही थी, क्योंकि इस काल मे वस्तुओं का लेन-देन रुपयों के आधार पर नहीं होकर, वस्तु-विनिमय विधि द्वारा होता था। वर्तमान मे मुद्रा का प्रसार, कीमतों का ज्ञान, कृषि में विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति के कारण वस्तुओं का लेन-देन, आस-पास के क्रेताओं एवं विक्रेताओं तक ही सीमित नहीं रह कर, देश-विदेश के क्रेताओं एव विक्रेताओं के मध्य होने लग गया है, जिससे देश में मण्डियों का विकास हुआ है और मण्डियां वर्तमान स्थिति मे आ गयी हैं। मण्डियों के विकास का निम्न दृष्टिकोण से अध्ययन किया जा सकता है—

1 **कार्यात्मक विकास**—इस दृष्टिकोण मे मण्डियों मे किये जाने वाले कार्य मुख्य आधार होते हैं। देश मे सर्वप्रथम सामान्य/मिश्रित बाजारों का जन्म हुआ था। इन बाजारों मे अनेक वस्तुओं मे लेन-देन होता था। उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं मे वृद्धि, वस्तुओं के प्रचार, उत्पादन मे विशिष्टीकरण आदि के कारण सामान्य बाजार धीरे-धीरे विशिष्ट बाजारों के रूप मे परिवर्तित होने शुरू हुये। विशिष्ट बाजारों मे एक या दो वस्तुओं मे ही क्रेताओं एवं विक्रेताओं के मध्य लेन-देन होता है। व्यवसाय बढने के साथ विपणन के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई और वस्तुओं का क्रय-विक्रय पूरे माल को देखने के स्थान पर नमूने के आधार पर होना शुरू हुआ। तत्पश्चात् कृषि-उपज के श्रेणी चयन एव मानकीकरण के कारण वस्तुओं का व्यापार निर्धारित श्रेणियों के अनुसार होने लग गया, जिससे वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास मे सहयोग मिला। इस प्रकार मण्डियों का कार्यात्मक विकास होकर मण्डियाँ वर्तमान स्थिति मे आ गई।

2 **भौगोलिक विकास**—मण्डियों के विकास के अध्ययन का दूसरा दृष्टिकोण भौगोलिक विकास है, जिसके अनुसार सर्वप्रथम वस्तुओं का क्रय-विक्रय पारिवारिक बाजार अर्थात् क्रय विक्रय परिवार एवं ग्राम के सदस्यों तक ही सीमित होता था। उत्पादन मे विशिष्टीकरण एवं उपभोक्ताओं की आवश्यकता मे वृद्धि के कारण पारिवारिक बाजार स्थानीय बाजार के रूप में विकसित हुए अर्थात् वस्तुओं का क्रय-विक्रय आस-पास के गाँवों के क्रेताओं एवं विक्रेताओं के मध्य होने लग गया। वस्तुओं की माँग देश के सभी कोनों से होने तथा परिवहन एवं संचार सुविधाओं के विकास के कारण राष्ट्रीय बाजारों का विकास हुआ। देश-विदेश के ज्ञान एवं व्यवहार के बढने तथा देश की मुद्रा के विभिन्न देशों की मुद्राओं मे विनिमय की सुविधा के कारण वस्तुओं मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शुरुआत हुई। वस्तुएँ एक देश से दूसरे देश को आयात-निर्यात की जाने लगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों का विकास हुआ।

मण्डियों के उपर्युक्त विकास को निम्न प्रकार से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

मण्डियों का विकास

- कार्यात्मक विकास
  - सामान्य या मिश्रित बाजार → विशिष्ट बाजार → नमूने के द्वारा विपणन बाजार → श्रेणियों के अनुसार विपणन बाजार
- भौगोलिक विकास
  - पारिवारिक बाजार → स्थानीय-बाजार → राष्ट्रीय-बाजार → अन्तर्राष्ट्रीय बाजार
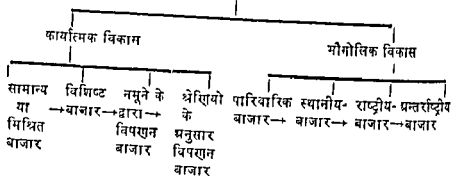
मण्डियों के विकास को प्रभावित करने वाले कारक—निम्न कारक मण्डियों के विकास को प्रभावित करते हैं—

(1) वस्तुओं की प्रकृति—शीघ्रनाशी वस्तुओं का बाजार अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कम विकसित हो पाता है, क्योंकि उन्हे अधिक समय तक संग्रहीत नहीं किया जा सकता है।

(2) वस्तुओं की मांग—स्थायी मांग वाली वस्तुएँ जैसे-खाद्यान्न का बाजार अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक विकसित होता है।

(3) परिवहन एवं संचार व्यवस्था—जिन क्षेत्रों मे परिवहन एवं संचार की सुविधाएँ अधिक होती है, उन क्षेत्रों मे मण्डियों का विकास अधिक होता है।

(4) क्षेत्र मे शान्ति एवं सुरक्षा व्यवस्था—शान्ति एवं सुरक्षा व्यवस्था वाले क्षेत्रों मे मण्डियों का विकास अधिक होता है। सुरक्षा-व्यवस्था के खराब होने पर मण्डियों के विकास मे बाधा पहुँचती है।

(5) सरकार की नीति—सरकार की नीति के कारण वस्तुओं के आयात-निर्यात पर पाबन्दी वाले क्षेत्रों मे मण्डियों का विकास अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम हो पाता है।

(6) ऋण-उपलब्धि—पर्याप्त ऋण-सुविधा वाले क्षेत्रों मे मण्डियों का विकास अधिक होता है।

(7) मुद्रा का विकास—जिस देश की मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे अच्छी साख होती है, उस देश में मण्डियों का विकास अधिक होता है क्योंकि उस देश के साथ अन्य देश व्यापार करने मे प्राथमिकता देते हैं।

(8) **वस्तुओं के श्रेणीचयन की सुविधा**—जिन वस्तुओं मे श्रेणीचयन सुगमता से किया जा सकता है, उन वस्तुओं का बाजार अश्रेणीकृत वस्तुओं की अपेक्षा अधिक विकसित होता है।

(9) **वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा** - जिन वस्तुओं का उत्पादन वर्ष भर तथा काफी मात्रा मे होता है, उन वस्तुओं का बाजार अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक विकसित होता है।

वायदा बाजार
(Forward Market)

वायदा बाजार से तात्पर्य उस बाजार से है जिसमे वस्तुओं का क्रय-विक्रय वर्तमान मे होता है, लेकिन उनका वास्तविक आदान-प्रदान भविष्य म निश्चित किए गए दिनाक को होता है। वायदा बाजार को अग्रिम बाजार भी कहते है। साधारणतया वायदा बाजार मे वस्तुओं का वास्तविक आदान-प्रदान नही होता है, बल्कि क्रेताओं एव विक्रेताओं मे विक्रय से होने वाले लाभ अथवा हानि की राशि का ही भुगतान होता है। वायदा बाजार मे वस्तुओं के लेन-देन मे दो प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। विपणन भाषा मे तेजडिये (Bulls) एव मन्दडिये (Bears) कहते हैं। वे व्यक्ति जो यह महसूस करते हैं कि निकट भविष्य मे वस्तुओं की कीमतो मे वृद्धि होगी, तेजडिये कहलाते है तथा वे व्यक्ति जो यह महसूस करते हैं कि निकट भविष्य मे वस्तुओं की कीमतो मे गिरावट आवेगी, मन्दडिये कहलाते है। वायदा बाजार इन्ही दोनो वर्ग के व्यक्तियों मे आपसी निर्णयो के आधार पर चलता है। एक वर्ग कीमतो के बढने की आशा मे वस्तुओं का क्रय करता है, जबकि दूसरा वर्ग कीमतो के गिरने की आशा मे विक्रय करता है।

वायदा बाजार से लाभ —देश के आर्थिक ढांचे मे वायदा बाजार निम्न सेवाएँ प्रदान करता है—

1 वायदा बाजार वस्तुओं की कीमतो मे होने वाले उतार-चढाव को कम करने मे सहायक होता है, जिससे व्यापारी, सग्रहकर्त्ता, परिष्करण मे लगे व्यक्तियो की कीमतो के प्रतिकूल उतार-चढाव के कारण होने वाली हानि कम हो जाती है।

2 वायदा बाजार के होने से वस्तुओं के व्यापार मे प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति के कारण कीमतो मे उतार-चढाव सामान्य गति से होता है। वस्तुओं का सचलन निरन्तर बना रहता है, जिसके कारण उत्पादन मौसम मे कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि वाली स्थिति उत्पन्न नही होती है।

3 वायदा बाजार विभिन्न समयो मे वस्तुओं की कीमतो के ढाचे मे एकीकरण बनाए रखता है, जिस प्रकार परिवहन एव सचार कार्य बाजार के विभिन्न स्थानो पर कीमतो के ढाँचे मे एकीकरण बनाए रखता है।

4. वायदा-बाजार के कारण वस्तुओं का क्रय-विक्रय उत्पादन के पूर्व अथवा पैदावार के मण्डी मे आने के पूर्व ही विक्रय हो पाना सम्भव होता है।

5. वायदा-बाजार के होने से वर्तमान एव भावी कीमतो मे समन्वय स्थापित हो पाता है।

वायदा-बाजार से हानि—वायदा-बाजार से निम्न हानियाँ होने की आशंका बनी रहती है—

(1) वायदा-बाजार के कारण विपणन प्रक्रिया मे ऐसे व्यक्ति कभी-कभी लेन-देन मे सम्मिलित हो जाते हैं, जिनके पास पर्याप्त धनाभाव, साधन, सूचना एव अनुभव नही होने के कारण विपणन प्रक्रिया मे किये गये वायदे पूरा करना उनके लिये सम्भव नही होता है। इस प्रकार की परिस्थिति से वायदा-बाजार के नैतिक स्तर पर विपरीत प्रभाव आता है।

(2) वायदा-बाजार के कारण सट्टे की प्रवृत्ति वाले विपणन-मध्यस्थ, विपणन-प्रक्रिया मे प्रवेश कर जाते है, जिन्हें वस्तु की पूर्ति एव मांग मे कोई दिलचस्पी नही होती है। वे वस्तुओ की उपलब्ध मात्रा का गुप्त सचय करके बाजार मे कृत्रिम कमी की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे कीमतो मे अत्यधिक उतार-चढ़ाव होते हैं जो अर्थव्यवस्था के लिये नुकसानदेह होते हैं।

अतः वायदा-बाजार के कारण अर्थव्यवस्था पर आने वाले प्रभावो के विषय मे विभिन्न व्यक्तियो मे मतभेद पाया जाता है। प्रथम वर्ग के व्यक्ति यह मानते हैं कि वायदा-बाजार वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को कम करने एव कीमतो मे स्थिरीकरण की स्थिति उत्पन्न करते है। दूसरे वर्ग का मत है कि वायदा बाजार के कारण कीमतो मे होने वाले उतार चढावो के अन्तर एव क्रम मे वृद्धि होती है, जिससे कीमतो मे असाधारण दर से परिवर्तन होता है। तीसरे वर्ग का मानना है कि वायदा-बाजार के होने से वस्तुओ की कीमतो के परिवर्तन मे दोनों ही प्रकार के प्रभाव होते हैं।

कृषि कीमतो मे होने वाले अत्यधिक व हानिकारक सट्टे की प्रथा को नियन्त्रित करने के लिए सरकार ने वायदा सविदा (नियन्त्रण) अधिनियम, 1952 [Forward Contracts (Regulation) Act] पारित किया है। इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य वायदा-बाजार मे होने वाले लेन-देन को नियन्त्रित करना, वस्तुओ के विकल्प (Option) की प्रथा पर रोक लगाना एव अन्य सम्बन्धित निर्णय लेने से है। ये कार्य वायदा-बाजार आयोग की सहायता से किये जाते हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत समय-समय पर सरकार वस्तुओ की कीमतो मे होने

वाले सट्टे की प्रवृत्ति को देखते हुए विभिन्न वस्तुग्रो के वायदा-बाजार पर पाबन्दी लगाती है। आवश्यकतानुसार कानून मे व्याप्त कमियो को दूर करने एव अनेक वस्तुग्रो के वायदा बाजार को नियन्त्रण मे लाने के लिए अधिनियम मे सशोधन भी ये गये है।

यदा बाजार के होने के लिए वस्तुग्रो मे गुणो की ग्रावश्यकता

किसी भी वस्तु के वायदा बाजार हेतु सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए वस्तुओ मे निम्न गुण होने चाहिए—

(1) वस्तु की पूर्ति बाजार मे पर्याप्त मात्रा मे होनी चाहिये। कम पूर्ति वाली वस्तुओ मे वायदा-बाजार की स्वीकृति सरकार नहीं देती है।

(2) वस्तुग्रो की पूर्ति पर्याप्त मात्रा मे होन के साथ-साथ वस्तु के पूर्तिकर्त्ता एक न होकर अनेक होने चाहिए।

(3) वस्तुग्रो मे शीघ्रनाशी का गुण नही होना चाहिए।

(4) वस्तुग्रो मे श्रेणीकरण किए जाने का गुण होना चाहिए, जिससे भविष्य मे वस्तुओं की बिना किसी गुणात्मक समस्या के पूर्ति की जा सके।

(5) वस्तु की मांग पर्याप्त मात्रा मे होनी चाहिए एव उनके क्रेता भी अधिक सख्या मे होने चाहिए।

(6) वस्तु की कीमत मे निरन्तर परिवर्तन होने का गुण होना चाहिए।

वस्तुग्रो के वायदा बाजार 19वी शताब्दी के ग्रन्त से ही प्रचलित हैं। सर्वप्रथम कपास के लिये वायदा बाजार वर्ष 1885 मे बम्बई म स्थापित किया गया था। उसके पश्चात् तिलहन के लिए बम्बई मे वर्ष 1900 मे, गेहूँ के लिये हापुड मे वर्ष 1913 मे, कच्चे जूट एव निर्मित जूट की वस्तुग्रा के लिये कलकत्ता म वर्ष 1912 मे एव सोने-चाँदी के लिये बम्बई मे वर्ष 1920 मे वायदा-बाजार स्थापित किये गये। तत्पश्चात् ग्रन्य वस्तुग्रो के वायदा-बाजार भी अनेक स्थानो पर स्थापित किये जा चुके हैं।

विपणन ग्रध्ययन के दृष्टिकोण (Approaches for Studying Marketing)

विपणन-प्रक्रिया एव समस्याग्रो के ग्रध्ययन के प्रमुख दृष्टिकोण निम्न है—

(1) कार्यात्मक दृष्टिकोण—विपणन प्रक्रिया के ग्रध्ययन के इस दृष्टिकोण मे विभिन्न सस्थाओ द्वारा किये जाने वाले विपणन कार्यों का समावेश होता है। प्रत्येक वस्तु के विपणन के लिये विभिन्न विपणन-कार्य ग्रावश्यक रूप से करने होते हैं। विपणन-कार्यो को समाप्त नही किया जा सकता है, बल्कि विपणन कार्यों को करने वाली सस्थाग्रो मे परिवर्तन किया जा सकता है। विपणन कार्यों के अभाव मे वस्तुग्रो की विपणन प्रक्रिया पूरी नही हो सकती है। विपणन कार्यों का अध्ययन वस्तुग्रो के विपणन मे होने वाली लागत की भिन्नता, विभिन्न विपणन मध्यस्था का प्राप्त होने वाले लाभ की राशि एव विपणन-तन्त्र के ग्रध्ययन मे सहायक होता है।

वस्तुओ के विपणन मे किये जाने वाले विपणन कार्यों का विस्तृत विवरण अध्याय 13 मे दिया गया है।

(2) संस्थागत दृष्टिकोण—विपणन-प्रकिया के अध्ययन के दूसरे दृष्टिकोण के अन्तर्गत विपणन कार्य करने वाली संस्थाओ का क्रमागत अध्ययन किया जाता है। विपणन कार्य मे लगी हुई विपणन-संस्थाएँ एक या अनेक विपणन-कार्य सम्पन्न करती है और अपनी सेवाओ के लिये लागत/लाभ की राशि प्राप्त करती हैं।

(3) वस्तुगत दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत बाजार संरचना के अध्ययन के लिये विभिन्न वस्तुओ का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। वस्तुओ के गुणो मे भिन्नता के कारण सभी वस्तुओ का एक साथ अध्ययन नही किया जा सकता। वस्तुगत दृष्टिकोण मे बाजार संरचना के अध्ययन के लिए कार्यात्मक एव संस्थागत दोनो ही दृष्टिकोण काम मे लाये जाते हैं।

(4) व्यवहार विधि दृष्टिकोण—विपणन अध्ययन के इस दृष्टिकोण मे विभिन्न विपणन संस्थाओ के व्यवहार का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। विपणन संस्थाओ का व्यवहार निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इस दृष्टिकोण मे विभिन्न विपणन संस्थाओ एव उनके समूह का एक व्यवहार-विधि के रूप मे अध्ययन किया जाता है।

खाद्यान्नों के विपणन मे पाये जाने वाले विपणन-मध्यस्थ

खाद्यान्नो के विपणन मे पाये जाने वाले विपणन-मध्यस्थो को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—

(1) सौदागर मध्यस्थ—ये मध्यस्थ खाद्यान्नो का क्रय-विक्रय लाभ की प्राप्ति के लिये करते हैं और क्रय-विक्रय की कीमतो के अन्तर से लाभ कमाते हैं। सौदागर मध्यस्थ दो प्रकार के होते हैं—

(अ) थोक व्यापारी- ये व्यापारी वस्तुओ का क्रय विक्रय बहुत मात्रा मे एक साथ करते है। इन्हे वस्तु की प्रति इकाई मात्रा पर लाभ कम प्राप्त होते हुए भी कुल लाभ अधिक प्राप्त होता है, क्योकि एक साथ वस्तु की काफी मात्रा का क्रय करते है।

(ब) खुदरा व्यापारी—खुदरा व्यापारी मण्डियो से खाद्यान्न अधिक मात्रा मे क्रय करके उपभोक्ताओ को थोडी-थोडी मात्रा मे विक्रय करते है और विक्रय कीमत एव क्रय-कीमत के अन्तर से अपना निर्वाह करते है।

(2) एजेण्ट/अभिकर्ता मध्यस्थ—ये विपणन-मध्यस्थ कृषको अथवा विपणन करने वाले व्यापारियो के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करते हैं। एजेण्ट मध्यस्थ स्वय वस्तुओ का क्रय विक्रय लाभ कमाने के लिये नही करते हैं बल्कि ये अपने कार्य के लिये कृषको या व्यापारियो से कमीशन/आढत प्राप्त करते हैं। अभिकर्त्ता मध्यस्थ दो प्रकार के होते हैं—

(अ) आढतिया—ये कृषको एव व्यापारियो द्वारा लाये गये खाद्यान्नो का विक्रय करते हैं और प्राप्त विक्रय राशि मे से अपना कमीशन काटकर शेष राशि का कृषक/व्यापारी को भुगतान करते हैं। आढतियो की बाजार मे स्थायी दुकान होती है और आवश्यकता पडने पर ये कृषको को ऋण भी प्रदान करते हैं। आढतियो को कृषको द्वारा लाये गये खाद्यान्नो को विक्रय करने के पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं।

(ब) दलाल—इनका प्रमुख कार्य वस्तुओं के क्रेताओ एव विक्रेताओ को क्रय-विक्रय के लिये एक स्थान पर मिलाना होता है। अपनी सेवाओ के लिये वे क्रेताओ, विक्रेताओ अथवा दोनो से ही बाजार प्रथा के अनुसार दलाली प्राप्त करते हैं। दलालो को क्रेताओ एव विक्रेताओ के लिये वस्तुओ के क्रय-विक्रय करने का अधिकार सामान्यत प्राप्त नही होता है। इनकी मण्डी मे दुकान साधारणतया नही होती है।

(3) सट्टा मध्यस्थ—सट्टा मध्यस्थो का मुख्य उद्देश्य वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले उतार-चढावो के अन्तर से लाभ कमाना होता है। ये मध्यस्थ कीमतो के बढने की सम्भावना मे वस्तुओ को क्रय करते हैं और कुछ समय उपरान्त कीमतो के बढने पर वस्तुओ का विक्रय करते हैं। सट्टा मध्यस्थो मे साधारणतया वस्तुओ का आदान-प्रदान नही होता है बल्कि लाभ अथवा हानि की राशि का ही आपस मे भुगतान होता है।

(4) परिष्करण मे सलग्न मध्यस्थ—ये मध्यस्थ वस्तुओ के रूप मे परिवर्तन करते हैं। जैसे–दाल मिल या तेल मिल का स्वामी आदि। ये स्वय वस्तुओ को क्रय करके अथवा निर्धारित मजदूरी पर वस्तुओ के रूप म परिवर्तन करते हैं।

(5) ग्रामीण व्यापारी – ये व्यापारी गाँवो मे कृषको स खाद्यान्न क्रय करके एकत्रित खाद्यान्नो को एक साथ मण्डी तक पहुँचात हैं और क्रय-विक्रय कीमत के अन्तर से लाभ कमाते हैं। ग्रामीण व्यापारी कृषको को फसल उत्पादन के लिये ऋण भी देते हैं और उत्पादित फसल की मात्रा को उनके माध्यम स बेचने को विवश करते हैं।

(6) घुमक्कड सौदागर—ये मध्यस्थ गाँव-गाँव मे घूमते रहते हैं और खाद्यान्न क्रय करते हैं। एकत्रित खाद्यान्नो को मण्डी मे ल जाकर विक्रय करके कीमतो के अन्तर से लाभ कमाते हैं।

(7) तौलारा—विपणन-प्रक्रिया मे ये वस्तुओ का सही तौलने का कार्य करते हैं और सेवाओ के लिये तुलाई प्राप्त करत हैं।

(8) पल्लेदार/हमाल—ये व्यक्ति वस्तुओ का परिवहन साधनो से उतारने, चढाने, गोदाम तक पहुँचाने आदि मे ढोने का कार्य करते हैं और सेवाओ के लिये मजदूरी प्राप्त करते हैं।

(9) अन्य कार्यकर्ता—मुनीम, चौकीदार, सफाई करने वाले कर्मचारी आदि।

कृषकों का उत्पादन अधिशेष

फार्म पर उत्पादित खाद्यान्न एवं अन्य फसलों की सम्पूर्ण मात्रा कृषकों द्वारा विक्रय नहीं की जाती है। कृषक किसी भी वस्तु की उत्पादित मात्रा में घरेलू आवश्यकता की मात्रा रखने के बाद शेष बची हुई मात्रा को विक्रय करते हैं। कृषकों का उत्पादन-अधिशेष दो प्रकार का होता है—

(1) विक्रेय (बिक्री योग्य) अधिशेष (Marketable Surplus)—विक्रेय अधिशेष वह मात्रा है, जिसे कृषकों द्वारा कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में कार्य कर रहे व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु उपलब्ध कराया जा सकता है। कुल उत्पादन की मात्रा में से विभिन्न आवश्यकताएँ जैसे—परिवार के उपभोग, बीज, पशुओं के लिए दाना, श्रमिकों को मजदूरी का वस्तु के रूप में भुगतान की मात्रा को घटाने पर जो मात्रा शेष रहती है, वह उस वस्तु की विक्रेय अधिशेष की मात्रा कहलाती है। सूत्र के अनुसार विक्रेय अधिशेष=उत्पादन की कुल मात्रा−विभिन्न आवश्यकताओं के लिए आवश्यक मात्रा।

अतः कृषकों के विक्रेय-अधिशेष की मात्रा, परिवार के लिए उपभोग, बीज, पशुओं के लिए दाना आदि की आवश्यकता पर निर्भर करती है। उपर्युक्त कार्यों के लिए आवश्यकता के अधिक होने पर विक्रेय-अधिशेष की मात्रा कम होती है तथा इनकी आवश्यकता कम होने पर विक्रेय अधिशेष की मात्रा अधिक होती है। विक्रेय-अधिशेष एक सैद्धान्तिक धारणा है क्योंकि कृषकों द्वारा वस्तु की बाजार में विक्रय की जाने वाली मात्रा साधारणतया इससे अधिक अथवा कम होती है।

(2) विक्रीत अधिशेष (Marketed Surplus)—विक्रीत अधिशेष वस्तुओं की वह मात्रा है जो कृषकों द्वारा उपभोक्ताओं को सीधे रूप में अथवा व्यापारियों को अथवा दोनों को वास्तव में विक्रय किया जाता है। विक्रीत अधिशेष की मात्रा, उत्पादक कृषकों के स्वयं के परिवार, पशुओं के लिए दाना, बुवाई के लिए बीज, श्रमिकों को मजदूरी भुगतान करने के लिए वस्तु की आवश्यक मात्रा के अतिरिक्त वस्तु की प्रचलित कीमत, प्रतिस्पर्धा वाली वस्तुओं की कीमतों, कृषकों को वित्त की आवश्यकता एवं भावी कीमतों की स्थिति आदि पर निर्भर होती है। उपभोक्ताओं की दृष्टि से वस्तु की विक्रीत अधिशेष की मात्रा महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि विक्रीत अधिशेष की मात्रा ही उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धन उपलब्ध कराने में सक्षम होती है।

कृषकों की किसी भी वस्तु की विक्रीत अधिशेष की मात्रा विक्रेय अधिशेष की मात्रा से अधिक, कम व उसके समतुल्य हो सकती है। कृषकों की विक्रीत अधिशेष की मात्रा विक्रेय अधिशेष की मात्रा से अधिक उस अवस्था में होती है जब कृषक वित्तीय आवश्यकताओं के कारण उपलब्ध विक्रेय अधिशेष की मात्रा से अधिक मात्रा में वस्तुओं का विक्रय करते हैं। इस स्थिति के अन्तर्गत कृषक, परिवार एवं

फार्म के लिए आवश्यक मात्रा से कम मात्रा मे वस्तुओ को अपने पास रखते हैं तथा आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ समय उपरान्त ऋण प्राप्त करके अथवा उधार मे वस्तुओ को बाजार से स्वय क्रय करते है। लघु कृषको के यहाँ ऐसा मुख्यतया होता है विक्रीत अधिशेष की मात्रा विक्रेय अधिशेष की मात्रा मे कम उस अवस्था मे होती है जब कृषक बाजार मे वस्तु की प्रचलित कीमत कम होने के कारण, वस्तु को विक्रय नही करके सग्रहण करते हैं। साधारणतया बडी जोत वाले कृषको अथवा समृद्धिशाली कृषको के यहाँ विक्रीत अधिशेष की मात्रा विक्रेय अधिशेष की मात्रा मे कम होती है। शीघ्रनाशी वस्तुओ मे विक्रीत अधिशेष एव विक्रेय अधिशेष की मात्रा समान होती है। विभिन्न कृषको के यहाँ भिन्न भिन्न खाद्यान्नो की विक्रीत अधिशेष की मात्रा एव कृषको के जोत के आकार मे धनात्मक सम्बन्ध होता है। कृषि जोत के आकार के बढने के साथ-साथ कृषको के विक्रेय-अधिशेष की मात्रा मे वृद्धि होती है।

श्री एच एल चावला की अध्यक्षता मे बनी उप-समिति[10] की रिपोर्ट के आधार पर वर्ष 1981–82 के सशोधित आकलनो के अनुसार कुल उत्पादित मात्रा मे से विक्रेय अधिशेष/विक्रीत अधिशेष की मात्रा धान म 42.71 प्रतिशत, गेहूँ मे 52.44 प्रतिशत, ज्वार मे 32 85 प्रतिशत, बाजरे मे 33 29 प्रतिशत, मक्का में 87 19 प्रतिशत, चने मे 40 30 प्रतिशत अरहर मे 50 88 प्रतिशत, सरसो मे 92 70 प्रतिशत, कपास मे 95.50 प्रतिशत एव गन्ने मे 88 00 प्रतिशत होता है। इस मात्रा का धान मे 45 प्रतिशत, ज्वार मे 30 प्रतिशत, बाजरे मे 40 प्रतिशत, मक्का मे 47 प्रतिशत, गेहूं मे 64 प्रतिशत, जौ मे 61 प्रतिशत एव चना मे 48 प्रतिशत उत्पाद विक्रय हेतु कटाई के उपरान्त की प्रथम तिमाही मे ही मडी मे पहुँच जाता है। दूसरी, तीसरी एव चौथी तिमाही मे खाद्यान्नो की बहुत ही कम मात्रा विक्रय के लिए मडी मे आती है एव उसमे काश्तकारो का अश बहुत ही कम होता है।

विभिन्न राज्यो मे मक्का, बाजरा, धान, गेहूँ, मूँगफली, चना एव सरसो की फसलो के लिए किये गए विपणन अध्ययनो के अनुसार विभिन्न जोत आकार के कृषको के यहाँ कुल उत्पादन मे विक्रेय-अधिशेष एव विक्रीत अधिशेष की पायी गई प्रतिशत मात्रा सारणी 12 1 मे प्रदर्शित की गई है।

10 Centre for monitoring Indian Economy (CMIE), Government of India, New Delhi

सारणी 12 1

विभिन्न कृषि उत्पादों का विक्रेय एव विक्रीत अधिशेष

(कुल उत्पादन का प्रतिशत)

उत्पाद/अधिशेष	लघु जोत	मध्यम जोत	दीर्घ जोत	सभी आकार की जोतो का औसत
(1) मक्का (राजस्थान)				
विक्रेय-अधिशेष	17 27	57 78	71 96	52 90
विक्रीत-अधिशेष	23 34	53 21	69 71	52 10
(2) बाजरा (राजस्थान)				
विक्रेय-अधिशेष	40 58	49 67	63 74	51 29
(3) धान (आन्ध्रप्रदेश)				
विक्रेय-अधिशेष	47 10	58 20	68 10	—
विक्रीत-अधिशेष	46 30	56 40	63 70	—
(4) गेहूँ (राजस्थान)				
विक्रीत अधिशेष	33 20	44 80	57 40	50 30
विक्रेय-अधिशेष	3 0	43 70	55 70	49 40
(5) मूंगफली (गुजरात)				
विक्रीत-अधिशेष	70 3	78 47	80 01	78 56
(6) चना (राजस्थान)				
विक्रेय-अधिशेष	71 10	75 70	79 70	76 6
विक्रीत अधिशेष	78 70	81 20	86.30	83 6
(7) सरसो (राजस्थान)				
विक्रीत-अधिशेष	91 88	93 29	93 89	92 88

स्रोत (i) Department of Agricultural Economics, Rajasthan Agricultural University, Udaipur Campus, Research Report

(ii) Kamalakar, M M Marketed Surplus and Price-Margin of Paddy and Graundnut in Nellor District, Andhra Pradesh, Thesis, Andhra Pradesh Agricultural University, Hyderabad, 1973

(iii) Acharya, S.S , Agricultural Production, Marketing and Price Policy in India, Mittal Publications Delhi, 1988, p 268

(iv) Patel, G.N., Price Behaviour and Marketing of *Graundnut in Gujarat, Ph D. Thesis, Rajasthan* Agricultural University, Bikaner, 1991

(v) Hariom, Marketing of Rapessed and Mustard in Bharatpur District of Rajasthan, M Sc Ag Thesis, Rajasthan Agricultural University, Bikaner, 1988

उपरोक्त अध्ययनो से प्राप्त परिणामो से स्पष्ट है कि कृषको के यहाँ, औसतन गेहूँ, मक्का एव बाजरे मे 50 प्रतिशत, धान मे 60 प्रतिशत, चना एव मूंगफली मे 80 प्रतिशत एव सरसो मे 93 प्रतिशत विक्रीत अधिशेष/विक्रेय अधिशेष की मात्रा होती हैं। विक्रय अधिशेष की मात्रा खाद्यान्नो मे तिलहन, रेशे वाली फसलों एव व्यापारिक फसलो की अपेक्षा कम होती है क्योकि कृषक खाद्यान्नो की उत्पादित मात्रा का एक बडा भाग अपनी घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के लिए रख लेते हैं। विक्रीत/विक्रेय अधिशेष की मात्रा एव कृषको की जोत के आकार मे धनात्मक सम्बन्ध होता है अर्थात् जोत के आकार के बढने के साथ साथ विक्रीत/विक्रय अधिशेष की मात्रा मे भी वृद्धि होती है। वर्तमान मे विक्रय अधिशेष एव विक्रीत अधिशेष की मात्रा मे भी विशेष अन्तर नही पाया गया।

विपणन-माध्यम

विपणन-माध्यम से तात्पर्य वस्तुओ के उत्पादन कृषकों से उपभोक्ताओ तक कार्यरत विभिन्न मध्यस्थो एव उनके द्वारा प्रवाह की निर्देशित दिशा की सूची से है। विपणन माध्यम का ज्ञान वस्तुओ के उत्पादक कृषको से उपभोक्ताओ तक पहुँचने मे होने वाले स्वामित्व परिवर्तनों को स्पष्ट करते हैं। कुछ वस्तुएँ उत्पादक से उपभोक्ता तक सीधे रूप मे पहुँचती हैं अर्थात् उनके सचालन मे कोई मध्यस्थ नही होता है, जबकि अन्य वस्तु या उसी वस्तु के लिए दूसरी मण्डी मे उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचाने मे अनेक विपणन-मध्यस्थ सहायता करते हैं।

विपणन-मध्यस्थो की अधिकता, विपणन माध्यमो की शृखला को लम्बा बना देती है, जिससे वस्तुओ की विपणन-लागत म वृद्धि होती है। वस्तु के विपणन मे पाये जाने वाले विपणन-मध्यस्थो की सख्या एव उनको विपणन-लागत म धनात्मक सम्बन्ध होता है। विभिन्न वस्तुओ के लिए विपणन-माध्यम की शृखला की लम्बाई

वस्तु की प्रकृति, विक्रय की शर्तों, विक्रय स्थान एवं क्रय-विक्रय के उद्देश्य पर निर्भर करती है।

राजस्थान राज्य में गेहूँ, बाजरा एवं मण्डों के अध्ययन में निम्नलिखित विपणन-माध्यम पाए गए हैं[11]

गेहूँ—उत्पादक से उपभोक्ता तक निम्न विपणन-माध्यमों के द्वारा गेहूँ का चलन होता है :

(i) उत्पादक–उपभोक्ता,

(ii) उत्पादक–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(iii) उत्पादक–थोक विक्रेता–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(iv) उत्पादक–सहकारी विपणन संस्था–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(v) उत्पादक–संसाधनकर्त्ता–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(vi) उत्पादक–स्थानीय विक्रेता–थोक विक्रेता–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता।

बाजरा—बाजरा के विपणन में निम्न विपणन-माध्यम पाये गये हैं :

(i) उत्पादक–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(ii) उत्पादक–आढ़तिया–उपभोक्ता,

(iii) उत्पादक–थोक विक्रेता–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता।

मण्डे—मण्डों के विपणन में निम्न विपणन-माध्यम पाये गये हैं :

(i) उत्पादक–उपभोक्ता,

(ii) उत्पादक–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(iii) उत्पादक–सहकारी विपणन संस्था–थोक विक्रेता, बम्बई–उपभोक्ता

(iv) उत्पादक–सहकारी विपणन संस्था–थोक विक्रेता, देहली–उपभोक्ता

(v) उत्पादक–बड़े शहर का थोक विक्रेता–फुटकर विक्रेता–उपभोक्ता,

(vi) उत्पादक–थोक विक्रेता–स्थानीय उपभोक्ता।

कृषि उत्पादकों के वैज्ञानिक विपणन के नियम
(Commandments of Scientific Marketing) :

कृषक उत्पादित उपज के विपणन में निम्न नियम अपनाकर अच्छी भाव प्राप्त कर सकते हैं :

(1) उत्पाद की सफाई करने के पश्चात् ही मण्डी में विक्रय हेतु लाना चाहिए।

(2) वस्तु की विभिन्न किस्मों को पृथक् रूप से विक्रय हेतु लाना चाहिए। उनको मिश्रित करके नहीं लाना चाहिए।

11. Agricultural Research—A Review, Department of Agricultural Economics, S. K. N. College of Agriculture, JOBNER (Rajasthan).

(3) कृषि उत्पादों को श्रेणीकरण करने के पश्चात् ही विक्रय करना चाहिए, इससे उन्हे उत्पाद की अच्छी कीमत प्राप्त हो सकेगी।

(4) कृषकों को अपने उत्पाद को विक्रय करने से पूर्व मंडियो में प्रचलित कीमत ज्ञान सूचना से पूर्णतया जानकारी रखना चाहिए, जिससे वे सही मंडी एवं समय का चुनाव कर सकें।

(5) कृषि उत्पादों को तोलकर निश्चित मात्रा के थेले या बोरियो में ही उत्पाद को मंडी मे ले जाना चाहिए।

(6) कृषकों को अपने उत्पाद को विक्रय के लिए फसल कटाई के शीघ्र उपरान्त नहीं ले जाना चाहिए क्योंकि उस समय पूर्ति की अधिकता के कारण कीमतों के कम मिलने के साथ-साथ विपणन मे समय भी अधिक लगता है।

(7) कृषकों को उत्पाद के विक्रय के लिए सहकारी विपणन समितियों की सेवाओं का उपयोग करना चाहिए।

(8) कृषकों को अपना उत्पाद अपने निकटतम नियंत्रित मण्डी में ले-जाकर विक्रय करना चाहिए।

□□□

अध्याय 13

विपणन-कार्य

उत्पादक कृषक से अन्तिम उपभोक्ता तक वस्तुओ को पहुँचाने के लिये विभिन्न विपणन-कार्य करने होते हैं। ये विपणन-कार्य, विभिन्न विपणन सस्थाओ एव व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं। प्रत्येक विपणन-कार्य को करने मे लागत आती है, जिससे वस्तुओ की कीमत मे वृद्धि होती है। विपणन-कार्य अनिवार्य होते हैं। विभिन्न सस्थाओ द्वारा किये जाने वाले विपणन कार्यों की सख्या मे कमी एव विपणन-कार्यों को करने वाली सस्था मे परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन विपणन-कार्यों को समाप्त नही किया जा सकता है। विपणन सस्थाओ को किये गये विपणन-कार्य के लिये लागत राशि के अतिरिक्त लाभ भी प्राप्त होता है। अतः विपणन-कार्य, वस्तुओ की विपणन-विधि की प्रमुख आर्थिक-क्रिया है। कोल्स एव उल्ल[1] के शब्दो मे, विपणन-कार्यों से तात्पर्य उन प्रमुख विशेष क्रियाओ के करने से है जो विपणन-विधि को पूरा करने के लिये आवश्यक होती हैं। गुप्ता[2] के शब्दो मे विपणन-कार्य से तात्पर्य उन कार्यों, क्रियाओ एव सेवाओ को करने से है जिनके द्वारा प्राथमिक उत्पादक एव अन्तिम उपभोक्ता मे वस्तुओ के लेन-देन के सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

विपणन कार्यों का वर्गीकरण :

विभिन्न लेखको ने विपणन-कार्यों को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है जो अग्रलिखित प्रकार से हैं—

1. A marketing function may be defined as a major specialized activity performed in accomplishing the marketing process
—R L Kohls and J. N Uhl Marketing of Agricultural Products, Macmillan Publishing Co, INC, Newyork, 1980, p 23.

2. A marketing function is an act, operation or service by which the original producer and the final consumer are linked together.
—A P. Gupta, Marketing of Agricultural Produce in India, Vora & Co Publishers Pvt. Ltd, Bombay, 1975, p. 5.

1 कनवर्ज, ह्यूगे एव मिचेल[3] द्वारा दिया गया वर्गीकरण :

विपणन-कार्य

भौतिक सचालन कार्य	स्वामित्व कार्य	बाजार व्यवस्थापन कार्य
1 परिवहन	1 उपभोक्ताओ की आवश्यकता ज्ञात करना	1. विपणन नीति निर्धारण
2 सग्रहण	2 वस्तुओ की माँग उत्पन्न करना	2 वित्त व्यवस्था
3 पैकेजिंग (सवेष्टन)	3. वस्तुओ के क्रेताओ एव विक्रेताओ का पता लगाना	3 विपणन-व्यवस्था
4 श्रेणी चयन	4 लेन-देन की शर्तें तय करना	4 विपणन-देखभाल
5 वितरण	5 स्वामित्व परिवर्तन करना	5. जोखिम वहन
	6. विपणन सलाह प्रदान करना	6 विपणन-अनुसधान
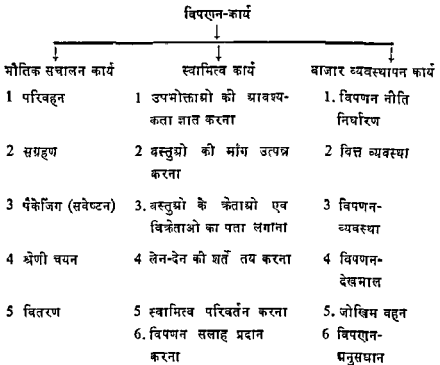
2. कोल्स एव उल्ल[4] द्वारा दिया गया वर्गीकरण :

विनिमय कार्य	भौतिक कार्य	सहायक कार्य
1. क्रय करना (एकत्रीकरण)	1. परिवहन	1 मानकीकरण
2 विक्रय करना	2. सग्रहण	2. वित्त व्यवस्था
	3 परिष्करण (प्रोसेसिंग)	3 जोखिम वहन
		4. विपणन सूचना सेवा
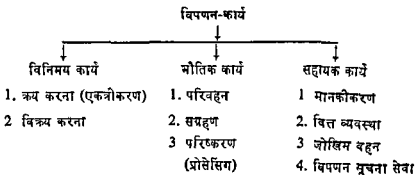
3. P. D Converse, H. W. Huegy and Mitchell; The Elements of Marketing, Prentice Hall Englewood cliffs, New Jersey, 1946, p. 56

4. R. L. Kohls and J. N. Uhl ; op. cit, p.24.

3 थॉमसन[5] द्वारा दिया गया वर्गीकरण :

विपणन-कार्य

मुख्य कार्य	गौण कार्य	सहायक सेवाएँ
1 एकत्रीकरण	1 पैकेजिंग (सवेष्टन)	जैसे—डाक, तार,
2 परिष्करण (प्रोसेसिंग)	2 परिवहन	विद्युत, बैंक, बीमा सुविधाएँ
3 वितरण	3 श्रेणी चयन एव किस्म नियन्त्रण	
	4. सग्रहण एव भण्डार व्यवस्था	
	5. कीमत-निर्धारण	
	6. जोखिम-वहन	
	7 वित्त-व्यवस्था	
	8. क्रय-विक्रय	
	9. माँग उत्पन्न करना	
	10 विपणन सूचना सेवा	

उपर्युक्त लेखको द्वारा दिये गये विपणन कार्यों के वर्गीकरण मे बहुत समानता है। प्रमुख विपणन कार्यों का विस्तृत विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(1) पैकेजिंग/सवेष्टन—सवेष्टन से तात्पर्य वस्तुओ को आवरण मे बन्द करके सुरक्षित रखने से है। सवेष्टन प्राय सभी कृषि-वस्तुओ मे करना आवश्यक होता है। कृषि-वस्तुओ मे सवेष्टन निम्न तीन स्तरो पर होता है--

(1) फार्म से गोदाम अथवा बाजार मे विपणन के लिये ले जाने के लिये।

(2) गोदाम/बाजार से दूसरे बाजार मे परिवहन द्वारा ले जाने के लिये।

(3) बाजार से उपभोक्ताओ तक पहुँचाने के लिये।

उपर्युक्त तीनो अवस्थाओ मे विभिन्न प्रकार के आवरण पैकेजिंग के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। पैकेजिंग के लिये आवरण, वस्तुओ की किस्म के अनुसार विभिन्न होते हैं। जैसे–दूध के लिये फार्म से गोदाम या निकटतम स्थान तक ड्रमो, एक मण्डी से दूसरी मण्डी तक ले जाने के लिये रेल या ट्रक के प्रशीतन-यानो तथा

5. F. L. Thomsen, Agricultural Marketing, McGraw Hill Book Company, INC, Newyork, 1951, pp. 74—77.

बाजार से उपभोक्ताओं तक ले जाने के लिये काच या प्लास्टिक की बोतलो का उपयोग किया जाता है । इसी प्रकार खाद्यान्नो के परिवहन के लिये जूट की बोरियाँ, फलो के लिये टोकरी अथवा लकडी के बक्से उपयोग मे लाये जाते हैं । पैकेजिंग सही ढग से ही करना चाहिये तथा पैकेजिंग लागत मे कमी करने के लिये सस्ते आवरण का उपयोग करना चाहिये ।

पैकेजिंग से लाभ—वस्तुओ का पैकेजिंग करने से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं—

(1) पैकेजिंग करने से वस्तुओ का अम्बार कम हो जाता है, जिससे वस्तु की अधिक मात्रा का परिवहन साधन द्वारा परिवहन किया जा सकता है, जैसे—कपास, ऊन आदि ।

(2) पैकेजिंग करने से वस्तुओ के प्रबन्ध एव सचालन मे आसानी होती है जैसे—फल एव अण्डो के आवरणबन्द डिब्बो को परिवहन साधन मे चढाने एव उतारने मे समय कम लगता है ।

(3) पैकेजिंग से वस्तुओ मे किस्म व गुण की खराबी, सकुचन आदि नुकसान कम हो जाते हैं, जैसे—डिब्बो मे बन्द फलो का रस, अचार, मुरब्बा आदि ।

(4) पैकेजिंग से वस्तुओ की किस्म पहचानने मे आसानी रहती है, क्योकि वस्तु का विस्तृत विवरण डिब्बे, बोरी, लकडे के बक्से, बोतल पर अकित किया जा सकता है ।

(5) पैकेजिंग से वस्तुओ के विज्ञापन करने मे आसानी होती है । जैसे—अमूल मक्खन, हीमा मटर, इफको उर्वरक ।

(6) पैकेजिंग से मिलावट की सम्भावना कम हो जाती है ।

(7) पैकेजिंग से परिवहन, विक्रय आदि विपणन कार्यों की लागत राशि मे कमी होती है ।

(8) पैकेजिंग से वस्तु मे स्वच्छता बनी रहती है ।

(9) पैकेजिंग करने से वस्तु की बनावट, उनमे पाये जाने वाले अवयवो का प्रतिशत एव विक्रय की शर्तें आसानी से आवरण पर अकित की जा सकती हैं । पैकेजिंग रहित वस्तुओ पर उपर्युक्त विवरण अकित करना सम्भव नही होता है ।

(2) परिवहन—विपणन-प्रक्रिया मे दूसरा प्रमुख कार्य वस्तुओ का परिवहन है । परिवहन कार्य वस्तुओ को उत्पादन से उपभोग स्थान तक पहुँचाने मे सहायता करता है, जिससे वस्तुओ मे स्थान-उपयोगिता उत्पन्न होती है । वस्तुओ की कुल

विपणन-लागत में परिवहन कार्य की लागत का प्रतिशत अन्य विपणन कार्यों की लागतों की अपेक्षा साधारणतया अधिक होता है।

परिवहन साधन— वस्तुओं के परिवहन के लिए उपलब्ध परिवहन साधन तीन प्रकार के होते हैं—

(i) थल परिवहन—थल परिवहन साधनों में मानव, पालतू पशु, बैल एवं ऊँट गाड़ियाँ, ट्रैक्टर, ट्रक एवं रेल प्रमुख हैं। इनमें से कृषक सर्वाधिक खाद्यान्नों की मात्रा बैलगाड़ियों से ढोते हैं।

(ii) जल परिवहन—जल परिवहन के अन्तर्गत वस्तुएँ नदियों, नहरों एवं समुद्र के माध्यम से परिवहन की जाती हैं।

(iii) नभ परिवहन—हवाई जहाज एवं हैलीकॉप्टर भी देश में अति आवश्यक स्थिति होने अथवा दूसरे देशों को वस्तुएँ पहुँचाने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

वस्तुओं की परिवहन लागत में विभिन्नता—वस्तुओं की परिवहन लागत में निम्न कारणों से विभिन्नता होती है—

1. दूरी—परिवहन की दूरी के बढ़ने पर वस्तुओं की परिवहन लागत में वृद्धि होती है।
2. परिवहन-साधन—रेल अथवा ट्रक द्वारा वस्तुओं के परिवहन पर बैल एवं ऊँट गाड़ियों की अपेक्षा परिवहन लागत कम आती है।
3. परिवहन की जाने वाली वस्तुओं का अम्बार—अम्बार वाली वस्तुएँ जैसे—कपास, ऊन, मिर्च, जूट आदि परिवहन-साधन में स्थान अधिक घेरती हैं। अत: ऐसी वस्तुओं की प्रति इकाई भार पर परिवहन-लागत अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक आती है।
4. सड़क की स्थिति—परिवहन किये जाने वाले स्थान तक पक्की एवं मैटल्ड सड़क होने पर वस्तुओं की परिवहन-लागत कच्चे रास्तों की अपेक्षा कम आती है।
5. वस्तुओं में शीघ्रनाशी गुण का होना—शीघ्रनाशी वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जल्दी पहुँचाने की आवश्यकता के कारण उनकी परिवहन-लागत अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होती है।
6. मौसम—वर्षा के मौसम में सड़क की दुर्दशा एवं अन्य कारणों से परिवहन में अधिक समय लगने के कारण वस्तुओं की परिवहन-लागत अधिक आती है।
7. परिवहन की जाने वाली वस्तु की मात्रा—परिवहन के लिए पूरे ट्रक के लिए आवश्यक मात्रा उपलब्ध होने पर वस्तुओं की प्रति इकाई

परिवहन-लागत कम आती है। इसके विपरीत वस्तुओ के कम मात्रा मे उपलब्ध होने पर प्रति इकाई परिवहन-लागत अधिक आती है।

8 परिवहन साधनों मे स्पर्धा—क्षेत्र मे परिवहन-साधनो की बहुतायत होने की स्थिति मे परिवहन के क्षेत्र मे स्पर्धा उत्पन्न होती है, जिसमे वस्तुओ की प्रति इकाई परिवहन-लागत मे कमी होती है।

9 परिवहन-साधनो का लौटते समय परिवहन के लिए वस्तुओ के उपलब्ध होने की सम्भावना—परिवहन साधनो को लौटाते समय परिवहन के लिए वस्तुओ की उपलब्धि की सम्भावना होने पर परिवहन-लागत कम होती है। लौटते समय वस्तुओ की उपलब्धि की सम्भावना नही होने पर परिवहन-साधन को खाली लौटना होता है, जिससे वस्तु की प्रति इकाई परिवहन-लागत अधिक आती है।

10 जोखिम—वस्तुओ के परिवहन मे जोखिम वहन की जिम्मेदारी परिवहन-साधन के स्वामी की होने पर परिवहन-लागत अधिक होती है।

11 परिवहन के लिए विशेष सुविधाओ की आवश्यकता—पशुओ तथा शीघ्रनाशी वस्तुओ के परिवहन के लिए विशेष सुविधाओ की आवश्यकता होती है। जैसे—विशेष किस्म के डिब्बे, शीत-सग्रहण-युक्त डिब्बे। इससे परिवहन-लागत अधिक आती है।

कृषि वस्तुओ मे परिवहन की प्रमुख समस्याएँ—कृषि वस्तुओ मे परिवहन सम्बन्धी प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं—

1 कृषिगत वस्तुओ मे शीघ्रनाशी गुण के कारण उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान तक द्रुतगति मे भेजना होता है। अत परिवहन के क्षेत्र मे प्रथम समस्या उपलब्ध वर्तमान परिवहन-साधनो की गति मे वृद्धि करना है।

2. कृषिगत वस्तुओ की परिवहन काल मे होने वाली किस्म की हानि की मात्रा।

3 कृषिगत वस्तुओं की प्रति इकाई भार अथवा कीमत पर होने वाली परिवहन लागत की अधिकता।

4 अधिक दूरी तक परिवहन करने के लिए विभिन्न परिवहन-साधनो जैसे—ट्रक एव रेल मे समन्वय नही होना।

कृषि वस्तुओं की परिवहन लागत को कम करने के लिए सुझाव—कृषि-वस्तुओ के परिवहन मे निर्मित व अन्य उत्पादित वस्तुओ की अपेक्षा परिवहन-लागत

अधिक आती है। इसका प्रमुख कारण कृषि-क्षेत्र मे अम्बार वाली वस्तुओ का पाया जाना है। इसके अलावा उनमे शीघ्रनाशी होने का गुण पाये जाने से परिवहन के दौरान उनकी किस्म मे हानि होती है एव उनका प्रति इकाई भार के अनुसार मूल्य निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा कम होता है। निम्न उपायो द्वारा कृषि-वस्तुओ की परिवहन-लागत को कम किया जा सकता है—

1 दूरी के अनुसार विभिन्न परिवहन-साधनो की परिवहन लागत का कानूनन निर्धारण करना।

2 विभिन्न कृषको की विक्रय हेतु उपलब्ध वस्तुओ को एक साथ एकत्रित करके उनका सामूहिक रूप से परिवहन करना।

3 परिवहन काल मे मौसम एव अन्य कारणो से होने वाले किस्म व भार के नुकसानो को अच्छे पैकेजिंग, शीघ्र परिवहन-साधनो एव अन्य विधियो द्वारा कम करना।

4 परिष्करण (प्रोसेसिंग) विधि का उपयोग करके वस्तुओ के अम्बार एव शीघ्रनाशी होने के गुण को कम करना।

5 देश मे सडको एव परिवहन-साधनो का विकास करना, जिससे परिवहन-साधनो मे स्पर्द्धा उत्पन्न होवे।

6 विभिन्न वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय सचालन मे होने वाले नियन्त्रण के अवरोधकों को समाप्त करना, जिससे समय एव धन की लागत मे बचत होती है।

(3) श्रेणीचयन (श्रेणीकरण), मानकीकरण एव किस्म नियन्त्रण :

विपणन-प्रक्रिया मे तीसरा प्रमुख विपणन-कार्य वस्तुओ के श्रेणीचयन मानकीकरण एव किस्म नियन्त्रण का है। वस्तुओ के श्रेणीचयन से तात्पर्य वस्तुओं के विभिन्न गुणो-वजन, आकार, रग, स्वाद, सुगन्ध, बनावट, पकावट, कोमलता, रेशे की लम्बाई आदि के आधार पर विभिन्न श्रेणियो मे विभक्त करने से होता है। इसके लिए विभिन्न वस्तुओ मे भिन्न-भिन्न गुणो को आधार माना जाता है। श्रेणियो मे विभक्त करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले गुणो को श्रेणी-निर्देश (Grade specification) कहते हैं, जैसे—अण्डो के लिए भार, कपास व ऊन के लिए रेशे की लम्बाई, सन्तरो के लिए आकार आदि। विभिन्न वस्तुओ के लिए निर्धारित श्रेणी-निर्देशो को सभी स्थानो एव समयो मे समान करने की विधि को मानकीकरण कहते हैं। वस्तुओ के मानकीकरण करने से सभी व्यक्ति वस्तु की श्रेणी का समान अर्थ लगाते हैं, जिससे वस्तुओ के श्रेणीचयन मे विभिन्न स्थानो पर पायी जाने वाली विभिन्नता समाप्त हो जाती है।

श्रेणीचयन एव मानकीकरण से लाभ—वस्तुओं को श्रेणीचयन एव मानकीकरण करके विक्रय करने से उत्पादको, उपभोक्ताओ एव विपणन मध्यस्थो को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(1) वस्तुओं को श्रेणीचयन करके विक्रय करने से उत्पादक कृषको को उत्पाद के विक्रय से अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त होता है, क्योकि अच्छी किस्म के उत्पाद के लिए उपभोक्ता अधिक कीमत देने को तैयार होते हैं।

(2) विभिन्न आय वाले उपभोक्ता विभिन्न श्रेणी की वस्तुओं की माँग करते हैं। वस्तुओ के श्रेणीचयन द्वारा सभी उपभोक्ता-वर्ग की आवश्यकताओ को सुगमता से पूरा किया जा सकता है।

(3) वस्तुओ मे श्रेणीचयन-विधि अपनाने से विक्रेता को पूरे माल का बाजार मे ढेर एव क्रेताओं को नमूना दिखाने की आवश्यकता नही होती है। वस्तुओं का क्रय-विक्रय श्रेणी के आधार पर सीधे रूप से होता है, जिससे वस्तुओ की प्रति इकाई विपणन लागत मे कमी होती है।

(4) वस्तुओ के श्रेणीचयन से उत्पादकों को माल की बिक्री मे कुल लाभ की राशि अधिक प्राप्त होती है। लाभ की अधिकता से कृषको को अच्छी किस्म की वस्तुओ के उत्पादन की प्रेरणा मिलती है।

(5) श्रेणीचयन करने से वस्तुओं की किस्म मे सुधार होता है क्योकि श्रेणीचयन विधि मे खराब किस्म के माल को पृथक् कर दिया जाता है। जैसे-दाग लगे हुए फल, टूटे हुए अण्डे आदि।

(6) उत्पादको, उपभोक्ताओ तथा व्यापारियों के मध्य नमूने के अनुसार वस्तुओ के नही होने से उत्पन्न होने वाले झगडे, वस्तुओ मे श्रेणीचयन विधि अपनाने पर उत्पन्न नही होते है।

(7) श्रेणीचयन-विधि को अपनाने से विभिन्न किस्म की वस्तुओं की कीमत-सम्बन्धी सूचना के प्रसारण मे आसानी होती है।

(8) श्रेणीकृत वस्तुओं को भण्डार-गृह मे सग्रह करके उस माल के आधार पर उचित राशि मे ऋण प्राप्त करने मे आसानी होती है। भण्डार-गृह-मैनेजर वस्तु की निर्धारित किस्म भण्डार गृह रसीद मे अकित कर देते हैं, जिससे वस्तु की सही कीमत आँकी जा सकती है।

(9) श्रेणीचयन एव मानकीकरण प्रक्रिया, कृषको एव उपभोक्ताओ मे वस्तुओ की उचित श्रेणी के प्रति जागरूकता उत्पन्न करती है।

(10) वस्तुओ को श्रेणीकृत करने से विभिन्न कृषको द्वारा लाए गए खाद्यान्न को विभिन्न श्रेणियों के अनुसार मिश्रित किया जा सकता है, जिससे सग्रहण एव विक्रय मे आसानी रहती है।

श्रेणीचयन के प्रकार—श्रेणीचयन दो प्रकार का होता है :

1 अधिदेश श्रेणीचयन—इस विधि के अन्तर्गत वस्तुओं का श्रेणीचयन करने मे इच्छुक व्यक्ति को भारत सरकार के कृषि विपणन-सलाहकार द्वारा निर्धारित श्रेणी निर्देश के अनुसार वस्तु को श्रेणीकृत करना होता है। वस्तुओ को विभिन्न श्रेणियो मे इच्छानुसार विभक्त करने की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही होती है। श्रेणीचयन करने वाली सस्था को भारत सरकार के विपणन एव निरीक्षण निदेशालय द्वारा पारित नियमो एव उपनियमो का पालन करना अनिवार्य होता है।

2 अनुज्ञात या ऐच्छिक श्रेणीचयन—श्रेणीचयन की इस विधि के अन्तर्गत कृषको, व्यापारियो एव श्रेणीचयन करने के अन्य इच्छुक व्यक्तियो को इच्छानुसार वस्तुओ को श्रेणियो मे विभक्त करने की स्वतन्त्रता होती है। अत: विभिन्न सस्थाएं वस्तुओ को भिन्न भिन्न प्रकार से श्रेणियो मे वर्गीकृत करती हैं।

देश मे कृषि-वस्तुओ का श्रेणीचयन वर्तमान मे निम्न उद्देश्यो के लिये किया जाता है :

(1) निर्यात के लिए—वस्तुओ के निर्यात की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि करने के लिए निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के गुणो मे समता बनाये रखना आवश्यक है। अत देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओ को भारतीय कृषि विपणन सलाहकार द्वारा निर्धारित श्रेणी निर्देशो के अनुसार श्रेणीचयन करना अनिवार्य है। श्रेणीचयन के बिना वस्तुओ के निर्यात पर पूर्ण निषेध होता है। देश मे निर्यात के लिये श्रेणीचयन सर्वप्रथम पटसन के लिए 1942 मे शुरू किया गया था। वर्ष 1945 मे कपास, 1954 मे ब ल, 1955 मे ऊन, 1956 मे नीम्बू, घासतेल तथा 1957 मे चन्दन तेल के लिए श्रेणीकरण शुरू किया गया। वर्तमान मे तम्बाकू, ऊन, बकरी के बाल, काली मिर्च, तेन्दू की पत्तियाँ, अदरक, चन्दन तेल, नीम्बू, घासतेल, इलायची, काजू, अखरोट, पटसन, आम के लिए निर्यात से पूर्व श्रेणीचयन करना आवश्यक है। निर्यात हेतु निर्धारित श्रेणियो मे वर्गीकृत की गई वस्तुओ का विभिन्न स्थानो, जैसे—निर्मित किये जाने वाले स्थान, बन्दरगाह आदि स्थानो पर निरीक्षण किया जाता है, जिससे व्यापारी वर्ग निर्धारित श्रेणी से न्यूनतम स्तर की वस्तुओ को निर्यात नही कर सकें। न्यूनतम स्तर की वस्तुओ के निर्यात से भारतीय माल की साख मे गिरावट आती है।

(2) आन्तरिक व्यापार एव उपभोग के लिए—इसके अन्तर्गत भी कृषि वस्तुओ का श्रेणीचयन भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार द्वारा निर्धारित गुणो के आधार पर किया जाता है। आन्तरिक व्यापार एव उपभोग के लिये निर्धारित श्रेणीचयन के आधार निर्यात के स्तर से भिन्न होते हैं। भारत मे आतरिक व्यापार एव उपभोग के लिये सर्वप्रथम घी मे 1938 मे श्रेणीचयन शुरू किया गया

था। उसके पश्चात् खाद्य तेलो मे 1939, मक्खन के लिए 1941, गुड, अण्डे, सन्तरे एव मौसमी फल के लिए 1949, आलू मे 1950 एव चावल मे 1954 से श्रेणी-चयन का कार्य शुरू किया गया। वर्तमान मे देश मे आन्तरिक व्यापार एवं उपभोग के लिए श्रेणीचयन की सुविधा अनेक वस्तुओ के लिए उपलब्ध है, जिनमे से प्रमुख कपास, ऊन, घी, मक्खन, चावल, गुड़, अण्डे, गेहूँ का आटा, सुपारी, आलू, खाद्य तेल, पिसे हुए मसाले, शहद, आम, सेव, सन्तरे, अगूर व इलायची हैं।

देश के उत्पादको एव उपभोक्ताओ मे श्रेणीचयन अपनाने मे जागरूकता उत्पन्न करने के लिए सरकार द्वारा देश की अनेक मण्डियो मे श्रेणीचयन-सुविधा उपलब्ध कराने के लिए इकाइयाँ स्थापित की जा चुकी हैं। कृषि-वस्तुओं के श्रेणी-चयन के लिए भारत सरकार ने सर्वप्रथम कृषि-उपज (श्रेणीचयन एव विपणन) अधिनियम, 1937 [The Agriculture Produce (Grading and Marketing) Act, 1937] पारित किया। शुरू मे 19 कृषि वस्तुओ के श्रेणीचयन के लिए श्रेणियाँ निर्धारित की गई थी। वर्ष 1943 मे उपर्युक्त अधिनियम म सशोधन किया गया, जिसमे अन्य कृषि वस्तुएँ भी इसमे सम्मिलित की जा सकें। वर्तमान मे 142 कृषि वस्तुओ के श्रेणीचयन के लिए श्रेणी निर्देश बनाये जा चुके हैं।

प-वस्तुओं के श्रेणीचयन के लिए प्रमाण-पत्र प्राप्त करने की विधि :

कृषि-वस्तुओ के श्रेणीचयन के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम श्रेणीचयन की जाने वाली वस्तु, स्थान एव वस्तु की मात्रा का विवरण देते हुए प्रार्थना-पत्र कृषि-विपणन सलाहकार, भारत सरकार, फरीदाबाद, हरियाणा को भेजना होता है। कृषि-विपणन सलाहकार, प्रार्थना-पत्र को सम्बन्धित राज्य के कृषि विपणन-अधिकारी के पास जाँच एव सिफारिश के लिए भिजवाता है। राज्य-कृषि विपणन-अधिकारी प्रार्थी के स्थान का निरीक्षण करता है और दी गई सूचनाओ की जॉच करता है। राज्य कृषि विपणन-अधिकारी अपनी सिफारिशो सहित उक्त प्रार्थना पत्र को कृषि-विपणन-सलाहकार, भारत सरकार को भिजवाता है। कृषि-विपणन सलाहकार प्राप्त रिपोर्ट के आधार पर प्रार्थी को श्रेणीचयन करने की स्वीकृति का प्रमाण-पत्र प्रदान करता है। प्रमाण-पत्र अहस्तान्तर्य होता है। प्रमाण-पत्र प्राप्त होने के उपरान्त ही प्रार्थी श्रेणीचयन का कार्य शुरू कर सकता है।

भारत सरकार के कृषि विपणन एव निरीक्षण निदेशालय के अनुसार श्रेणी-कृत वस्तुओ के बक्सों, टोकरियों, टीन अथवा ड्रमो पर एगमार्क (ACMARK) लेबल अंकित किया जाता है। एगमार्क लेबल के रग विशिष्ट श्रेणी की वस्तुओ के लिए सफेद, 'ए' श्रेणी की वस्तुओ के लिए लाल, 'बी' श्रेणी के लिए नीला, 'सी' श्रेणी के लिए पीला एव 'डी' श्रेणी के लिए हरे रग का एगमार्क लेबल अंकित किया जाता है। कृषि वस्तुओ पर लगाये जाने वाले ये एगमार्क लेबल भारत सरकार

द्वारा विशेष कागज पर अंकित किये जाते हैं। प्रत्येक एगमार्क लेबल पर क्रमांक अंकित होता है।

विभिन्न कृषि वस्तुओं के श्रेणीचयन के लिए श्रेणी निर्देश :

भारत सरकार के कृषि विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय ने अब तक 142 प्रमुख कृषि एवं सम्बन्धित वस्तुओं के श्रेणीचयन के लिए श्रेणी निर्देश निर्धारित किये हैं। कुछ कृषि-वस्तुओं जैसे—अण्डे, सन्तरे, आम आदि के श्रेणीचयन के लिए निर्धारित श्रेणी-निर्देश यहाँ दिये गये हैं।[6] निर्यात के लिए 41 वस्तुओं के श्रेणीचयन के लिए श्रेणी-निर्देश निर्धारित किये गये हैं।

(अ) अण्डों का श्रेणीचयन

श्रेणी	एगमार्क लेबल का रंग	मुर्गी के अण्डों का न्यूनतम भार (औंस)	अन्य शर्तें
विशिष्ट	सफेद	2.00	1 अण्डे किसी भी विधि द्वारा परिरक्षा किये हुए नहीं होने चाहिएँ।
'ए'	लाल	1.75	2 अण्डे धब्बे एवं दाग-रहित होने चाहिएँ।
'बी'	नीला	1 50	3. अण्डों का योक मध्य में होना चाहिए।
'सी'	पीला	1 25	4 अण्डे ठोस होने चाहिएँ।
			5. अण्डे पारदर्शी होने चाहिएँ।
			6 अण्डों में हवा का घेरा $\frac{3}{8}$" से कम होना चाहिए।

6 Reports of Directorate of Marketing and Inspection, Government of India, New Delhi.

(ब) सन्तरो का श्रेणीचयन

श्रेणी	एगमार्क लेबल का रग	न्यूनतम आकार (इन्चों मे)	अन्य शर्तें
विशिष्ट	सफेद	3 50	1 सन्तरे अच्छे पके हुए होने चाहिएँ जिससे वे परिवहन में खराब न होने पाएँ।
I	लाल	3 00	2 सन्तरो का रग किस्म के अनुसार होना चाहिए, लेकिन हरा रग नही होना चाहिए।
II	नीला	2 75	3 सन्तरा के ऊपर झुर्रियाँ पडी हुई नही होनी चाहिएँ।
III	पीला	2 50	4 सन्तरे कटाव, कीडे व बीमारी लगे हुए नही होने चाहिएँ।
IV	हरा	2 25	5 सन्तरो के वर्गीकरण मे 10 प्रतिशत तक उस श्रेणी से नीचे की श्रेणी के सन्तरे होने की छूट होती है।

(स) एलफन्सी किस्म के श्राम का श्रेणीचयन (निर्यात के लिए)

श्रेणी	भार ग्राम मे		अन्य विशेषताएँ
	न्यूनतम	अधिकतम	
I	280	338	1 श्राम ठोस तथा कटाव, धब्बे एव दाग-रहित होने चाहिएँ।
II	222	280	2. श्राम की बनावट एव श्राकार किस्म के अनुसार होना चाहिए।
III	163	222	3 आम हरे रग के होने चाहिएँ। उनमे पीला रग नही होना चाहिए।

निरीक्षण—श्रेणीचयन का कार्य मुख्यतया उत्पादको एव व्यापारियो के द्वारा किया जाता है । श्रेणीचयन करने वालो द्वारा श्रेणीचयन मे की जाने वाली बेईमानी को रोकने के लिए वस्तुओं का विभिन्न समय एव स्थानो पर निरीक्षण करना अनिवार्य होता है । निरीक्षक का कार्य विपणन-विभाग के निरीक्षको द्वारा किया जाता है । निरीक्षक वस्तु की जाँच करते है । वे वस्तुओ का निरीक्षण साधारणतया निम्न समय मे करते है—

(i) परिष्करण या प्रोसेसिंग के समय ।
(ii) सग्रहण-काल मे श्रेणीचयनकर्त्ता के गोदाम अथवा थोक व खुदरा व्यापारियों के यहाँ पर ।
(iii) निर्यात से पूर्व बन्दरगाह पर ।

वस्तुओं को निर्धारित श्रेणियो के अनुसार नही पाये जाने की अवस्था मे निरीक्षक, श्रेणीचयनकर्त्ता का श्रेणीचयन करने का प्रमाण-पत्र रद्द कर देने की सिफारिश कृषि-विपणन सलाहकार को कर देता है । प्रमाण-पत्र रद्द होने पर श्रेणीचयनकर्त्ता को शेष एगमार्क लेबल एव श्रेणीचयन सम्बन्धित सामान, कृषि-विपणन सलाहकार को वापिस लौटाना होता है । निरीक्षक वस्तु की किस्म मे सन्देह होने पर वस्तुओ के नमूने जाँच के लिए केन्द्रीय प्रयोगशाला मे भिजवाता है । केन्द्रीय प्रयोगशाला से प्राप्त जाँच का परिणाम निरीक्षक एव श्रेणीचयन करने वाले व्यापारी/उत्पादक को मान्य होता है ।

भारत मे श्रेणी-चयन की प्रगति

भारत मे श्रेणी चयन तीन स्तर पर किया जाता है । कृषि वस्तुओ के विदेशों मे निर्यात हेतु अधिशेष श्रेणी चयन, देश मे ही व्यापार हेतु ऐच्छिक श्रेणी चयन एव उत्पादक स्तर पर मडी मे विपणन हेतु किया जाता है । विभिन्न कृषि उत्पादों के लिए उपरोक्त तीनों ही प्रकार के श्रेणीकृत वस्तुओ के व्यापार राशि मे वृद्धि हुई है । वर्ष 1938 मे जहाँ 0.15 करोड रुपये मूल्य की कृषि वस्तुओ का श्रेणी चयन होता था । वह बढकर वर्ष 1960–61 मे 69 38 करोड रुपये, वर्ष 1970–71 मे 436 80 करोड रुपये, वर्ष 1980–81 मे 1248.61 करोड रुपये एव वर्ष 1989–90 मे 4190.26 करोड रुपये हो गई । मार्च 1990 मे देश मे 1040 श्रेणी चयन की इकाईयाँ एव 566 श्रेणी चयन प्रयोग शालाएँ कार्यरत थी ।

श्रेणीचयन एवं मानकीकरण के क्षेत्र मे श्रेणीचयनकर्त्ताओ को आने वाली परेशानियाँ

कृषि-वस्तुओं के श्रेणीचयन मे निम्नलिखित परेशानियाँ होने से उत्पादक कृषक, व्यापारी एवं परिष्करण मे लगे व्यक्ति (परिष्कर्त्ता) वस्तुओ के श्रेणीचयन करने मे दिलचस्पी नही लेते हैं और वस्तुओ को श्रेणियो मे विभक्त नही करते हैं—

(1) उत्पादित कृषि-वस्तुएँ गुणों में समान नहीं होती हैं। उनके गुणों में बहुत विभिन्नता होती है, जिससे श्रेणीचयन-विधि में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

(2) विभिन्न उपभोक्ता कृषि-वस्तुओं में विभिन्न गुण चाहते हैं। कुछ उपभोक्ता उनमें पकने के गुण देखते हैं जबकि दूसरे स्वाद, पौष्टिकता अथवा बाहरी बनावट एवं संवेष्टन देखते हैं। अतः सभी उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को एक श्रेणी में निर्धारित करने का कार्य कठिन होता है।

(3) विभिन्न कृषि-वस्तुओं के श्रेणीचयन के लिए विभिन्न आधार प्रयुक्त किये जाते हैं जैसे—रासायनिक जांच, भौतिक गुण, संवेदक (Sensory) आदि। संवेदक गुणों के आधार पर श्रेणीचयन में वस्तुओं के गुणों में बहुत विभिन्नता पायी जाती है, जिससे श्रेणीचयन के निर्धारित उद्देश्य प्राप्त नहीं होते हैं।

(4) कृषि-वस्तुएँ विनाशशील किस्म की होती हैं। अतः श्रेणीचयन करने के उपरान्त उनके विक्रय-समय में उनके गुणों में ह्रास होता है, जिससे वस्तुओं में विपणन के समय एवं श्रेणीचयन समय के गुणों में समानता नहीं पायी जाती है।

(5) श्रेणीचयन के लिए निर्धारित न्यूनतम व उच्चतम स्तर में बहुत अन्तर होता है, जिसके कारण एक ही श्रेणी की वस्तुओं के गुणों में अन्तर पाया जाता है।

(6) वस्तुओं की श्रेणी एवं कीमत में उचित सम्बन्ध का अभाव होता है, जिसके कारण श्रेणीचयन-कर्त्ताओं को वस्तुओं की अच्छी श्रेणी से अधिक कीमत प्राप्त नहीं होती है।

उपभोक्ताओं द्वारा श्रेणीचयन की गई वस्तुओं को क्रय में प्राथमिकता नहीं देना :

उपभोक्ताओं को क्रय करते समय श्रेणीचयन की गई वस्तुओं को निम्न कारणों को प्राथमिकता नहीं देते हैं—

(1) निर्धारित श्रेणियों को उपभोक्ता समझ नहीं पाते हैं।

(2) एगमार्क लेबल वस्तु पर अंकित नहीं करके, वस्तु के आवरण पर अंकित किया जाता है जिससे उपभोक्ता को वस्तु के निर्धारित श्रेणी के अनुसार होने का विश्वास नहीं होता है।

(3) उपभोग की वस्तुओं पर 'सी' अथवा 'डी' श्रेणी अंकित होने से उपभोक्ताओं में यह धारणा बन जाती है कि वस्तु उपभोग के लिए उचित नहीं है।

(4) कृषि वस्तुओं में विनाशशीलता के गुण होने से, वस्तुएँ जाँच के समय निर्धारित स्तर के अनुसार नहीं पाई जाती हैं, जिससे उपभोक्ताओं को श्रेणीचयन मे पूर्ण विश्वास उत्पन्न नहीं होता है।

(5) बहुत-सी कृषि-वस्तुओं पर जिनका सवेष्टन-रहित ही विक्रय होता है, का विवरण देना सम्भव नहीं होता, जैसे—मास।

(6) साधारणतया वस्तुओं के श्रेणीचयन के लिए श्रेणी-निर्देश थोक एव खुदरा विक्रेताओं के उपयोग के लिए ही निर्धारित किये जाते हैं। ये श्रेणी-निर्देश उपभोक्ताओं की आवश्यकता के अनुसार ही बनाये जाते हैं।

राष्ट्रीय कृषि आयोग द्वारा श्रेणीचयन के लिये दिये गये सुझाव

वर्तमान मे देश की लगभग 13 प्रतिशत नियन्त्रित मण्डियो मे ही उत्पादक स्तर पर श्रेणीकरण की सुविधाएँ उपलब्ध है एव शेष नियन्त्रित मण्डियों मे माल का विक्रय श्रेणीकरण के बिना ही होता है। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने स्वीकार किया कि सभी प्राथमिक स्तर की मण्डियो मे श्रेणीकरण एव मानकीकरण की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिएँ। श्रेणीकरण की विधि सरल होनी चाहिए। आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे श्रेणीकरण के विकास के लिए निम्न सुझाव दिए है.[7]

(1) श्रेणीकरण एव मानकीकरण वस्तुओं के क्रय-विक्रय मे अनिवार्य रूप मे कृषक स्तर, आन्तरिक व्यापार, अन्तर्राज्यीय व्यापार एव निर्यात के लिए होना चाहिए। श्रेणीकरण के अनुसार वर्गीकृत वस्तुओं के नमूने मण्डी मे प्रदर्शित करने चाहिएँ।

(2) श्रेणीकरण एव मानकीकरण सभी कृषि-वस्तुओं मे लागू किये जाने चाहिएँ।

(3) श्रेणीकरण से सम्बन्धित विभिन्न विभागो, जैसे—कृषि विपणन निदेशालय, भारतीय मानक सस्था, स्वास्थ्य विभाग, भारतीय खाद्य निगम सहकारी विपणन समितियाँ एव राज्य भण्डार व्यवस्था निगम द्वारा वस्तुओं के श्रेणीकरण मे एक ही आधार अपनाया जाना चाहिए। वर्तमान म प्रत्येक सस्था विभिन्न आधार के अनुसार श्रेणीकरण करती है

(4) श्रेणीकरण व्यवस्था के लिए श्रेणीकर्त्ता अपने कार्य मे दक्ष होने चाहिये तथा वे विपणन निदेशालय या राज्य विपणन विभाग के कर्मचारी होने चाहिएँ।

7 Report of the National Commission on Agriculture, Ministry of Agriculture and Irrigation, Government of India, Vol XII, 1976, p p. 135-36.

(5) श्रेणीकरण करने की जिम्मेदारी अन्तर्राज्यीय व्यापार एव निर्यात के लिए विपणन निदेशालय तथा उत्पादकता स्तर एव प्रान्तरिक व्यापार के लिए राज्य विपणन निदेशालय की होनी चाहिए।

(4) **सग्रहण एव भण्डार व्यवस्था**—विपणन-प्रक्रिया का चतुर्थ कार्य वस्तुग्रो के सग्रहण एव भण्डार की व्यवस्था करना है। सग्रहण कार्य का मुख्य उद्देश्य ग्रधिशेष पूर्ति की मात्रा को उत्पादन काल से उपभोग काल तक सुरक्षित रखना होता है। सग्रहण कार्य द्वारा वस्तुग्रो मे समय उपयोगिता उत्पन्न होती है। सग्रहण-कार्य विपणन-व्यवस्था को वर्ष भर कार्यरत बनाये रखता है एव बाजार-विकास मे सहायक होता है। विशिष्ट एव वैज्ञानिक ढग से सग्रहण करने की क्रिया को भण्डार व्यवस्था कहते हैं।

कृषि-वस्तुग्रो के सग्रहण की ग्रावश्यकता—निम्न कारणो से कृषि-वस्तुग्रो का सग्रहण करना आवश्यक है—

(1) कृषि वस्तुओं का उत्पादन मौसम विशेष मे होता है लेकिन उनकी माँग वर्ष भर निरन्तर रहती है। अत उपभोक्ताग्रो का निरन्तर उत्पन्न होने वाली माँग की पूर्ति के लिए वस्तुग्रो का सग्रहण करना ग्रावश्यक होता है, जैसे—आलू, खाद्यान्न, दालें, तिलहन।

(2) कुछ कृषि-वस्तुओ की माग का विशेष मौसम ग्रथवा समय होता है। मौसम विशेष की ग्रत्यधिक माँग की पूर्ति के लिए वस्तुग्रो का उत्पादन वर्ष भर निरन्तर करना होता है। अत उत्पादन समय से उपभोग समय तक वस्तुग्रो का सग्रहण करना होता है, जैसे—ऊन।

(3) वस्तुग्रो की किस्म मे सुधार करने के लिए सग्रहण करना ग्रावश्यक होता है, जैसे—पनीर, चावल, तम्बाकू, ग्रचार।

(4) कच्चे फलो को पकाने एव उपभोग योग्य बनाने के लिए सग्रहण करना ग्रावश्यक होता है, जैसे—केले, ग्राम।

(5) विपणन कार्यों जैसे—परिवहन, सवेष्टन परिष्करण (प्रोसेसिंग), तुलाई, क्रय-विक्रय ग्रादि कार्य करने के लिए कृषि वस्तुग्रो का सग्रहण करना होता है, क्योकि प्रत्येक विपणन कार्य को करने मे समय लगता है।

(6) उत्पादन मौसम मे कृषि-वस्तुग्रो की ग्रधिक पूर्ति के कारण कीमतो की गिरावट से होने वाली हानि को कम करने के लिए भी सग्रहण करना ग्रावश्यक है। उत्पादन मौसम के कुछ समय उपरान्त विक्रय करने से उत्पादक कृषको को उत्पाद की अधिक कीमत प्राप्त होती है।

(7) वर्तमान मे वस्तुओ का उत्पादन भविष्य मे उत्पन्न होने वाली मांग के आधार पर किया जाता है। अतः उपभोक्ताओ की मांग उत्पन्न होने के काल तक उन वस्तुओ का संग्रहण करना आवश्यक है।

(8) वस्तुओ की मांग एव पूर्ति मे समन्वय स्थापित करने के लिए भी संग्रहण करना आवश्यक है।

भण्डार-गृह-व्यवस्था—भण्डार-गृह-व्यवस्था से तात्पर्य वस्तुओ के संग्रहण की विशेष व्यवस्था करने से है। कृषि-विपणन के सन्दर्भ मे भण्डार-गृह-व्यवस्था से तात्पर्य कृषको के उत्पाद को सुरक्षित रूप से संग्रहण करना एव संग्रहीत माल की प्रतिभूति के आधार पर ऋण-सेवा उपलब्ध कराना है, जिससे कृषको को खाद्यान्न रोके रखने की शक्ति उत्पन्न हो सके। वर्तमान मे कृषक धनाभाव के कारण फसल की कटाई के तुरन्त पश्चात् विक्रय के लिए खाद्यान्न बाजार मे लाते है जिससे उन्हे विक्रीत उत्पाद की उचित कीमत प्राप्त नही होती है। भण्डार-गृह-व्यवस्था से कृषकों मे उत्पाद का शीघ्र विक्रय करने की प्रथा समाप्त होती है और कृषको को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

कृषि रॉयल कमीशन 1928, केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति 1930 एव रिजर्व बैंक ने वर्ष 1944 मे भण्डार-गृहो की आवश्यकता अनुभव करते हुए, देश मे इनको बनाने के सुझाव दिए, लेकिन इनके निर्माण के ये प्रस्ताव कार्यान्वित नही हो सके। ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति ने भी वर्ष 1954 मे अपने प्रतिवेदन मे कृषि-साख की एकीकृत योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) के अन्तर्गत भी भण्डार गृह-निगम की स्थापना की सिफारिश की थी। इन सिफारिशों को स्वीकार करते हुए सरकार ने देश मे भण्डार-गृहो की स्थापना एवं संचालन के लिए जून, 1956 मे कृषि उपज (विकास एव भण्डार व्यवस्था) निगम अधिनियम [The Agricultural Produce (Development and Warehousing) Corporation Act, 1956], राष्ट्रीय सहकारी विकास एव भण्डार गृह बोर्ड (National Co-operative Development and Warehousing Board), केन्द्रीय भण्डार-गृह-निगम एव राज्य भण्डार-गृह-निगम स्थापित करने के लिए पारित किया।

उपर्युक्त अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय सहकारी विकास एव भण्डार-गृह बोर्ड की स्थापना 1 सितम्बर, 1956, केन्द्रीय भण्डार-गृह-निगम की स्थापना 2 मार्च, 1957 तथा बिहार राज्य मे प्रथम राज्य भण्डार-गृह-निगम की स्थापना 1956–57 मे की गई। 1969–70 तक सभी राज्यो मे भण्डार गृह-निगम स्थापित किये जा चुके थे। वर्ष 1962 मे उपर्युक्त अधिनियम को भण्डार-व्यवस्था निगम अधिनियम, 1962 (The Warehousing Corporation Act, 1962) द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। मार्च, 1963 मे राष्ट्रीय सहकारी विकास एव भण्डार-गृह बोर्ड को राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम मे परिवर्तित कर दिया गया।

इन मण्डार-गृहो मे सभी प्रकार के खाद्यान्न, तिलहन, कपास, चीनी, उर्वरक आदि वस्तुओ के सग्रहण करने का प्रावधान होता है। मण्डार-गृहो मे सग्रहण सेवा के लिए विभिन्न वस्तुओं के लिए पृथक् दर से प्रतिमाह अथवा प्रति सप्ताह की दर से शुल्क देय होता है। मण्डार-व्यवस्था-निगम अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति, सस्था, कम्पनी को मण्डार-गृह स्थापित करने के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य होता है। लाइसेन्स प्राप्त होने के पश्चात् ही मण्डार-गृह के स्वामी, मण्डारण के लिए वस्तुओं को ले सकते हैं। सरकार मण्डार गृह के लिए लाइसेन्स प्रदान करने के पूर्व निम्न बातो की जाँच करती है—

(i) क्या निर्मित मण्डार-गृह वस्तुओं के सग्रहण के लिए उचित हैं ?

(ii) क्या मण्डार-गृह स्वामी की वित्तीय स्थिति ठीक है ?

(iii) क्या मण्डार-गृह स्थापित करने की फीस सरकार को जमा करा दी गई है ?

केन्द्रीय भण्डार-गृह-निगम—केन्द्रीय मण्डार-गृह-निगम 20 करोड रुपये की अधिकृत पूँजी से स्थापित किया गया है। केन्द्रीय भण्डार-गृह-निगम के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(i) विभिन्न स्थानो, जैसे—बन्दरगाह, रेल्वे स्टेशन तथा बडे शहरो मे भण्डार-गृहो का निर्माण करना।

(ii) कृषि-वस्तुओं के सग्रहण के लिए स्थापित विभिन्न भण्डार-गृहो का सचालन करना।

(iii) राज्य भण्डार गृह निगमो के शेयर क्रय करना।

(iv) सरकार के लिए कृषि वस्तुओं के सग्रहण, विपणन एव क्रय-विक्रय के लिए एजेण्ट का कार्य करना।

राज्य भण्डार-गृह-निगम—ये केन्द्रीय भण्डार गृह-निगम की सहयोगी सस्थाएँ हैं। वर्तमान मे 16 राज्यो मे भण्डार गृह-निगम स्थापित हो चुके हैं। राज्य भण्डार-गृह-निगमो की अधिकृत पूँजी 2 करोड रुपये से अधिक नही होती है। अधिकृत पूँजी मे से 50 प्रतिशत पूँजी के शेयर केन्द्रीय-भण्डार-गृह-निगम क्रय करता है। ये भण्डार-गृह-निगम राज्यो मे भण्डारण के लिए गोदामो का निर्माण करते हैं एव भण्डारण सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं।

भण्डार-गृह निगम खाद्यान्नो को सग्रहण करने के पूर्व अच्छी, उचित एव औसत श्रेणियो मे विभक्त करते हैं। औसत श्रेणी से नीचे की श्रेणी की वस्तुओ का भण्डार-गृहो मे सग्रहण नही किया जाता है। विभिन्न व्यक्तियो की वस्तुओं को पृथक् सग्रहीत किया जाता है। वस्तुओं का सग्रहण करने पर भण्डार-गृह से प्राप्त रसीद को राष्ट्रीयकृत बैंक मे गिरवी रखकर ऋण प्राप्त किया जा सकता है।

भण्डार गृहो के प्रबन्ध के लिए प्रशिक्षित व प्राविधिक व्यक्ति रखे जाते हैं। प्रत्येक भण्डार मे प्रबन्धक के अतिरिक्त एक प्राविधिक सहायक भी होता है जिसका कार्य खाद्यान्नो की बीमारियो एव कीडो से रक्षा करना होता है। भण्डार-गृहो को कुशलता-पूर्वक चलाने म सहायता देने के लिए प्रत्येक भण्डार गृह के लिए सलाहकार समिति होती है, जिसम विभिन्न अभिकरणा, जैसे—बैंक, सहकारी समितियो, व्यापारियों, कृपका एव सरकार के प्रतिनिधि होते हैं।

भण्डार-गृह निर्माण के उद्देश्य—निम्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए भण्डार-गृह निर्मित किये जात हैं—

(1) कृपको, व्यापारियो, उपभोक्ताओ एव अन्य व्यक्तियो को वस्तुओ के सग्रहण की सुविधा उपलब्ध कराना।

(2) खाद्यान्नो की पूर्ति की अधिकता एव अन्य कारणो से कीमतो मे होने वाली गिरावट को कम करना।

(3) आग, चोरी एव अन्य कारणो से होने वाले नुकसानो से सग्रहण-कर्त्ता की रक्षा करना।

(4) वैज्ञानिक ढग से वस्तुओ का सग्रहण करना, जिससे सग्रहण काल मे वस्तुओ क गुण एव मात्रा नष्ट नही होने पाएँ।

(5) वस्तुओं के सग्रहण कर्त्ताओ को जमा उत्पाद की कीमत का 50 प्रतिशत से 75 प्रतिशत राशि ऋण के रूप मे बैंको से उपलब्ध कराना।

भण्डार ग्रहो का वर्गीकरण—भण्डार-ग्रहों को निम्न दो आधारो पर वर्गीकृत किया जाता है—

1 **सगृहीत की जाने वाली वस्तुओ के अनुसार**—सगृहीत की जाने वाली वस्तुओ के अनुसार विभिन्न प्रकार के भण्डारगृह निर्मित किये जाते हैं। जैसे—ठोस वस्तुओ (खाद्यान्न, चीनी) के भण्डारगृह, तरल वस्तुओ के सग्रहण के लिए भण्डारगृह एव शीघ्रनाशी वस्तुओ के सग्रहण के लिए शीत सग्रहागार। शीत सग्रहागार भण्डारो मे तापक्रम नियन्त्रण की व्यवस्था होती है।

2 **स्वामित्व के अनुसार**—स्वामित्व के अनुसार भण्डारगृह निम्न प्रकार के होते है—

(अ) व्यक्तिगत भण्डारगृह—थोक व्यापारी, आढतिया, परिष्कर्त्ता वस्तुओ के सग्रहण के लिए भण्डारगृह निर्माण कराते हैं और स्वय की अथवा विक्रय के लिए आई हुई वस्तुओ को सगृहीत करते हैं। भण्डारगृह मे स्थान होने पर वे अन्य व्यक्तियों को किराये पर भी उठाते हैं।

(ब) सहकारी भण्डारगृह—इन पर सहकारी समितियों का स्वामित्व होता है। सहकारी भण्डारगृहों में संग्रहण के लिए समितियों के सदस्यों की वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाती है।

(स) सरकारी भण्डारगृह—इन पर स्वामित्व सरकार का होता है जिनमें उत्पादक, व्यापारी एवं उपभोक्ता निर्धारित शुल्क का भुगतान करके वस्तुओं को संगृहीत कर सकते हैं।

(द) घरेलू भण्डारगृह—यह उपभोक्ताओं के स्वयं के होते हैं जिनमें घरेलू वस्तुओं का संग्रहण किया जाता है।

(य) अनुबद्ध भण्डारगृह—अनुबद्ध भण्डारगृह विदेशों से आयातित वस्तुओं को शुल्क भुगतान के समय तक के लिए सुरक्षित रूप से संगृहीत किये जाने के लिए हवाई अड्डों एवं बन्दरगाहों के समीप निर्मित किये जाते हैं। वस्तुओं के आयात करने वाले को संग्रहण-काल के लिए किराया देना होता है।

भारत में संग्रहण एवं भण्डारण सुविधा का विकास :

संग्रहण एवं भण्डारण सुविधाओं का विकास तीनों ही क्षेत्रों—सार्वजनिक (भारतीय खाद्य निगम, केन्द्रीय भण्डार निगम एवं राज्य भण्डारगृह निगम), सहकारी एवं निजी क्षेत्रों में हो रहा है। सार्वजनिक एवं सहकारी क्षेत्रों द्वारा निर्मित यह सुविधा मार्च 1974 में 11.87 मिलियन टन क्षमता की थी, जो बढ़कर मार्च, 1990 में 32.80 मिलियन टन हो गई। इस सुविधा का अधिकांश भाग खाद्यान्नों के संग्रहण में उपयोग में आता है।

केन्द्रीय एवं राज्य भण्डारगृहों का वर्तमान में देश में जाल फैला गया है। इनकी संख्या एवं संग्रहण क्षमता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इनकी संग्रहण क्षमता वर्ष 1960–61 में मात्र 1.57 लाख टन थी, जो बढ़कर [illegible] में 160.0 लाख टन हो गई। देश में [illegible] को देखते हुए उपलब्ध संग्रहण क्षमता [illegible] आवश्यकता है।

एव 1980 मे 2,795 हो गई। इसी प्रकार इनकी क्षमता जो वर्ष 1964 में 3 05 लाख टन थी, जो बढकर वर्ष 1990 मे 68 15 लाख टन हो गई। वर्तमान मे 85 प्रतिशत इकाईयाँ जिनकी कुल स्थापित क्षमता 91 24 प्रतिशत है, निजी क्षेत्र मे है और शेष 15 प्रतिशत शीत-गृह सार्वजनिक तथा सहकारी क्षेत्र मे हैं, जिनकी कुल क्षमता मात्र 8 76 प्रतिशत ही—है। कुल उपलब्ध शीत सग्रहण क्षमता का लगभग 80 प्रतिशत भाग चार राज्यो— उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बगाल एव पजाब मे है। देश के शीत सग्रहण-गृह, शीत सग्रहण आदेश, 1964 द्वारा नियमित होते हैं। इस आदेश मे वर्ष 1980 मे परिवर्तन करके इसे व्यापक आदेश का रूप दे दिया गया है।

संग्रहण एव भण्डारण लागत—वस्तुओ की सग्रहण एव भण्डारण लागत ज्ञात करते समय, लागत के निम्न मद शामिल करने चाहिएँ—

(अ) भण्डारगृहो मे भौतिक सुविधाओ को बनाये रखने मे आने वाली लागत जैसे—भण्डारगृह की मरम्मत एव टूट फूट की लागत, मशीनो एव भवन का मूल्य-ह्रास, बीमा की किश्त, ब्याज आदि।

(ब) उत्पादन-स्थान अथवा बाजार से सग्रहण स्थान तक वस्तुओ का परिवहन करने की लागत।

(स) सग्रहीत वस्तुओ के मूल्य पर सग्रहण समय का ब्याज।

(द) सग्रहण-काल मे वस्तुओ के सूखने, खराब होने, सकुचन आदि कारणो से होने वाली मात्रा एव किस्म ह्रास का मूल्य।

(य) सग्रहीत काल मे वस्तुओं की कीमतो मे गिरावट होने से हानि की राशि।

(र) सग्रहीत वस्तुओ एव ताजा वस्तुओ की कीमतो मे पाये जाने वाले अन्तर की राशि।

खाद्यान्नो की सग्रहण एवं मण्डारण लागत को कम करने की विधियाँ—निम्न विधियो को अपनाकर खाद्यान्नो की सग्रहण लागत को कम किया जा सकता है—

I वस्तुओ के सग्रहण एव मण्डारण काल मे होने वाली मात्रा एव किस्म के ह्रास मे कमी करके—कीटाणुनाशक दवाइयो के उपयोग, तापक्रम मे होने वाले परिवर्तनो को कम करके तथा आर्द्रता नियन्त्रण द्वारा वस्तुओ की मात्रा एव किस्म मे होने वाली क्षति को कम किया जा सकता है। भारतीय खाद्यान्न सग्रहण सस्था (Indian Foodgrains Storage Institute) हापुड निरन्तर अनुसन्धान द्वारा सग्रहण विधियो मे सुधार ला रही है ताकि खाद्यान्नो के सग्रहण-काल मे कम से कम क्षति होवे।

2 श्रमिको की कार्य-कुशलता मे वृद्धि करके सग्रहण लागत को कम किया जा सकता है।

3 शिक्षा के प्रसार द्वारा सग्रहीत वस्तुग्रो के प्रति उपभोक्ताग्रो के विरोध को कम करना, जिससे सग्रहीत ताजा वस्तुग्रो की कीमतो मे ग्रन्तर नही होवे।

4 सग्रहण-काल मे वस्तुग्रो की कीमतो मे होने वाली गिरावट की हानि को सट्टा एव सरक्षण विधि द्वारा कम करना।

5 भण्डार गृहो की सुविधा मण्डियो एव गाँवो मे उपलब्ध कराना, ताकि उत्पादन स्थान से भण्डार गृह तक वस्तुग्रो को पहुँचाने मे होने वाली परिवहन-लागत मे कमी होवे।

6 भण्डार-गृहो मे खाद्यान्न-सग्रहण के लिए कृषको को सग्रहण शुल्क मे विशेष छूट देना, जिससे वे उपलब्ध भण्डारण सुविधाग्रो के उपयोग के लिए प्रेरित हो सकें।

उपलब्ध सग्रहण एवं भण्डारण सुविधाग्रों का कृषको द्वारा उपयोग नहीं कर पाना .

उपलब्ध भण्डार गृह क्षमता का सर्वाधिक उपयोग सरकार एव सार्वजनिक क्षेत्र की सस्थाएँ जैसे—भारतीय खाद्य निगम एव राष्ट्रीय बीज निगम करते हैं। कृषक उपलब्ध राज्य भण्डारगृहो की क्षमता का 2 प्रतिशत से कम उपयोग करते हैं। निम्न कारणो से वर्तमान मे उपलब्ध सग्रहण एव भण्डारण सुविधाग्रो का कृषक उपयोग नही कर पा रहे हैं—

1 कृषको को भण्डारगृहों द्वारा दी जाने वाली सुविधाग्रो का ज्ञान न होना।

2 अनेक मण्डियो एव गाँवो म भण्डारगृह-सुविधा उपलब्ध न होना, जिससे कृषको को शहर के भण्डारगृहो तक खाद्यान्न ले जाने मे परेशानी होती है एव ग्रनावश्यक परिवहन लागत देनी होती है।

3 खाद्यान्नो को भण्डारगृहो मे जमा कराने एव वापस प्राप्त करने मे होने वाली असुविधाएँ।

4 भण्डारगृहो मे सभी वस्तुग्रो के लिए सग्रहण सुविधा का ग्रभाव होना।

5 भण्डारगृहो से प्राप्त रसीद के ग्राधार पर ऋण प्राप्ति की सुविधा राष्ट्रीयकृत बैंको तक ही सीमित होना। अनेक स्थानो पर राष्ट्रीयकृत बैंको की शाखाग्रो के नही होने मे कृषको को ऋण-प्राप्ति से परेशानी होती है। भण्डारगृहो की रसीदो का प्रतिभूति के आधार पर अनुसूचित बैंक एव सहकारी बैंक ऋण स्वीकार नही करत है।

6 भण्डारगृहो मे सग्रहण-लागत का अधिक होना ।
7. लघु जोत के कृषको के पास विक्रेय-अधिशेष की मात्रा सग्रहण के लिए होना ।

(5) वित्त-व्यवस्था—विपणन-प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाने के लिए वित्त की आवश्यकता होती है । प्रत्येक विपणन-कार्य के लिए वित्त की आवश्यकता होती है । पाइल[8] के अनुसार मुद्रा या ऋण विपणन-प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाने के लिए उसी प्रकार से आवश्यक है जिस प्रकार मशीनो व यन्त्रो को चलाने के लिए स्निग्ध पदार्थ आवश्यक होते हैं । वित्त की आवश्यकता सभी उत्पादक कृषको, व्यापारियो एव अन्य विपणन-मध्यस्थो को होती है । प्रत्येक विपणन-मध्यस्थ की वित्त की आवश्यकता विभिन्न होती है । निम्नलिखित कारक विपणन के लिए वित्त की आवश्यक राशि मे परिवर्तन लाते हैं—

(1) व्यापार की प्रकृति—विभिन्न वस्तुओ के व्यापार के लिए वित्त की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होती है ।
(2) व्यापार का प्रकार—थोक व्यापार के लिए खुदरा व्यापार की अपेक्षा वित्त की आवश्यकता अधिक होती है ।
(3) व्यापार के लिए वस्तुओ की सग्रहीत की जाने वाली मात्रा ।
(4) वस्तुओ के उत्पादन एव विक्रय काल मे समयान्तर ।
(5) वस्तुओ के क्रय-विक्रय एव कीमत भुगतान की शर्ते ।
(6) वस्तुओ के विपणन-कार्यों की लागत-राशि, जैसे—परिवहन लागत, सवेष्टन लागत, श्रेणीकरण लागत आदि ।
(7) वस्तुओ मे परिष्करण की आवश्यकता ।
(8) व्यापार का स्थायी अथवा अस्थायी होना ।

विपणन-व्यवसाय के लिये वित्त प्राप्त करने के अनेक स्रोत है जिनमे से ग्रामीण व्यापारी, भू-स्वामी, आढ़तिया, व्यापारिक बैंक एव सहकारी समितियाँ प्रमुख हैं ।

(6) परिष्करण (प्रोसेसिंग)—परिष्करण से तात्पर्य उन क्रियाओ को करने से है जिनके द्वारा वस्तुओं के मूल रूप को परिवर्तित करके उनको उपभोक्ताओ के उपभोग के लिए पहले से अधिक उपयोगी बनाया जाता है । विल्सनगी[9] के अनुसार वे कार्य, जो कच्चे माल को निर्मित वस्तुओ के रूप मे परिवर्तित करते हैं, परिष्करण के कार्य कहलाते हैं । इनमे वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं जो वस्तु के रूप-परिवर्तन मे सहायक होती हैं । इस क्रिया के द्वारा वस्तुओ मे रूप-उपयोगिता उत्पन्न

8. "Money or Credit is the lubricant that facilitates the operation of the marketing machine." -Pyle.

9. Wilson Gee, The Social Economics of Agriculture, 1942 p. 273.

होती है, जैसे–धान से चावल, गन्ने से गुड, शक्कर व चीनी, फलो से शर्बत, मुरब्बा, जैम, जेली, अचार, दूध से घी, मक्खन, खोश्रा, पनीर, गेहूँ से आटा, तिहलन से तेल आदि ।

कृषि-वस्तुओ की विपणन-प्रक्रिया मे परिष्करण भी प्रमुख कार्य होता है, क्योकि अनेक वस्तुओ का उत्पादन उस रूप मे नही होता है, जिस रूप में उपभोक्ता उनका उपभोग करते हैं । कुछ कृषि वस्तुएँ, जैसे–धान, गन्ना, तिलहन आदि का परिष्करण उपभोग के पहले अति आवश्यक होता है, लेकिन फल, सब्जी एव अन्य वस्तुओं को परिष्करण द्वारा अधिक उपयोगी बना सकते हैं एव एक मौसम के अधिशेष उत्पाद को दूसरे मौसम अथवा समय मे उपयोग के लिए सुरक्षित रख सकते हैं । अत वस्तुओ को उपभोग-योग्य बनाने एव उन्हे अधिक समय तक सुरक्षित रखने के लिए परिष्करण करना होता है । इस क्रिया द्वारा वस्तुओ के सगृहीत किये जाने के काल मे भी वृद्धि होती है, जैसे—फलो से जैम, जेली, शर्बत तथा सब्जियों को अचार, डिब्बा-बन्दी एव सुखाकर अधिक समय तक खराब होने से बचा लिया जाता है । उत्पादन मौसम के अतिरिक्त अन्य काल (Off-season) मे भी उनकी माँग पूरी की जा सकती है । प्रोसेसिंग द्वारा वस्तुओ का बाजार भी विस्तृत होता है ।

परिष्करण से वस्तुओ की विपणन लागत मे वृद्धि होती है, जिससे उत्पादको को उपभोक्ता द्वारा दी जाने वाली कीमत मे से प्राप्त प्रतिशत भाग कम होता जाता है । इस क्रिया द्वारा वस्तुओ के फार्म पर उत्पादित मूल्य मे 7 प्रतिशत (चावल मे) से 86 प्रतिशत (चाय) तक वृद्धि हो जाती है । वाणिज्यिक फसलो मे यह वृद्धि खाद्यान्नो वाली फसलो की अपेक्षा अधिक होती है ।[10]

विभिन्न कृषि-वस्तुओ के लिए विभिन्न प्रकार के एव विभिन्न स्तर तक परिष्करण कार्य करने होते हैं । इस सम्बन्ध मे खाद्यान्न, तिलहन, दालो वाली फसलो, फलो एव सब्जियो मे किये जाने वाले कार्यों मे बहुत भिन्नता होती है । परिष्करण कार्य की महत्ता के कारण वर्तमान मे विभिन्न वस्तुओ के परिष्करण उद्योगो का विकास तीव्र गति से हुआ है । प्रत्येक वस्तु की परिष्करण प्रक्रिया मे हो रहे निरन्तर अनुसधाना से वस्तुएँ अधिक उपयोगी होती जा रही हैं ।

(7) क्रय-विक्रय—विपणन-कार्य की सम्पन्नता के लिए वस्तुओ का क्रय विक्रय होना आवश्यक है । वस्तुओ का क्रय विक्रय क्रेताओ एव विक्रेताओ के मध्य कीमत भुगतान के आधार पर होता है । इस कार्य द्वारा वस्तुओ में स्वामित्व-उपयोगिता उत्पन्न होती है ।

10 National Sample Survey, Report on the Sample Survey of the Manufacturing Industries, Report No. 23, Government of India, New Delhi, 1960.

वस्तुओं के क्रय से तात्पर्य, वस्तुओं का स्वामित्व क्रेता को प्राप्त होने से है। वस्तुओं के क्रय में क्रेताओं को निम्न सहायक कार्य करने होते हैं—

(i) उपभोक्ताओं द्वारा स्वयं के लिए विभिन्न वस्तुओं की मात्रा एवं किस्म की आवश्यकता का निर्धारण करना।

(ii) वस्तुओं की पूर्ति के स्रोतों का पता लगाना।

(iii) वस्तुओं का एकत्रीकरण करना, जिससे व्यापार हो सके।

(iv) विक्रेता से क्रय की शर्तें तय करना।

(v) वस्तुओं के क्रय के लिए सहमति देना एवं उनके स्वामित्व में परिवर्तन करना।

वस्तुओं के विक्रय से तात्पर्य विक्रेता से उपभोक्ताओं को वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त कराने से है। वस्तुओं के विक्रय में विक्रेताओं को निम्नांकित सहायक कार्य करने होते हैं—

(i) वस्तुओं का आवश्यक मात्रा में उत्पादन करना, जिससे उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

(ii) क्रेताओं की तलाश करना एवं उनसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना।

(iii) उपभोक्ताओं में वस्तुओं की माँग उत्पन्न करना।

(iv) वस्तुओं के विक्रय की शर्तें निर्धारित करना।

(v) वस्तुओं के विक्रय के लिए सहमत होना एवं वस्तुओं के स्वामित्व में परिवर्तन करना।

वस्तुओं के विपणन के लिये विक्रय विधियाँ—बाजार में वस्तुओं के विक्रय की निम्न विधियाँ प्रचलित हैं—

(i) **कपड़े की आड़ (आवरण) में गुप्त संकेतों द्वारा विक्रय**—विक्रय की इस विधि के अन्तर्गत आढ़तिया एवं क्रेता व्यापारी कपड़े से अपने हाथ ढक लेते हैं तथा कपड़े की आड़ में हाथ की अंगुलियों के गुप्त संकेतों द्वारा कीमत निर्धारित करते हैं। आढ़तिया एवं क्रेता द्वारा निश्चित की गई कीमत का विक्रेता-कृषक को ज्ञान नहीं होता है। निर्धारित की गई कीमत पर खाद्यान्न क्रेताओं को विक्रय कर दिया जाता है। विक्रय के पश्चात् आढ़तिया विक्रेता कृषक को खाद्यान्न की कीमत का भुगतान करता है। विक्रय की इस विधि में कृषकों की कीमतों के ज्ञान की अज्ञानता का अनेक आढ़तिया लाभ उठाते हुए कृषकों को निर्धारित कीमत से कम कीमत भुगतान करते हैं। अतः उपर्युक्त दोष के होने से सरकार ने विक्रय की इस विधि का कानूनन निषेध कर दिया है।

(ii) खुली नीलामी द्वारा विक्रय—विक्रय की इस विधि के अन्तर्गत उत्पादक-कृषकों द्वारा लाये गये खाद्यान्नों एवं अन्य वस्तुओं का खुली नीलामी द्वारा बाजार में विक्रय किया जाता है। वस्तुओं की नीलामी में भाग लेने की प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होती है। कृषकों को क्रेताओं द्वारा नीलामी के समय दी जाने वाली कीमत का पूर्ण ज्ञान होता है, जिससे आढ़तियों के लिए नीलामी द्वारा निर्धारित कीमत से कम कीमत का कृषक को भुगतान कर पाना सम्भव नहीं होता है। वस्तुओं की खुली नीलामी के निम्न तरीके प्रचलित हैं—

(अ) फड़ नीलामी विधि—नीलामी की इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न कृषकों द्वारा बाजार में लाये गये विभिन्न किस्म के माल को एक ही बार में नीलाम किया जाता है। वस्तुओं की नीलामी वस्तु की किस्म के अनुसार नहीं की जाती, जिससे विक्रेताओं को अच्छे एवं औसत किस्म के उत्पाद के लिए समान कीमत प्राप्त होती है। बाजार में नीलामी की उपर्युक्त विधि के होने से उत्पादक कृषकों में अच्छी किस्म के उत्पाद के उत्पादन की प्रेरणा का ह्रास होता है।

(ब) यादृच्छिक नीलामी विधि—नीलामी की इस विधि के अन्तर्गत आढ़तिया वस्तुओं की नीलामी के लिए कुछ आढ़तियों को बाजार में बुलाता है और वस्तुओं की खुली नीलामी करता है। आढ़तियों द्वारा बाजार में सभी क्रेताओं को नीलामी की सूचना नहीं देने से विक्रय में स्पर्द्धा कम होती है और कृषकों को खाद्यान्नों की सही कीमत प्राप्त नहीं होती है।

(स) तालिकाबद्ध नीलामी पद्धति—इस विधि के अन्तर्गत बाजार में प्रतिदिन निश्चित समय एवं स्थान से नीलामी शुरू होती है। विभिन्न कृषकों द्वारा लाये गये माल को किस्म के अनुसार पृथक् रूप से नीलाम किया जाता है। एक आढ़तिया के यहाँ आई हुई विभिन्न वस्तुओं की नीलामी समाप्त होने पर, दूसरे आढ़तिया के यहाँ पर वस्तुओं की नीलामी शुरू होती है। वस्तुओं की नीलामी की यह नियमित विधि है। बाजार के सभी क्रेताओं को नीलामी की सूचना होती है। अतः विक्रय में स्पर्द्धा अधिक होती है जिससे कृषकों को खाद्यान्न की उचित कीमत प्राप्त होती है।

(iii) आपसी समझौते के अनुसार विक्रय—इस विधि के अन्तर्गत वस्तुओं का विक्रय क्रेताओं एवं विक्रेताओं में परस्पर वार्ता के आधार पर होता है। क्रेता वस्तुओं के नमूने के अनुसार कीमत लगाते हैं और विक्रेताओं को कीमत स्वीकार होने पर माल क्रेताओं को विक्रय कर दिया जाता है। वस्तुओं का क्रय-विक्रय, विक्रेताओं के फार्म अथवा क्रेताओं के व्यवसाय स्थान पर होता है।

(iv) नमूने के द्वारा विक्रय इस विधि के अन्तर्गत उत्पादक कृषकों द्वारा लाये गये खाद्यान्नों एवं अन्य वस्तुओं का सर्वप्रथम आढ़तिया नमूना लेते हैं और वे नमूने को सम्भावित क्रेताओं के पास ले जाते हैं। जो क्रेता सबसे अधिक कीमत देने को तैयार होता है, आढ़तिया उस वस्तु को उसे विक्रय कर देता है। विक्रय की इस विधि में भी आढ़तिए कभी कभी वस्तु की निर्धारित कीमत से कम कीमत कृषको को भुगतान करते हैं और कीमतों के अन्तर को स्वयं हड़प जाते हैं।

(v) दड़ा विक्रय—विक्रय की इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न किस्म की वस्तुओं को एक साथ मिश्रित करके दड़ा कर लिया जाता है और दड़े को सम्मिलित रूप से नीलाम किया जाता है। इस विधि से कम समय में अधिक मात्रा में वस्तुओं का विक्रय हो जाता है, जिसमें बाजार में आया हुआ सभी माल उसी दिन विक्रय हो जाता है।

(vi) बन्द निविदा पद्धति से विक्रय—विक्रय की इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न कृषकों द्वारा लाये गये खाद्यान्नों को आढ़तियों की दूकान के सामने ढेर करके नम्बर अंकित कर दिया जाता है। वस्तुओं के क्रेता बाजार में आढ़तियों की दुकान पर आते हैं और वस्तु पसन्द होने पर वस्तु की क्रय कीमत नीलाम पर्ची में अंकित करके आढ़तिया की दुकान पर रखे डिब्बे में डाल देते हैं। वस्तुओं के विक्रय के लिए निर्धारित समय की समाप्ति पर नीलाम पर्चियों को खाद्यान्न के ढेर की संख्या के अनुसार कीमतों के बढ़ते हुए क्रम के अनुसार लगा लिया जाता है। वस्तु के ढेर के लिए सबसे अधिक कीमत देने वाले क्रेता को बुलाकर वस्तु विक्रय की जाती है। विक्रय की इस विधि में कृषकों को खाद्यान्न की उचित कीमत प्राप्त होने की सम्भावना अधिक होती है।

(vii) मोगम विक्रय विधि (Moghum Sale)—मोगम-विक्रय विधि में कृषकों द्वारा क्रेताओं को वस्तुओं की बिक्री कीमत निर्धारित किए बिना ही की जाती है। विक्रेता कृषकों को क्रेता-व्यापारियों पर पूर्ण विश्वास होता है कि वे बाजार में प्रचलित कीमत के अनुसार ही उन्हें खाद्यान्नों की कीमत भुगतान करेंगे। यह विधि मुख्यतया गाँवों में पायी जाती है, क्योंकि विक्रेता कृषक व्यापारियों के ऋणी होते हैं।

कृषि वस्तुओं के विक्रय के माध्यम—उत्पादक कृषक कृषि-उत्पादों को निम्न माध्यम के द्वारा विक्रय करते हैं—

(i) उत्पादकों द्वारा उपभोक्ताओं एवं परिष्कर्त्ताओं को सीधे रूप में विक्रय :

(क) उपभोक्ताओं को सीधे रूप से विक्रय—विक्रय के इस माध्यम में उत्पादक-कृषक एवं उपभोक्ताओं के मध्य में कोई मध्यस्थ नहीं होता है। खाद्यान्न सीधे उपभोक्ताओं को विक्रय किये जाते हैं, जिसके कारण विपणन-लागत बहुत कम आती है।

(ख) परिष्कर्त्ताओ को सीधे रूप से विक्रय—विक्रय के इस माध्यम मे उत्पादक कृषको द्वारा खाद्यान्न परिष्कर्त्ताओ को बिना किसी विपणन-मध्यस्थ की सहायता से विक्रय किया जाता है।

(ii) विपणन-मध्यस्थो के माध्यम से विक्रय—कृषि-उत्पाद के विक्रय का दूसरा माध्यम विपणन मध्यस्था, जैसे—आढतिया, दलाल, सहकारी विपणन संस्थाओ की सहायता से विक्रय करना है। विपणन-मध्यस्थो को किए गए कार्यों के लिए विपणन-लागत प्राप्त होती है।

वस्तुओं के विक्रय मे विक्रय शर्तें—वस्तुओ के विक्रय मे विक्रय शर्तों को स्पष्ट करना आवश्यक है अन्यथा मण्डी मे क्रेताओं एव विक्रेताओ के मध्य मे विवाद एव झगड़े उत्पन्न होते हैं। विक्रय के समय निम्न शर्तों को स्पष्ट करना आवश्यक है—

(i) वस्तुओं की किस्म—वस्तुओ की किस्म के नमूने, वस्तु का विस्तृत विवरण, ट्रेडमार्क अथवा श्रेणी का स्पष्ट किया जाना आवश्यक है।

(ii) वस्तु की मात्रा—क्रय-विक्रय के पूर्व क्रेताओ एव विक्रेताओ के मध्य मे लेन-देन की जाने वाली वस्तु की मात्रा भी निश्चित की जानी आवश्यक है, जिससे कीमतो मे परिवर्तन होने की स्थिति मे विवाद उत्पन्न नही होवे।

(iii) विक्रय राशि के भुगतान की शर्ते—क्रय विक्रय के समय क्रेता एव विक्रेता के मध्य मे राशि भुगतान समय की स्पष्टता भी आवश्यक है। विभिन्न मण्डियो मे राशि भुगतान के विभिन्न नियम होते हैं। कुछ मण्डियो मे भुगतान खाद्यान्न विक्रय के शीघ्र पश्चात् करना होता है जबकि अन्य मण्डियो मे भुगतान के लिए कुछ अवधि नियत होती है।

(iv) सवेष्टन की शर्ते—वस्तुओ के विक्रय के समय क्रेताओ एव विक्रेताओ के मध्य सवेष्टन की शर्ते स्पष्ट होनी चाहिये। जैसे कीमत मे सवेष्टन मे उपयोग की गई वस्तु सम्मिलित है या नही। कुछ मण्डियो मे खाद्यान्न विक्रय मे जूट की बोरी सम्मिलित होती है जबकि अन्य मण्डियो मे बोरी को सम्मिलित नही करते हुए खाद्यानो का विक्रय होता है।

(v) माल के आदान प्रदान का समय—क्रय-विक्रय के समय वस्तु के आदान प्रदान के समय की स्पष्टता भी आवश्यक है। कभी-कभी क्रय विक्रय वर्तमान मे होता है, लेकिन वस्तु का वास्तविक आदान-प्रदान भविष्य के निश्चित दिनाक को होता है।

वस्तुओं की माँग उत्पन्न करना—वस्तुओं के क्रय विक्रय के लिए उपभोक्ताओ

की वस्तु के प्रति माँग का होना आवश्यक है। वस्तुओं की माँग उत्पन्न करने से तात्पर्य उपभोक्ताओं को वस्तु का ज्ञान प्रदान करते हुए उसकी आवश्यकता उत्पन्न करने से है। विक्रेता वस्तुओ की माँग मे वृद्धि, विज्ञापन एव अन्य विक्रय-विधियो द्वारा उपभोक्ताओ का वस्तु के गुण, लाभ, कीमत एव अन्य जानकारी का विस्तृत ज्ञान प्रदान करके करते है जिससे उपभोक्ता उस वस्तु को क्रय करने को तत्पर हो सकें।

वर्तमान मे प्रत्येक वस्तु की माँग उत्पन्न करना आवश्यक है क्योकि उत्पादन-कर्त्ता वस्तुओ का उत्पादन भविष्य मे माग के उत्पन्न होने की आकाक्षा से करते हैं। विज्ञापन एव माग उत्पन्न करने की अन्य विधियो से वस्तुओ की विपणन-लागत मे वृद्धि होती है। विज्ञापन द्वारा वस्तुओ की कुल बिक्री की मात्रा मे वृद्धि होती है जिससे प्रति इकाई विपणन-लागत मे कमी होती है। विक्रेता वस्तुओ का विज्ञापन समाचार-पत्र एव पत्रिकाओ मे सूचना प्रकाशित करके, रेडियो, टेलीविजन द्वारा सूचना-प्रसारण करके सिनेमा मे स्लाइड दिखाकर, कलेण्डर, डायरियाँ एव अन्य माध्यमो द्वारा करते है। विभिन्न विक्रेता वस्तुओ के विपणन के लिए विभिन्न विधियो को प्रयोग मे लेते हैं। विज्ञापन मुख्यतया परिष्कर्त्ताओ एव अन्य मध्यस्थ विक्रेताओ, जैसे—थोक विक्रेता आदि द्वारा किया जाता है।

(8) **जोखिम वहन**—वस्तुओं की विपणन-प्रक्रिया के विभिन्न विपणन-कार्यों जैसे—परिवहन, परिष्करण, सग्रहण एव भण्डारण, कीमतो के पता लगाने आदि मे वस्तु की मात्रा के कम होने अथवा किस्म का ह्रास अथवा कीमतो मे गिरावट होने से जोखिम होती है। विपणन-प्रक्रिया मे जोखिम के होने से विपणन सस्थाओ को हानि होने की निरन्तर आशका बनी रहती है। विपणन-प्रक्रिया में होने वाली जोखिम दो प्रकार की होती है—

(अ) **भौतिक जोखिम**—भौतिक जोखिम वस्तु की मात्रा मे कमी होने अथवा उसके गुणो मे ह्रास, आग, वर्षा, दुर्घटना, कीडे-मकोडे, बीमारियाँ, अत्यधिक नमी, तापक्रम मे परिवर्तन आदि कारणो से होती है। भौतिक जोखिम परिवहन, परिष्करण एव सग्रहण-काल मे प्रमुख रूप से होती है। भौतिक जोखिम, सग्रहण की उचित वैज्ञानिक विधि अपनाकर, वस्तुओ की आग, बाढ एव अन्य दुर्घटना से होने वाली हानि का बीमा कराकर, परिवहन के उचित साधन अपनाकर कम की जा सकती है।

(ब) **कीमत-जोखिम**—विपणन-प्रक्रिया मे दूसरी जोखिम वस्तुओ की कीमतो मे गिरावट से उत्पन्न होती है। वस्तुओ की कीमतो मे गिरावट, वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि, वस्तु की माँग मे कमी आदि कारणो से

होती है। कीमतो मे गिरावट के कारण होने वाली जोखिम को निम्न प्रकार से कम किया जा सकता है—

(i) कीमतो से सम्बन्धित आवश्यक ज्ञान कृषकों को समय समय पर प्रदान करके ।

(ii) कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को सरकार द्वारा न्यूनतम एव अधिकतम कीमतो की निर्धारित सीमा मे नियन्त्रित करके ।

(iii) कीमतो को वैज्ञानिक विधि द्वारा पूर्वानुमानित करते हुए कृषको को सूचना प्रदान करके ।

(iv) कीमतो मे गिरावट से रक्षा के लिए सट्टा एव सरक्षण विधि अपनाकर ।

सरक्षण विधि मे व्यापारी वस्तुओ का हाजिर बाजार मे क्रय करते है और कीमतो मे गिरावट के कारण होने वाले नुकसान से रक्षा करने के लिए भावी बाजार मे *वस्तु की उतनी ही मात्रा का विक्रय करते हैं। सरक्षणकर्ताओ में व्यवसाय से* होने वाले लाभ अथवा हानि की राशि का ही भुगतान होता है। वस्तुओ की मात्रा का वास्तविक लेन-देन साधारणतया नही होता है। वस्तुओ मे सट्टे के कारण कीमतो मे होने वाले उतार-चढाव की गति धीमी होती है एव वस्तुओ की माँग एव पूर्ति मे साम्यावस्था आसानी से स्थापित हो जाती है। विभिन्न मण्डियो मे प्रचलित कीमतो के विशेष अन्तर की राशि को भी सट्टा एव सरक्षण विधि द्वारा कम किया जा सकता है ।

सरक्षण विधि का प्रमुख उद्देश्य व्यापारी की भावी समय मे वस्तुओ की कीमतो के गिरने मे होने वाली हानि से रक्षा करना है। इस विधि के अन्तर्गत व्यापारी वस्तुओं का क्रय-विक्रय जितनी मात्रा मे हाजिर बाजार मे करते हैं, उतनी ही मात्रा के लिए विपरीत क्रिया अर्थात् विक्रय अथवा क्रय भावी बाजार मे करते हैं।[11] व्यापारी को हाजिर बाजार मे कीमतो के गिरने से जो हानि होती है उसकी पूर्ति भावी बाजार मे उसी अनुपात मे कीमतो मे गिरावट होने से प्राप्त होने वाले लाभ द्वारा हो जाती है। इस प्रकार सरक्षण विधि द्वारा व्यवसाय मे होने वाली सम्भावित हानि से व्यापारी की रक्षा होती है। सट्टा विधि के अन्तर्गत भी व्यापारी वस्तुओं का क्रय विक्रय हाजिर बाजार एव भावी बाजार मे करते हैं। इसके अन्तर्गत हाजिर एव भावी बाजार मे की गई क्रियाएँ पूर्णतया एक-दूसरे के विपरीत होना आवश्यक नही है और न ही वस्तुओं का हाजिर एव भावी बाजार मे क्रय विक्रय समान मात्रा मे होना आवश्यक है। क्रय-विक्रय वस्तुओं से लाभ कमाने की आशा

11. Geoffrey S Shepherd, Marketing Farm Products Economic Analysis. The Iowa State University Press, Ames Iowa, 1965 pp 153-54.

से किए जाते है। सट्टा विधि मे व्यापारियो को होने वाले लाभ अथवा हानि उनके द्वारा की गई नियाओ के सम्बन्ध मे लिये गये उचित निर्णयो पर निर्भर होती है। सट्टा विधि के अन्तर्गत व्यापारी वस्तुओ की कीमतो के बढने की आशा मे क्रय करके स्टॉक कर लेते हैं और उनको आशानुसार कीमतो के बढने पर विक्रय करके लाभ कमाते हैं।

सरक्षण विधि का उदाहरण

हाजिर बाजार मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय	भावी बाजार मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय
दिसम्बर 1,1992 100 क्विन्टल गेहूँ 300 रु प्रति क्विन्टल की दर से क्रय किया गया।	दिसम्बर 1,1992 100 क्विन्टल गेहूँ, अप्रैल 15,1993 के सौदे पर 310 रु प्रति क्विन्टल की दर से विक्रय किया गया।
दिसम्बर 15,1992 100 क्विन्टल गेहूँ 295 रु प्रति क्विन्टल की दर से विक्रय किया गया।	दिसम्बर, 15,1992 100 क्विन्टल गेहूँ अप्रैल 15,1993 के सौदे पर 305 रु प्रति क्विन्टल से क्रय किया गया।
हाजिर बाजार मे खाद्यान्न के क्रय विक्रय मे प्रति क्विन्टल हानि 5 00 रु	भावी बाजार मे खाद्यान्न के क्रय-विक्रय मे प्रति क्विन्टल लाभ 5 00 रु

सरक्षण एव सट्टा विधि उन सभी कृषि वस्तुओ मे अपनाई जा सकती है जिन्हे आसानी से श्रेणीचयन एव सगृहीत किया जा सकता है। सरकार विभिन्न वस्तुओ पर समय-समय पर सरक्षण अथवा सट्टे के लिए प्रतिबन्ध लगाती है और गैर-कानूनी सट्टे पर रोक लगाती है। वस्तुओ के अग्रिम बाजार मे होने वाले लेन-देन सरकार वायदा सविदा (नियन्त्रण) अधिनियम [The Forward Contracts (Regulation) Act, 1952] के तहत नियन्त्रण करती है।

सरक्षण विधि की प्रमुख धारणा यह है कि हाजिर बाजार एव भावी बाजार मे वस्तुओ की कीमत मे गिरावट अथवा वृद्धि का स्तर समान होता है। कभी-कभी हाजिर बाजार एव भावी बाजार मे कीमतो मे वृद्धि अथवा गिरावट का स्तर समान नही होता है। दोनो बाजारो की कीमतो मे गिरावट अथवा वृद्धि के अन्तर से व्यापारियो को लाभ अथवा हानि होती है जिससे व्यवसाय चलता है। अत सरक्षण विधि कीमतो मे उतार चढाव से होने वाली हानि से व्यापारियो की पूर्ण रूप से रक्षा नही करती है।

9 कीमत-निर्धारण एव कीमतो का पता लगाना—विभिन्न वस्तुओ की कीमत निर्धारण एव कीमतो का पता लगाने का कार्य भी विपणन-प्रक्रिया का प्रमुख

भाग है। कीमतो के आधार पर ही वस्तुओ का क्रेताओ एव विक्रेताओ मे आदान-प्रदान होता है। विभिन्न वस्तुओ की उचित कीमत का निर्धारण आवश्यक है। वस्तु की उचित कीमत होने पर ही विक्रेता वस्तु को बेचने एव क्रेता खरीदने को तैयार होते हैं। कीमतो का निर्धारण वस्तु की मांग एव पूर्ति नामक शक्तियो पर निर्भर होता है। विपणन-मध्यस्थ विभिन्न वस्तुओ की कीमतो का निर्धारण देश की मण्डियो मे वस्तु की आमद एव आवश्यकता को मद्देनजर रखते हुए करते हैं। निर्धारण-कीमत विपणन-प्रक्रिया मे निम्न प्रकार से सहायक होती है—

(i) कीमतें विपणन-क्रिया के सुचलन को निर्देशित करती हैं।

(ii) कीमतें वस्तु की माँग एव पूर्ति की मात्रा मे सन्तुलन स्थापित करती हैं जिससे विक्रेताओ द्वारा लाया गया माल पूर्णरूप से विक्रय हो जाता है तथा क्रेताओ की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं।

(iii) कीमतें उपभोक्ताओ की माँग को निर्धारित करती हैं।

(iv) कीमतें उत्पादको को फार्म पर विभिन्न फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल निर्धारण करने मे पथ-प्रदर्शक का कार्य करती हैं एव उत्पादको को उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा देती हैं।

निर्धारित कीमतों की विशेषताएँ :

(i) निर्धारित कीमत पर बाजार मे विक्रय के लिए लाये गये खाद्यान्नो की सम्पूर्ण मात्रा की बिक्री हो जानी चाहिए।

(ii) निर्धारित कीमत कृषको को उत्पादन बढाने की प्रेरणा देने वाली होनी चाहिए।

(iii) निर्धारित कीमत विपणन मे कार्य करने वाले विपणन-मध्यस्थो को उचित लाभ की राशि प्रदान करने वाली होनी चाहिए जिससे विपणन मध्यस्थ विपणन-कार्य करते रहे।

क्रेताओ एव विक्रेताओ द्वारा कीमतो का निर्धारण बाजार मे आपस मे बातचीत के द्वारा होता है। क्रेता साधारणतया वस्तु की वास्तविक क्रय कीमत से कम कीमत लगाता है जबकि विक्रेता वास्तविक विक्रय-कीमत से अधिक कीमत मांगता है। अन्त मे कीमतें दोनो स्तरो के बीच मे निर्धारित होती हैं। कीमतो का यह स्तर क्रेता की वस्तु की आवश्यकता, विक्रेता को धन की आवश्यकता, वस्तु की बाजार मे उपलब्धि की मात्रा, वस्तुओ की स्थानीय एव विदेशी बाजार मे सम्भावित माँग, अगले मौसम मे उत्पादन की सम्भावित मात्रा आदि कारको पर निर्भर होता है।

(10) विपणन-सूचना सेवा—विपणन प्रक्रिया मे विपणन-सूचना सेवा भी आवश्यक विपणन कार्य है। विपणन मे कार्य कर रही विभिन्न सस्थाओ को विपणन सम्बन्धी सूचना प्राप्त होने पर विपणन-प्रक्रिया सुगमता एव सरलता से सचालित होती है। विपणन सूचना-सेवा के अन्तर्गत मण्डियो मे प्रचलित कीमत, विक्रय के

लिए बाजार मे वस्तु की आवक मात्रा, सम्भावित कीमतों आदि का ज्ञान सम्मिलित होता है जो क्रेताओ एव विक्रेताओ को क्रय-विक्रय के निर्णय लेने के लिए आवश्यक होता है। विपणन-सूचना दो प्रकार की होती है।

(i) बाजार-दृष्टिकोण-सूचना-सेवा—बाजार-दृष्टिकोण-सूचना सेवा के अन्तर्गत कृषको को वस्तुओ की सम्भावित मांग एव पूर्ति की मात्रा एव कीमतो के विषय मे सूचना प्रदान की जाती है, ताकि कृषक अगले वर्ष के लिए फार्म पर विभिन्न फसलों एव उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल का निर्धारण कर सकें। उपर्युक्त सूचना सेवा प्रदान करने की व्यवस्था का वर्तमान मे देश मे बहुत अभाव है। इस सूचना सेवा के अभाव मे कृषक फार्म पर विभिन्न उद्यमो का चुनाव एव निर्णय बिना किसी वैज्ञानिक आधार के लेते है, जिससे फार्म से प्राप्त होने वाला सम्भावित लाभ कम होता है। हरित-क्रान्ति के कारण कृषको को अधिक लाभ के लिए बाजार दृष्टिकोण-सूचना-सेवा की आवश्यकता अधिक होती है।

(ii) बाजार समाचार सेवा—बाजार-समाचार-सेवा के अन्तर्गत विभिन्न मण्डियो मे प्रचलित कीमतो के समाचार कृषको, मध्यस्थो एव उपभोक्ताओ को देने की व्यवस्था होती है। बाजार-समाचार सेवा वस्तुओ के क्रय-विक्रय के लिए आवश्यक होती है। विभिन्न मण्डियो से कीमतो के समाचार प्राप्त होने पर कृषक उत्पाद के विक्रय के लिए उचित मण्डी, सही समय एव विपणन-सस्था का चुनाव करके उत्पाद के विक्रय से अधिक लाभ कमा सकते है।

बाजार दृष्टिकोण सूचना-सेवा पूर्वानुमान है, जबकि बाजार समाचार-सेवा प्रसारण है। कृषको, व्यापारियो एव उपभोक्ताओ को बाजार सूचना वर्तमान मे समाचार-पत्र, रेडियो, पत्रिकाओ एव आढतियो के पत्रो के माध्यमो से प्रतिदिन प्राप्त होती है। कीमत सूचना हेतु भारत सरकार ने आर्थिक एव सांख्यिकी निदेशालय मे मूल्य सूचना विभाग (Price Intelligence Section) स्थापित किया है। यह विभाग प्रत्येक राज्य की प्रमुख मण्डियो से खाद्यान्नो एव अन्य कृषि-वस्तुओ के थोक एव खुदरा कीमतो मे दैनिक एव साप्ताहिक आंकड़े इकट्ठा करता है और उन्हे प्रतिदिन रेडियो एव पत्रिकाओ से प्रसारण करता है।

वर्तमान मे देश के असख्य कृषक अशिक्षा, कृषि को व्यवसाय के रूप मे नही लेने, मण्डियो मे होने वाली असुविधाओ, स्थानीय व्यापारियो के ऋणी होने, विक्रेय-अधिशेष की मात्रा के कम होने आदि कारणो से उपलब्ध विपणन समाचार-सेवा से पूर्ण लाभ नही उठा रहे हैं। देश के उत्पादक कृषका को विपणन-कीमत-सूचना-सेवा से अधिक लाभ की प्राप्ति के लिए निम्न सुझाव प्रेषित है—

1 कृषि-वस्तुओ की कीमतो की सूचना का प्रतिदिन 3 से 4 बार रेडियो एव टेलीविजन द्वारा प्रसारण किया जाना चाहिए।

2 कृषि वस्तुओ की कीमतो की सूचना का प्रसारण करने मे स्थानीय मण्डियो की कीमतो को प्राथमिकता देनी चाहिए ।

3 वर्तमान मे प्रचलित कीमतो के प्रसारण के साथ-साथ भावी कीमतो के पूर्वानुमान भी प्रसारित किये जाने चाहिएँ ।

4 कीमत-सम्बन्धी विपणन-सूचना-सेवा प्रसारण करने वाले समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ आदि हिन्दी एव स्थानीय भाषा मे होने चाहिएँ, जिन्हें कृषक आसानी से समझ सकें ।

5 कीमतों की सूचना-सेवा के साथ-साथ बाजार मे वस्तु की सम्भावित मांग के आँकड़े देने की व्यवस्था भी की जानी चाहिये, जिससे कृषक विपणन-सम्बन्धी निर्णय सुगमता से ले सकें ।

अध्याय 14

विपणन-लागत, विपणन-लाभ एवं विपणन-दक्षता

इस अध्याय में कृषि वस्तुओं के क्रय-विक्रय में विभिन्न विपणन-कार्यों की होने वाली लागत, विपणन संस्थाओं को प्राप्त होने वाले लाभ एवं विपणन-दक्षता का विवेचन किया गया है।

विपणन-लागत

विपणन-लागत से तात्पर्य—विपणन-लागत से तात्पर्य वस्तुओं को उत्पादन स्थान से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने में कृषकों एवं विपणन मध्यस्थों द्वारा किये जाने वाले व्यय की कुल राशि से होता है। विभिन्न वस्तुओं के विपणन में आने वाली विपणन-लागत की राशि विभिन्न होती है। विपणन-लागत ज्ञात करते समय कृषक के द्वारा की जाने वाली लागत के अतिरिक्त विभिन्न विपणन मध्यस्थों की लागत भी सम्मिलित की जाती है। विपणन-प्रक्रिया में कृषि वस्तुओं पर होने वाली कुल विपणन-लागत ज्ञात करने का सूत्र निम्न है—

कुल विपणन लागत = उत्पादक कृषक की विपणन लागत + प्रथम विपणन मध्यस्थ की विपणन-लागत + द्वितीय विपणन मध्यस्थ की विपणन-लागत + अन्य विपणन मध्यस्थों की विपणन-लागत

विपणन-प्रक्रिया के सभी कार्य वस्तुओं की विपणन-लागत में वृद्धि करते हैं। वस्तुओं के विक्रय के लिए विपणन कार्यों का करना अनिवार्य है। विभिन्न वस्तुओं के लिए विपणन-लागत की भिन्नता विपणन मध्यस्थों की संख्या, विपणन में परिष्करण (प्रोसेसिंग) की आवश्यकता, परिवहन स्थान की दूरी, संग्रहण की आवश्यकता एवं अवधि, वस्तुओं के पैकेजिंग में प्रयुक्त आवरण की लागत आदि कारकों के अनुसार भिन्न भिन्न होती है।

विपणन-लागत के अध्ययन का महत्व— विपणन-लागत का अध्ययन विपणन-प्रक्रिया में प्रमुख स्थान रखता है। विपणन-लागत की अधिकता की अवस्था में

उत्पादकों को फार्म से प्राप्त उत्पाद के विक्रय मूल्य में से कम अंश प्राप्त होता है तथा उपभोक्ताओं को अधिक कीमत देनी होती हैं। कृषकों को उपभोक्ता द्वारा दिये गये मूल्य में से कम अंश की प्राप्ति, विपणन-दक्षता के कम होने का प्रतीक है, जिससे तात्पर्य है कि वस्तुओं के विपणन की उचित व्यवस्था नहीं है तथा विपणन-विधि में अनेक त्रुटियाँ हैं।

विपणन-प्रक्रिया में होने वाली विपणन-लागत का अध्ययन विभिन्न संस्थाओं, विभिन्न वस्तुओं एवं बाजारों के अध्ययन के लिए आवश्यक है। विभिन्न बाजारों में वस्तु की विपणन लागत में भिन्नता, उपभोक्ताओं को प्राप्त होने वाली सुविधाओं अथवा बाजार में पायी जाने वाली विपणन कुरीतियों का आभास कराती है जिससे विपणन विकास के लिए आवश्यक कदम उठाने में सहायता मिलती है।

विपणन-लागत के मुख्य अवयव—विभिन्न वस्तुओं के विपणन में होने वाली विपणन-लागत के मुख्य अवयव निम्न है—

(1) परिवहन लागत—कृषि वस्तुओं का उत्पादन कृषकों के फार्म पर होता है जबकि उनका उपभोग विभिन्न दूरी पर स्थित शहरों, कस्बों एवं गाँवों में होता है। अतः वस्तुओं को उत्पादन से उपभोग स्थान तक ले जाना होता है। उत्पादित उपज को फार्म से घर अथवा निकटतम मण्डी में लाने, एक मण्डी से दूसरी मण्डी तक ले जाने, मण्डी से खुदरा विक्रेताओं के विक्रय स्थल तक ले जाने, संग्रहण के लिए गोदाम तक ले जाने एवं मण्डी से उपभोक्ता के घर तक पहुँचाने के लिए उनका परिवहन करना होता है। वस्तुओं के परिवहन करने पर लागत आती है।

(2) संवेष्टन पैकेजिंग लागत—विभिन्न वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने के लिए विभिन्न पैकेजिंग की वस्तुएँ प्रयोग में ली जाती हैं, जैसे-फलों के लिए टोकरियाँ एवं लकड़ी के बक्से, दूध के लिए काँच व प्लास्टिक की बोतलें, खाद्यान्नों के लिए जूट की बोरियाँ आदि। संवेष्टन में प्रयुक्त वस्तु की भिन्नता के कारण संवेष्टन लागत में भिन्नता होती है।

(3) श्रमिक लागत—वस्तुओं को गोदाम से परिवहन साधनों में चढ़ाने एवं उतारने, माल की सफाई, तुलाई के लिए काँटे पर लगाने आदि कार्यों के लिए पल्लेदारों एवं अन्य श्रमिकों की सेवाएँ काम में ली जाती हैं, जिनके लिए दी जाने वाली लागत को पल्लेदारी अथवा हमाली कहते है।

(4) तुलाई—क्रय-विक्रय में वस्तुओं को तोलने की लागत भी तुलारा को देनी होती है, जिसे तुलाई कहते हैं।

(5) चुंगी—शहर एवं कस्बों की मण्डियों में प्रवेश के पूर्व वस्तुओं पर चुंगी-कर भी देय होता है। यह कर क्षेत्र की नगरपालिका अथवा ग्राम पंचायत को देय होता है।

(6) बिक्री-कर—कुछ वस्तुओं के क्रय-विक्रय में सरकार को बिक्री-कर देय होता है। क्रेता द्वारा बिक्री कर सरकार को विक्रेता के माध्यम से दिया जाता है।

(7) आढ़त—मण्डियों में उत्पाद के विक्रय के लिए आढ़तियों की सेवाओं के लिए आढ़त देनी होती है। आढ़त की दर विभिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न होती है।

(8) दलाली—वस्तुओं के क्रय-विक्रय में कभी-कभी दलालों की सेवाएँ भी काम में ली जाती हैं, जिसके लिए दी जाने वाली लागत को दलाली कहते हैं।

(9) करदा एवं धलता—वस्तुओं में अशुद्धता के लिए अतिरिक्त मात्रा के रूप में करदा दिया जाता है जो सामान्यतः वस्तु के रूप में दिया जाता है। वस्तुओं में नमी के कारण मात्रात्मक ह्रास की पूर्ति के लिए वस्तु की दी जाने वाली अतिरिक्त मात्रा धलता कहलाती है। विभिन्न मण्डियों में विभिन्न वस्तुओं पर पृथक् दर से करदा एवं धलता दिया जाता है।

(10) संग्रहण लागत—वस्तुओं का शीघ्र विक्रय नहीं हो पाने के कारण उन्हें कुछ समय के लिए संग्रहीत भी किया जाता है। संग्रहण के लिए दी जाने वाली लागत को संग्रहण लागत कहते हैं।

(11) कटौती/मुद्दत—वस्तुओं की कीमत को विक्रय के तुरन्त बाद भुगतान करने के लिए दी जाने वाली लागत को कटौती/मुद्दत कहते हैं।

(12) विविध लागत—वस्तुओं के विपणन में प्रयुक्त ऋण पर ब्याज, विपणन सूचना के लिए डाक खर्च, जोखिम के लिए बीमा किश्त, धर्मादा, गौशाला, प्याऊ खर्च एवं अन्य खर्च भी देने होते हैं। विविध खर्च विभिन्न मण्डियों में भिन्न-भिन्न होते हैं।

विपणन लागत में परिवर्तन लाने वाले कारक—विभिन्न वस्तुओं की विपणन-लागत में परिवर्तन लाने वाले प्रमुख कारक निम्न हैं—

(1) वस्तुओं में शीघ्रनाशी होने का गुण—वस्तुओं के शीघ्रनाशी होने के गुण एवं उनकी विपणन-लागत में धनात्मक सम्बन्ध होता है। शीघ्रनाशी वस्तुओं की प्रति इकाई विपणन-लागत अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि इनके परिवहन कार्य में प्रशीतन-युक्त मशीनरी एवं द्रुतगामी परिवहन साधन प्रयुक्त करने होते हैं।

(2) विपणन-प्रक्रिया में वस्तुओं की टूट-फूट, संकुचन, गलने एवं सड़ने की लागत—उपर्युक्त प्रकार के नुकसान जिन वस्तुओं में अधिक मात्रा में होते हैं, उन वस्तुओं में विपणन-लागत अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक आती है।

(3) संवेष्टन में प्रयुक्त वस्तु की लागत—वस्तुओं के संवेष्टन में अच्छी वस्तु का उपयोग करने पर विपणन-लागत अधिक आती है। वर्तमान में उपभोगकर्त्ताओं

को वस्तु के प्रति आकर्षित करने के लिए अच्छे किस्म के सवेष्टनो का उपयोग किया जाता है।

(4) परिवहन लागत—परिवहन लागत वस्तुओ की किस्म, परिवहन दूरी, सड़क की स्थिति एव परिवहन साधनो पर निर्भर करती है जिससे विपणन लागत मे परिवर्तन आता है।

(5) सग्रहण लागत—विभिन्न वस्तुओ के लिए सग्रहण की आवश्यकता मे होने वाली भिन्नता के कारण सग्रहण लागत मे परिवर्तन होता रहता है।

(6) वस्तुओ का अम्बार—अम्बार वाली वस्तुओ, जैसे—कपास, ऊन, मिर्च आदि द्वारा स्थान अधिक घेरे जाने के कारण उनकी परिवहन, सग्रहण एव अन्य लागतें अधिक आती हैं।

(7) वस्तुओ के विक्रय के लिए विज्ञापन की आवश्यकता—विज्ञापन की अधिक आवश्यकता वाली वस्तुओं की विपणन-लागत अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक होती है।

(8) विपणन-प्रक्रिया मे पाये जाने वाली कुरीतियां—विपणन में पायी जाने वाली कुरीतियाँ, जैसे-नमूने के रूप मे विक्रेताओ द्वारा खाद्यान्न ले जाना, तौलने मे अप्रमाणीकृत बाटों का प्रयोग, हिसाब मे भूल आदि के कारण विपणन-लागत अधिक आती है।

(9) विक्रेताओ द्वारा उपभोक्ताओ को दी जाने वाली सुविधाएँ—उपभोक्ताओं को दी जाने वाली सुविधाएँ, जैसे—माल पसन्द नही आने पर वापस लौटाने की सुविधा, भुगतान करने के समय मे छूट, उपभोक्ता के घर तक नि शुल्क पहुँचाने आदि के कारण भी विपणन-लागत मे वृद्धि होती है।

(10) वस्तुओ की माँग की प्रकृति—स्थायी माँग वाली वस्तुओ का व्यापार निरन्तर होने के कारण उनकी प्रति इकाई विपणन-लागत अस्थायी माँग वाली वस्तुओ की अपेक्षा कम आती है।

कृषि वस्तुओ मे विपणन लागत की अधिकता के कारण—कृषि वस्तुओ मे प्रति इकाई भार पर विपणन-लागत, औद्योगिक एव निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा अधिक आती है जिसके कारण निम्न हैं—

(1) अधिकांश कृषि वस्तुएँ शीघ्रनाशी गुण वाली होती हैं जिसके कारण परिवहन एव सग्रहण की लागत अधिक होती है।

(2) कृषि वस्तुएँ अम्बार वाली होती हैं जिससे प्रति इकाई भार पर परिवहन लागत अधिक आती है।

(3) कृषि-वस्तुओ की किस्म मे विभिन्नता के कारण वस्तुओ के श्रेणीकरण की लागत अधिक आती है।

(4) कृषि-वस्तुओ के उत्पादन का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण, वस्तुओ के एकत्रीकरण की लागत अधिक आती है ।

(5) कृषि-वस्तुओ के उत्पादन एव उपभोग-काल मे विशेष समयान्तर होने से वस्तुओ का सग्रहण करना होता है । वैज्ञानिक विधि की सग्रहण सुविधाओ के अभाव मे सग्रहण समय मे कीडे, चूहे, नमी आदि के कारण वस्तुओ की मात्रा एवं किस्म मे बहुत हानि होती है, जिससे सग्रहण लागत मे वृद्धि होती है ।

(6) कृषि वस्तुएँ गाँवो मे उत्पन्न होती है । गाँवो मे सडको के अभाव मे वस्तुओ के परिवहन मे समय एव लागत अधिक होती है ।

(7) कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे अत्यधिक उतार-चढाव, विपणन मे जोखिम की अधिकता आदि के कारण विपणन-मध्यस्थ कृषि वस्तुओ की विपणन प्रक्रिया से अधिक लाभ कमाने की इच्छा करते हैं जिससे विपणन-लागत मे वृद्धि होती है ।

(8) लघु जोत के कारण कृषको के यहाँ विक्रेय अधिशेष की मात्रा कम होती है । कृषि वस्तुओ का क्रय विक्रय थोडी-थोडी मात्रा मे होता है जिसमे प्रति इकाई भार पर विपणन-लागत अधिक आती है ।

(9) उत्पादन-स्थानो एव गाँवो मे कृषि वस्तुओ के श्रेणीकरण की सुविधा के अभाव मे वस्तुओ का श्रेणीकरण मण्डी मे किया जाता है । मण्डियो मे श्रेणीकरण करने पर लागत अधिक आती है । साथ ही खराब वस्तु को बेकार ही फैंकना होता है जबकि गाँव मे यह पशुओ को खिलाने के काम मे लायी जा सकती है ।

(10) कृषि-वस्तुओ का उत्पादन मौसमी होता है जिसके कारण विपणन-मध्यस्थो को दूसरे मौसम मे स्थापन लागत बिना कार्य के ही करनी हाती है जो वस्तुओ की कुल लागत मे वृद्धि करती है ।

विपणन-लाभ

विपणन लाभ से तात्पर्य —वस्तु की निश्चित मात्रा के लिए उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत एव उत्पादक कृषक द्वारा प्राप्त कीमत का अन्तर विपणन-लाभ कहलाता है, अर्थात् विपणन कार्यों मे लगी हुई विभिन्न विपणन संस्थाओ की क्रय-विक्रय-कीमत का अन्तर ही विपणन लाभ कहलाता है । विपणन-लाभ के अन्तर्गत वस्तुओ के उत्पादन स्थान से उपभोग स्थान तक सचलन मे होने वाली सभी लागत जैसे—परिवहन, सग्रहण, परिष्करण, आढत मजदूरी आदि तथा विभिन्न विपणन सस्थाओ को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि सम्मिलित होती है ।

विपणन-लाभ के अध्ययन की उपयोगिता—विपणन-व्यवस्था की कार्यक्षमता के अध्ययन के लिए विभिन्न वस्तुओ की एक इकाई मात्रा के विक्रय पर होने वाली

लागत एव विभिन्न विपणन-मध्यस्थो को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि का ज्ञान होना आवश्यक है। मण्डियो की विपणन-दक्षता का मापदण्ड विपणन-लाभ की राशि होती हैं। विपणन-सस्थाओ द्वारा प्रदत्त सेवाओ के समान-स्तर पर होते हुए यदि किसी मण्डी अथवा विपणन व्यवस्था मे विपणन-लाभ की राशि दूसरी मण्डी अथवा विपणन व्यवस्था की अपेक्षा अधिक है तो इससे तात्पर्य है कि प्रथम मण्डी विपणन मे कम दक्ष है अर्थात् प्रथम मण्डी की विपणन-व्यवस्था मे अनेक कुरीतियाँ हैं, जिनके कारण मण्डी मे प्रति इकाई विपणन-लागत अधिक आती है। अत प्रथम मण्डी के क्षेत्र के कृषको को उचित लाभ की राशि प्रदान करने के लिए वहाँ की विपणन-व्यवस्था मे सुधार लाना आवश्यक है। विपणन-लाभ के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि विभिन्न विपणन-सस्थाओ मे से कौनसी विपणन-सस्था प्रति इकाई उत्पाद से अधिक लाभ प्राप्त कर रही है तथा विपणन-सस्था को प्राप्त हो रहे अतिरिक्त लाभ को किस प्रकार कम किया जाये, जिससे उत्पादक-कृषक को मेहनत की पूरी कमाई प्राप्त हो सके।

सरकार की विपणन-सम्बन्धी विभिन्न नीतियो जैसे—मण्डियो को नियन्त्रित करना विभिन्न वस्तुओ के लिए विपणन लागत की दर निर्धारित करना, सरकार *द्वारा खाद्यान्न का व्यापार हाथ मे लेना आदि निर्णय लेने मे भी विपणन लाभ का* ज्ञान सहायक होता है।

विपणन लाभ ज्ञात करने के तरीके—कृषि वस्तुओ के विक्रय मे प्राप्त होने वाले विपणन-लाभ की राशि ज्ञात करने की प्रमुख विधियां निम्न हैं—

(I) उत्पाद की अमुक ढेरी, बैलगाडी अथवा ट्रक का चुनाव करना—विपणन-लाभ ज्ञात करने की इस विधि मे सर्वप्रथम मण्डी मे विक्रय के लिए लाये हुए विभिन्न खाद्यान्नो मे से एक ढेरी, बैलगाडी अथवा ट्रक का यादृच्छिक प्रतिचयन कर लिया जाता है। चुने हुए उत्पाद की ढेरी का अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने मे क्रय विक्रय पर विभिन्न मध्यस्थो द्वारा की गई लागत एव प्राप्त लाभ की राशि के आकडे एकत्रित किये जाते है। तत्पश्चात् प्राप्त आकडो के आधार पर प्रति इकाई उत्पाद की मात्रा के लिए विपणन-लाभ ज्ञात किया जाता है।

विपणन-लाभ ज्ञात करने की इस विधि मे प्रतिचयन की हुई खाद्यान्नो की ढेरी अथवा बैलगाडी के अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने के अध्ययन मे आकडे एकत्रित करने मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना होता है, जैसे—प्रतिचयन की हुई ढेरी के खाद्यान्न को मध्यस्थो द्वारा क्रय किये गये अन्य खाद्यान्न के साथ मिश्रित कर देना, चुनी हुई ढेरी के खाद्यान्न को विपणन-मध्यस्थो द्वारा विभक्त करके विक्रय के लिए पृथक् स्थानो पर भिजवाना, चुनी हुई ढेरी का अनेक मध्यस्थो के द्वारा सचालन करना आदि। उपर्युक्त कठिनाइयो के होने से साधारणतया विपणन-लाभ ज्ञात करने की यह विधि कम उपयोग मे लाई जाती है।

(2) विभिन्न विपणन-मध्यस्थो को उत्पाद की प्रति इकाई मात्रा के क्रय-विक्रय से प्राप्त लाभ के योग द्वारा—विपणन-लाभ ज्ञात करने की इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न विपणन-मध्यस्थो को उत्पाद की प्रति इकाई मात्रा के क्रय-विक्रय से प्राप्त होने वाले लाभ की राशि का योग किया जाता है। विपणन-मध्यस्थो की क्रय-विक्रय कीमत का अन्तर उन्हे प्राप्त होने वाले विपणन-लाभ की राशि का प्रतीक होता है, जो निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जाता है—

$$\text{वस्तु की प्रति इकाई मात्रा पर विपणन-लाभ की राशि} = \frac{\text{वस्तु की विक्रय-कीमत} - \text{वस्तु की क्रय-कीमत}}{\text{वस्तु की विक्रीत मात्रा}}$$

उपर्युक्त सूत्र द्वारा विपणन-कार्य मे लगी हुई विभिन्न-सस्थाओ का प्रति इकाई उत्पाद की मात्रा के लिए प्राप्त औसत लाभ ज्ञात कर लिया जाता है। सभी विपणन-सस्थाओ को प्राप्त प्रति इकाई लाभ की राशि को सम्मिलित करने पर उत्पाद के उत्पादक से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने मे प्राप्त होने वाले कुल विपणन-लाभ की राशि ज्ञात हो जाती है। विपणन-लाभ ज्ञात करने की इस विधि मे प्रमुख कठिनाई वस्तुओ की क्रय-विक्रय कीमत के सही आकड़े प्राप्त नही होने की है। विपणन-मध्यस्थ साधारणतया सूचना देने को तैयार नही होते हैं। अत. आवश्यक आकडो के अभाव मे इस विधि मे विभिन्न वस्तुओ के विक्रय मे होने वाले लाभ की राशि के सही ज्ञान का कार्य कठिन होता है।

(3) विभिन्न विपणन-सस्थाओ के स्तर पर उत्पाद की कीमतो का तुलनात्मक अध्ययन करके—विपणन-लाभ ज्ञात करने की इस विधि मे विपणन कार्य मे लगी हुई विभिन्न विपणन सस्थाओ के स्तर पर एक इकाई उत्पाद की मात्रा के लिए दी जाने वाली कीमतो का अन्तर ज्ञात किया जाता है, जैसे—उत्पादक व थोक विक्रेता के स्तर पर कीमतो का अन्तर, थोक व्यापारी एव खुदरा व्यापारी के स्तर पर कीमतो का अन्तर, खुदरा व्यापारी एव उपभोक्ता के स्तर पर कीमतो का अन्तर आदि। इस प्रकार विभिन्न विपणन-सस्थाओ के स्तर पर कीमतो मे पाये जाने वाले अन्तर का योग, उस वस्तु के विक्रय मे होने वाले विपणन-लाभ की राशि को प्रदर्शित करता है। विपणन-लाभ ज्ञात करने की यह विधि साधारणतया अधिक उपयोग मे लाई जाती है क्योकि इस विधि के लिए आवश्यक आकड़े मण्डी से एकत्रित करने का कार्य सरल होता है।

विपणन-मध्यस्थो की लागत एव उसका माँग की लोच से सम्बन्ध—वस्तुओ की माँग की लोच मे विभिन्नता के कारण फार्म पर उत्पन्न उत्पाद के विक्रय से प्राप्त कृषको की आय पर प्रभाव पडता है। किसी वस्तु की माँग की लोच के कम होने अथवा निरपेक्ष होने की अवस्था मे यदि वस्तु के उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है, तो वस्तु की बाजार कीमत/खुदरा कीमत मे गिरावट आती है जिससे कृषको को प्राप्त कीमत (फार्म-कीमत) मे भी गिरावट आती है। लेकिन फार्म-कीमत मे

गिरावट, बाजार-कीमत मे आने वाली गिरावट की अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार वस्तु की माग के निरपेक्ष होने की अवस्था मे यदि उत्पादन की मात्रा कम प्राप्त होती है तो बाजार-कीमत मे वृद्धि होने के साथ-साथ फार्म-कीमत मे वृद्धि बाजार-कीमत की अपेक्षा अधिक होती है। इसका प्रमुख कारण विपणन-मध्यस्थो की लागत की राशि का समान रहना है।

बाजार कीमत मे होने वाली कीमतो मे गिरावट अथवा वृद्धि का प्रभाव विपणन-मध्यस्थो एव कृषको मे समान राशि अथवा समान अनुपात मे वितरित नही होता है। कीमतो मे वृद्धि अथवा कमी की दोनो ही अवस्थाओ मे विपणन-लागत की राशि लगभग स्थायी रहती है। उपभोक्ता-कीमत मे विपणन-मध्यस्थो की प्रतिशतता का अश कीमतो मे कम होने पर बढ जाता है। विपणन-मध्यस्थो की लागत की राशि के स्थायी होने के कारण वस्तुओ की माग की लोच फार्म स्तर पर खुदरा बाजार कीमत स्तर की अपेक्षा कम होती है। उपर्युक्त सम्बन्ध निम्न उदाहरण की सहायता से अधिक स्पष्ट हो जाता है—

उदाहरण के तौर पर यदि वर्तमान मे वस्तु की बाजार मे प्रचलित कीमत 1 00 रु० प्रति इकाई तथा प्राप्त कीमत मे मे 50 प्रतिशत उत्पादक को एव शेष 50 प्रतिशत विपणन-मध्यस्थो को प्राप्त होता है। वस्तु की बाजार कीमत मे 20 प्रतिशत की कमी तथा विपणन मध्यस्थो की लागत की राशि समान रहने की स्थिति मे *फार्म कीमत मे गिरावट का प्रतिशत सारणी 14 1 मे प्रदर्शित है।*

सारणी 14.1

बाजार कीमत मे कमी का फार्म कीमत पर प्रभाव

	वर्तमान प्रचलित कीमत		बाजार कीमत मे 20 प्रतिशत कमी		कीमतो
	रु०	बाजार कीमत का प्रतिशत	प्रचलित कीमत (रु०)	बाजार कीमत का प्रतिशत	मे प्रतिशत कमी
फार्म-कीमत	0.50	50	0 30	37.50	-40
विपणन लागत	0 50	50	0 50	62.50	—
बाजार कीमत	1.00	100	0 80	100 00	-20

यदि वस्तु की प्रचलित बाजार कीमत मे 20 प्रतिशत की कमी होती है तो फार्म कीमत मे कमी, बाजार कीमत की अपेक्षा अधिक अर्थात् *40* प्रतिशत की होती है। बाजार कीमत मे फार्म कीमत का अशदान 50 प्रतिशत से गिरकर 37 50 प्रतिशत ही रह जाता है। बाजार कीमत मे गिरावट की स्थिति मे भी विपणन-

मध्यस्थो की लागत राशि रुपयो के रूप मे समान रहती है, लेकिन बाजार-कीमत मे विपणन-मध्यस्थो की लागत का अशदान 50 प्रतिशत से बढ़कर 62 50 प्रतिशत हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि बाजार कीमत मे परिवर्तन का प्रभाव उत्पादक एवं विपणन-मध्यस्थो की लागत के ऊपर समान राशि अथवा अनुपात में नही होता है जिसका कारण फार्म एव खुदरा बाजार मे वस्तुओं की माग की लोच का समान नही होना है। विपणन प्रक्रिया मे विपणन-लागत के स्थायी रहने के प्रमुख कारण निम्न है—

1 अनेक विपणन लागतें, जैसे—परिवहन, सग्रहण, प्रोसेसिंग, चुंगी, मजदूरी आदि वस्तु की भौतिक मात्रा के आधार पर देय होती है। इन लागतो का वस्तु के मूल्य से सम्बन्ध नही होता है, जिसके कारण कीमतो मे वृद्धि अथवा गिरावट का विपणन-मध्यस्थो की लागत पर प्रभाव नही आता है।

2 विपणन-मध्यस्थो की लागत के स्थायी रहने का दूसरा कारण विपणन-प्रक्रिया मे कार्य करने वाले विपणन-मध्यस्थो का एकाधिकार अर्थात् उनमे परस्पर एकता का पाया जाना है।

विपणन-लाभ के प्रकार—विपणन-लाभ दो प्रकार के होते हैं :

(1) समवर्ती विपणन-लाभ (Concurrent Marketing Margin)—समवर्ती विपणन-लाभ एक निश्चित दिनाक के लिए ज्ञात किया जाता है जो विभिन्न विपणन-सस्थाओ के स्तर पर एक निश्चित दिनाक के लिए प्रचलित कीमतों का अन्तर होता है। समवर्ती विपणन-लाभ मे वस्तुओ के क्रय-विक्रय मे समय के अन्तर को जो सग्रहण, परिवहन या अन्य कारणो से होता है, सम्मिलित नही किया जाता है। विपणन-लाभ की राशि निश्चित समय-बिन्दु को प्राप्त होने वाले लाभ का द्योतक होती है।

(2) पश्चायन विपणन-लाभ (Lagged Marketing Margin)—पश्चायन विपणन-लाभ से तात्पर्य उस लाभ की राशि से है जो विपणन की दो विभिन्न अवस्थाओ मे उत्पाद की कीमतो के अन्तर से प्राप्त होता है। इस विपणन-लाभ मे विभिन्न विपणन-प्रक्रिया मे समयान्तर के कारण कीमतों मे परिवर्तन होने से प्राप्त होने वाला लाभ भी सम्मिलित होता है। यह विपणन-लाभ की राशि औसत विपणन समय मे प्राप्त होने वाले लाभ की प्रतीक होती है।

क्रय-विक्रय मे समयान्तर वाली वस्तुओ का विपणन-लाभ ज्ञात करने के लिए पश्चायन विपणन-लाभ विधि सर्वोत्तम होती है, लेकिन समयान्तर-काल पर विपणन-प्रक्रिया के तुलनात्मक आकडे प्राप्त करने का कार्य कठिन होता है। अतः समवर्ती विपणन-लाभ ही अधिकतर ज्ञात किया जाता है।

विपणन-लाभ से सम्बन्धित शब्द—विपणन-लाभ से सम्बन्धित प्रमुख शब्दो की परिभाषा निम्नलिखित है—

1. उत्पादक कीमत—कृषको को मण्डी मे खाद्यान्नो के विक्रय से प्राप्त होने वाली कीमत मे से उनके द्वारा व्यय की गई विपणन-लागत की राशि घटाने पर जो कीमत शेष रहती है, वह उत्पादक कृषक को वस्तु की एक इकाई मात्रा के विक्रय से प्राप्त *शुद्ध कीमत अर्थात् उत्पादक कीमत (Producer's price) कहलाती है।* सूत्र के अनुसार—

$P_o = P_a - C_o$ जबकि P_o = उत्पादक कीमत

P_a = कृषको को मण्डी मे प्राप्त कीमत

C_o = कृषको की विपणन-लागत, जैसे—परिवहन, आढत, करदा, चुँगी, पल्लेदारी, तुलाई आदि की लागत।

2 उपभोक्ता द्वारा दिये गये रुपये मे से उत्पादक कृषक को प्राप्त भाग—*उपभोक्ता द्वारा वस्तु के लिए दिये गये रुपये मे से कृषको को प्राप्त होने वाला भाग,* उपभोक्ता के रुपये मे उत्पादक का भाग (Producer's share in the Consumer's rupee) कहलाता है। यह साधारणतया प्रतिशत मे प्रदर्शित किया जाता है। इसको ज्ञात करने के लिए उत्पादक को वस्तु की एक इकाई मात्रा के लिए प्राप्त कीमत मे, वस्तु की उसी इकाई मात्रा के लिए उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत का भाग देते हैं और प्राप्त अनुपात को *प्रतिशत मे प्रदर्शित किया जाता है। सूत्र के अनुसार—*

$$\frac{P_o}{P_c} \times 100$$

जबकि P_o = वस्तु की एक इकाई के लिए उत्पादक कृषक को प्राप्त कीमत।

P_c = वस्तु की एक इकाई के लिए उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत।

3. निरपेक्ष लाभ—*विपणन-मध्यस्थो को विपणन-प्रक्रिया मे प्राप्त होने वाले* शुद्ध लाभ की राशि को निरपेक्ष लाभ (Absolute margin) कहते हैं। वस्तु की एक निश्चित मात्रा की विक्रय-कीमत मे से उसकी क्रय-कीमत एव मध्यस्थ द्वारा की गई विपणन लागत की राशि बाकी निकालने पर जो कीमत शेष रहती है वह विपणन-मध्यस्थ को प्राप्त होने वाला निरपेक्ष लाभ कहलाता है। यह लाभ की राशि प्रति क्विन्टल *मात्रा पर रुपयो मे प्रदर्शित की जाती है। सूत्र के अनुसार—*

निरपेक्ष लाभ $= P_s - (P_b + C_m)$ जबकि P_s = वस्तु की विक्रय-कीमत

P_b = वस्तु की क्रय-कीमत

C_m = वस्तु की विपणन-लागत

4 प्रतिशत लाभ—विपणन-मध्यस्थो को प्राप्त होने वाले निरपेक्ष लाभ की राशि मे वस्तु की विक्रय-कीमत का भाग देने पर प्राप्त अनुपात को प्रतिशत मे

प्रदर्शित करने पर जो सख्या आती है, वह विपणन-मध्यस्थ को प्राप्त होने वाला प्रतिशत लाभ (Percentage margin) कहलाता है। विभिन्न वस्तुओं के विपणन मे विपणन-मध्यस्थों को प्राप्त होने वाले लाभ के तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रतिशत लाभ का उपयोग किया जाता है। सूत्र के अनुसार —

$$\text{प्रतिशत लाभ} = \frac{\text{निरपेक्ष लाभ की राशि}}{\text{वस्तु की विक्रय कीमत}} \times 100$$

$$= \left[\frac{P_s - (P_b + C_m)}{P_s} \times 100 \right]$$

5. वर्द्धित मूल्य—विपणन मध्यस्थो को प्राप्त होने वाले निरपेक्ष लाभ की राशि में वस्तु की क्रय-कीमत का भाग देने पर प्राप्त अनुपात को प्रतिशत मे प्रदर्शित करने पर जो सख्या आती है वह विपणन-मध्यस्थ को प्राप्त होने वाला वर्द्धित-मूल्य (Mark-up) कहलाता है। सूत्र के अनुसार—

$$\text{वर्द्धित मूल्य} = \frac{\text{निरपेक्ष लाभ की राशि}}{\text{वस्तु की क्रय-कीमत}} \times 100$$

$$= \left[\frac{P_s - (P_b + C_m)}{P_b} \times 100 \right]$$

वर्द्धित मूल्य साधारणतया अखाद्य वस्तुओं के व्यापार मे लाभ ज्ञात करने के के लिए प्रयुक्त किया जाता है। निम्न उदाहरण निरपेक्ष लाभ, प्रतिशत लाभ एव वर्द्धित मूल्य ज्ञात करने की विधि स्पष्ट करते हैं।

उदाहरण—एक खुदरा व्यापारी मण्डी मे 280.00 प्रति क्विन्टल की दर से गेहूँ क्रय करता है और गेहूँ के क्रय मे 10,00 रु. प्रति क्विन्टल लागत आती है। वह 300,00 रु. प्रति क्विन्टल की दर से उपभोक्ताओं को गेहूँ विक्रय करता है। खुदरा विक्रेता का निरपेक्ष लाभ, प्रतिशत लाभ एव वर्द्धित मूल्य ज्ञात कीजिये।

निरपेक्ष लाभ = विक्रय कीमत − (क्रय-कीमत + विपणन लागत)

$= 300 - (280 + 10)$

$= 10\ 00$ रु० प्रति क्विन्टल

$$\text{प्रतिशत लाभ} = \frac{\text{निरपेक्ष लाभ की राशि}}{\text{विक्रय कीमत}} \times 100 = \frac{10}{300} \times 100 = 3\ 33$$

प्रतिशत।

$$\text{वर्द्धित मूल्य} = \frac{\text{निरपेक्ष लाभ की राशि}}{\text{क्रय-कीमत}} \times 100 = \frac{10}{280} \times 100$$

$= 3.57$ प्रतिशत

वर्द्धित मूल्य, प्रतिशत लाभ की अपेक्षा अधिक होता है।

6 कीमत-विस्तार—उपभोक्ता द्वारा दिये गये रुपयो मे से विभिन्न विपणन-सस्थाओ को प्राप्त होने वाली राशि का विश्लेषण कीमत-विस्तार (*Price-spread*) कहलाता है। उदाहरणतया यदि उपभोक्ता वस्तु की एक इकाई मात्रा के लिए 2.00 रु० कीमत भुगतान करता है तथा उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत मे से खुदरा विक्रेता को 30 पैसे, थोक विक्रेता को 10 पैसे, परिवहन सस्था को 10 पैसे, आढतिये को 20 पैसा और शेष 1 30 रुपया कृषक को प्राप्त होता है, तो कीमत विस्तार निम्न होता है—

सस्था	उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत मे से कृषक एव विभिन्न मध्यस्थो को प्राप्त अश (रु०)	कृषक एव विभिन्न मध्यस्थो को उपभोक्ता कीमत मे प्राप्त प्रतिशत अश
खुदरा विक्रेता	0.30	15
थोक विक्रेता	0 10	5
परिवहन सस्था	0.10	5
आढतिया	0 20	10
कृषक	1 30	65
कुल	2 00	100

विभिन्न वस्तुओ के विक्रय मे होने वाली विपणन लागत एवं लाभ—विभिन्न कृषि-वस्तुओ के विक्रय मे होने वाली विपणन-लागत एव लाभ की राशि विभिन्न कारको के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। विपणन-लागत एव लाभ की राशि बढने तथा घटने के साथ उत्पादक को प्राप्त कीमत का प्रतिशत भी कम या अधिक होता जाता है। सारणी 14 2 मे विभिन्न कृषि-वस्तुओ (गेहूँ, अण्डे एवं सेब) के विपणन मे उत्पादक कृषको को प्राप्त हिस्सा, विपणन-लागत एव विपणन-लाभ का प्रतिशत विभिन्न विपणन-माध्यमो के अनुसार सकलित विधि मे प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 14.2

विभिन्न कृषि-वस्तुओं के विपणन में उत्पादक कीमत, विपणन-लागत व विपणन-लाभ का प्रतिशत

विपणन-माध्यम	उत्पादक कीमत	विपणन लागत	विपणन लाभ	विपणन लागत एव लाभ का योग	उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत
		गेहूँ			
1. उत्पादक-उपभोक्ता	94.8	5 2	—	5.2	100.0
2 उत्पादक-खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	89 7	6.0	4.3	10 3	100.0
3. उत्पादक-सहकारी विपणन सस्था-खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	87 3	6 2	6.5	12.7	100 0
4 उत्पादक-थोक विक्रेता-खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	86 6	7 6	5 8	13 4	100 0
5. उत्पादक-ग्रामीण व्यापारी-थोक-विक्रेता-खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	85 5	7 3	7 2	14.5	100 0
		अण्डे			
1. उत्पादक-उपभोक्ता	98 96	1 04	—	1 04	100.0
2. उत्पादक-खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	81 81	4 65	13 54	18.19	100.0
3. उत्पादक-सहकारी विपणन सस्था-थोक विक्रेता दिल्ली-उपभोक्ता	66 66	19.91	13.43	33.34	100 0

4 उत्पादक-सहकारी विपणन सस्था-थोक विक्रेता बम्बई-उपभोक्ता	60 25	24 65	15 10	39 75	100 0
5 उत्पादक-बडे शहर का थोक विक्रेता-खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	84 07	7 83	8 10	15 93	100 0
6 उत्पादक थोक एव खुदरा विक्रेता-उपभोक्ता	81 81	7 33	10.86	18 19	100 0
		सेब			
1 शिमला (हिमाचल प्रदेश) मण्डी मे विक्रय करने पर	49 80	27 36	22 84	50 20	100 0
2. दिल्ली मण्डी मे विक्रय करने पर	49 75	29 93	20 32	50 25	100 0
3 कलकत्ता मण्डी मे विक्रय करने पर	45 92	30 76	23 32	54 08	100 0
4 मद्रास मण्डी मे विक्रय करने पर	43 00	31 33	25 67	57 00	100 0
5 बम्बई मण्डी मे विक्रय करने पर	44 15	29 29	26 56	55 85	100 0

स्रोत (1) Agricultural Research—A Review . op cit, pp 8-9
(2) D S Thakur Pricing Efficiency of the Indian Apple Market, Indian Journal of Agricultural Economics, Vol XXVIII, No 1, January–March, 1973, pp 105–111

गेहूँ राजस्थान मे गेहूँ के विपणन अध्ययन के अनुसार, गेहूँ का उत्पादक से उपभोक्ता तक सचलन या प्रवाह पाँच विपणन-मध्यस्थो के द्वारा होता है । उत्पादक कृषको द्वारा उपभोक्ताओं को सीधे रूप मे गेहूँ विक्रय करने पर उपभोक्ता कीमतो मे उन्हे सबसे अधिक अश प्राप्त होता है । विपणन के इस माध्यम मे मध्यस्थ नही होने के कारण विपणन लाभ की राशि शून्य होती है । उत्पादक कृषक को सबसे कम अश पाचवें विपणन माध्यम मे प्राप्त होता है क्योकि इसमे तीन विपणन-मध्यस्थ—ग्रामीण व्यापारी, थोक विक्रेता एव खुदरा विक्रेता होते हैं, जिनके कारण

विपणन-लाभ एव लागत की राशि ग्रधिक ग्राती है। अतः गेहूं के विपणन मे उत्पादक कृषक को उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत का 86 से 95 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है और शेष 5 से 14 प्रतिशत भाग विपणन लागत एव लाभ होता है।

ग्रण्डे : राजस्थान के अजमेर जिले मे ग्रण्डो के विपणन मे 6 विपणन-मार्ग पाये गये हैं। उत्पादको द्वारा ग्रण्डो को उपभोक्ताग्रो को सीधे विक्रय करने पर उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत का 99 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। थोक एव फुटकर विक्रेता के माध्यम (विपणन-माध्यम 2, 5 6) से विक्रय करने पर उत्पादको को 8[illegible] से 84 प्रतिशत ग्रश ही प्राप्त होता है। ग्रण्डो को अजमेर से दिल्ली एव बम्बई के बाजारो मे भेजकर विक्रय करने पर उत्पादको को उपभोक्ता कीमत का लगभग दो तिहाई भाग ही प्राप्त होता है। ग्रत. विपणन-मध्यस्थो मे वृद्धि एव दूर के शहरो मे विपणन के लिए ग्रण्डो को भिजवाने से विपणन-लागत एव लाभ की राशि मे वृद्धि होती है ग्रौर उत्पादक का उपभोक्ता की कीमत मे से ग्रश कम होता जाता है।

सेव : हिमाचल प्रदेश मे किये गये ग्रध्ययन के अनुसार सेव के विक्रय मे 50 से 57 प्रतिशत विपणन-लागत एव लाभ की राशि होती है ग्रौर उत्पादको को उपभोक्ता कीमत मे से ग्राधे से भी कम भाग प्राप्त होता है। सेव के विक्रय मे लगभग 30 प्रतिशत विपणन-लागत एव 20 से 27 प्रतिशत विपणन-मध्यस्थो का लाभ होता है। ग्रध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि दूर की मण्डियो मे स्थानीय मण्डी की ग्रपेक्षा ग्रधिक कीमत प्राप्त होती है। शीघ्र खराब होने वाली वस्तुओ मे विपणन-लागत एव लाभ की ग्रधिकता के कारण उत्पादक को उपभोक्ता की कीमत मे प्राप्त प्रतिशत ग्रश कम होता है।

कृषि वस्तुओ के विपणन मे होने वाली विपणन लागत व प्राप्त विपणन-लाभ को कम करने के उपाय — कृषि वस्तुग्रो के विपणन मे ग्रौद्योगिक वस्तुओ की ग्रपेक्षा प्रति इकाई विपणन-लाभ एव लागत की राशि ग्रधिक ग्राती है जिससे विपणन-दक्षता कम हो जाती है। निम्न उपायो द्वारा कृषि-वस्तुओ के विपणन मे होने वाले विपणन-लाभ एव लागत की राशि को कम किया जा सकता है—

(1) विपणन सस्थाग्रो को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि को कम करना— कृषि-वस्तुग्रो के व्यवसाय मे विपणन-सस्थाओ को ग्रौद्योगिक वस्तुग्रो की ग्रपेक्षा ग्रधिक लाभ प्राप्त होता है, जिसे निम्न प्रकार से कम किया जा सकता है—

(ग्र) विपणन-प्रक्रिया की जोखिम कम करके—कृषि-वस्तुग्रो की विपणन-प्रक्रिया मे जोखिम की ग्रधिकता के कारण विपणन-सस्थाएँ लाभ ग्रधिक प्राप्त करती है। ग्रत विपणन-सस्थाग्रो को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि को कम करने के लिए सर्वप्रथम विपणन-प्रक्रिया मे होने वाली जोखिम को कम करना ग्रावश्यक है जो ग्रग्राकित विधियो द्वारा की जा सकती हैं—

(i) संरक्षण विधि द्वारा।

(ii) मण्डी में समय-समय पर निरीक्षण एवं नियन्त्रण के उपाय अपना कर।

(iii) विपणन-सूचना सेवा के विस्तार द्वारा।

(iv) वस्तुओं के श्रेणीयन एवं मानकीकरण सेवा का विस्तार करके।

(v) व्यवसाय प्रबन्ध क्षमता में वृद्धि करके।

(ब) बाजार में क्रय विक्रय के लिए पूर्ण स्पर्धा की स्थिति उत्पन्न करना—वस्तुओं के क्रय-विक्रय में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के नहीं होने पर व्यापारी न्यूनतम कीमतों पर क्रय करके एवं अधिकतम कीमतों पर विक्रय करके अधिक लाभ कमाते हैं। अतः विपणन संस्थाओं को प्राप्त होने वाले अतिरिक्त लाभ की राशि को कम करने के लिए बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा का होना आवश्यक है। बाजार में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने के लिए एकाधिकार पद्धति की समाप्ति, क्रेताओं एवं विक्रेताओं को आवश्यक सूचना प्रदान करना एवं मण्डी में क्रेताओं एवं विक्रेताओं पर किसी प्रकार की पाबन्दी का होना आवश्यक है।

(स) विपणन-संस्थाओं की तकनीकी दक्षता में वृद्धि करके—विपणन-प्रक्रिया की विधियों में तकनीकी सुधार करके भी विपणन-लागत को कम किया जा सकता है। जैसे—शीघ्रनाशी वस्तुओं के संग्रहण के लिए प्रशीतन-सुविधा, प्रोसेसिंग विधि में तकनीकी आविष्कार, संवेष्टन में सस्ते एवं अच्छे आवरण की खोज, तुलाई में यन्त्रीकृत काटे का प्रयोग, द्रुतगामी परिवहन साधनों के विकास द्वारा परिवहन-लागत में कमी करना आदि। विपणन-लागत की राशि के कम होने पर विपणन-लाभ की राशि स्वतः ही कम हो जाती है।

(2) विपणन-मध्यस्थों के एकीकरण द्वारा—कृषि वस्तुओं की विपणन-प्रक्रिया में विपणन-मध्यस्थों की अधिकता के कारण भी विपणन-लाभ एवं लागत अधिक होती है जिसे विपणन-मध्यस्थों के एकीकरण द्वारा कम किया जा सकता है। विपणन के क्षेत्र में एकीकरण दो प्रकार का होता है—

(अ) उदग्र एकीकरण—वस्तुओं के उत्पादक से उपभोक्ता तक सचालन प्रक्रिया में पाये जाने वाले विपणन-मध्यस्थों की संख्या को कम करने को उदग्र एकीकरण (Vertical integration) कहते हैं। सुपर बाजार, सहकारी-विपणन-संस्थाएँ एवं खाद्य-निगम स्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य विपणन के क्षेत्र में पाये जाने वाले मध्यस्थों की संख्या को कम करना है। ये विपणन-संस्थाएँ उत्पादक से वस्तुओं को क्रय करके सीधे रूप में या उचित कीमत की दुकानों के द्वारा उपभोक्ताओं तक पहुँचाती हैं जिससे विपणन-प्रक्रिया में विपणन-मध्यस्थों की संख्या में कमी होती

है। विपणन-मध्यस्थो की सख्या के कम होने पर वस्तुओ की विपणन-लागत एव लाभ की राशि कम हो जाती है।

(ब) क्षैतिज एकीकरण—क्षैतिज एकीकरण (Horizontal Integration) के अन्तर्गत विभिन्न छोटे छोटे विपणन-मध्यस्थ सम्मिलित होकर एक बडी विपणन-सस्था बनाते हैं। सभी मध्यस्थ एक प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्य करते हैं और व्यवसाय के लिए विभिन्न स्थानो पर शाखाएँ स्थापित करते हैं। इस प्रकार उपलब्ध साधनो से पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे वस्तुओ का क्रय विक्रय किया जा सकता है। वस्तुओ के व्यवसाय के बढने से प्रति इकाई विपणन-लागत कम हो जाती है।

(3) विपणन-प्रक्रिया मे मध्यस्थो द्वारा दी जाने वाली सुविधाओ मे कमी करके—वस्तुओ के विपणन मे होने वाली विपणन-लागत को कम करने का अन्य उपाय विपणन-मध्यस्थो द्वारा उपभोक्ताओ को दी जाने वाले सुविधाओ को कम करना है। विपणन मे दी जाने वाली कुछ सेवाओ को आसानी से कम किया जा सकता है जैसे—उपभोक्ताओ को सामान पसन्द नही आने पर लौटाने की सुविधा, विक्रेताओ की सख्या मे कमी, वस्तुओ की उधार-विक्रय पद्धति की समाप्ति, वस्तुओ की विज्ञापन लागत मे कमी, सवेष्टन मे सस्ते आवरण का उपयोग, वस्तुओ को उपभोक्ताओ के घर तक पहुँचाने की सुविधा समाप्त करके, विक्रेताओ द्वारा उपभोक्ताओ को ठण्डे पेय आदि पर किये जाने वाले व्यय आदि।

(4) मण्डियो को नियन्त्रित करना एव नियन्त्रित मण्डियो मे विभिन्न वपणन-सेवाओ के लिए विपणन-लागत की दर निर्धारित करना।

(5) स्थान-स्थान पर उपभोक्ता भण्डार स्थापित करना, जहाँ से उपभोक्ताओ को निर्धारित दर पर वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें।

(6) सरकार द्वारा विपणन-कार्य मे हस्तक्षेप करना—आवश्यकता होने पर विक्रय-पद्धति पर नियन्त्रण लगाने, वस्तुओ की अधिकतम व न्यूनतम कीमतें निर्धारित करने, निर्धारित कानूनो का उल्लघन करने वालो को कानूनन दण्ड देने की व्यवस्था करने से भी वस्तुओ के जमाखोरो द्वारा प्राप्त अधिक लाभ की राशि को कम किया जा सकता है।

विपणन-दक्षता

वस्तुओ को उत्पादक कृषको से उपभोक्ताओ तक अधिकतम विपणन सेवाओं को प्राप्त कराते हुए कम से कम विपणन-लागत पर पहुँचाने की विधि को विपणन-

दक्षता कहते हैं । श्रीमती जसदानवाला[1] के अनुसार विपणन-दक्षता से तात्पर्य किसी विपणन-सरचना द्वारा निर्धारित कार्यों को दक्षता पूर्ण करना है । क्लार्क एव वेल्ड[2] ने विपणन दक्षता मे निम्नांकित तीन अवयवो का होना आवश्यक बताया है—

(i) दक्षता, जिससे विपणन सेवाएँ पूरी की जाती हैं ।

(ii) विपणन सेवाएँ न्यूनतम लागत पर प्रदान करना ।

(iii) विपणन सेवाएँ प्रदान करने एव विपणन-लागत का उत्पादन एव उपभोग पर होने वाला प्रभाव ।

अनन्तनारायणन[3] के शब्दो मे विपणन दक्षता से तात्पर्य कृषि-वस्तुओ का कम से कम लागत पर विपणन करने से है जिससे उत्पादक कृषको को उपभोक्ता के रुपये मे से अधिकतम भाग प्राप्त हो सके । कोल्स एव उल्ल[4] के शब्दो मे विपणन-दक्षता से तात्पर्य प्रयुक्त उत्पादन-साधन एव प्राप्त उत्पाद के अनुपात को अधिकतम करने से होता है । विपणन के क्षेत्र मे उत्पादन-साधनो से तात्पर्य विपणन सस्थाओ द्वारा व्यवसाय में काम मे ली गई पूंजी, श्रम एव प्रबन्ध की लागत से तथा उत्पाद से तात्पर्य वस्तुओ एव सेवाओ से उपभोक्ताओ को प्राप्त होने वाले सन्तोष से है । अत विपणन-दक्षता के अध्ययन के लिए विपणन-लागत एव वस्तुओ से प्राप्त सन्तोष का ज्ञान होना आवश्यक है । विपणन-लागत राशि को ज्ञात करना सरल है, लेकिन उत्पाद से प्राप्त सन्तोष को मुद्रा के रूप मे प्रकट करने का कार्य कठिन एव प्रायोगिक नही है क्योकि सन्तोष एक सैद्धान्तिक धारणा है । अत विपणन-दक्षता को सही रूप से ज्ञात करने का कार्य कठिन है ।

1 Marketing efficiency may be defined broadly as the effectiveness or competence with which a marketing structure performs its designed functions.

—Z Y Zesdanwalla, Marketing Efficiency in Indian Agriculture, Allied Publishers Pvt Ltd, Bombay, 1966 p 3

2 F E. Clark and L.D H. Weld, Marketing of Agricultural Products in the United States, The Macmillan Company, Newyork, 1950.

3 Marketing efficiency can be defined as marketing of agricultural produce with minimum cost ensuring the maximum share for the producers in the consumers rupee.

—V. P Anantanarayana, Reduction of Marketing Cost and Increasing *Efficiency with Special Reference to Grading at Producer's Level,* Seminar on Emerging Problems of Marketing of Agricultural Commodities, *Indian Society of Agricultural Economics*, Bombay. 1972, p 110.

4. Marketing efficiency in the Maximization of input-output ratio

—R. L. Kohls & J N. Uhl, op. cit.,

विपणन-लागत के अध्ययन के आधार पर ही विपणन-दक्षता का आकलन उचित नही है। कृषको द्वारा फार्म पर वस्तुओ को ग्रामीण व्यापारी को विक्रय करने पर विपणन-लागत सबसे कम आती है। इस विपणन-क्रिया को दक्ष विपणन क्रिया नही कहा जा सकता, क्योकि फार्म पर उत्पाद के विक्रय से प्रतिस्पर्द्धा के अभाव मे कृषको को उचित कीमत प्राप्त नही होती है, जिसके कारण सन्तोष कम प्राप्त होता है। विपणन-दक्षता के लिए विभिन्न मण्डियो मे प्रचलित कीमतो एव विपणन-लागत के ज्ञान के अतिरिक्त उपभोक्ताओं को मण्डियो मे दी जाने वाली सेवाओ का ज्ञान भी होना आवश्यक है। विपणन सेवाओ के समान स्तर पर उपलब्ध होते हुए, विपणन लागत मे कमी, विपणन-दक्षता की द्योतक होती है। उदाहरण के लिए भारत में गेहूँ के विपणन मे प्रति इकाई विपणन-लागत अमेरिका एव अन्य देशो से कम आती है। इससे यह तात्पर्य नही है कि भारत मे मण्डियाँ गेहूँ के विक्रय मे अमेरिका की मण्डियो की अपेक्षा अधिक दक्ष हैं, बल्कि इसका कारण भारत मे गेहूँ का विपणन उत्पादित रूप मे ही अधिक होता है जबकि अमेरिका में गेहूँ का विपणन परिष्कृत (Processed) अर्थात् आटा, बिस्कुट, डबल रोटी आदि के रूप मे अधिक होता है।

विपणन-दक्षता के प्रकार— विपणन दक्षता दो प्रकार की होती है :

(i) तकनीकी/कार्यात्मक दक्षता—उपभोक्ताओ को प्रदान की जाने वाली विपणन सेवाओ की विधियो मे तकनीकी ज्ञान की सहायता से विपणन-लागत को कम करने की विधि तकनीकी दक्षता या कार्यात्मक दक्षता कहलाती है, जैसे—परिवहन के लिए बैलगाडियो के स्थान पर ट्रक अथवा ट्रैक्टर का उपयोग, जुताई के लिए हाथ के काँटे के स्थान पर स्वचालित तोलने की मशीन का उपयोग आदि। तकनीकी दक्षता से विपणन-लागत की राशि मे कमी होती है।

(ii) कीमत/आर्थिक दक्षता—कीमत-दक्षता से तात्पर्य विपणन की उन विधियो में सुधार करने से है जिनके द्वारा उत्पाद की अधिकतम कीमत प्राप्त होवे या उसी उत्पादन स्तर को प्राप्त करने मे लागत कम आवे। आर्थिक दक्षता, विपणन-सूचना-सेवा, श्रेणीचयन, विक्रय मे प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करके तथा उचित समय तक वस्तुओ को सग्रहीत करके प्राप्त की जा सकती है। आर्थिक दक्षता भी कृषको को उपभोक्ता द्वारा दिये गये रुपये मे से प्राप्त भाग की वृद्धि करने मे सहायक होती है।

विपणन-दक्षता ज्ञात करने की विधियाँ—विपणन-दक्षता ज्ञात करने की निम्न तीन विधियाँ हैं[5]—

(1) प्रथम विधि मे विपणन-दक्षता ज्ञात करने का सूत्र अग्रांकित है—

5. Geoffrey S Shephered, Marketing Farm Products—Economic Analysis, The Iowa State University Press, Ames, IOWA, 1975. p 254.

$$\text{विपणन-दक्षता (प्रतिशत)} = \frac{\text{वस्तुओं के विपणन की कुल लागत}}{\text{विक्रय की गई वस्तुओं का कुल मूल्य}} \times 100$$

इस सूत्र की सहायता से विभिन्न मण्डियों की विपणन-दक्षता ज्ञात की जाती है। जिस मण्डी की विपणन-दक्षता का प्रतिशत अधिक होता है, वह मण्डी वस्तु के विक्रय के लिए दूसरी मण्डी की अपेक्षा अदक्ष कहलाती है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार विपणन-लागत में वृद्धि अथवा वस्तुओं के कुल मूल्य में कमी होने पर विपणन-दक्षता कम हो जाती है। वस्तुओं की सेवाओं मे वृद्धि के कारण विपणन-लागत मे वृद्धि अथवा कीमतों में गिरावट के कारण वस्तुओं के कुल मूल्य में कमी होना विपणन-पद्धति की अदक्षता का द्योतक नही होता है।

(2) दूसरी विधि मे विपणन-दक्षता ज्ञात करने का सूत्र निम्न है :
विपणन-दक्षता (प्रतिशत)

$$= \frac{\text{विपणन प्रक्रिया द्वारा वस्तुओं के मूल्य मे हुई वृद्धि की राशि}}{\text{विपणन सेवाओं की कुल लागत}} \times 100$$

इस सूत्र के अनुसार जिस मण्डी की प्रतिशत विपणन दक्षता अधिक होती है, वह मंडी दूसरी मंडी की अपेक्षा दक्ष होती है। कुल विपणन-लागत ज्ञात करते समय सभी विपणन-संस्थाओं की लागत सम्मिलित की जाती है।

उदाहरण—प्राप्त विपणन सम्बन्धी निम्न आँकड़ों से 'अ' व 'ब' मंडियों की विपणन-दक्षता ज्ञात कीजिए।

विवरण	मण्डी 'अ'	मण्डी 'ब'
विभिन्न विपणन-संस्थाओं की कुल विपणन लागत (रु०)	6,000	8,000
विपणन-प्रक्रिया द्वारा वस्तुओं के मूल्य में हुई वृद्धि की राशि (रु०)	*15,000*	*16,000*
विपणन दक्षता (प्रतिशत)	250	200

अत: स्पष्ट है कि मण्डी 'अ' वस्तुओं के विपणन में मण्डी 'ब' की अपेक्षा अधिक दक्ष है।

(3) तीसरी विधि मे बाजार संरचना, बाजार व्यवहार (Market conduct) एवं बाजार निष्पादन/कार्य (Market performance) के विश्लेषण

के आधार पर विपणन-बाजार की दक्षता ज्ञात की जाती है।[6] यह विधि अमेरिका में विकसित की गई थी। शुरू म यह विधि औद्योगिक क्षेत्रो के बाजारो की दक्षता ज्ञात करन के लिए प्रयुक्त की गई थी। धीरे-धीरे इसे कृषि-क्षत्र में भी प्रयुक्त किया गया।

विपणन-दक्षता मे वृद्धि करने के उपाय—मण्डी मे उपलब्ध विपणन-सेवाओ के समान स्तर पर होते हुए मण्डी की विपणन-दक्षता मे वृद्धि, विपणन-लागत मे कमी करके अथवा विक्रय से प्राप्त होन वाली कीमत मे वृद्धि करके कर सकते हैं। विपणन-सेवाओ को कम करते हुए विपणन-लागत मे कमी करने के उपाय विपणन-दक्षता में वृद्धि के उपायो मे सम्मिलित नही होते हैं। निम्न उपायो को अपनाकर विपणन-दक्षता मे वृद्धि की जा सकती है—

1 **उत्पाद के विक्रय से प्राप्त होने वाली कीमत मे वृद्धि करके**—निम्न उपायो द्वारा उत्पाद के विक्रय से अधिक कीमत प्राप्त की जा सकती है—

(अ) **विपणन सूचना सेवा को विकसित करके**—विपणन सूचना सेवा कृषको को उत्पाद के विक्रय के लिए समय, स्थान एव सस्था का उचित चुनाव करने में सहायक होती है जिससे कृषको को उत्पाद की कीमत अधिक प्राप्त होती है।

(ब) **नियन्त्रित मण्डियो का विकास करके**—नियन्त्रित मण्डियो मे विपणन-लागत अनियन्त्रित मण्डियो की अपेक्षा कम होती है तथा कृषको को वस्तुओ की कीमत प्रतिस्पर्द्धा के कारण अधिक प्राप्त होती है जो विपणन-दक्षता की वृद्धि मे सहायक होती है।

(स) **सग्रहण के लिए भण्डार-गृहो की सुविधा उपलब्ध कराना**—सग्रहण के लिए भण्डार-गृहो की सुविधा उपलब्ध होने पर कृषक खाद्यान्नो का विक्रय कटाई के शीघ्र उपरान्त नही करके, कीमतो के अधिक होने पर करेंगे, जिससे उत्पाद की कीमत अधिक प्राप्त होगी एव विपणन-दक्षता मे वृद्धि होगी।

(द) **कृषको को वित्तीय सुविधा उपलब्ध कराना**—कृषको को आवश्यक वित्त सुविधा उपलब्ध होने पर वे फसल की बिक्री गाँव मे साहूकारो एव व्यापारियो को नहीं करेंगे तथा उनकी खाद्यान रोके रखने की शक्ति मे वृद्धि होगी और मण्डी में ले जाकर खाद्यान विक्रय करने से कीमत अधिक प्राप्त होगी।

2 **विपणन-लागत मे कमी करने**—वस्तुओं के विक्रय मे होने वाली विपणन-लागत की राशि को भी परिवहन-सुविधाओ का विकास करके, आढत, तुलाई एव अन्य विपणन कार्यों की दर निश्चित करके, उपभोक्ताओ की दी जाने

6. Stephen H. Sosnick, Operational Criteria for Evaluating Market performance, P. L. Ferris (Edited), Market Structure Research, Iowa State University Press, Ames, Iowa, 1964, pp. 81-137.

वाली अनावश्यक सेवाओं—उधार विक्रय सुविधा, पसन्द नही आने पर लौटाने की सुविधा-को कम करके किया जा सकता है ।

3. बाजार सरचना का विकास करके—निम्न उपायो द्वारा बाजार सरचना का विकास करके भी विपणन-दक्षता मे वृद्धि की जा सकती है—

(अ) कृषको की गाँव के साहूकार की ऋणग्रस्तता को कम करना ।

(ब) कृषको द्वारा फसल काटने के शीघ्र पश्चात् विक्रय करने की प्रवृत्ति को समाप्त करना ।

(स) कृषको द्वारा विपणन-निर्णय जैसे—समय, स्थान एव सस्था के चुनाव के निर्णय आर्थिक पहलुओ के आधार पर लेने चाहिए । निर्णय लेने मे वैयक्तिक व सामाजिक तत्त्व शामिल नही करने चाहिए । आर्थिक पहलुओं के आधार पर निर्णय लेने से कृषको को वस्तुओं के विपणन से अधिक लाभ प्राप्त होता है एव बाजार सरचना का विकास होता है ।

4 विपणन-प्रक्रिया की जोखिम को कम करके—विपणन-प्रक्रिया मे होने वाली जोखिम को कम करके भी विपणन-दक्षता मे वृद्धि की जा सकती है । विपणन-जोखिम के कम होने पर विपणन-मध्यस्थ कम लाभ चाहते हैं । विपणन-जोखिम को सरक्षण, एकीकरण एव बीमा विधि द्वारा कम किया जा सकता है ।

अध्याय 15

भारत में कृषि विपणन-व्यवस्था

इस अध्याय मे वर्तमान कृषि-विपणन-व्यवस्था के दोष एव उनके निवारण के उपाय जैसे—नियन्त्रित मण्डियाँ, सहकारी विपणन समितियाँ, खाद्यान्न के थोक व्यापार का सरकार द्वारा अधिग्रहण का विवेचन किया गया है । भारतीय मानक सस्था एव भारत सरकार के विपणन एव निरीक्षण निदेशालय का विवेचन भी इस अध्याय मे किया गया है ।

वर्तमान कृषि-विपणन-व्यवस्था के दोष

वर्तमान कृषि-विपणन-व्यवस्था मे उत्पादक कृषको को उपभोक्ता द्वारा दिये गये कृषि-वस्तुओ के मूल्य मे से बहुत कम अश प्राप्त होता है । उपभोक्ता-कीमत मे से अधिकाश अश विपणन-मध्यस्थो को प्राप्त होता है । सब्जी, फल, फूल, दूध, अण्डे आदि शीघ्रनाशी वस्तुओ मे उत्पादक कृषको को उपभोक्ता-कीमत मे आधे से भी कम भाग प्राप्त होता है । उत्पादक कृषको को उपभोक्ता के रुपये मे से कम भाग प्राप्त होने का प्रमुख कारण वर्तमान विपणन-व्यवस्था का दोषयुक्त होना है । वर्तमान कृषि-विपणन-व्यवस्था मे पाये जाने वाले प्रमुख दोष निम्न है—

(1) कृषको द्वारा उपज का अधिकाश भाग गाव में विक्रय करना—कृषक उत्पादित कृषि-वस्तुओ की अधिकाश मात्रा का विक्रय साहूकारो, व्यापारियो एव उपभोक्ताओ को गाँव मे ही करते है जिसके कारण कृषको को उत्पाद के विक्रय से उचित कीमत प्राप्त नही होती है । गाँवो मे मण्डियो की अपेक्षा उत्पादो की कीमतें कम होती हैं जिससे उन्हे गाँव मे विक्रय करने से बहुत हानि होती है । कृषि-वस्तुओ की अधिकाश मात्रा की बिक्री कृषको द्वारा गाँवो मे किये जाने के प्रमुख कारण ये है—

(i) गाँवो से शहर की मण्डियो तक कृषि-वस्तुओ को ले जाने के लिए सडको एव पर्याप्त परिवहन सुविधाओ का न होना ।

(ii) कृषक गाँव के साहूकारो के ऋण-ग्रस्त होते हैं, जिसके कारण वे साहूकारो के माध्यम से खाद्यान्न विक्रय करने के लिए पाबन्द होते हैं ।

(iii) मण्डियो मे प्रचलित कीमतो की सूचना कृपको की प्राप्त नही होती है। मण्डियो मे प्रचलित कीमतो के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण वे खाद्यान्न गाँव में कम कीमत पर विक्रय करते हैं।

(iv) कृषको मे धनाभाव एव अन्य कारणो से खाद्यान्न रोके रखने की शक्ति का अभाव होता है। अत वे उत्पादित उपज शीघ्र विक्रय करके धन प्राप्त करना चाहते हैं। मण्डियों मे ल जाकर विक्रय करके मूल्य प्राप्ति म समय लगता है।

(v) परिवहन-सुविधा उपलब्ध होने तक के समय के लिए खाद्यान्न-सग्रहण के लिए स्थान एव सुविधाओ के अभाव की स्थिति मे कृषक, खाद्यान्नो का विक्रय गाँव मे ही करने को तैयार हो जात हैं।

(vi) लघु जोत के कृषको के यहाँ विक्रेय-अधिशेष की मात्रा कम होती है, जिसमे मण्डी मे वस्तुओ को विक्रय के लिए ले जाने मे प्रति इकाई विपणन-लागत अधिक आती है। देश के 75 प्रतिशत कृषक लघु कृषको की श्रेणी मे हैं।

(vii) मण्डी मे ठहरने की असुविधा, विपणन कुरीतियो के होने, मध्यस्थो की अधिकता, भाषा की अनभिज्ञता आदि कारणो से भी कृषक खाद्यान्नो का विक्रय मण्डी में करना पसन्द नही करते हैं।

(2) कृषकों द्वारा फसल कटाई के शीघ्र बाद कृषि उत्पादों की अधिकाश मात्रा विक्रय करना—वर्तमान कृषि-विपणन-व्यवस्था का दूसरा दोष कृषको द्वारा खाद्यान्नो की बिक्री फसल कटाई के तुरन्त बाद किया जाना है। फसल-कटाई के बाद वस्तुओ की पूर्ति माँग से अपेक्षाकृत अधिक होती है और कीमतें न्यूनतम स्तर पर होती हैं जिसके कारण कृषको को उत्पाद के विक्रय से उचित कीमत प्राप्त नही होती है। कृषको द्वारा औसतन 50 से 60 प्रतिशत खाद्यान्न फसल-कटाई के बाद अर्थात् प्रथम तीन महीने मे विक्रय किये जाते हैं। फसल-कटाई के कुछ समय बाद वस्तुओ की पूर्ति मे कमी होने से कीमतों म वृद्धि होनी शुरू होती है। बढती हुई कीमतों से व्यापारी-वर्ग लाभ उठाते हैं। फसल कटाई के बाद खाद्यान्नो का विक्रय कृषको द्वारा निम्न कारणों से किया जाता है—,

(i) धन की अति आवश्यकता होने के कारण खाद्यान्न रोके रखने की शक्ति का कृषका मे अभाव होना।

(ii) खाद्यान्न-सग्रहण के लिए कृषको के यहाँ स्थान एव सुविधाओ का अभाव होना।

(iii) साहूकारो का शीघ्र ऋण-भुगतान के लिए कृषको पर दबाव होना।

(iv) कृषको मे व्यापारिक दक्षता विकसित नही होना।

(v) सग्रहण के लिए भण्डार-गृहो की आवश्यक सुविधा गाँवो में उपलब्ध नहीं होना।

(3) कृषकों द्वारा विक्रय किये जाने वाले उत्पाद की मात्रा का कम होना—विविधीकृत (diversified) खेती अपनाने, जोत का आकार कम होने एव खाद्यान्नो की विभिन्न किस्मो की खेती के कारण कृषको के यहाँ वस्तुओ के विक्रेय-अधिशेष की मात्रा बहुत कम होनी है, जिससे वस्तुओ के विपणन मे प्रति इकाई विपणन-लागत अधिक होती है।

(4) मण्डियो मे विपणन कुरीतियो का पाया जाना—विपणन के क्षेत्र म मण्डियो में अनेक कुरीतियाँ जैसे—अनाधिकृत तौल एव नाप के पैमानो का उपयोग, क्रेता व्यापारियो द्वारा नमून के रूप मे खाद्यान्नो की मात्रा ले जाना, विक्रय-विधि का दोषयुक्त होना, कृषको को कीमतो का ज्ञान न होना, आढतियो द्वारा विक्रय मूल्य मे कम कीमत का भुगतान करना, करदा एव अन्य अनावश्यक लागत वसूल करना, दलालो एव आढतियो का नेताओ की ओर अधिक झुकाव आदि पाई जाती हैं, जिनके कारण कृषको को खाद्यान्नो की विक्री से उचित कीमत प्राप्त नही होती है।

(5) विपणन-लागत की अधिकता—देश मे पर्याप्त सख्या तथा सभी स्थानों पर नियन्त्रित मण्डियो के नही होने के कारण कृषक खाद्यान्न का विक्रय अनियन्त्रित मण्डियो मे करते हैं। अनियन्त्रित मण्डियो मे विभिन्न विपणन लागतो का भुगतान करना होता है। अनेक विपणन लागतो का कृषको के विक्रय से कोई सम्बन्ध नही होता है जैसे—मुनीमी, धर्मादा, चुंगी, गौशाला आदि लागत।

(6) विपणन-प्रक्रिया मे मध्यस्थों को अधिकता—मण्डियो मे कृषको एव उपभोक्ताओ के बीच मध्यस्थो की एक लम्बी शृखला पाई जाती है। प्रत्येक विपणन मध्यस्थ विपणन-कार्यों से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। विपणन-मध्यस्थो की अधिकता के कारण उत्पादक कृषक का उपभोक्ता के रुपये मे से प्राप्त भाग कम हो जाता है।

(7) विपणन सूचना सेवा का अभाव—विभिन्न मण्डियो मे प्रचलित कीमतों की सूचना समय पर प्राप्त नही होने से कृषक खाद्यान्न का विक्रय कम कीमतो पर कर देते हैं। विपणन-मध्यस्थो के पास विभिन्न मण्डियो में प्रचलित कीमतों की पूर्ण सूचना होती है, जिससे विपणन-मध्यस्थ कृषको की कीमतो की जानकारी के अभाव का लाभ उठाते हुए उनसे खाद्यान्न कम कीमत पर खरीद लेते हैं।

(8) मण्डियों मे श्रेणीकरण एव मानकीकरण सुविधा का उपलब्ध न होना—श्रेणीकरण एव मानकीकरण की आवश्यक सुविधाओ के उपलब्ध नही होने से कृषक वस्तुओ को श्रेणीकरण के बिना ही विक्रय करते हैं जिससे कृषको को उत्पाद की किस्म के अनुसार कीमत प्राप्त नही होती है।

(9) कृषको मे सगठन का अभाव—कृषिगत वस्तुओ का उत्पादन, असख्य कृषको द्वारा विभिन्न क्षेत्रो में किया जाता है। कृषक सगठित नही होते हैं। सगठित

नही होने के कारण कृषक खाद्यान्न के क्रय-विक्रय मे अपना प्रभाव प्रदर्शित नही कर सकने है और व्यापारी-वर्ग सगठित होने के कारण कृषकों का शोषण करते हैं।

कृषि-विपणन-व्यवस्था के दोष-निवारण के उपाय

कृषि-वस्तुओ की विपणन-व्यवस्था मे पाये जाने वाले उपर्युक्त दोषो के कारण कृषको को खाद्यान्न की उचित कीमत प्राप्त नही होती है, जिससे उनमे उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा का ह्रास होना है साथ ही कृषि आधारित उद्योगो को आवश्यक मात्रा मे कच्चा माल प्राप्त नही हो पाता है। अत कृषि एव उस पर आधारित उद्योगो के विकास के लिए विपणन-व्यवस्था के दोषो का निवारण करना आवश्यक है। कृषि-विपणन-व्यवस्था के पाये जाने वाले दोषो का निवारण निम्न उपायो द्वारा किया जा सकता है—

1 मण्डियो को नियन्त्रित करना—विपणन व्यवस्था मे पाये जाने वाले अनावश्यक मध्यस्थो, विपणन प्रथा मे पायी जाने वाली कुरीतियो एव विपणन-लागत की अधिकता आदि दोषो को कृषि उपज-विपणन अधिनियम के अन्तर्गत नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना करके दूर किया जा सकता है। नियन्त्रित मण्डियो का सचालन कृषि उपज मण्डी समिति के द्वारा होता है जिसमे कृषको, व्यापारियो, सरकार, बैंक एव स्वायत्त सस्थाओ के प्रतिनिधि होते है। मण्डी समिति विभिन्न वस्तुओ के विक्रय के लिए विभिन्न कार्यों की विपणन-लागत की दर निर्धारित करती है तथा अनावश्यक एव अनधिकृत विपणन-लागत मे कमी करती है। मण्डी में विक्रय की नीलामी पद्धति होने से उपज की कीमत भी अधिक प्राप्त होती है।

2 कृषि-वस्तुओ के लिए श्रेणीकरण एव मानकीकरण-सुविधाओ का देश मे विकास करना, जिससे उत्पादको को वस्तु की श्रेणी के अनुसार कीमत प्राप्त हो सके।

3 स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार भण्डार-गृह सुविधाओ का विकास करना, जिससे कृषक खाद्यान्नो का भण्डारण कर सकें और उत्पाद को कटाई के बाद शीघ्र विक्रय नही करें।

4 मण्डी मे वस्तुओ का भार करने के लिए यान्त्रिक-तुला एव मानकीकृत मीट्रिक तौल के बाटो का ही प्रयोग करने के कानून को पूर्णरूप से कार्यान्वित करना।

5 विपणन-सूचना-सेवा मे वृद्धि करना जिससे कृषक विक्रय के लिए स्थान एव समय के चुनाव का निर्णय आर्थिक आधार पर ले सकें।

6 परिवहन-साधनो एव सडको का विकास करना, जिससे परिवहन लागत मे कमी होवे। विशेषकर गाँवों मे मण्डियो को जोडने के लिए सम्पर्क-सडको (Link-roads) का विकास अति आवश्यक है।

7 मण्डियो मे कृपको को ठहरने, पशुओ एव गाडियो को खडी करने की सुविधाएँ प्रदान करना, जिससे कृपक मण्डी में होने वाली असुविधाओ के कारण गाँवो मे विक्रय पद्धति का त्याग कर सकें ।

8 सहकारी-विपणन समितियो के निर्माण की ओर विशेष ध्यान देना जिससे विशेषकर लघु कृपक वस्तुओ के विक्रेय-अधिशेष का विक्रय सहकारी-विपणन-समितियो को करके उचित कीमत प्राप्त कर सके ।

9 कृपकों को सस्ते ब्याज दर पर आवश्यक राशि मे ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना जिससे उनकी खाद्यान्न रोके रखने की शक्ति मे वृद्धि होवे ।

10 कृपको द्वारा विशिष्ट खेती-पद्धति को अपनाना, जिससे वस्तुओ के विक्रय-अधिशेष की मात्रा मे वृद्धि होवे और प्रति इकाई विपणन लागत मे कमी हो सके ।

11. विपणन-प्रक्रिया मे पायी जाने वाली विभिन्न कुरीतियो की समाप्ति के लिए कानूनन रोक लगाना, जिससे व्यापारी-वर्ग कृपको का शोषण नही कर सकें ।

नियन्त्रित मण्डियाँ

पूर्व मे कृषि-वस्तुओ की विपणन-व्यवस्था मे मण्डियो मे व्यापारियो के एकाधिपत्य के कारण अनेक प्रकार से उत्पादक-कृपको को हानि उठानी पड़ती थी। विपणन मे स्पर्द्धा के अभाव, अनेक प्रकार की विपणन-लागत की कटौतियो, विपणन की कुरीतियो आदि के कारण उत्पादक कृपको को उत्पाद के विक्रय से सही कीमत प्राप्त नही होती थी । इन सबका लाभ मध्यस्थ वर्ग उठाता था। उत्पादक-कृपक मण्डियो मे अपने उत्पाद के विक्रय के समय मूक-दर्शक की भाँति देखते थे । इन सबका प्रमुख कारण मण्डियो पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही होना था । मण्डियो का सचालन व्यापारियो द्वारा अपने हितो की सर्वोपरि रक्षा हेतु बनाये गये नियमो के अनुसार होना था । मण्डी नियमन मे उत्पादको एव उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा की उपेक्षा की जाती थी ।

एक दक्ष विपणन-व्यवस्था हेतु मण्डी मे विपणन की समुचित व्यवस्था का होना आवश्यक है । कृषि उत्पादो के विपणन मे पाये जाने वाले उपर्युक्त दोष देश मे नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना करके दूर किए जा सकते हैं ।

नियन्त्रित मण्डी से तात्पर्य—नियन्त्रित मण्डी से तात्पर्य उस मण्डी से है जो राज्य सरकार द्वारा पारित कानून के तहत व्यापार के सचलन के लिए स्थापित की जाती है । इनकी स्थापना का प्रमुख उद्देश्य विपणन व्यवस्था मे पाये जाने वाली कुरीतियो को दूर करना, विपणन लागत को कम करना एव उत्पादक-कृपको को विपणन काल मे सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराना होता है । ये मण्डियाँ पारित अधिनियम के अनुसार कार्य करती हैं ।

नियन्त्रित मण्डियो के उद्देश्य —नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) कृपकों की विपणन प्रक्रिया मे होने वाली मजबूरियों को दूर करके उनको मध्यस्थो द्वारा किए जाने वाल शोषण से रक्षा करना।

(2) विपणन व्यवस्था को दक्ष बनाना जिससे कृपकों को उत्पाद की सही कीमत एव उपभोक्ताओं को आवश्यक मात्रा म कम कीमत पर वस्तुएँ उपलब्ध हो सके।

(3) कृपको को उत्पादन की अधिक मात्रा एव अच्छी किस्म के उत्पाद का उत्पादन करने की प्रेरणा देना।

(4) विपणन व्यवस्था के सुधार के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराना, जिससे मण्डी मे व्यापार की एक ठोस एव सुदृढ व्यवस्था कायम हो सके।

नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना—देश मे नियन्त्रित मडियो की स्थापना की आवश्यकता सर्वप्रथम ब्रिटिश शासनकाल मे इगलैण्ड की कपडा मिलो को उचित कीमत पर कपास की पूर्ति हेतु महसूस हुई। वर्ष 1986 मे प्रथम नियन्त्रित 'करंजीया कपास मडी' की स्थापना की गई। सर्वप्रथम अधिनियम "कॉटन एण्ड ग्रेन मार्केट ला" 1897 तत्कालीन बरार प्रदेश मे नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना हेतु पारित किया गया। यह अधिनियम बाद मे अन्य राज्यो मे नियन्त्रित मडियो की स्थापना हेतु आदर्श कानून माना गया। भारत सरकार द्वारा 1917 मे स्थापित 'इण्डियन कॉटन कमेटी' ने भी बरार अधिनियम के अनुसार कपास मडियो को नियन्त्रित करने का सुझाव दिया। वर्ष 1927 मे बम्बई सरकार ने बम्बई कॉटन मार्केट ला' लागू किया। यह प्रथम विस्तृत अधिनियम था जो देश में स्वस्थ मडी-प्रणाली की स्थापना की दृष्टि से बनाया गया था। इसका प्रमुख उद्देश्य उत्पादक व उपभोक्ता के हितो की रक्षा करना था।

वर्ष 1928 मे ब्रिटिश सरकार के तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता मे नियुक्त कृषि रायल कमीशन ने भी कृषि विपणन मे व्याप्त अव्यवस्थित परिस्थितियो के कारण भारत मे नियन्त्रित मडियों की स्थापना की सिफारिश की थी। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति, 1931 ने कृषि रायल कमीशन की सिफारिश का अनुमोदन किया। भारत सरकार ने 1935 मे कृषि-विपणन समस्याओं को हल करने के लिए विपणन एव निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की। इस निदेशालय ने राज्य सरकारो को उत्पादक-कृपकों के हितो की रक्षा करने के उद्देश्य से राज्यो मे नियन्त्रित मडियो को स्थापना की सिफारिश की थी। निदेशालय ने वर्ष 1938 मे राज्यो मे नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना के लिए एक आदर्श बिल तैयार किया, जिसके आधार पर अनेक राज्यो ने मडियो के नियमन हेत कानून पारित किये।

विभिन्न राज्यो मे मण्डिया को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से समय-समय पर अधिनियम पारित किए गए है, जैसे हैदराबाद कृषि विपणन अधिनियम, 1930, मद्रास वाणिज्यिक फसल विपणन अधिनियम, 1935, बम्बई कृषि उपज विपणन अधिनियम, 1939, पजाब कृषि उपज विपणन अधिनियम, 1939, मैसूर कृषि उपज विपणन अधिनियम, 1939, केरल कृषि उपज विपणन अधिनियम, 1957, राजस्थान कृषि उपज विपणन अधिनियम 1961। आन्ध्रप्रदेश न मद्रास राज्य के विपणन अधिनियम तथा गुजरात एव महाराष्ट्र ने बम्बई प्रान्त के अधिनियम को लागू किया। विभिन्न राज्यों ने पारित कृषि उपज विपणन अधिनियमो मे समय समय पर सशोधन किए हैं। सशोधित अधिनियमो मे अनेक राज्यो ने मण्डियो के विकास एव नियमन कार्य की प्रगति हेतु कृषि विपणन बोर्ड गठन करने का निर्णय लिया है। फलस्वरूप अनेक राज्यो— पजाब, हरियाणा, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, कर्नाटक मध्यप्रदेश आदि मे कृषि विपणन बोर्ड स्थापित किये जा चुके हैं। मण्डी नियमन के लिए पारित अधिनियम कृषक विक्रेताओ के लिए रक्षा का कवच है जो उनकी मेहनत की कमाई मे मध्यस्थो द्वारा की जाने वाली अनाधिकृत कटौतियो को रोकने मे सहायक होते है।

नियन्त्रित मण्डियो के विकास का कार्य वर्ष 1950 तक मथर गति से हुआ। नवम्बर, 1955 मे विपणन और सहकारिता पर हुए सम्मेलन ने इनकी प्रगति की रफ्तार को बढाने मे सहयोग प्रदान किया। सम्मेलन मे सिफारिश की गई है कि जिन राज्यो ने मण्डी नियमन कानून पारित नही किया है, वे शीघ्र कानून पारित करके नियमन पारित राज्यो की श्रेणी मे आ जाएँ।

नियन्त्रित मण्डियो से कृषकों को लाभ—कृषको को नियन्त्रित मण्डियो मे कृषि-उत्पाद विक्रय करने से निम्न लाभ प्राप्त होत है—

1 नियन्त्रित मण्डी मे उत्पादक कृषको की व्यापारियो द्वारा किए जाने वाले शोषण से रक्षा होती है, क्योंकि मण्डी के व्यापारी मण्डी समिति के निर्देशन मे कार्य करत हैं।

2 नियन्त्रित मण्डी मे उत्पादक-कृषको को वर्तमान मे उत्पाद के विक्रय पर किसी प्रकार की विपणन-लागत नही देनी होती है। वर्तमान मे सभी प्रकार की विपणन लागतें क्रेताओ स वसूल की जाती हैं।

3. नियन्त्रित मण्डियो मे वस्तुओ का तौल मण्डी समिति से प्राप्त अनुज्ञा-पत्रधारी तुलारो द्वारा किया जाता है। तौल मे काटे एव मीट्रिक बाटो का ही उपयोग होता है। अत कृषक तौल की बेईमानी से बच जाते हैं।

4 व्यापारियो एव कृषको के मध्य मे नमूने, कीमत, हिसाब सम्बन्धित झगडे मण्डी समिति की उप-समिति द्वारा निपटाये जाते हैं जिससे विवादो पर होने वाली लागत मे बचत होती है।

5. नियन्त्रित मण्डी मे वस्तुओ की खुली नीलामी पद्धति द्वारा विक्रय एवं पूर्ण स्पर्धा की स्थिति के कारण कृषको को उत्पाद की उचित कीमत प्राप्त होती है ।

6 कृषको को बेचे गये माल की कीमत का शीघ्र भुगतान प्राप्त होता है । भुगतान के लिए कटौती नही देनी होती है । रुपयो की प्राप्ति के लिए कृषको को मण्डी म कई बार नही आना पडता है ।

7 कृषको को कृषि उत्पादो की कीमतो की निरन्तर सूचना प्रदान करने की व्यवस्था नियन्त्रित मण्डी करती है, जिससे कृषका को विपणन के लिए सही समय एव स्थान के चुनाव मे सुगमता होती है ।

8 नियन्त्रित मण्डियो मे उत्पाद के विक्रय मे पाई जान वाली अनेक प्रकार की कुरीतिया जैस--खाद्यान्न की थाडी-थोडी मात्रा नमूने के रूप म क्रेताओ द्वारा ल जाना, विक्रय पर्ची नही देना, करदा एव धलता अनावश्यक होते हुए भी काट लेना आदि समाप्त हो गई है । इससे भी कृषको का लाभ पहुँचा है ।

9 मण्डी मे रात्रि मे ठहरने, पशुओ एव बैलगाडियो की देखभाल रुपयो की सुरक्षा के लिए बैंक, पानी की व्यवस्था, माल की चौकीदारी एव रात्रि मे रोशनी की नि शुल्क व्यवस्था कृषको को उपलब्ध कराई जाती है ।

10 मण्डी के प्रबन्ध मे कृषक स्वय भागीदार होत हैं जिसस उन्हे मण्डी नियमन की पूर्ण जानकारी होती है ।

नियन्त्रित मण्डियो से उपभोक्ताओं को लाभ—नियन्त्रित मण्डी मे उपभोक्ताओ द्वारा खाद्यान्नो के क्रय करने से निम्न लाभ प्राप्त होते हैं –

1 नियन्त्रित मण्डी मे विक्रय की सही प्रणाली के कारण उपभोक्ताओ को कृषि उत्पाद उचित कीमत पर उपलब्ध होते हैं ।

2 वस्तुओ की किस्म मे मिलावट, कम तौलने की कुप्रथा आदि से होने वाली हानि से उपभोक्ताओ की रक्षा होती है ।

3 वस्तुओ के श्रेणीकरण एव मानकीकरण व्यवस्था के होने से उपभोक्ताओ को *आवश्यक श्रेणी की वस्तुएँ आसानी से उपलब्ध हो* जाती हैं ।

नियन्त्रित मण्डियों की कार्य-प्रणाली—सर्वप्रथम सरकार किसी भी क्षेत्र मे *मण्डी नियमन हेतु मण्डी का क्षेत्र, मुख्य मण्डी, गौण मण्डियाँ एव मण्डी यार्ड* निर्धारित करती है । तत्पश्चात् मण्डी मे नियमन कार्य प्रारम्भ होता है । नियन्त्रित मण्डियो की कार्य-प्रणाली सक्षेप मे निम्न प्रकार की होती है—

(1) वस्तुओ की क्रय-विक्रय विधि--मण्डी मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय खुली नीलामी अथवा बन्द निविदा विधि द्वारा होने का प्रावधान है। अधिकाश मण्डियो मे उत्पादो का क्रय विक्रय खुली नीलामी विधि द्वारा मण्डी समिति के कार्यकर्त्ता की उपस्थिति मे निर्धारित समय मे ही होता है।

(2) तुलाई--वस्तुओ की तुलाई अनुज्ञा-पत्रधारी तुलारे के द्वारा मीट्रिक बाटो के उपयोग द्वारा की जाती है।

(3) श्रेणीचयन--वस्तुओ के विक्रय से पूर्व उनका श्रेणीचयन करना आवश्यक है लेकिन अधिकाश मण्डियो मे श्रेणीचयन के लिए आवश्यक उपकरण, स्थान एव सुविधाओं के नही होने से कृषि उत्पादो का विक्रय श्रेणीचयन किये बिना ही होना है।

(4) मण्डी सूचना सेवा--नियन्त्रित मण्डियो मे कृषको को प्रचलित मण्डी कीमतो की सूचना देने की पर्याप्त व्यवस्था होती है।

(5) विपणन लागत—वर्तमान मे उत्पादक-कृषको को नियन्त्रित मण्डी मे अपने उत्पादो के विक्रय पर किसी प्रकार की विपणन लागत नही देनी होती है। उन्हे मण्डी मे विक्रय से पूर्व की लागत जैसे—परिवहन लागत, चु गी एव मजदूरी ही देनी होती है।

(6) उत्पादो की कीमत का भुगतान—उत्पाद को नीलामी के बाद तुलाई होते ही कीमत का भुगतान कृषको को किया जाता है। इसके लिए उनसे किसी प्रकार की कटौती देय नही होती है।

(7) विपणन-मध्यस्थो को अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करना—मण्डी मे कार्य करने के प्रत्येक इच्छुक मध्यस्थ को निर्धारित मण्डी शुल्क का भुगतान करके अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करना होता है। साथ ही उन्हे मण्डी समिति द्वारा समय-समय पर पारित नियम एव उपनियमो का पालन करना होता है।

(8) विवादो का निपटारा—कृषको एव व्यापारियो के मध्य मे होने वाले विवादो का निपटारा मण्डी समिति की उप समिति के द्वारा शीघ्रता से किया जाता है, जिन पर कोई व्यय नही होता है।

(9) मण्डी मे विपणन के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराना--नियन्त्रित मण्डी अपनी आय मे से मण्डी क्षेत्र मे आवश्यक विपणन सुविधाएँ भी उपलब्ध कराती हैं, जिससे कृषक अधिकाधिक सख्या मे उत्पाद के विक्रय के लिए मण्डियो मे आयें एव गाँव मे ही कृषि उत्पाद के विक्रय करने की प्रथा समाप्त हो सके। नियन्त्रित मण्डियाँ

अपने क्षेत्र मे सम्पर्क सडको का निर्माण, मण्डी क्षेत्र मे सुव्यवस्थित यार्ड, मण्डी-यार्ड मे कृषक-विश्रामगृह, पशुशाला, गाडी खडी करने का स्थान, बैंक, पशु चिकित्सालय, प्याऊ आदि का निर्माण कार्य भी कराती हैं।

(10) नियन्त्रित मण्डियो का सचालन—प्रत्येक नियन्त्रित मण्डी के सुचारु रूप से सचालन के लिए मण्डी समिति होती है। मण्डी समिति में क्रय-विक्रय से सम्बन्धित सभी वर्गों के प्रतिनिधि होते है। विभिन्न राज्यो की मण्डी समितियो में सदस्यो की सख्या अलग-अलग होती है। पजाब मे 10 एव 17 सदस्यो की मण्डी समिति होती है जबकि तमिलनाडु की मण्डी समिति मे 18, गुजरात मे मण्डी समिति मे 17 सदस्य एव राजस्थान मे 15 सदस्य होते है। राजस्थान राज्य मे मण्डी समितियो के 15 सदस्यो मे से 7 कृषक वर्ग, 2 व्यापारी वर्ग, 2 क्षेत्र की सहकारी विपणन समिति, एव सहकारी बैंक के प्रतिनिधि, एक सदस्य क्षेत्र की पचायत समिति से, एक सदस्य क्षेत्र की नगरपालिका से एव दो सदस्य राज्य सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये सदस्य अपने मे से एक अध्यक्ष एव एक उपाध्यक्ष का चुनाव करते हैं। शुरू मे मण्डी समितियो के सदस्यो को दो वर्ष के लिए राज्य सरकार मनोनीत करती है। तत्पश्चात् मण्डी समितियो का निर्वाचन चुनाव द्वारा तीन वर्ष के लिए सरकार कराती है। मण्डी समितियो के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। उन्हे किसी प्रकार का वेतन नही दिया जाता है।

मण्डी समितियों के कार्य—मण्डी समितियो मे प्रमुख कार्य निम्न होते है.

(1) मुख्य एव गौण मण्डी का प्रबन्ध करना।

(2) मण्डी में विभिन्न विपणन सेवाओ के लिए लागत दर नियत करना।

(3) मण्डी मे प्रवेश करने वाले मध्यस्थो की सख्या एव उनके व्यवहार को नियन्त्रित करना।

(4) कृषि वस्तुओ मे होने वाले अपमिश्रण को रोकने की व्यवस्था करना।

(5) कृषि वस्तुओ के श्रेणीकरण एव मानकीकरण की मण्डी मे व्यवस्था करना

(6) कृषको एव मध्यस्थो के बीच उत्पन्न होने वाले विवादो को उप-समिति के माध्यम से निपटारा करना।

(7) मण्डी मे कार्य करने के इच्छुक मध्यस्थो को अनुज्ञा-पत्र जारी करना।

(8) मण्डी मे प्रचलित कृषि वस्तुओ की कीमतो की सूचना के प्रसारण की व्यवस्था करना।

(9) कृषि वस्तुओ के सग्रहण के लिए मण्डी मे मण्डार-गृहो का निर्माण करना।

(10) मण्डी मे कार्यरत व्यक्तियों को नियम पालने की सलाह देना एव उल्लघन करने वालो को दण्ड देने की व्यवस्था करना।

(11) कृषि उत्पादो के विक्रय की सही पद्धति अपनाना एव विक्रय के लिए स्वस्थ प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति उत्पन्न करना।

(12) मण्डी के कृपको को ठहरने, मोजन, पानी, पशुओ के लिए पशुशाला, बैंक, पशु चिकित्सालय, रोशनी, सफाई, चौकीदारी की व्यवस्था करना।

मण्डी समिति की आय—उपर्युक्त कार्यों को करने के लिए मण्डी समिति को धन की आवश्यकता होती है। मण्डी समितियां आवश्यक धन निम्न स्रोतो से प्राप्त करती हैं—

(i) मण्डी मे कार्यरत विभिन्न विपणन-मध्यस्थो से अनुज्ञा-पत्र शुल्क वसूल करके आय प्राप्त करना।

(ii) मण्डी मे विक्रीत विभिन्न कृषि उत्पादो पर मण्डी शुल्क प्राप्त करना। वर्तमान मे राजस्थान की मण्डियो मे कृषि वस्तुओ के विपणन पर एक प्रतिशत मण्डी-शुल्क वसूल किया जाता है। प्राप्त मण्डी शुल्क मे से 10 प्रतिशत राशि मण्डियो द्वारा राज्य कृषि विपणन बोर्ड को जमा करानी होती है।

(iii) राज्य सरकार द्वारा मण्डियो मे अनेक सुविधाओ की व्यवस्था करने हेतु एव अनार्थिक मण्डियो को कार्यक्षम बनाने हेतु प्रारम्भ मे वित्तीय सहायता भी प्रदान की जाती है।

मण्डी समितियां प्राप्त आय मे से कार्यरत कर्मचारियो को वेतन का भुगतान करके शेष राशि को मण्डी के विकास पर व्यय करती हैं। देश मे अनेक स्थानो पर विस्तृत क्षेत्र पर सभी सुविधाओ से युक्त नियन्त्रित मण्डियो का निर्माण हो चुका है एव अनेक स्थानो पर वे निर्माणाधीन हैं।

नियन्त्रित मण्डियो की प्रगति :

देश मे नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना का कार्य 1930 के काल मे प्रारम्भ हुआ था, लेकिन इनकी सख्या मे स्वतन्त्रता के पश्चात् विशेष प्रगति हुई है। सारणी 15 1 मे विभिन्न काल मे स्थापित नियन्त्रित मण्डियो की सख्या दर्शाई गई है। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ (अप्रैल, 1951) मे नियन्त्रित मण्डियो की सख्या मात्र 236 थी, जो बढकर द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ (अप्रैल, 1956) मे

470, तृतीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ (अप्रैल, 1961) मे 715, अप्रैल, 1966 मे 1012, अप्रैल, 1976 मे 3528 एव अप्रैल, 1990 मे 6217 हो गई। वर्तमान मे देश के 94 प्रतिशत थोक बाजार नियन्त्रित हो चुके हैं। अभी भी देश के 22,000 ग्रामीण बाजार स्वायत्त सस्थाओ द्वारा प्रबन्धित हो रहे हैं। इन बाजारों मे क्रय-विक्रय व्यापारियो द्वारा बनाये गये नियमो के अनुसार ही होता है। अतः देश के सभी कृषको को समान रूप से लाभ पहुँचाने के लिए इन ग्रामीण बाजारो को भी नियन्त्रित करना आवश्यक है।

सारणी 15 1

भारत मे नियन्त्रित मण्डियों की प्रगति

वर्ष	नियन्त्रित मण्डियो की सख्या	थोक मण्डियो की सख्या का प्रतिशत (6632)
मार्च 1951	*236*	*3.56*
मार्च 1956	470	7.09
मार्च 1961	715	10 78
मार्च 1966	1012	15 26
अक्टूबर 1973	2754	41.53
मार्च 1976	3528	53 20
मार्च 1980	4446	67 04
मार्च 1984	5579	84.12
मार्च 1986	5766	86.94
मार्च 1988	6062	91.25
मार्च 1990	6217	93 74

स्रोत Government of India, Indian Agriculture in Brief, Ministry of Agriculture, New Delhi

राज्यवार कुल थोक मण्डियो एव नियन्त्रित मण्डियो की प्रगति सारणी 15 2 मे प्रदर्शित की गई है। वर्तमान में 24 राज्यो मे से 6 राज्यों (जम्मू एव कश्मीर, केरल, नागालैण्ड, अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम एव सिक्किम) एव केन्द्र शासित प्रदेशो मे से चार (अण्डमान एव निकोबार द्वीप समूह, दमन एव द्वीप, दादर एव नागर हवेली एव लक्षद्वीप) केन्द्रशासित प्रदेशो ने नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना हेतु कानून पारित

नहीं किया है। केरल राज्य में चार नियन्त्रित मण्डियाँ हैं, जो मलाबार क्षेत्र में हैं। यह मण्डियाँ भूतपूर्व मद्रास राज्य वाणिज्यिक फसलें अधिनियम, 1933 द्वारा नियमित हो रही हैं। केरल राज्य ने नियन्त्रित मण्डियां की स्थापना हेतु कानून पारित नहीं है। सभी राज्यों में नियन्त्रित मण्डियों की प्रगति समान नहीं है। आन्ध्रप्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, राजस्थान, उड़ीसा पंजाब, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश एवं पश्चिम बंगाल राज्यों में नियन्त्रित मण्डियों की प्रगति प्रशंसनीय है। असाम, मनीपुर, मेघालय एवं त्रिपुरा राज्यों में नियन्त्रित मण्डियों की प्रगति नगण्य है।

नियन्त्रित मण्डियों की कार्य-प्रणाली में सुधार हेतु राष्ट्रीय कृषि आयोग की सिफारिशें—

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है[1] कि देश में नियन्त्रित मण्डियों की संख्या में वृद्धि तो सन्तोषजनक है, लेकिन कार्य-प्रणाली में दक्ष विपणन के लिए सुधार लाना आवश्यक है। अतः राष्ट्रीय कृषि आयोग ने नियन्त्रित मण्डियों की कार्य-प्रणाली में सुधार लाने के लिए निम्न सिफारिशें की हैं—

(1) कृषकों को मण्डी समिति में पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। मण्डी समिति का अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष कृषक वर्ग से होना चाहिए।

(2) नियन्त्रित मण्डियों में नियन्त्रण हेतु खाद्यान्नों के अतिरिक्त अन्य कृषि वस्तुएँ, जैसे—वाणिज्यिक फसलें, फल एवं सब्जियाँ, पशुओं से प्राप्त उत्पाद एवं वनों से प्राप्त उत्पाद भी सम्मिलित किये जाने चाहिए।

(3) विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा मण्डी-शुल्क की न्यूनतम दर क्षेत्र में उपलब्ध सुविधाएँ एवं सम्भावित विकास कार्यक्रमों के अनुसार निश्चित की जानी चाहिए।

1. Report of the National Commission on Agriculture, Ministry of Agriculture and Irrigation, Government of India, New Delhi, Vol. XII, 1976, pp. 117-119.

सारणी 15 2
भारत के विभिन्न राज्यो एव केन्द्र शासित प्रदेशो मे नियन्त्रित मण्डियो की प्रगति

राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश	थोक मण्डियो की सख्या	नियन्त्रित मण्डियो की सख्या			
		31 दिसम्बर 1968	31 मार्च 197	31 मार्च 1986	31 मार्च 1990
1	2	3	4	5	6
1 आन्ध्र प्रदेश	568	123	379	564	568
2 असम	172	—	4	22	32
3 बिहार	443	60	314	765	798
4 गुजरात	341	203	267	312	341
5 गोवा	11	—	—	—	5
6 हरियाणा	257	59	135	240	257
7. हिमाचल प्रदेश	29	—	27	44	52
8 कर्नाटक	397	155	236	337	397
9 केरल*	348	5	4	4	4
10. मध्य प्रदेश	633	164	297	436	532
11 महाराष्ट्र	799	301	416	671	773
12 मणिपुर	20	—	—	—	—
13 मेघालय	101	—	—	—	—
14. उड़ीसा	163	40	58	103	130

1	2	3	4	5	6
15 पंजाब	662	87	346	649	662
16. राजस्थान	379	88	185	379	379
17 तमिलनाडु	300	93	157	270	276
18 त्रिपुरा	84	—	1	4	21
19. उत्तर प्रदेश	635	46	596	628	635
20 पश्चिम बंगाल	214	—	112	321	337
21 चंडीगढ़	3	—	—	3	3
22. देहली	25	6	8	9	13
23 पाण्डिचेरी	2	—	—	1	2
24. अरुणाचल प्रदेश*	31	—	—	—	—
25. जम्मू एवं कश्मीर*	26	—	—	—	—
26. मिजोरम*	—	—	—	—	—
27 नागालैण्ड*	10	—	—	—	—
28 सिक्किम*	10	—	—	—	—
29. अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह*	—	—	—	—	—
30. दादर एवं नागर हवेली*	—	—	—	—	—
31. दमन एवं दीव*	—	—	—	—	—
32. लक्षद्वीप*	—	—	—	—	—
कुल	6632	1430	3528	5756	6217

* कानून पारित नहीं किया गया।

टिप्पणी 1. केरल राज्य मे पुराने मद्रास राज्य के मलाबार क्षेत्र मे नियन्त्रित मण्डियाँ मद्रास वाणिज्यिक फसलें बाजार कानून 1933 के तहत स्थापित है।

2 कुछ राज्यों मे नियन्त्रित मण्डियो की सख्या, थोक मण्डिया की सख्या से अधिक है क्योकि उन राज्यो की गौण मण्डियो मे ग्रामीण मण्डियाँ या शीत सग्रहागार भी सम्मिलित है।

स्रोत (i) *Indian Agriculture in Brief-Various Issues*, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, *Government of India, New Delhi*

(ii) Agricultural Marketing Vol. 33(a), October-December, *1990*, p 49

(4) प्रशासनिक दृष्टि से नियन्त्रित मण्डी का क्षेत्र एक तहसील होना चाहिए।

(5) प्रत्येक नियन्त्रित मण्डी के पास पर्याप्त क्षेत्र का मण्डी यार्ड एव उसमे आवश्यक सभी सुविधाएँ—कार्यालय, डाकघर, बैंक, विपणन स्थल, श्रेणीकरण एव सग्रहण हेतु सुविधा होनी चाहिए।

(6) नियन्त्रित मण्डियो मे सभी क्रय-विक्रय निर्धारित मण्डी क्षेत्र मे ही होना चाहिए और मण्डी क्षेत्र के बाहर होने वाल क्रय विक्रय को रोकने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(7) नियन्त्रित मण्डियो के कार्य-सचालन के लिए आवश्यक कार्यकर्त्ता—सचिव, मण्डी पर्यवेक्षक, विपणन निरीक्षक, श्रेणीकरण पर्यवेक्षक एव नीलामीकर्त्ता, राज्य विपणन विभाग द्वारा नियुक्त किये जाने चाहिए।

(8) कृषि वस्तुओ का क्रय विक्रय खुली नीलामी पद्धति अथवा बन्द निविदा विधि से निर्धारित स्थान पर ही किया जाना चाहिए।

(9) सभी राज्यो द्वारा मण्डी विकास कोष की स्थापना की जानी चाहिए, जिससे ऐसी *मण्डिया को वित्तीय सहायता दी जा सके जो वर्तमान मे* अपने स्तर पर विकास कार्य करने मे सक्षम नही हैं। वर्तमान मे *'मण्डी विकास कोष' की स्थापना आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, गुजरात एव* महाराष्ट्र राज्यो मे की जा चुकी है।

शीघ्र विनाशशील कृषि वस्तुओ के समुचित विपणन के लिए सुझाव

भारत सरकार द्वारा डॉ एम एस स्वामीनाथन की अध्यक्षता मे 29 जनवरी, 1981 को नियुक्त शीघ्र विनाशशील कृषि वस्तुओ के दल ने शीघ्र विनाशशील कृषि वस्तुओ के लिए मडी विकास एव मडी सूचना सेवा मे सुधार लाने के लिए निम्न सिफारिशें की हैं—

(i) मंडी नियन्त्रण का लाभ फलो एव सब्जियो के उत्पादको को दिलाने हेतु सभी फल एव सब्जियो का विपणन नियन्त्रित मंडियो मे होना आवश्यक है। वर्तमान मे बहुत कम फल एव सब्जियो का विक्रय नियन्त्रित मंडियो मे होता है।

(ii) वर्तमान मे बहुत ही कम फल एव सब्जियो की मंडियो मे नियन्त्रण के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अधिकाश मंडियाँ खाद्यान्नो के लिए ही आवश्यक सुविधाएँ जुटा रही हैं। अत. वाणिज्यिक फसलो के साथ-साथ फल एव सब्जियो की मंडियो का भी विकास होना आवश्यक है। इसके लिए उन्हे पर्याप्त वित्त सुविधा उपलब्ध कराना चाहिए।

(iii) विपणन एव निरीक्षण निदेशालय का बाजार योजना एव अभिकल्पना केन्द्र (Market Planning and Design Centre) को फलो एव सब्जियो के लिए मंडी क्षेत्र का निर्माण करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाना चाहिये।

(iv) सभी मंडियो मे शीघ्र विनाशशील कृषि जिन्सो के श्रेणीकरण, तुलाई, संग्रहण, पकाने हेतु कक्ष एव पैकेजिंग की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

(v) बडी मंडियो के समीप रेल्वे का साइडिंग बनाना चाहिए, जिससे उनके संचालन मे गति आवे एव कम से कम मात्रा का नुकसान होवे।

(vi) शीघ्र विनाशशील कृषि जिन्सो की आन्तरिक एव बाहर की आवश्यकता को मद्दे नजर रखते हुए दक्ष एव सुदृढ विपणन सूचना-सेवा का होना भी आवश्यक है।

(vii) आर्थिक एव सांख्यिकी निदेशालय को प्याज एव आलू के अतिरिक्त अन्य फलो एव सब्जियो की सूचना भी एकत्रित करनी चाहिए। इसके लिए निदेशालय मे आवश्यक सुविधाओ मे भी वृद्धि की जानी चाहिए।

(viii) विभिन्न मंडियो मे फलो एव सब्जियो की आवक एव कीमतो की सूचना रेडियो एव टेलीविजन द्वारा देने का प्रबन्ध भी किया जाना चाहिए।

सहकारी-विपणन-समितियाँ

कृषि-विपणन पद्धति मे पाये जाने वाले विपणन दोषो के निवारण का दूसरा उपाय सहकारी-विपणन समितियो की स्थापना करना है। सहकारी विपणन समितियों का मुख्य उद्देश्य कृषक की उपज को सामूहिक रूप से विपणन करके

उनको उपज का उचित मूल्य प्रदान कराना है । बेकन एवं सहार्स[2] के शब्दों मे सहकारी-विपणन-समितियाँ कृषको द्वारा उत्पादित उपज के सामूहिक रूप मे विक्रय के लिए स्थापित ऐच्छिक संस्थाएँ हैं । समितियों का संचालन प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो के आधार पर होता है और प्राप्त शुद्ध लाभ कृषको मे खाद्यान्नों की विक्रीत मात्रा के अनुसार वितरित किया जाता है । सदस्य ही, समितियों के स्वामी संचालक; वस्तुओ की पूर्ति करने वाले एव लाभ के प्राप्तकर्त्ता होते है । सहकारी-विपणन-समितियो मे किसी प्रकार के मध्यस्थ नही होते हैं ।

सहकारी-विपणन-समितियों के कार्य—सहकारी-विपणन-समितियो के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

1. सदस्यो के उत्पादित माल को उचित कीमत पर विक्रय करना ।
2. सदस्यो को उत्पाद की प्रतिभूति के आधार पर ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना ।
3. सदस्यो को उत्पाद के विक्रय के पूर्व संग्रह की सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था करना ।
4. उत्पाद के श्रेणीकरण की व्यवस्था करना, जिससे उत्पादक-कृषकों को अच्छी किस्म के उत्पाद की अधिक कीमत प्राप्त हो सके ।
5. सदस्यो के खाद्यान्नो को एकत्रित करना, जिससे लघु कृषकों की उत्पाद को परिवहन लागत कम होने के साथ-साथ सहकारी विपणन समितियो के व्यवसाय मे वृद्धि हो सके ।
6. खाद्यान्नों के निर्यात की व्यवस्था करना, जिससे कृषकों को अधिक आय प्राप्त हो सके ।
7. सरकार की खाद्यान्न-वसूली एव कीमत समर्थन नीति को कार्यान्वित करने के लिए एजेन्ट के रूप मे कार्य करना ।
8. कृषको के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनो–उर्वरकों, कीटनाशी दवाइयों, कृषि यन्त्रों की पूर्ति की समय पर व्यवस्था करना ।

e Co-operative sales association is a voluntary business organization established by its member patrons, markets farm products collectively for their direct benefits It is governed according to democratic principles and savings are apportioned to the members on the basis of their patronage Members are owners, operators and contributors of the commodities and are the direct beneficiaries to the savings that accrues to the society. No intermediary stands to profit or loss at the expense of the other members.

—H. H. Bakken and M. A Schaars, Economics of Co-operative Marketing, Mc Graw Hill Book Co., Newyork, 1937.

सहकारी विपणन-समितियों की व्यापार-पद्धति—सहकारी-विपणन-समितियों का व्यापार पद्धति तीन प्रकार की होती है—

(1) सहकारी विपणन-समितियो द्वारा आढतियो के रूप मे (Commission agency system) कार्य करना एव कृषको द्वारा लाए गए उत्पाद को अधिक कीमत देने वाले व्यापारी को बेचकर आढत प्राप्त करना।

(2) सहकारी विपणन-समितियो द्वारा खाद्यान्नो के सग्रहण, परिवहन, श्रेणीकरण, ऋण तथा निर्यात की सुविधा उपलब्ध कराना एव प्रदान की गई सेवाओं के लिए लागत एव लाभ प्राप्त करना।

(3) समितियो द्वारा स्वय खाद्यान्न क्रय करना (Outright purchases) एव क्रय किये गये उत्पाद को उचित कीमत के आने पर विक्रय करके लाभ कमाना।

सदस्यता—सहकारी-विपणन-समितियो के सदस्य दो प्रकार के होते हैं :

1 व्यक्तिगत कृषक, सहकारी कृषि-समितियां, सहकारी-सेवा समितियाँ, जिन्हें सहकारी विपणन-समितियो को कार्य प्रणाली मे भाग लेने के सभी अधिकार प्राप्त होते हैं।

2 व्यापारी वर्ग, सहकारी-विपणन-समितियो के नाम मात्र के सदस्य (Nominal members) बन सकते हैं, इन्हें विपणन-समितियो की कार्य प्रणाली मे भाग लेने का अधिकार नही होता है।

सहकारी-विपणन-समितियो की पूंजी—सहकारी-विपणन-समितियो के वित्त-स्रोत निम्न हैं—

1. हिस्सा पूंजी—सहकारी-विपणन-समिति सदस्यो को समिति के शेयर विक्रय करके पूंजी एकत्रित करती है।

2. केन्द्रीय सहकारी बैंक एव स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया से ऋण प्राप्त करके भी सहकारी विपणन-समितियां आवश्यक पूंजी राशि एकत्रित करती है।

3. सहकारी-विपणन-समितियाँ सरकार से प्रथम तीन वर्षों मे श्रेणीकरण की मशीन लगाने, परिवहन साधनो के क्रय करने आदि कार्यों के लिए अतिरिक्त लागत राशि को पूरा करने के लिए सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करके भी पूंजी एकत्रित करती हैं।

सहकारी-विपणन-समितियों का ढांचा—सहकारी-विपणन-समितियो का ढाचा स्तूपाकार (Pyramidal) अर्थात् तीन स्तरीय (Three tier) होता है।

1 ग्राम/तहसील स्तर पर—ग्राम या तहसील स्तर पर सहकारी विपणन-समितियां प्राथमिक सहकारी विपणन-समितियो के रूप मे कृषि-वस्तुओ के क्रय-विक्रय का कार्य करती हैं। इनके सदस्य उस क्षेत्र मे रहने वाले कृषक होते हैं तथा

समितियाँ एक या अनेक वस्तुओ मे क्रय-विक्रय का कार्य करती हैं। प्राथमिक सहकारी-विपणन-समितिया दो प्रकार की होती है—सामान्य एव विशिष्ट वस्तु सहकारी विपणन समितिया, सामान्य कृषि सहकारी विपणन समितियाँ सभी प्रकार की वस्तुओ मे व्यापार करती हैं जबकि विशिष्ट समितियाँ क्षेत्र के अनुसार विशिष्ट वस्तुओ, जैसे—गन्ना, कपास, दूध का व्यापार करती हैं।

2. जिला स्तर पर —जिला स्तर पर केन्द्रीय विपणन-समितियाँ अथवा सघ होते हैं जिनका प्रमुख कार्य प्राथमिक सहकारी-विपणन समितियो के द्वारा लाए गए खाद्यान्न विक्रय करना एव उन्हें ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना होता है। इन समितियो के सदस्य जिले के कृषक एव प्राथमिक सहकारी विपणन-समितियाँ होती हैं।

3 राज्य स्तर पर—राज्य स्तर पर होने वाली शिखर सहकारी-विपणन-समितियाँ (Apex Co-operative Marketing Societies) जिला स्तर की विपणन समितियो एव प्राथमिक सहकारी-विपणन-समितियो के द्वारा लाये गये खाद्यान्न को विक्रय करने एव आवश्यक ऋण सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था करती हैं। प्राथमिक एव जिला स्तर की विपणन समितियो के अतिरिक्त, राज्य के कृषक भी इनके सदस्य होते हैं।

उपर्युक्त स्तरो पर पाई जाने वाली समितियाँ, क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुओ की सख्या के अनुसार एक वस्तु समिति एव बहु-वस्तु समिति मे वर्गीकृत की जा सकती हैं। बहु-वस्तु सहकारी-समितियाँ देश मे अधिक सख्या मे पाई जाती हैं।

सहकारी विपणन समितियो से कृषकों को लाभ—सहकारी विपणन-समितियाँ कृषको को निम्न लाभ पहुँचाती हैं—

1. कृषि उत्पादो की प्रति इकाई भार पर विपणन लागत मे कटौती करती हैं, जिससे उत्पादक-कृषको को वस्तुओ के विक्रय से उपभोक्ता द्वारा दिये गये रुपये मे से अधिक अश प्राप्त होता है।
2 कृषक को माल के सग्रहण के लिये भण्डार-गृह सुविधा उपलब्ध कराती है। अत कृषक कीमतो के उचित स्तर पर आने तक उत्पाद को कम लागत पर सगृहीत कर सकते हैं।
3 कृषको मे सहकारिता की भावना उत्पन्न करती है जो आर्थिक एव सामाजिक विकास मे सहायक सिद्ध होती है।
4 कृषको को वस्तुओ के श्रेणीकरण, सवेष्टन एव परिवहन सेवा सस्ती दर पर उपलब्ध कराती है।
5 सहकारी विपणन समितियाँ कृषको को सस्ती दर पर आवश्यक राशि मे ऋण-सेवा उपलब्ध कराती है।

6 कृपको को आवश्यक उत्पादन-साधन, जैसे–उर्वरक, बीज, कीटनाशी दवाइयाँ नियत कीमतो एव समय पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था कराती हैं।

7. सहकारी विपणन-समितियाँ कृषकों को विपणन सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिय आवश्यक सुझाव देती हैं जिससे कृषक लाभान्वित होते हैं।

8 सहकारी-विपणन-समितियो के माध्यम से वस्तुओं के क्रय-विक्रय करने से कृषको की क्रय-शक्ति में सुधार होता है।

9. विपणन-पद्धति में पाई जाने वाली अनेक कुरीतियों के शिकार होने से कृषक बच जाते हैं।

सहकारी-विपणन-समितियो की प्रगति :

देश मे वर्ष 1960-61 मे 3108 प्राथमिक कृषि सहकारी विपणन समितियाँ कार्यरत थी, जो बढकर 1970-71 में 3222, 1980-81 मे 3789 एव 1987-88 मे 6980 हो गई। इनमे से लगभग 500 प्राथमिक कृषि सहकारी विपणन समितियाँ विशेष वस्तुओं मे ही व्यापार करती हैं। राज्य-स्तर पर 29 विपणन सघ कार्य कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त राज्य स्तर पर दो फल एव सब्जी विपणन सघ (गुजरात एव देहली मे), एक गन्ना पूर्ति विपणन समिति एव तीन विशेष कृषि वस्तुओं की विपणन समितियाँ राज्य स्तर पर कार्यरत हैं। राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन सघ कार्यरत है।

सारणी 15 3 सहकारी विपणन समितियो द्वारा विभिन्न वर्षों मे किया गया व्यापार दर्शाती है।

सारणी 15 3

भारत मे सहकारी विपणन एव ससाधन समितियो की प्रगति

विवरण	1960–61	1970–71	1980–81	1985–86	1989–90
1. प्राथमिक कृषि सहकारी विपणन समितियाँ					
(अ) समितियो की सख्या	3108	3222	3789	6356	6980*
(ब) सदस्य सख्या (लाख)	13 93	26 71	34 51	47 51	48 27*
2. सहकारी विपणन समितियो द्वारा विक्रित कृषि उत्पाद का मूल्य (करोड़ रुपये)	179	649	1950	4193	6274
3. सहकारी विपणन समितियो द्वारा विक्रित कृषि-लागत का मूल्य (करोड रुपये)	36	317	1114	1510	2117
4. पजीकृत सहकारी चीनी कारखाने (सख्या)	56	123	179		222
5 कपास (Ginning) एव ससाधन समितियाँ (सख्या)	155	234	327		NA

* Figures pertain to 1987–88.

Source : Compiled from Indian Agriculture in Brief 23rd Edition and Annual Report 1990–91 Department of Agriculture and Cooperation, Government of India, New Delhi.

सहकारी विपणन समितियो ने व्यापार के क्षेत्र मे निरन्तर अच्छी प्रगति की है। यह समितियाँ कृषको के उत्पाद के विक्रय के अतिरिक्त उन्हें आवश्यक उत्पादन साधन प्रमुखतया उर्वरक तथा उपभोक्ता वस्तुओ के पूर्ति का कार्य भी करती है। वर्ष 1960 म इन समितियो ने 179 करोड रुपयो के कृषि उत्पाद विक्रित किये थे, जो बढकर वर्ष 1989–90 मे 6,274 करोड रुपये के स्तर तक पहुँच गए। कृषि उत्पादो मे विक्रित मुख्य फसले खाद्यान्न, गन्ना, कपास, तिलहन, बागान वाली फसलें एव फल व सब्जी है।

सहकारी विपणन समितियाँ कृषि उत्पादो के व्यापार के अतिरिक्त कृषि उत्पादन साधनो एव ग्रामीण क्षेत्रो मे उपभोक्ता वस्तुओ के वितरण का कार्य भी करती है। इन समितियो ने वर्ष 1960–61 मे 36 करोड रुपये मूल्य के उत्पादन साधन कृषको को उपलब्ध कराये थे, जो बढकर 1989–90 वर्ष मे 2117 करोड रुपये मूल्य स्तर तक पहुँच गए। सहकारी क्षेत्रो मे पजीकृत चीनी कारखानो एव कपास ससाधन समितियो की सख्या मे भी निरन्तर वृद्धि हुई है।

राष्ट्रीय कृषि आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे लिखा है कि प्राथमिक सहकारी विपणन समितियाँ जो मुख्यतया तालुका स्तर पर है, कृषको के उत्पादो के विक्रय तथा सग्रहण के क्षेत्र मे अच्छा कार्य कर रही है। वर्तमान मे इनकी शाखाएँ प्राथमिक मडियो तथा गौण मडियो मे नही होने के कारण इन क्षेत्रो के कृषको के उत्पादो के विक्रय मे इनका सीधा सम्पर्क नही है। अत राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सिफारिश की है कि कृषक सेवा समितियाँ (Farmers Service Societies) इन क्षेत्रो मे विपणन समितियो का कार्य करें।

कृषि विपणन एव निरीक्षण निदेशालय, भारत सरकार के सर्वेक्षण परिणामो से स्पष्ट है कि कृषको द्वारा विक्रित माल का 75 3 प्रतिशत धान एव 81.3 प्रतिशत गेहूँ व्यापारियो के माध्यम से विक्रय किया जाता है। सहकारी समितियो के माध्यम मे 4 प्रतिशत धान एव 5 प्रतिशत गेहूँ का विक्रय ही होता है (सारणी 15.4)।

सारणी 15 4

विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से धान एव गेहूँ का विक्रय

विपणन माध्यम	धान 1972–73 गाँवो मे	धान 1972–73 गाँवो के बाहर	धान 1972–73 कुल विक्रय	गेहूँ 1974–75 गावो म	गेहूँ 1974–75 गावो के बाहर	गेहूँ 1974–75 कुल विक्रय
1. व्यापारी	71 23	80 48	75 27	63 1	90 5	81 3
2 सहकारी विपणन समितियाँ	4 69	2 96	3 93	4 5	5 4	5 1
3 उपभोक्ता	17 23	—	9 70	25 2	—	8 4
4 भारतीय खाद्य निगम	2.89	7 09	4 37	2 7	3 1	3 0
5. अन्य माध्यम	3 96	9 47	6.73	4 5	1 0	2.2
कुल	100 00	100 00	100.00	100 0	100 0	100 0

स्रोत. Directorate or Marketing and Inspection, Government of India, Faridabad

सहकारी विपणन समितियो की प्रगति सभी राज्यो मे समान नही है। पजाब, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश एव तामिलनाडु राज्यो मे 75 प्रतिशत खाद्यान्न सहकारी विपणन समितियो के माध्यम से विक्रय किये जाते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र एव उत्तरप्रदेश मे 75 प्रतिशत गन्ना, गुजरात एव महाराष्ट्र राज्य मे 75 प्रतिशत कपास एव कर्नाटक राज्य मे 84 प्रतिशत बागान वाली फसलो का विपणन सहकारी विपणन समितियों के माध्यम से होता है।

सहकारी विपणन समितियों की प्रगति मे बाधक कारक—सहकारी-विपणन समितियो के द्वारा कृषको को अनेक लाभ प्राप्त होते हुए भी देश मे सहकारी विपणन-समितियो की आशातीत प्रगति नही हुई है। अनेक राज्यो मे सहकारिता के क्षेत्र मे प्रगति बहुत कम हुई है। सहकारिता के क्षेत्र मे बाधक कारको को निम्न दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है—

(I) कृषको की ओर से बाधक कारक—ये कारक निम्न हैं .

1 *कृषक वित्तीय आवश्यकताओ के कारण खाद्यान्नों का विक्रय शीघ्र करना* चाहते हैं। गाँव से सहकारी विपणन समिति तक खाद्यान्नो को पहुँचाने एव उनके द्वारा विक्रय करने मे समय अधिक लगता है। विपणन मे

लगने वाले अधिक समय का कृषक इन्तजार करने मे असमर्थ होते हैं जिसके कारण कृषक विपणन-समितियो के माध्यम से खाद्यान्न विक्रय न करके गांव मे साहूकारो/आढ़तियो के द्वारा ही विक्रय करते हैं।

2 परिवहन सुविधाओ की अपर्याप्तता के कारण कृषक उत्पादित उपज को विपणन-समितियो तक ले जाने मे असमर्थ होते हैं।

3. सदस्य कृषको मे सहकारी-विपणन-समितियो के प्रति रुचि नही होने के कारण वे सहकारी विपणन-समितियो के सदस्य होते हुए भी उनके माध्यम से कृषि उत्पादो के विपणन मे उत्सुक नही होते हैं।

4 सदस्य-कृषको मे आपसी वैमनस्यता होने से वे समिति के प्रति उदासीन होते हैं।

5. सदस्यो का सहकारी क्षेत्र के उद्यमो मे विश्वास नही होता है क्योंकि अधिकतर सहकारी उद्योगो मे हानि होती है। इसका प्रमुख कारण कार्यकर्ताओ द्वारा कार्य सुचारु रूप से नही करना एव अनेक प्रकार से बेईमानी करना होता है।

6 कृषक व्यापारियो के ऋण-ग्रस्त होते हैं। साथ ही उनके साहूकारो से व्यक्तिगत सम्बन्ध भी होते हैं जिनके कारण खाद्यान्नो के विक्रय मे साहूकारो को प्राथमिकता देते हैं।

7. विविधीकृत कृषि प्रणाली को अपनाये जाने के कारण वस्तुओ के विक्रेय-अधिशेष की मात्रा कृषको के यहाँ कम होती है, जिसके कारण भी वे उत्पाद को विपणन-समितियो के माध्यम से विक्रय करने मे इच्छुक नहीं होते हैं।

(II) समितियो की ओर से बाधक कारक—ये कारक निम्न हैं :

1. विपणन-समिति के कर्मचारियो मे व्यावसायिक योग्यता का अभाव एव कर्मचारियो का प्रशिक्षित नही होना, जिनके कारण वे विपणन कार्य को सुचारु रूप से नहीं कर पाते हैं।

2 विपणन-समितियो के पास खाद्यान्न-सग्रहण की पर्याप्त व्यवस्था नही होने के कारण वे कृषको के खाद्यान्नो को शीघ्र विक्रय करते हैं। ऐसा करने से पूर्ति की अधिकता की अवस्था मे उचित कीमत प्राप्त नहीं होती है।

3 सहकारी विपणन-समितियो के पास कृषको द्वारा लाए गए माल की सम्पूर्ण मात्रा को क्रय करने के लिए पूँजी का अभाव होता है। अतः बहुत से कृषको को निराश लौटना होता है।

4 सहकारी विपणन-समितियो के कार्यालय मण्डी क्षेत्र एव कृषको के गांवो से दूर होते हैं, जिससे कृषको को परेशानियाँ होती हैं।

5 विपणन-समितियो के कार्यकर्त्ताओं का व्यापारियो की ओर कृषको की अपेक्षा अधिक झुकाव होता है। अत कृषक सहकारी विपणन-समितियो के प्रति उदासीन रहते हैं।

6 सहकारी विपणन समितियाँ, व्यापारियो से स्पर्धा करने मे सक्षम नही होती हैं।

7. सहकारी-विपणन एव सहकारी ऋण-समितियो मे समन्वय नही होने से कृषको को अनेक परेशानियाँ होती हैं।

सहकारी विपणन-समितियो के विकास के लिए सुझाव—सहकारी-विपणन-मितियो के विकास के लिए निम्न सुझाव प्रेषित हैं—

1. सहकारी विपणन समितियो के सदस्यो मे आतरिक प्रेरणा के साथ कार्य करने की भावना जागृत करना।
2. समिति के सदस्यो मे जागरुकता लाने एव सदस्यों मे आपस मे सहयोग बनाए रखने के लिए गोष्ठियो का आयोजन करना एव सहकारिता के लाभो से सम्बन्धित साहित्यो मे वितरण करना।
3. ग्रामीण क्षेत्रो मे सहकारिता के वातावरण मे परिपक्वता लाने के लिए धार्मिक मतभेद, गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार आदि तत्वो को समाप्त करना।
4. सहकारी-विपणन समितियो के प्रबन्ध एव व्यवस्था मे उचित निरीक्षण के द्वारा सुधार लाना।
5. सहकारिता के विभिन्न पहलू–सहकारी विपणन एव सहकारी ऋण मे परस्पर समन्वय स्थापित करना, जिससे वस्तुओ के विक्रय से प्राप्त मूल्य राशि से ऋण का सीधा भुगतान किया जा सके।
6. सहकारी-विपणन-समितियो द्वारा गाँव अथवा शहर की मण्डियो मे सग्रहण के लिए गोदामो का निर्माण करवाना।
7. सहकारी-विपणन-समितियो द्वारा कृषको के माल को क्रय करने मे प्राथमिकता प्रदान करना।
8. सहकारी-विपणन-समितियो के कार्यकर्त्ताओ को समय-समय पर आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान करके उनके कार्यगत अनुभव मे सुधार लाना एव अच्छे कार्य के लिए पारितोषिक प्रदान करने की व्यवस्था करना।

राष्ट्रीय कृषि सहकारी-विपणन संघ/नाफेड
(National Agricultural Cooperative Marketing Federation) :

राज्य-स्तरीय सहकारी-विपणन सघो ने मिलकर अक्टूबर, 1958 मे राष्ट्रीय

स्तर पर इस सघ की स्थापना की थी, जिसका मुख्य कार्यालय दिल्ली मे तथा अनेक राज्यो मे इसके कार्यालय हैं। वर्तमान मे 29 राज्य-स्तरीय विपणन सघ, 7 राज्य-स्तरीय उत्पाद विपणन सघ एव 123 प्राथमिक विपणन एव ससाधन समितियाँ इसके सदस्य हैं।

नाफेड के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) अन्त प्रदेशीय बाजार—नाफेड का प्रथम कार्य विभिन्न कृषि वस्तुओ मे अन्त प्रदेशीय व्यापार करना है। नाफेड यह कार्य प्रमुखतया खाद्यान्न, दालें, तिलहन, मसाले, फल, सब्जी, अण्डे, कृषि मशीनें एव औजार, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयो मे करता है। नाफेड कृषि वस्तुओ का क्रय कृषि-विपणन सहकारी समितियो के द्वारा करता है। विपणन मे भी सहकारी सस्थाएँ, सार्वजनिक सस्थाएँ एव राज्य सरकार को प्राथमिकता देता है।

(2) विदेशी व्यापार—नाफेड विभिन्न वस्तुओ के आयात-निर्यात का कार्य भी करता है। नाफेड निर्यात प्रमुखतया प्याज, आलू, अदरक, लहसुन, तिल, गोंद, मोटे अनाज, मूँगफली, बिनौला एव सोयाबीन की तेल रहित खली, मसाले, फल एव सब्जी, इलायची, जूट के थैले, चावल आदि वस्तुओ का करता है। इसी प्रकार नाफेड दालो, सूखे एव अन्य फल, जायफल एव जावत्री का आयात भी करता है।

(3) नाफेड कृषको के लिए आवश्यक उत्पादन साधनो, जैसे—कृषि-यन्त्र एव मशीनरी, उर्वरक आदि का आयात करता है एव समय पर उन्हे कृषको को उपलब्ध कराता है।

(4) प्रोत्साहन कार्य—नाफेड तकनीकी विशेषज्ञ भी रखता है जो विपणन मे सर्वेक्षण का कार्य करके प्राप्त परिणामो की आवश्यक जानकारी भी देता है। नाफेड सब्जी तथा फलो की ससाधन इकाईयो की स्थापना मे भी तकनीकी सलाह प्रदान करता है। नाफेड विपणन सलाह सेवा सुविधा भी प्रदान करता है तथा जनजाति क्षेत्रो मे उत्पादित उत्पादो के विक्रय के लिए सहकारी विपणन-समितियाँ बनाने मे भी मदद देता है।

(5) नाफेड सरकार के लिए तिलहन, दलहन एव मोटे अनाज को न्यूनतम समर्थित कीमतो पर क्रय का कार्य भी करता है। नाफेड यह कार्य तिलहन फसलो के लिए वर्ष 1976–77 से, दलहन फसलो के लिए वर्ष 1978–79 से एव मोटे अनाजो के लिए वर्ष 1985-86 से कर रहा है।

नाफेड कृषको को प्याज, आलू, गुड, अदरक आदि कृषि वस्तुओ की प्रतिस्पर्धात्मक कीमत भी दिला रहा है। इन कृषि उत्पादो की सरकार वर्तमान मे न्यूनतम समर्थित कीमतो की घोषणा नही करती है। इसके अलावा नाफेड आलू, प्याज एव तिलहन का व्यापार भी करता है। इन्हे नाफेड उत्पादन मौसम मे क्रय करके भण्डार करता है और उचित कीमत आने पर दूसरे मौसम मे विक्रय करता है और लाभ कमाता है।

विदेशों मे सहकारी विपणन संस्याएँ—जापान, इजरायल एव ताइवान देशो मे सहकारी-विपणन-समितियों का ढांचा भारत के ढाचे से बहुत समानता रखता है। यहाँ पर जापान एव इजरायल देशो मे कृषि-वस्तुओ की सहकारी विपणन-पद्धति का सक्षेप म विवेचन किया गया है।

जापान—जापान देश मे कृषि-वस्तुओ के विपणन का कार्य कृषि सहकारी सघ (Agricultural Co-operative Associations) करते हैं। कृषि-सहकारी सघ बहुउद्देश्यीय कार्य करते हैं, जैसे—कृषको को ऋण प्रदान करना, वस्तुओ का विपणन करना, कृषको को बैंक सुविधा उपलब्ध कराना, आवश्यक फार्म एव घरेलू वस्तुओ की पूर्ति करना आदि। उपर्युक्त कार्यो मे से सहकारी सघो का मुख्य कार्य उत्पादित चावल एव अन्य खाद्यान्न, आलू, फल, रेशम का कोष या कोकन (Cocoon), दूध एव अन्य वस्तुओ के विपणन का कार्य करना है। कृषि सहकारी सघ जापान मे कृषको द्वारा विक्रीत अधिशेष का 60 से 70 प्रतिशत भाग विक्रय करते हैं और शेष 30 से 40 प्रतिशत भाग अन्य विपणन माध्यमो के द्वारा विक्रीत होता है। अत जापान मे सहकारी सघ कृषि-वस्तुओं के विपणन म विशेष महत्त्व रखते हैं।

सहकारी सघ कृषको को उत्पादन के लिए आवश्यक सभी साधन जैसे—उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, कृषि-यन्त्र, मशीनें आदि उनकी आवश्यकतानुसार कारखानो से सीधे क्रय करके पूर्ति करते हैं। उत्पादन-साधनो की पूर्ति के अतिरिक्त कृषि सहकारी सघ देश मे कृषको को उन्नत किस्म के बीज, उर्वरक, फसलो का चुनाव, कीटनाशी दवाइयो के उपयोग की तकनीकी सलाह भी देते हैं, जिससे कृषक प्राप्त उत्पादन-साधनो से अधिकतम उत्पादन की मात्रा प्राप्त कर सकें। जापान म सहकारी समितियो की प्रमुख विशेषता ऋण का उत्पादन एव विपणन से पूर्ण सामजस्य करना है। ऋण के उत्पादन एव विपणन म सामजस्य के कारण सहकारी समितियो ने जापान मे विशेष प्रगति की है। ऋण का उत्पादन एव विपणन से पूर्ण सामजस्य नही होने के कारण भारत म सहकारी समितियो को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है।

इजरायल—इजरायल मे कृषि वस्तुओ के विपणन के लिए सहकारी विपणन

संघ होते हैं जिन्हें TNUVA कहते हैं। ये सहकारी-विपणन संघ इजरायल देश की कुल उपज का 75 प्रतिशत खाद्यान्न, 80 प्रतिशत दूध एवं दूध-पदार्थ तथा 90 प्रतिशत नीबू-वंश के फलों का संचालन करते हैं। देश में किब्बुत फार्म पर उत्पादित कृषि-वस्तुओं, पशु-उत्पादों एवं फलों का इन्हीं विपणन संस्थाओं के माध्यम से विक्रय होता है। सहकारी विपणन संघ के अपने कारखाने भी होते हैं।

भारतीय मानक संस्था

विदेशों में वस्तुओं के निर्यात के स्तर को बनाये रखने के लिए वर्ष 1947 में देश में भारतीय मानक संस्था (Indian Standard Institution) की स्थापना की गई। यह संस्था विभिन्न वस्तुओं के गुणों और किस्म का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करके उनके लिए मानक तैयार करती है और निर्धारित मानक के अनुसार वस्तुओं से निर्मित होने पर मानकीकरण का प्रमाण-पत्र प्रदान करती है, जो उपभोक्ताओं में वस्तु के प्रति विश्वास उत्पन्न करता है।

भारतीय मानक संस्था के कार्य—भारतीय मानक संस्था के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) विभिन्न वस्तुओं के लिए मानक तैयार करना।

(2) वस्तुओं के उत्पादन एवं संसाधन में कम लागत वाली विधि का आविष्कार करना एवं उसका निर्माताओं को उपयोग करने के लिए सुझाव देना।

(3) निर्मित वस्तुओं का प्रयोगशाला में जाँच करके उन पर मानक का प्रमाण अंकित करना।

(4) विदेशों से आयातित वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के सफल परीक्षण द्वारा उपभोक्ताओं में विश्वास उत्पन्न करना एवं देश में आयातित वस्तुओं की मात्रा कम करना।

(5) मानक निर्धारित करने वाले विदेशी संगठनों से सम्पर्क स्थापित करना एवं निर्धारित मानकों में समन्वय स्थापित करना।

(6) मानक-निर्धारण के लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण देना।

(7) मानक संस्था द्वारा निर्दिष्ट एवं स्वीकृत मानकों वाली वस्तुओं को समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा जाँच करना एवं निर्धारित मानक के अनुसार वस्तु के नहीं होने पर मानकीकरण का अनुज्ञा-पत्र रद्द करना।

भारतीय मानक-संस्था का कार्य-संचालन—भारतीय मानक संस्था नौ परिषदों के माध्यम से उपयुक्त कार्य सम्पन्न करती है।[3] ये परिषदें कृषि तथा

3. भारतीय मानक संस्था, योजना, मई 21, 1972, पृष्ठ 13-14.

खाद्यान्न-उत्पादन, रसायन, सिविल इ जीनियरी, उपभोक्ता तथा चिकित्सा उपकरण, इलेक्ट्रो तकनीकी, मैकेनिकल इजीनियरी तथा सवेष्टन ग्रादि विषयो से सम्बन्धित वस्तुग्रो के लिए मानक तैयार करने के कार्य की देखभाल करता है। मानक सस्था का कार्य तकनीकी समितियो उप समितियो तथा पैनल के द्वारा होता है। मानकीकृत वस्तुग्रो पर ISI का मार्का ग्रकित किया जाता है। केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, स्थानीय सस्थाएँ एव उपभोक्ता वस्तुग्रो को क्रय करने मे मानक मस्था द्वारा प्रमाणित वस्तुओ को प्राथमिकता देत हैं क्योंकि इन वस्तुओ की बनावट, इनमे ग्रवयवो की मात्रा ग्रादि भारतीय मानक सस्था द्वारा निर्मित मानक के ग्रनुसार होती है। भारतीय मानक सस्था ने सितम्बर, 1977 तक 9251 मानक तैयार किए हैं जिनमे से 8408 (92 प्रतिशत) मानक विभिन्न सस्थाग्रों ने ग्रपना लिए हैं।

एक ग्रप्रैल,1987 से इसका नाम भारतीय मानक ब्यूरो कर दिया गया है जिससे इसके कार्य क्षेत्र मे पहले की ग्रपेक्षा विस्तार हुग्रा है।

विपणन एव निरीक्षण निदेशालय

कृषि रॉयल कमीशन (1928) एव केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति, 1931 की सिफारिशो के अनुसार कृषि वस्तुग्रो के विपणन एव विपणन-ज्ञान के प्रसार के लिए भारत सरकार ने विपणन निदेशालय की स्थापना करने का निश्चय किया। तत्पश्चात् एक जनवरी, 1935 को कृषि-वस्तुग्रो के विपणन से सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करने के लिए कृषि-विपणन सलाहकार का कार्यालय दिल्ली मे स्थापित किया गया। शुरू मे कृषि विपणन सलाहकार का कार्यालय 5 वर्ष के लिए स्थापित किया गया था, लकिन महत्त्व को देखते हुए इनको स्थायी रूप दे दिया गया। विपणन-निदेशालय के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) प्रमुख कृषि वस्तुग्रो के विपणन की वर्तमान प्रणाली का सर्वेक्षण करना एव उनमे व्याप्त दोपो के सम्बन्ध मे सरकार को प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।

(2) कृषि-वस्तुग्रो के श्रेणीकरण एव मानकीकरण के लिए श्रेणियाँ निर्धारित करना एव निर्धारित श्रेणियो को विपणन प्रक्रिया म कार्यान्वित करना।

(3) कृषि विपणन अधिकारियो एव मण्डी सचिवों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।

(4) वस्तुग्रा की विपणन प्रक्रिया मे सुधार के लिए निम्न कार्यों को करना—

(अ) कृषि-वस्तुग्रा की माग का ग्राकलन करना एव प्रस्तावित मांग व पूर्ति के ग्राधार पर सरकार को न्यूनतम कीमत निर्धारण के लिए सलाह देना।

(ब) खाद्यान्नो की कमी, सूखा या अन्य स्थिति का मुकाबला करने के लिए खाद्यान्नो के सुरक्षित भण्डार की आवश्यकता का आकलन करना एव भण्डार-गृहो के निर्माण के लिए सुझाव देना।

(स) कृषि-उत्पादो के उत्पादको को उचित कीमत प्राप्त कराने एव उपभोक्ताओ को सही कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए विपणन-सूचना-सेवा का प्रसारण करना।

(द) मण्डियो को नियन्त्रित करने के लिए सरकार को समय-समय पर सलाह देना।

(य) आवश्यकता होने पर विभिन्न खाद्यान्नो के अन्तर्गत क्षेत्रफल निर्धारित करने के लिए सरकार को सलाह देना, जिससे देश मे खाद्यान्न उत्पादन का निर्धारित लक्ष्य प्राप्त हो सके।

वर्ष 1947 मे विपणन-निदेशालय का नाम विपणन एव निरीक्षण निदेशालय कर दिया गया तथा 1958 में विपणन एव निरीक्षण निदेशालय के कार्यालय को दिल्ली से नागपुर (महाराष्ट्र) मे स्थानान्तरित किया गया। वर्ष 1970 मे केन्द्रीय सरकार ने कृषि-विपणन सलाहकार की सेवाओ की समय समय पर परामर्श के लिए आवश्यकता के कारण उसके कार्यालय को फरीदाबाद (हरियाणा) में स्थानान्तरित कर दिया। मुख्य कार्यालय अभी भी नागपुर में है।

विपणन एव निरीक्षण-निदेशालय की प्रगति .

(1) निदेशालय ने विभिन्न राज्यो एव केन्द्र शासित प्रदेशो मे मार्च, 1990 तक 6217 मण्डियो को नियन्त्रित किया है। केरल, मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश, नागालैन्ड, सिक्किम तथा जम्मू एव कश्मीर राज्यो के अतिरिक्त सभी राज्यो मे मण्डी नियमन कानून पारित होने से नियन्त्रित मण्डियाँ स्थापित हो चुकी है।

(2) निदेशालय ने कृषि पशुपालन एव वन-पदार्थों के सर्वेक्षण के आधार पर 140 वस्तुओं के विपणन की रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। वस्तुओं के विपणन की रिपोर्टों के अतिरिक्त निदेशालय ने शीत सग्रहणालय, मण्डी नियमन, सहकारी विपणन पर भी रिपोर्टें प्रकाशित की हैं।

(3) निदेशालय ने 143 कृषि-वस्तुओ के श्रेणीकरण एव मानकीकरण के लिए श्रेणियाँ निर्धारित की हैं तथा इसके लिए व्यापारियो एव ससाधन मे लगे व्यक्तियो को अनुज्ञा-पत्र जारी किये हैं। विदेशी व्यापार हेतु 42 कृषि वस्तुओ मे अधिदेश श्रेणीयन कार्यान्वित है।

(4) निदेशालय ने नागपुर, हैदराबाद, चडीगढ एव लखनऊ मे विपणन अधिकारी, मडियो के सचिवो एव श्रेणीचयन कार्यकर्त्ताओ के प्रशिक्षण के लिये प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किये है, जहाँ पर निदेशालय विभिन्न अवधि की प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध कराता है ।

(5) वस्तुओ की किस्म, गुण एव शुद्धता की जाँच के लिए निदेशालय ने एगमार्क प्रयोगशालाएँ—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कोचीन, गुन्टूर, कानपुर, जाम नगर, राजकोट, पटना, बगलौर एव साहिबाबाद (दिल्ली) मे स्थापित की हैं । नागपुर स्थित केन्द्रीय प्रयोगशाला इनके कार्य की देखभाल के अतिरिक्त वस्तुओ मे मिलावट की जाँच भी करती है ।

(6) निदेशालय विपणन-विस्तार-सेवा के माध्यम से विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो को आवश्यक विपणन सूचना भी उपलब्ध कराता है । इसके लिए निदेशालय स्थान-स्थान पर प्रदर्शनियाँ लगाता है ।

(7) निदेशालय कृषि-विपणन पर एक पत्रिका प्रकाशित करता है जिसके द्वारा विपणन के क्षेत्र मे किये गये विभिन्न लेखको के सर्वेक्षण व अनुसधान के परिणाम विभिन्न वर्गों तक पहुँचाये जाते है ।

विपणन एव निरीक्षण निदेशालय का ढाचा—विपणन एव निरीक्षण निदेशालय का प्रमुख प्रभारी कृषि-विपणन सलाहकार होता है । कृषि विपणन सलाहकार के अतिरिक्त निदेशालय मे सयुक्त कृषि-विपणन सलाहकार, उप-कृषि विपणन सलाहकार, वरिष्ठ विपणन अधिकारी एव प्रशासनिक अधिकारी होते हैं । निदेशालय के प्रमुख कार्यालय के अतिरिक्त चारो क्षेत्रो—उत्तरी पूर्वी, पश्चिमी एव दक्षिणी—मे क्षेत्रीय कार्यालय है, जिनका मुख्य अधिकारी वरिष्ठ विपणन अधिकारी होता है । उप-वरिष्ठ विपणन अधिकारी, विपणन अधिकारी, सहायक विपणन अधिकारी, वरिष्ठ निरीक्षणकर्त्ता के तत्त्वावधान मे उप-कार्यालय कार्य करते है । यह उप-कार्यालय विभिन्न क्षेत्रो मे होने वाले प्रमुख कृषि-उत्पादनो के विपणन-सर्वेक्षण के आधार पर रिपोर्ट तैयार करते हैं ।

सभी राज्यो एव केन्द्र-शासित प्रदेशो मे राज्य विपणन विभाग होते है । राज्य विपणन विभाग राज्य मे विपणन, नियमन, सर्वेक्षण करके रिपोर्ट तैयार करने का कार्य करते हैं । राज्य विपणन विभाग, विपणन अधिकारी अथवा कृषि-निदेशक के तत्त्वावधान मे कार्य करते हैं । वर्तमान मे अनेक राज्यो मे कृषि-विपणन बोर्ड भी बन गये हैं ।

कृषि-विपणन के क्षेत्र में पारित प्रमुख अधिनियम

कृषि-विपणन मे सुधार हेतु पारित प्रमुख अधिनियम निम्न हैं :

1 कृषि-उत्पाद (श्रेणीकरण एव विपणन) अधिनियम, 1937—इस

अधिनियम का मुख्य उद्देश्य विभिन्न कृषि-वस्तुओं के लिए श्रेणियों का निर्धारण करना, श्रेणीकृत करने के इच्छुक व्यक्तियों को अनुज्ञा-पत्र प्रदान करना एवं निर्धारित श्रेणियों का समय-समय पर निरीक्षण करना है। श्रेणीकृत किये गये कृषि-उत्पादों पर 'एगमार्क' लेबल अंकित किया जाता है।

2. कृषि उत्पाद (विकास एवं भंडारण) निगम अधिनियम, 1956—इस अधिनियम के द्वारा देश के उत्पादकों एवं व्यापारियों को खाद्यान्न संग्रहण के लिए उचित भंडारण सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था कराना है। यह अधिनियम 1962 में सहकारिता के लिए राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम अधिनियम एवं भंडार-गृह सुविधा के लिये राष्ट्रीय भंडारण अधिनियम द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है। शीत संग्रह के लिये शीत संग्रहण आदेश, 1964 व 1980 पारित किया गया है।

3 फल-उत्पाद नियन्त्रण अधिनियम, 1948 व 1955—इस अधिनियम के अन्तर्गत फलों से शर्बत, रस व अन्य उत्पाद बनाने के नियमन एवं नियन्त्रण की व्यवस्था की जाती है।

4 वायदा संविदा (नियमन) अधिनियम, 1952—इस अधिनियम का उद्देश्य देश में विभिन्न वस्तुओं के वायदा-बाजार का नियमन करना है जिससे बाजार में वस्तुओं की अनाधिकृत सट्टेबाजी नहीं होने पाये।

5 भार एवं पैमाना मानकीकरण अधिनियम, 1958—इस अधिनियम के द्वारा विपणन में मानकीकृत बाँट एवं पैमाना का उपयोग करना है। सरकार ने 1960 से देश में मीट्रिक बाँट एवं 1963 से मीट्रिक पैमानों का प्रयोग अनिवार्य कर दिया है।

6 कृषि उपज विपणन अधिनियम—विभिन्न राज्यों में मण्डियों को नियन्त्रित करने हेतु समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किये गये हैं।

7 खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 एवं 1976—इस अधिनियम का उद्देश्य अपमिश्रण करके एवं भ्रामक नाम से खाद्य पदार्थों के विक्रय पर कानूनन नियन्त्रण करना है।

8 मानक माप-तौल (डिब्बा बन्द वस्तुएँ) अधिनियम, 1977—इस अधिनियम का उद्देश्य डिब्बा बन्द वस्तुओं के सही तौल, बन्द वस्तु के गुणों के बारे में सूचना, सही कीमत का उपभोक्ता को अवगत कराना है।

9 निर्यात किस्म नियन्त्रण एवं जाँच अधिनियम, 1963—इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के गुणों का नियन्त्रण करने से है, जिससे विदेशी बाजार में वस्तुओं की साख बनी रहे।

10 राज्य सरकारो द्वारा खाद्यान्नो के व्यापारियो के लिए जारी अनुज्ञा-पत्र नियम—इन नियमो का मुख्य उद्देश्य सरकार द्वारा खाद्यान्न व्यापारियो को नियन्त्रण मे रखने से है, जिससे वे अपने स्टॉक एव कीमतो की घोषणा करें ।

खाद्यान्नो के थोक व्यापार का सरकार द्वारा अधिग्रहण

खाद्यान्नो के थोक व्यापार का सरकार द्वारा अधिग्रहण से तात्पर्य देश मे खाद्यान्न (प्रमुखतया गेहूँ एव चावल) के थोक व्यापार को निजी क्षेत्र मे करने पर प्रतिबन्ध लगाने से है । खाद्यान्न के थोक व्यापार अधिग्रहण के अन्तर्गत रबी 1973 से गेहूँ एव खरीफ 1974 से चावल का व्यापार सरकार द्वारा अपने हाथ मे लिया गया । गेहूँ एव चावल भारत के प्रमुख खाद्यान्न हैं जो देश के कुल खाद्यान्न-उत्पादन का लगभग 70 प्रतिशत होते हैं ।

खाद्यान्नों के थोक व्यापार अधिग्रहण के अनुसार, गेहूँ एव चावल एक राज्य मे दूसरे राज्य मे केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, भारतीय खाद्य निगम, राज्य सहकारी विपणन सघ, खाद्य एव पूर्ति विभाग एव अन्य सरकारी सस्थाओ के माध्यम के बिना नही ले जाया जा सकता है । व्यापारी उपर्युक्त दोनो खाद्यान्नो का क्रय-विक्रय नही कर सकते है । फुटकर व्यापारी लाइसेन्स प्राप्त करके सरकार द्वारा निर्धारित शर्तो पर गेहूँ एव चावल क्रय-विक्रय कर सकते है ।

खाद्यान्न के थोक व्यापार अधिग्रहण के उद्देश्य—खाद्यान्नो के थोक व्यापार के सरकार द्वारा अधिग्रहण के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

1 गेहूँ एव चावल के विक्रेय-अधिशेष की मात्रा को नियन्त्रित करना, जिससे उनमे होने वाली सट्टेबाजी तथा कृत्रिम कमी को समाप्त करके कीमतो को बढने से रोका जा सके ।

2 उत्पादक कृषको से लाभप्रद कीमतो पर खाद्यान्न क्रय करना, जिससे कृषको को खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि करने की प्रेरणा मिले ।

3 उपभोक्ताओ (विशेषकर कमजोर वर्ग) को उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना ।

4 उत्पादक कृषक एव उपभोक्ता के मध्य पाये जाने वाले बिचौलियो को समाप्त करना, जिससे विपणन लागत मे कमी हो सके ।

खाद्यान्न के थोक व्यापार अधिग्रहण की आवश्यकता—निम्न परिस्थितियो के कारण सरकार को देश मे खाद्यान्नो के थोक व्यापार का अधिग्रहण करने की आवश्यकता महसूस हुई—

1 सरकार की मान्यता है कि उत्पादक कृषको को, वर्तमान विपणन-प्रणाली मे खाद्यान्न के विक्रय से उचित कीमत प्राप्त नही होती है । कृषको के पास

सग्रहण की उचित सुविधा एव क्षमता नही होने से फसल कटाई के तुरन्त बाद उन्हे उत्पाद बेचना होता है। उस समय बाजार मे खाद्यान्नो की पूर्ति की अधिकता व मांग के पूर्ति की अपेक्षा कम होने के कारण, कीमतें अत्यधिक नीचे गिर जाती हैं। समृद्धिशाली व्यापारी एव बिचौलिये न्यूनतम कीमतो पर खाद्यान्न क्रय करके लाभ उठाते है। अत सरकार द्वारा निर्धारित समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति, कृषको को श्रम का उचित मूल्य दिलाने एव उनके शोषण को समाप्त करने के लिए खाद्यानो के थोक व्यापार के अधिग्रहण की आवश्यकता प्रतीत हुई।

2 वर्तमान विपणन व्यवस्था मे जमाखोरी व मुनाफाखोरी चरम सीमा पर है। बिचौलिए वस्तु की जमाखोरी व मुनाफाखोरी द्वारा वस्तुओ की कृत्रिम कमी उत्पन्न करके कीमतो मे वृद्धि करने मे सफल होते हैं। सरकार का एक उद्देश्य इस वर्ग को प्राप्त हो रहे अधिक लाभ की राशि पर नियन्त्रण करना है। अत. खाद्यान्नो के थोक व्यापार अधिग्रहण की आवश्यकता प्रतीत हुई।

3 वर्तमान विपणन व्यवस्था मे समाज के गरीब उपभोक्ता वर्ग को उचित कीमतो पर खाद्यान्न उपलब्ध नही हो पाते हैं। सरकार गरीब वर्ग को उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए भी वर्तमान विपणन व्यवस्था मे परिवर्तन लाना चाहती है।

4 देश के सूखे एव अकालग्रस्त क्षेत्रो मे खाद्यान्नो की उपलब्धि की समुचित व्यवस्था करना, जिससे भुखमरी पर नियन्त्रण किया जा सके। इसके लिए भी खाद्यान्नो के व्यापार का सरकार द्वारा अधिग्रहण करना आवश्यक है।

5 कीमतो मे असाधारण वृद्धि होने पर जनता का सरकार मे विश्वास समाप्त हो जाता है, जिससे समाज की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव आता है। अत देश के विकास एव सफलीभूत योजना के लिए कीमत स्थिरीकरण करना आवश्यक है। कीमत स्थिरीकरण के उद्देश्य हेतु भी सरकार व्यापार का अधिग्रहण करती है।

खाद्यान्नो के थोक व्यापार मे आने वाली प्रमुख कठिनाइयां—खाद्यान्नो के थोक व्यापार की योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने मे सरकार को निम्न कठिनाइयो का सामना करना पडा था, जिससे खाद्यान्न अधिग्रहण के निर्धारित उद्देश्य प्राप्त करने मे सरकार पूर्णत सफल नही हो पाई है[4]—

(1) सरकार के पास देश के विभिन्न जिलो, तहसीलो एव ग्रामो के स्तर पर खाद्यान्न सग्रहण के लिए आवश्यक सख्या एव क्षमता के गोदामो का अभाव होना।

4. बी० एल० जोशी, अनाज के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण, योजना, वर्ष 17, अक 5, अप्रैल 7, 1973, पृष्ठ 3–4.

(2) देश के 2,699 शहरों तथा 5,66,878 ग्रामों से खाद्यान्न क्रय करके देश में चारों ओर फैले हुए उपभोक्ताओं को खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए आवश्यक व सक्षम व्यवस्था का अभाव होना।

(3) खाद्यान्न के व्यापार में लगे हुए 17 लाख व्यक्तियों के रोजगार छिन जाने से देश में बेरोजगारी की समस्या में वृद्धि होने की आशंका में असन्तोष की लहर का फैलना।

(4) सरकार के पास आवश्यक वित्तीय साधनों का अभाव होना। खाद्यान्न के संग्रहण, गोदामों के निर्माण, खाद्यान्न के क्रय के लिए कार्यशील पूंजी, कर्मचारियों के वेतन भुगतान के लिए वित्त की आवश्यकता को पूरा नहीं कर पाना भी बहुत बड़ी कठिनाई है।

(5) निजी क्षेत्र में कार्य कर रहे व्यापारी वर्ग से प्रतिस्पर्धा, सरकार के एक मात्र क्रेता होने से एकाधिकार क्रय-पद्धति के दोष, सरकारी कार्यकर्ताओं के व्यवहार में रूखापन एवं भ्रष्टाचार का व्याप्त होना।

समाजवादी कदम की सफलता के लिए सरकार को जनता का पूर्ण सहयोग मिलना आवश्यक है। जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त होने पर ही सरकार निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेगी तथा उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को लाभ प्राप्त हो सकेगा। इस योजना में सरकार को जनता का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। अतः सरकार ने इस योजना के क्रियान्वयन को खरीफ 1974 में स्थगित कर दिया।

अध्याय 16

कृषि-कीमतें एवं उनमें उतार-चढ़ाव

प्रत्येक व्यवसाय की सफलता का मापदण्ड व्यवसाय मे प्राप्त लाभ की राशि होती है। कृषि एक व्यवसाय है। इसकी सफलता का मापदण्ड भी इस व्यवसाय से प्राप्त लाभ ही होता है। कृषि-व्यवसाय मे प्राप्त होने वाले लाभ की राशि, उत्पादित कृषि-उत्पादो की मात्रा एव उनकी बाजार कीमत पर निर्भर करती है। कृषि-व्यवसाय से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कृषकों को उत्पादन वृद्धि के नये तकनीकी ज्ञान के उपयोग के साथ-साथ उत्पाद के विपणन से अधिकतम कीमत प्राप्त करने की विधियाँ भी अपनानी चाहियें। विपणन के सम्बन्ध मे उचित निर्णय नही लेने की स्थिति मे कृषकों को उत्पादित उत्पाद की मात्रा की अधिकतम कीमत प्राप्त नही हो पाती है। अतः कृषि-व्यवसाय की सफलता के लिए कीमतो का ज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है।

कृषि कीमतों से तात्पर्य .

किसी वस्तु या सेवा के विनिमय-मूल्य को मुद्रा के रूप मे प्रकट करने को उस वस्तु या सेवा की कीमत कहते हैं। प्रो० वेट एव ट्रेलोगन के शब्दो मे कीमत, मुद्रा की इकाइयो के रूप मे अभिव्यक्त मूल्य होती है। कीमतो के उपर्युक्त अभिप्राय को कृषि-वस्तुओ के लिए प्रयुक्त किये जाने पर कृषि-कीमत शब्द का उपयोग किया जाता है।

कृषि कीमतों के कार्य

कृषि-कीमतें अनेक कार्य सम्पन्न करती है जिनमे से कुछ देश के आर्थिक विकास मे विशेष महत्त्व रखते हैं। कृषि-कीमतो के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) कृषि-कीमतें विभिन्न वस्तुओ के विनिमय मूल्य एव उनमे पारस्परिक सम्बन्ध को प्रदर्शित करती हैं। स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था मे वस्तुओ का मूल्य उनकी कीमतो के द्वारा आंका जाता है और यही मूल्यांकन विधि उपभोक्ताओ की आय को तथा व्यय करने की प्रवृत्ति को सचालित करती है।

(2) कृषि-कीमतें, कृषि-वस्तुओं की मांग एव पूर्ति की शक्तियो मे साम्यावस्था/सन्तुलन स्थापित करती हैं। कीमतो के बढ़ने पर

सामान्यतया वस्तुग्रों की माँग कम हो जाती है तथा कीमतो के कम होने पर उनकी माँग बढ जाती है। कीमतो के ग्राधार पर ही मण्डी मे एकत्रित खाद्यान्नो का क्रय विक्रय होता है।

(3) कीमतें विभिन्न कृषि वस्तुग्रो के उत्पादन की मात्रा का निर्धारण करती है। सीमित उत्पादन साधनो का उपयोग उन फसलो के उत्पादन मे किया जाता है जिनकी प्रति इकाई कीमत अधिक होती है। साथ ही विभिन्न फसलो के ग्रन्तर्गत क्षेत्रफल का निर्धारण ग्रन्य कारको के ग्रतिरिक्त उनकी कीमतो पर प्रमुखतया निर्भर करता है। ग्रत कृषि कीमतें फार्म पर ग्रनुकूलतम लाभ की प्राप्ति के लिए विभिन्न उद्यमो के अन्तर्गत उत्पादन-साधनो के ग्रावटन कार्य मे सहायक होती हैं।

(4) कीमतें कृषि वस्तुग्रो के उपभोग की मात्रा का निर्धारण करने मे सहायक होती हैं। कीमतो के द्वारा ही वस्तु की उपलब्ध मात्रा का विभिन्न उपभोक्ताग्रो मे ग्रावटन होता है। वस्तुग्रो की कमी की ग्रवस्था मे कीमतें बढ जाती हैं ग्रौर उपभोक्ता क्रय की मात्रा कम कर देते हैं। इसके विपरीत वस्तु की पूर्ति की ग्रधिकता की ग्रवस्था मे कीमतें गिर जाती हैं ग्रौर उपभोक्ता क्रय की मात्रा मे वृद्धि करते हैं।

(5) कृषि कीमतें कृषि-व्यवसाय मे पूंजी निवेश की राशि को प्रभावित करती हैं। कृषि कीमतों के ग्रधिक स्तर पर निर्धारित होने पर कृषि-व्यवसाय मे पूंजी निवेश की राशि मे वृद्धि होती है।

(6) कीमतें ग्रौद्योगिक सस्थाग्रो, विभिन्न व्यवसायो एव फार्म पर विभिन्न उद्यमो के ग्रन्तर्गत साधन ग्रावटन का कार्य सम्पन्न करती हैं। उत्पादन-साधन निरन्तर कम लाभ वाले उपयोगो से ग्रधिक लाभ वाले उपयोगो की ग्रोर गतिशील होते हैं। इसी ग्राधार पर विभिन्न व्यवसायो मे सीमित उत्पादन-साधनो का आवटन होता है।

(7) कीमतें विपणन एव स्वामित्व सम्बन्धी समस्याओ को सुविधाजनक तरीको से हल करने के निर्णय लेने मे सहायक होती हैं।

(8) कीमतें विभिन्न कृषि वस्तुग्रो के सग्रहण एव विभिन्न स्थानो पर परिवहन सम्बन्धी निर्णय लेने मे सहायक होती हैं। कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो के कारण ही वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवहन एव एक मौसम से दूसरे मौसम तक सग्रहण होता है।

(9) कृषि-कीमतें विभिन्न वर्गों एव ग्रर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे ग्राय-वितरण को प्रभावित करती हैं।

(10) कीमतें मौसममापी यन्त्र की भांति भावी आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान प्रदान करती है।

कृषि-कीमतों के अध्ययन की आवश्यकता

समाज के सभी वर्गों—कृषकों उपभोक्ताओं उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों तथा सरकार के लिए कृषि कीमतों का अध्ययन आवश्यक होता है। कीमतों के अध्ययन का ज्ञान कृषकों को व्यवसाय सुचारु रूप से चलाने, उपभोक्ताओं को रहन-सहन का उचित स्तर बनाए रखने उद्योगपतियों का उत्पादन की नीति निर्धारण करने एवं सरकार को राष्ट्रीय योजनाओं के निर्माण एवं उन्हें कार्यान्वित करने में सहायक होता है। समाज के विभिन्न वर्गों के लिए कृषि कीमतों के अध्ययन की महत्ता का विवेचन यहाँ किया गया है—

कृषकों के लिए कृषि कीमत की आवश्यकता कृषकों के लिए फार्म में प्राप्त आय उत्पाद की उत्पादित मात्रा एवं उनकी बाजार कीमत पर निर्भर करती है। मण्डी कीमत के ज्ञान के अभाव में कृषक फार्म से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त नहीं कर सकते हैं। कृषि-कीमतों का ज्ञान कृषकों को फार्म पर निम्न निर्णय लेने में सहायक होता है। ये निर्णय फार्म पर होने वाली लागत में कमी अथवा प्राप्त होने वाले लाभ की राशि में वृद्धि करते हैं—

(i) कृषकों को फार्म पर विभिन्न उद्यमों के चयन एवं उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेने में कीमतों का ज्ञान सहायक होता है।

(ii) चुने हुए उद्यमों से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए उनके प्रबन्ध सम्बन्धी निर्णय लेने जैसे—प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र में विभिन्न फसलों में कितना उर्वरक उपयोग करना चाहिए, विभिन्न उर्वरकों में से कौनसे उर्वरक का उपयोग करना चाहिए, उर्वरक का किस विधि से उपयोग करना चाहिए, सिंचाई कब एवं कितनी संख्या में देनी चाहिए आदि।

(iii) सीमित उत्पादन साधनों का किस उद्योग के उत्पादन में उपयोग किया जाये जिससे लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त हो सके।

(iv) कृषि उत्पादों के विक्रय एवं उत्पादन साधनों के क्रय के लिए समय स्थान एवं विपणन माध्यम के चयन का निर्णय लेने में कीमतों का ज्ञान कृषकों के लिए आवश्यक होता है।

(v) कृषि कीमतें कृषकों को फार्म-योजना बनाने में सहायक होती है।

प्राचीन काल में कृषि कीमतों का ज्ञान कृषकों के लिए वर्तमान की भाँति आवश्यक नहीं था। उस काल में कृषक कृषि को व्यवसाय के रूप में न अपनाकर जीवकोपार्जन के रूप में अपनाते थे। फार्म पर घरेलू आवश्यकता के लिए उत्पाद उत्पन्न करते थे जिसमें उनके पास विक्रय के लिए उत्पाद की मात्रा बहुत कम होती

थी। वर्तमान में कृषकों द्वारा विशिष्टीकरण कृषि पद्धति के अपनाये जाने के कारण फार्म पर एक या दो फसलें उत्पन्न की जाती हैं जो प्रमुखतया मण्डी में विक्रय के लिए ही होती हैं। कृषि मे तकनीकी ज्ञान के आविष्कार एवं उपयोग के कारण विभिन्न वस्तुओं की उत्पादकता एवं विक्रेय-अधिशेष की मात्रा में वर्तमान में अधिक वृद्धि हुई है, जिसके कारण वे अधिक मात्रा में कृषि वस्तुओं का विक्रय करते हैं। अतः उत्पाद के विक्रय से अधिकतम कीमत प्राप्त करने के लिए कृषकों को विभिन्न मण्डियों में प्रचलित कीमतों का ज्ञान होना आवश्यक है।

प्राचीन काल में कृषि-वस्तुओं के विक्रय के लिए वर्तमान की भांति विकसित मण्डियाँ, विपणन-मध्यस्थ एवं विपणन-माध्यम भी नहीं थे। वस्तुओं का विक्रय वस्तु-विनिमय प्रथा द्वारा होता था, जिसमें एक कृषक अपने अधिशेष उत्पाद की मात्रा को दूसरे व्यक्ति की अधिशेष उत्पाद की मात्रा से विनिमय कर लेता था। वर्तमान में विपणन कीमतों के आधार पर होता है। अतः कृषकों के लिए कीमतों का ज्ञान वर्तमान में अत्यावश्यक है।

II उपभोक्ताओं के लिए कृषि-कीमत ज्ञान की आवश्यकता—कृषि-कीमतों का ज्ञान देश के उपभोक्ताओं को भी उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुओं के चुनाव, उनकी मात्रा का निर्धारण एवं क्रय करने के निर्णय लेने में सहायक होता है। उपभोक्ताओं की आय का अधिकांश भाग कृषि-वस्तुओं जैसे खाद्यान्न, दालें, तिलहन, फल, सब्जी, दूध, अण्डे आदि के क्रय पर व्यय होता है। कृषि-वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने से, उपभोक्ता अपनी सीमित आय में पहले की अपेक्षा कम मात्रा में वस्तुएँ क्रय कर पाते हैं, जिससे उनके रहन-सहन के स्तर पर विपरीत प्रभाव आता है। अल्प आय वाले उपभोक्ताओं का तो जीवन-निर्वाह करना कठिन हो जाता है। अतः कीमतों का ज्ञान उपभोक्ताओं को सीमित आय में अनुकूलतम स्तर का जीवन-यापन करने हेतु विभिन्न निर्णय जैसे—वस्तुओं के क्रय के लिए मण्डी, समय एवं विपणन-माध्यम का चुनाव करने, विभिन्न वस्तुओं का चुनाव एवं उनकी क्रय की मात्रा निर्धारण करने में सहायक होता है।

III उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों के लिए कृषि-कीमतों के ज्ञान की आवश्यकता—उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों के अधिकांश उद्योग जैसे—चीनी, जूट, चाय, कपड़ा, तिलहन आदि की उत्पादन, विस्तार एवं कीमत-नीति, कृषि-कीमतों पर निर्भर करती है, क्योंकि कृषि-क्षेत्र ही इन उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल प्रदान करता है। कच्चे माल का उत्पादन कम होने एवं उनके उत्पादन की लागत के बढ़ने से उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है जिससे उनकी उत्पादन एवं विस्तार नीति पर प्रतिकूल प्रभाव आता है। कृषि-कीमतों का ज्ञान उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों को निम्न निर्णय लेने में सहायक होता है—

(i) विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल क्रय करने के लिए समय एवं मण्डी का चुनाव एवं क्रय की मात्रा का निर्णय लेना।

(ii) विभिन्न उद्योगो से निर्मित वस्तुओ के क्रय से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए समय मण्डी, विपणन-माध्यम एव विपणन विधि के चुनाव के सम्बन्ध मे निर्णय लेना।

(iii) विभिन्न उद्योगो को स्थापित करने के लिए स्थान के चुनाव, क्षमता आदि के निर्णय लेना।

(iv) उद्योगो द्वारा निर्मित माल की उत्पादन-लागत को कम करने के लिए तकनीकी ज्ञान के स्तर का उपयोग, विभिन्न उत्पादन विधियो एव क्रियाओ के प्रतिस्थापन आदि के सम्बन्ध मे निर्णय लेना।

IV सरकारी सस्थाओं के लिए कृषि-कीमत ज्ञान की आवश्यकता—सरकारी एव अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ, प्रशासको एव नीति निर्धारको के लिए कृषि-कीमतो का ज्ञान कृषि विकास कार्यक्रमो के सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे सहायक होता है। कीमतो के ज्ञान के आधार पर लिये गये निर्णय सही एव उचित होते हैं तथा देश के विकास मे सहायक होते हैं। कृषि-कीमतो का ज्ञान विभिन्न सस्थाओ को निम्न निर्णय लेने मे सहायक होता है—

(i) कृषि विकास कार्यक्रमो को सुचारु रूप से कार्यान्वित करना।

(ii) कृषि-विकास कार्यक्रमो के परिणामो का मूल्याकन करना।

(iii) कृषि-विकास के लिए आवश्यक पूरक सस्थाएँ जैसे—कृषि-सूचना-सेवा, सिंचाई परियोजनाओ का निर्माण, परिवहन सुविधाओ का विकास आदि से सम्बन्धित निर्णय लेना।

(iv) देश मे सघन कृषि-योजना, उन्नत किस्मो के बीजो का अधिकाधिक उपयोग, बहुफसलीय कार्यक्रम, लघु कृषक विकास योजना, नियन्त्रित मण्डियो के विकास से सम्बन्धित निर्णय लेना।

कृषि कीमतो मे उतार-चढाव

कृषि-कीमतो मे प्रतिवर्ष, मौसम, माह, दिन व एक ही दिन मे विभिन्न समयो मे परिवर्तन अर्थात् उतार-चढाव पाये जाते हैं। वैसे तो सभी वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढाव पाये जाते हैं लेकिन कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे औद्योगिक एव निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा उतार-चढाव अधिक होते हैं। कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढाव अधिक होने से कृषको की आय मे अनिश्चितता, उपभोक्ताओ के जीवन स्तर मे परिवर्तन तथा कृषि-आधारित उद्योगो की उत्पादन नीति मे अस्थिरता बनी रहती है। कृषि-कीमतो मे होने वाले उतार चढाव से समाज के विभिन्न वर्ग भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होते हैं। सामान्यतया कृषि-कीमतो के अत्यधिक परिवर्तन से उत्पादक एव उपभोक्ता वर्ग को विशेष हानि होती है। कीमतो के उतार-चढाव का मुख्य लाभ समाज का समृद्ध वर्ग उठाता है।

भारत मे कृषि-कीमतो मे उतार-चढाव सर्वप्रथम वर्ष 1914 से 1920

की अवधि मे पाये गये। इस काल मे कीमत वृद्धि के प्रमुख कारण प्रथम महायुद्ध (1914–18) का होना, कृषि-पदार्थों की आन्तरिक माग एव मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होना था। वर्ष 1920 के बाद कीमतो मे गिरावट आई। वष 1929-30 मे विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण कीमतो मे अत्यन्त गिरावट हुई, जिससे कृषको की आर्थिक दशा बहुत दयनीय हो गई। सितम्बर, 1939 मे द्वितीय-महायुद्ध के प्रारम्भ होने से 1939 मे कीमतो मे पुन वृद्धि प्रारम्भ हुई। कीमत वृद्धि वष 1950–51 तक निरन्तर होती रही। इस दशक मे कीमतो मे तीव्र गति से वृद्धि होने के कारणो मे सरकार द्वारा सैनिक सुविधाओ के विकास पर व्यय राशि मे वृद्धि, मौसम की प्रतिकूलता के कारण उत्पादन मे कमी, देश का विभाजन, विस्थापितो के पुनर्वास पर भारी राशि मे व्यय प्रमुख हैं।

विभिन्न समयो मे प्रचलित कीमतो के स्तर को कीमत सूचकाक द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। विभिन्न वस्तुओ के समूहो एव विभिन्न कृषि-पदार्थों की थाक कीमतो के सूचकाक भारत सरकार के आर्थिक एव सारियकी सलाहकार द्वारा जनवरी 1942 से प्रकाशित किये जा रहे है। कीमत सूचकाक ज्ञात करने मे विभिन्न समयो म विभिन्न आधार वर्ष लिए गए हैं। साथ ही सूचकाक ज्ञात करने मे वस्तुओ की सख्या एव उनके भार मे भी समय समय पर परिवर्तन किए गये हैं। इन सूचकाको मे होने वाले परिवतन इनकी कीमतो मे वृद्धि अथवा कमी का द्योतक होते है। सारणी 16 1 मे वर्ष 1950–51 से 1968–69 के काल मे 1952–53 के आधार पर विभिन्न वस्तुओ के समूहो के थोक कीमत सूचकाक एव विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे थोक कीमत सूचकाक मे हुए प्रतिशत परिवर्तन प्रदर्शित करती है।

सारणी 16 1

विभिन्न वस्तुओं के समूहो की थोक कीमतो के सूचकाक एव विभिन्न पचवर्षीय योजना काल मे हुए प्रतिशत परिवर्तन

(आधार वर्ष 1952–53=100)

वर्ष	सभी वस्तुएँ	खाद्य पदार्थ	मादक द्रव्य एव तम्बाकू	इधन बिजली, प्रकाश व स्निग्ध पदाथ	औद्योगिक कच्चा माल	निर्मित माल
1	2	3	4	5	6	7
1950–51	111 8	112 5	98 4	92 6	130 9	101 8
1951–52	118 0	111 0	121 9	96 5	141 5	100 7
1952–53	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0
1953–54	104 6	106 7	98 7	99 2	107 4	100 1
1954–55	97 4	94 6	90 6	97 1	94 6	99 6
1955–56	92 5	86 6	81 0	95 2	99 0	99 7

प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में प्रतिशत परिवर्तन	−17.27	−23.03	−17.69	−2.80	−3.49	−24.37
1956–57	105.3	102.3	84.4	104.2	116.0	106.3
1957–58	108.4	106.4	94.0	113.5	116.5	108.1
1958–59	[illegible]	[illegible]	95.4	115.4	115.6	108.4
1959–60	117.1	119.0	99.5	116.5	123.7	111.7
1960–61	124.9	120.0	109.9	120.0	145.4	123.9
द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में प्रतिशत परिवर्तन	−35.02	−38.56	−35.67	−26.05	+24.27	−40.86
1961–62	125.1	120.1	100.3	122.1	142.6	126.6
1962–63	127.9	126.1	100.9	124.4	136.5	128.8
1963–64	135.3	136.8	119.6	139.4	139.5	131.1
1964–65	152.7	159.9	131.2	144.9	162.7	137.3
1965–66	165.1	168.9	136.6	153.0	159.1	149.3
तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में प्रतिशत परिवर्तन	+32.18	+40.75	+24.29	+25.00	+20.33	+30.05
1966–67	191.3	199.9	130.3	169.7	228.7	160.0
1967–68	212.4	242.2	136.6	184.1	219.1	165.5
1968–69	210.2	231.3	212.1	192.5	222.7	168.6
तीनों वार्षिक योजना काल में प्रतिशत परिवर्तन	−9.88	−15.70	−38.58	+13.43	−2.63	+3.43

स्रोत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, खण्ड XXIII, संख्या 11, नवम्बर 1969, पृष्ठ 1555.

सारणी 16 2

प्रमुख वस्तुओ के समूहो के थोक कीमत सूचकाक (वार्षिक औसत)

(आधार वर्ष 1961–62=100)

वर्ष	सभी वस्तुएँ	खाद्य पदार्थ	मादक द्रव्य एव तम्बाकू	ईंधन बिजली एव स्निग्ध पदार्थ	औद्योगिक कच्चा माल	रसायन	मशीनें एव परिवहन उपकरण	निर्मित वस्तुएँ
1961–62	*100 0*	*100 0*	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0
1962–63	104 9	104 8	121 5	116 8	97 0	113 6	106 5	103 1
1963–64	113 3	119 8	123 5	119 4	105 4	117 7	109 4	106 1
1964–65	122 3	132 3	133 3	121 6	116 4	119 5	114 0	112 2
1965–66	137 5	150 3	133 1	130 7	143 6	133 0	120 4	123 5
1966–67	*158 9*	*187 9*	132 6	135 6	165 6	150 9	130 2	130 3
1967–68	160 3	194 3	166 7	146 7	141 4	161 8	132 1	130 3
1968–69	165 1	186 5	215 5	152 9	171 6	177 2	133 2	138 1
1969–70	175 7	199 8	188 2	160 1	185 8	193 4	140 2	148 9
1970–71	180 6	199 8	184 9	162 7	191 0	189 5	151 5	160 4
1971–72	*192 3*	*216 5*	*209 1*	*178 1*	178 5	198 8	162 8	173 4
1972–73	218 5	250 1	249 1	187 6	236 4	208 4	171 6	183 4
1973–74	284 5	321 7	272 2	292 9	322 7	270 8	215 7	234 2
1974–75	307 1	357 0	311 1	324 4	286 7	328 8	264 6	252 3
1975–76	282 9	305 2	312 1	366 8	241 9	313 1	260 6	253 9

स्रोत रिजर्व बैंक आफ इण्डिया बुलेटिन, खण्ड XXIII, स 12, दिसम्बर, *1969* एव खण्ड XXX, सख्या *8*, अगस्त, *1976*

विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं में कीमतों के सूचकांक में हुए प्रतिशत परिवर्तन के अवलोकन से स्पष्ट है कि प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल में सभी वस्तुओं के समूहों की कीमतों के सूचकांक में कमी हुई है। इस योजनाकाल में कीमतों में सर्वाधिक कमी निर्मित माल व खाद्य पदार्थों में हुई है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के शुरू से ही कीमतों में निरन्तर वृद्धि हुई है। द्वितीय पचवर्षीय योजना काल में खाद्य पदार्थों की थोक कीमतों के सूचकांक में 39 प्रतिशत, निर्मित माल में 47 प्रतिशत एवं सभी वस्तुओं में 35 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल में खाद्य पदार्थों की थोक कीमतों के सूचकांक में 41 प्रतिशत, निर्मित माल में 30 प्रतिशत एवं सभी वस्तुओं में 32 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। तीनों वार्षिक योजनाओं में औद्योगिक कच्चे माल के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं के समूहों की कीमतों में वृद्धि हुई है। तीन पचवर्षीय योजनाओं एवं तीन वार्षिक योजनाओं में हुए प्रतिशत परिवर्तन के अवलोकन से स्पष्ट है कि औद्योगिक एवं निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा खाद्य पदार्थों की कीमतों में प्रतिशत परिवर्तन अधिक हुआ है।

कीमतों के सूचकांक की उपर्युक्त सीरीज सितम्बर, 1969 में बन्द कर दी गई और नई सीरीज आधार वर्ष 1961–62 के अनुसार प्रारम्भ हुई। वर्ष 1961-62 से 1975–76 तक विभिन्न वस्तुओं के समूहों के थोक कीमत सूचकांक सारणी 16.2 में प्रदर्शित हैं। वर्ष 1961–62 से 1975–76 के काल में सभी वस्तुओं के समूहों की कीमतों के सूचकांक में वृद्धि हुई है। यह वृद्धि सभी वस्तुओं में सम्मिलित रूप से 183 प्रतिशत की हुई। कीमतों में सर्वाधिक वृद्धि खाद्य पदार्थ, मादक-द्रव्य तथा ईंधन, बिजली एवं स्निग्ध पदार्थ के समूहों में व सबसे कम वृद्धि निर्मित वस्तुओं के समूह में हुई है। कीमतों के सूचकांक में वृद्धि की दर 1973–74 में अन्य वर्षों की अपेक्षा अधिक थी। कीमतों के सूचकांक में 1961–62 से 1974-75 तक निरन्तर वृद्धि हुई है, लेकिन अप्रैल, 1975 के पश्चात् कीमतों के थोक सूचकांक में गिरावट आई है।

थोक कीमत सूचकांक ज्ञात करने के आधार वर्ष 1961–62 को बन्द करके, सरकार ने वर्ष 1970–71 को आधार वर्ष मानकर कीमत सूचकांक आकलन अप्रैल, 1971 से प्रारम्भ किया है। सूचकांक आकलन करने की इस नई सीरीज में विभिन्न वस्तुओं के समूहों व वस्तुओं की संख्या एवं उनके महत्ता के लिए दिए गए भार (Weight) में भी परिवर्तन किया है, जिसके कारण पिछले आँकड़े तुलनात्मक नहीं हैं। वर्ष 1970–71 के आधार वर्ष पर विभिन्न वस्तुओं के थोक मूल्य सूचकांक 1970–71 से 1987–88 तक के सारणी 16.3 में दिए गए हैं।

सारणी 16 3

विभिन्न वस्तुओं के समूहो के थोक कीमत सूचकांक (वार्षिक औसत)

आधार वर्ष 1970–71=100

वर्ष	सभी वस्तुएँ (1000)	प्राथमिक वस्तुएँ सभी (416 67)	प्राथमिक वस्तुएँ खाद्य वस्तुएँ (297 99)	प्राथमिक वस्तुएँ अखाद्य वस्तुएँ (118 68)	इधन, ऊर्जा, बिजली एव स्निग्ध पदार्थ (84 59)	निर्मित माल (498 74)
1970–71	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0
1971–72	105 6	109 9	101.1	98 6	105 9	109 5
1972–73	116 2	110 7	111 3	107 5	110 1	121 9
1973–74	139 7	141 8	136 6	146 6	130 6	139 5
1974–75	174 9	177 5	172 1	163 7	198 3	168 8
1975–76	173 0	165 8	163 6	139 8	219 2	171 2
1976–77	176 6	167 2	155 3	167 0	230 8	175 2
1977–78	185 8	183 8	173 6	178 0	234 2	179 2
1978–79	185 8	181 4	172 4	170 4	244 7	179 5
1979–80	217 6	206 5	186 6	194 6	283 1	215 8
1980–81	257 3	237 5	207 9	217 7	354 3	257 3
1981–82	281 3	264 4	235 1	240 5	427 5	270 6
1982–83	288 6	273 9	249 6	244 6	458 7	272 1
1983–84	316 0	304 0	283 1	281 6	494 8	295 8
1984–85	338 4	324 4	297 4	319 6	518 4	319 5
1985–86	357 8	331 0	317 7	286 8	579 9	342 6
1986–87	376 8	349 0	339 0	305 0	619 0	359 0
1987–88	405 4	383 0	367 0	386 0	642 0	384 0

टिप्पणी कोष्ठक मे दिए आंकड वस्तुओ के भार प्रदर्शित करते है।

स्रोत Reserve Bank of India Bulletin–Various Issues, Reserve Bank of India, Bombay

वर्ष 1970–71 से 1987–88 के काल मे भी कीमतो मे निरन्तर वृद्धि हुई है। कीमतो मे निरन्तर वृद्धि के कारण सभी वस्तुओ का थोक कीमत सूचकाक 405 4 एव प्राथमिक वस्तुओं का सूचकाक 383 0 हो गया। इस काल मे सर्वाधिक कीमत वृद्धि ई धन, ऊजा, बिजली एव स्निग्ध पदार्थों के सूचकाक मे एव सबमे कम कीमतो मे वृद्धि खाद्य वस्तुओ के समूह मे पाई गई। वर्ष 1975–76 मे प्राथमिक वस्तुओ के कीमत सूचकाक मे प्रथम बार कमी हुई थी, जिसके कारण अन्य वस्तुओ के थोक कीमत सूचकाक मे भी कमी हुई थी।

थोक कीमत सूचकाक ज्ञात करने के आधार वर्ष 1970–71 को बन्द करके सरकार ने वर्ष 1981–82 को आधार वर्ष मानकर कीमत सूचकाक आकलन वर्ष 1981–82 से प्रारम्भ किया है। सूचकाक आकलन करने की इस नई सीरीज मे विभिन्न वस्तुओ के समूहो मे वस्तुओ की सख्या एव उनके महत्त्वता को दिए गए भार (Weight) मे भी परिवर्तन किया है। अत पिछले आधार वर्ष के आधार पर दिए गए कीमत सूचकाक आँकडे वर्तमान आधार वर्ष के आँकडो से तुलनात्मक नही हैं। वर्ष 1981–82 के आधार वर्ष पर विभिन्न वस्तुओ के थोक मूल्य सूचकाक वर्ष 1981–82 से 1991–92 तक के सारणी 16 4 मे दिए गए हैं। सारणी से स्पष्ट है कि पिछले 10 वर्षों मे सभी वस्तुओं की कीमतो मे लगभग 100 प्रतिशत से अधिक (धातु के अतिरिक्त) की वृद्धि हुई है। सर्वाधिक वृद्धि खाद्य वस्तुओ की कीमतो मे हुई है।

खाद्यान्नो की कीमतो मे उतार-चढाव .

सारणी 16.5 विभिन्न खाद्यान्नो की कीमतो के सूचकाक वर्ष 1970–71 के आधार पर प्रदर्शित करती है।

वर्ष 1961–62 मे 1987–88 की अवधि मे सभी खाद्यान्नो की कीमतो मे वृद्धि हुई है। कीमतो मे वृद्धि की गति वर्ष 1972–73 के बाद मे असामान्य थी। खाद्यान्नो की कीमतो मे वृद्धि की दृष्टि से वर्ष 1974–75 विशेष उल्लेखनीय है। सरकार ने खाद्यान्नों की कीमतो मे हुई असामान्य वृद्धि को रोकने के लिए अनेक कदम उठाए हैं, जिनमे से मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने हेतु पारित अधिनियम प्रमुख हैं। इनके फलस्वरूप वर्ष 1975–76 एव 1976–77 मे खाद्यान्नो की कीमतो मे गिरावट आई। आधार वर्ष 1981–82 के अनुसार प्रमुख कृषि उत्पादो के थोक कीमत सूचकाक वर्ष 1982–83 से 1990–91 है। सारणी 16 6 मे दिए गए हैं।

सारणी 16 4

विभिन्न वस्तुओ के समूहो के थोक कीमत सूचकाक (वार्षिक औसत)

(आधार वर्ष 1981–82=100)

वर्ष	सभी वस्तुएँ (100 00)	प्राथमिक वस्तुएँ सभी (32 295)	प्राथमिक वस्तुएँ खाद्य वस्तुएँ (17 386)	प्राथमिक वस्तुएँ अखाद्य वस्तुएँ (10 081)	धातु (4 828)	ईंधन, ऊर्जा, बिजली एव स्निग्ध पदार्थ (10 663)	निर्मित माल (57 042)
1981–82	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0
1982–83	104 9	106.7	111 1	100 8	103 3	106 5	103.5
1983–84	112 8	118 2	126 5	112 4	100 4	112 5	109 8
1984–85	120 1	125 5	131 8	124 6	105 1	117 3	117 5
1985–86	125 4	125 7	134 1	120 4	106 5	129 8	124 5
1986–87	132 7	137 1	147 8	134 1	104 2	138 6	129 2
1987–88	143 5	152 6	161 1	163 0	100 5	143 3	138 5
1988–89	154 2	160 1	177 1	160 2	98 5	151 2	151 5
1989–90	165 7	163 6	179 3	166 0	102 2	156 6	168 6
1990–91	182.5	184 9	200 5	194 3	109 0	175 8	182 8
1991–92	207 8	218 3	241 1	229 2	113 5	199 0	203 4

टिप्पणी कोष्ठक में दिए गए आँकड़े वस्तुओ के भार प्रदर्शित करते है।

स्रोत : Reserve Bank of India Bulletin—Various Issues, Reserve Bank of India, Bombay

सारणी 16 5

प्रमुख कृषि उत्पादो के थोक कीमत सूचकांक (वार्षिक औसत)

(1970–71=100)

वर्ष	चावल	ज्वार	बाजरा	मक्का	गेहूँ	जौ	चना	अनाज	दाले	खाद्यान्न	सभी कृषि पदार्थ
1961–62	49 7	52 6	63 3	52 8	47 9	—	43 6	50 1	41.7	48 4	—
1962–63	52.3	60 7	59 3	48 9	47 2	—	46 1	51.6	48 7	51 0	—
1963–64	58 9	54 4	61.0	52 6	50 7	—	51 5	56 1	54 0	55 7	—
1964–65	63 2	87 0	83.0	78 0	66 1	—	84 6	67 8	80 1	70 4	—
1965–66	67 9	88 0	98 2	90 2	71 5	—	86 4	73 3	79 6	74 6	—
1966–67	83 8	89 9	105.2	109 6	85 2	—	106 2	87 1	93 6	88 4	—
1967–68	99 6	103 8	117 8	138 9	102 4	—	144 2	103 5	136 5	110 4	—
1968–69	97 6	97 3	112 2	100.2	97 9	—	91 7	98 3	92 8	97 2	—
1969–70	97 6	101 2	120 3	107 6	103 0	—	117 5	100 9	99 6	100 7	—
1970–71	100 0	100 0	100 0	100 0	100.0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0

1971–72	103 0	109 9	97 0	100 8	99 5	95 0	102 8	101 9	110 7	103 4	99 3
1972 73	116 0	126 0	140 9	125 0	106 5	133 6	131 4	115 8	137 9	119 5	109 3
1973–74	140 2	151 2	165 5	174 2	108 2	190 3	201 3	134 8	176 9	141 9	139 7
1974–75	183 2	203 2	242 0	242 9	183 1	243 0	246 3	191 8	215 7	195 8	174 8
1975–76	178 8	175 6	196 7	173 5	159 6	147 4	201 8	172 6	181 6	174 1	155 0
1976–77	156 9	163 6	146 3	145 4	152 0	1?4 7	134 5	154 1	145 7	152 7	156 1
1977–78	162 0	157 4	169 1	177 9	156 5	179 3	198 6	161 3	215 2	170 4	174 8
1978 79	161 0				154 0		157 6	247 1	247 0	173 0	
1979 80	184,0				161 0		173 5	244 2	244 0	185 0	
1980–81	206 0				176 0				323 0	217 0	
1981–82	226 0				192 0				339 0	237 0	
1982–83	257 0				214 0				302 0	249 0	
1983–84	292 0				218 0			259 0	347 0	274 0	
1984–85	273 0				210 0			245 0	431 0	276 0	
1985–86	284 0				226 0			262 0	463 0	296 0	
1986–87	302 0				239 0				408 0	299 0	
1987–88	326 0				259 0				494 0	332 0	

स्रोत (i) *H L Chandok* Wholesale Price Statistics Vol I, India 1947 1978 Economic and Scientific Research Foundation New Delhi 1978

(ii) Economic Survey 1988–89, Ministry of Finance, Gov rnment of India New Delhi *1989, P 5–59*

सारणी 16 6

प्रमुख कृषि उत्पादो के थोक कीमत सूचकाक (वार्षिक औसत)

(1981-82=100)

कृषि उत्पाद	1982 -83	1983 -84	1984 -85	1985 -86	1986 -87	1987 -88	1988 -89	1989 -90	1990 -91
चावल	115 0	129 3	121 4	126 9	134 2	145 8	161 2	168 7	178 1
गेहूँ	111 2	113 6	110 8	119 0	127 1	134 5	154 2	148 2	171 7
ज्वार	92 0	99 4	98 2	101 4	108 5	112 9	126 5	150 8	131 5
बाजरा	97 1	100 3	93 5	118.9	123 3	133 8	135 0	126 4	137 5
मक्का	109 0	114 7	95 3	122 7	130 3	137 6	152 9	146 9	153.5
जौ	110 4	118 4	120 9	140 0	121 6	151 7	169 8	168 1	202 3
अनाज	111 5	120 9	114 9	122 3	129 6	139 4	155 7	159 0	171 3
चना	78 1	84 2	126 4	144 9	107 9	123 3	196 3	198 3	210 6
अरहर	110 2	135 1	120 8	109 5	138 7	194 1	195 0	196 8	249 4
दालें	94 2	110 0	130 8	138 0	128 3	153 4	199 7	205 7	227.5
खाद्यान्न	109 1	119 4	117 1	124 5	129 4	141 3	161 8	165 4	179 0
फल एव सब्जियाँ	110 5	136 4	145 2	135 3	169 4	180 2	185 1	170 5	204 0
दूध	110 6	121 6	132 6	140 4	147 4	162 3	184 8	201 1	209 2
सभी खाद्य वस्तुएँ	111 1	126 5	131 8	134 1	147 8	161 1	177 1	179 3	200 5

स्रोत Index Numbers of wholesale Prices in India, Monthly Bulletin office of the Economic Adviser, Ministry of Industry, Government of India (Various Issues)

कृषि कीमतों के उतार चढ़ाव के रूप :

कृषि वस्तुओं की कीमतो मे होने वाले उतार-चढावो को समय के अनुसार मुख्यत निम्न 6 भागो मे विभक्त किया जाता है—

(1) **अल्पकालीन कीमत उतार चढाव**—कृषि-वस्तुओं की कीमतो मे होने वाले वे उतार-चढाव जो कुछ समय के लिए ही प्रभावशाली होते हैं, अल्पकालीन उतार-चढाव कहलाते हैं। कीमतो के नियमित उतार-चढावो के कारको से इनका कोई सम्बन्ध नही होता है। अल्पकालीन उतार चढाव कृषि-वस्तुओ की माग एव पूर्ति मे अचानक परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होते हैं। मौसम में परिवर्तन होना, शादियो का होना, उपभोक्ताओं की आय मे अचानक वृद्धि, वर्षा या अन्य कारणों से परिवहन साधनो का समय पर उपलब्ध नही होना, बजट में कर लगने की आशका आदि कारणो से वस्तुओं की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो को अल्पकालीन उतार-चढाव की श्रेणी मे विभक्त किया जाता है। जैसे-मडी में गेहूँ की प्रति सप्ताह, दिन एव एक ही दिन मे विभिन्न समयो पर विभिन्न कीमतो का होना। कृषि-कीमतो मे अल्पकालीन उतार-चढाव निम्न कारणों से होते रहते हैं—

(अ) कृषि-वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा मे निरन्तर परिवतन होते रहना—कृषि वस्तुओ का उत्पादन मौसम की अनुकूलता पर निर्भर होने एव उनमे शीघ्रनाशी होने का गुण विद्यमान होने के कारण मण्डी मे कृषि-वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा सदैव नियमित नही होती है।

(ब) कृषि-वस्तुओ की माँग मे भी अस्थायी परिवर्तन होते रहते हैं। माँग मे परिवर्तन उपभोक्ताओं की आय मे वृद्धि, मौसम के परिवर्तन, शादियो आदि कारणों से होते रहते हैं।

(स) कृषि-वस्तुओ की माग एव पूर्ति की मात्रा के आधार पर कीमत-निर्धारण की प्रायोगिक विधि मे भी समय लगता है। अत इस काल म कीमतो मे अल्पकालीन उतार चढाव होते हैं।

(2) **मौसमी कीमत उतार-चढाव**—कृषि-वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग मे मौसम का प्रभाव होने से उनमे मौसमी उतार चढाव पाये जाते हैं। प्राय सभी कृषि-वस्तुओ के उत्पादन का विशेष मौसम होता है। मौसम-विशेष मे पूर्ति की अधिकता के कारण कीमतें गिर जाती हैं और बाद मे कीमतें बढनी शुरू होती हैं। कुछ कृषि-वस्तुओं का मौसम विशेष मे उपभोग अधिक होने के कारण भी कीमतो के मौसमी उतार-चढाव पाये जाते हैं जैसे—अण्डा, मक्का, बाजरा आदि का उपभोग सर्दी की मौसम में अधिक एव गर्मी की मौसम म कम होता है। कीमतो के मौसमी उतार चढाव उन कृषि वस्तुओं मे अधिक पाये जाते हैं जो शीघ्रनाशी होती हैं और [illegible] संग्रहण करके नियमित नही किया जा सकता है, जैसे—सब्जी, फल,

दूध आदि । कृषि-वस्तुओं की कीमतों के मौसमी उतार-चढ़ाव का ज्ञान कृषकों के लिए विभिन्न उत्पादों के विपणन समय के निर्णय लेने में सहायक होता है ।

(3) **वार्षिक कीमत उतार-चढ़ाव**--कृषि-वस्तुओं के उत्पादन एवं पूर्ति की मात्रा में उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल, उत्पादकता, बीमारी आदि कारणों से प्रतिवर्ष निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, जिसके कारण उनकी विभिन्न वर्षों की कीमतों में भिन्नता होती है । कृषि-वस्तुओं की कीमतों में होने वाले वार्षिक उतार-चढ़ाव में कोई निश्चित नियमितता नहीं पाई जाती है ।

(4) **चक्रीय कीमत उतार-चढ़ाव**—कुछ कृषि-वस्तुओं के उत्पादन एवं कीमतों में चक्रीय गति के विद्यमान होने के कारण उनकी कीमतों में चक्रीय उतार-चढ़ाव अर्थात् उतार-चढ़ाव नियमित समयान्तर पर पाये जाते हैं । चक्र से तात्पर्य नियमित आवर्ती परिवर्तन से है । कुछ कृषि-वस्तुओं के उत्पादन एवं कीमतों का प्रभाव एक वर्ष में प्रदर्शित नहीं होकर अनेक वर्षों, जैसे 3–4 वर्ष के अन्तर से प्रदर्शित होता है । उत्पादन चक्रीय गति के कारण किसी वर्ष उत्पादन के अधिक होने से कीमतें गिर जाती है तथा अन्य वर्षों में उत्पादन कम होने से कीमतों में वृद्धि होती है । चक्रीय उतार-चढ़ाव वाली विभिन्न कृषि-वस्तुओं की अवधि विभिन्न समयों की होती है । कीमतों के इन चक्रों में अनेक कारणों से विघ्न उत्पन्न होते रहते हैं जिससे इनकी अवधि कम अथवा अधिक हो जाती है ।

(5) **सुदीर्घकालीन कीमत उतार-चढ़ाव**—एक लम्बे समयकाल तक कृषि-वस्तुओं की कीमतों में निरन्तर वृद्धि अथवा कमी को सुदीर्घकालीन कीमत उतार-चढ़ाव कहते हैं । *सुदीर्घकालीन कीमत उतार-चढ़ाव जनसंख्या में वृद्धि,* नागरिकों की आय में स्थायी वृद्धि, उत्पादन लागत एवं रीति-रिवाजों के परिवर्तन के कारण होते हैं । कीमतों में सुदीर्घकालीन परिवर्तन ऋणात्मक एवं धनात्मक दोनों ही प्रकार के होते हैं ।

(6) **अनियमित कीमत उतार-चढ़ाव**—कृषि-वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढ़ाव ऐसे कारणों से भी होते हैं जिनके विषय में कोई निश्चितता नहीं होती है, जैसे—युद्ध, सूखा, बाढ़ आदि । कीमत में परिवर्तन के कारण कभी-कभी गुप्त भी होते हैं ।

कृषि-कीमतों में होने वाले उतार-चढ़ावों का प्रभाव :

कृषि-वस्तुओं की कीमतों में होने वाले उतार-चढ़ावों से समाज के विभिन्न वर्ग समान रूप से प्रभावित नहीं होते हैं । इनसे समाज के एक वर्ग को हानि होती है, लेकिन दूसरे वर्ग को लाभ प्राप्त होता है । कृषि-वस्तुओं की कीमतों में होने वाले उतार-चढ़ावों से समाज के विभिन्न वर्ग एवं व्यवसाय निम्न प्रकार से प्रभावित होते हैं—

(1) उत्पादक (कृषक) वर्ग—कृषि वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले उतार-चढावो के कारण देश के उत्पादक कृषको को हानि होती है । इनके कारण कृषको की आय मे अनिश्चितता बनी रहती है, जिससे वे उत्पादन योजना के लिए विवेकपूर्ण नीति नही अपना पाते है । सामान्यतया फसल की कटाई के समय पूर्ति की अधिकता के कारण कीमतें गिर जाती है । अधिकाश कृषक अपनी पैदावार की अधिकतम मात्रा को फसल-कटाई के बाद विक्रय करते हैं जिसमे उन्हे विक्रीत माल की कीमत कम प्राप्त होती है । कभी-कभी तो फसल-कटाई के तुरन्त बाद कीमतें इतनी नीची गिर जाती हैं कि कृषको को प्राप्त उत्पाद के विक्रय से उत्पादन लागत की राशि भी प्राप्त नही होती है । फसल की कटाई के कुछ समय बाद पूर्ति के कम होने से कीमतें बढनी शुरू हो जाती है जिसका लाभ समृद्ध मध्यस्थ वर्ग उठाता है ।

(2) उपभोक्ता वर्ग—कीमतो के उतार-चढाव से उपभोक्ता वर्ग को मुख्यत हानि होती है । उपभोक्ताओं की आय सीमित होती है तथा सीमित आय से वर्ष भर के लिए वस्तुओ की आवश्यक मात्रा का एक साथ क्रय कर पाने मे उपभोक्ता सक्षम नही होते है । उपभोक्ता वस्तुओ को प्रति माह आवश्यकतानुसार क्रय करते हैं जिससे वे फसल कटाई के बाद कीमतो मे होने वाली गिरावट से लाभ नही उठा पाते हैं । कीमतो मे वृद्धि से उनकी वास्तविक आय कम हो जाती है तथा रहन-सहन के स्तर पर विपरीत प्रभाव पडता है । कीमतो की वृद्धि मे उपभोक्ता वर्ग मे सर्वाधिक हानि वेतनभोगी एव मध्यम आय वाले परिवारो को होनी है ।

कीमतो मे निरन्तर वृद्धि होने के कारण रुपये की वस्तुओ के रूप मे क्रय-शक्ति निरन्तर कम होती जा रही है । वर्ष 1960 की कीमतो पर रुपये की क्रय-शक्ति कम होकर 1970 मे 54 3 पैसा, 1980 मे 25 0 पैसा एव जून, 1987 मे मात्र 14 पैसे ही रह गई है । अर्थात् 100 रुपये से वस्तुओं की जितनी मात्रा वर्ष 1960 मे क्रय की जा सकती थी, आज उतनी ही मात्रा के क्रय करने के लिए 715 रुपये की आवश्यकता होती है ।

(3) ऋणदात्री सस्थाएँ—कृषि वस्तुओ की कीमतो मे अत्यधिक गिरावट आने से कृषको के लिए ऋणदात्री सस्थाओ से प्राप्त ऋण का समय पर भुगतान कर पाना सम्भव नही होता है, क्योंकि प्राप्त आय कृषको के जीवन-निर्वाह के लिए ही पर्याप्त नही होती है । ऋण वसूल नही होने से ऋणदात्री सस्था के व्यवसाय पर विपरीत प्रभाव पडता है ।

(4) विदेशी व्यापार—कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे उतार चढाव से उनके व्यापार पर भी प्रभाव पडता है । कीमतो मे वृद्धि होने से प्राय. वस्तुओं का निर्यात कम हो जाता है और देश के व्यापार का सन्तुलन खराब हो जाता है । निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतो मे अस्थिरता होने पर कृषको मे उनके उत्पादन मे वृद्धि करने की प्रेरणा का ह्रास होता है ।

(5) पूँजी-निवेश—कृषि-व्यवसाय मे अन्य व्यवसायो की अपेक्षा जोखिम अधिक होती है। साथ ही कृषि-उत्पादो की कीमत मे उतार-चढाव अधिक होते हैं। इन कारणो से कृषक कृषि-व्यवसाय मे पूँजी निवेश करने मे झिझकते हैं। कृषि व्यवसाय मे पूंजी-निवेश की दर कम होने पर तकनीकी ज्ञान का पूर्ण रूप से उपयोग नही हो पाता है, फलस्वरूप उत्पादकता कम होती है।

(6) सट्टा एव जमाखोरी की प्रवृत्ति— कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे अत्यधिक उतार-चढाव होने के कारण व्यापारी एव अन्य समृद्धशाली वर्ग वस्तुओ का गुप्त सचय करते है और उनकी कृत्रिम कमी उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। इससे कीमतो मे वृद्धि होती है और मध्यस्थ वर्ग लाभान्वित होता है। इस वर्ष अधिक लाभ की राशि प्राप्त होने से व्यापारी अगले वर्ष अधिक मात्रा मे गुप्त सचय करते हैं। अत कीमतो मे अत्यधिक उतार-चढाव सट्टा एव जमाखोरी की प्रवृत्ति को बढाने मे सहायक होते है।

(7) देश मे आर्थिक नियोजन एव विकास कार्यक्रम—कृषि-कीमतो मे अत्यधिक उतार-चढाव होने से देश मे आर्थिक नियोजन एव विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने मे अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती है। इससे सरकार की आय मे अनिश्चितता होती है और सरकार निर्धारित योजना के अनुसार धन व्यय करने मे सक्षम नही हो पाती है। अत कीमतो मे अत्यधिक परिवर्तनो से योजना के निर्धारित लक्ष्य समय पर प्राप्त नही हो पाते हैं।

(8) देश मे अशान्ति एव भुखमरी की प्रवृत्ति को बढावा—कृषि-वस्तुएँ जीवन की प्रमुख आवश्यकता की वस्तुएँ होती हैं। इन पर उपभोक्ताओ की आय का अधिक प्रतिशत व्यय होता है। कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि होने से सीमित आय वाले नागरिको के लिए जीवन-निर्वाह करना कठिन हो जाता है, जिससे देश मे अशान्ति, भुखमरी, चोरी, डकैती एव रिश्वतखोरी को बढावा मिलता है।

(9) रोजगार उपलब्धि—कृषि वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढाव का देश मे रोजगार उपलब्धि पर भी प्रभाव पडता है। कीमतो मे अत्यधिक गिरावट होने से बेरोजगारी को बढावा मिलता है तथा कीमतो मे वृद्धि से कृषि-व्यवसाय मे रोजगार अधिक उपलब्ध होता है।

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था वाले देश मे कीमतो मे मन्द गति से वृद्धि एक स्वस्थ प्रक्रिया मानी जाती है। कीमतो मे मन्द गति से वृद्धि होने से कृषको को लाभ अधिक प्राप्त होता है, उत्पादन वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती है और कृषि व्यवसाय मे पूँजी-निवेश अधिक होता है। कीमतो मे वृद्धि के साथ-साथ यदि उत्पादन मे भी वृद्धि होती है तो देश मे आर्थिक विकास अधिक तीव्र गति से होता है। देश की अर्थव्यवस्था के लिए कीमतो मे तीव्र गति से वृद्धि लाभकारी नही होती है।

कृषि कीमतों मे होने वाले उतार-चढाव के कारण :

कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा उतार-चढाव अधिक होने के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

(1) कृषि-वस्तुओं की माँग एव पूर्ति की मात्रा मे असन्तुलन होना –कृषि-वस्तुओ की माँग एव पूर्ति की मात्रा मे निरन्तर असन्तुलन बना रहता है। कृषि-वस्तुओ की पूर्ति, माँग की मात्रा के अनुरूप नही होने से उनकी कीमतो मे वृद्धि होती है। कृषि-वस्तुओ की माँग एव पूर्ति म असन्तुलन निम्न कारणो से बना रहता है—

(अ) कृषि वस्तुओ का उत्पादन प्रकृति की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता पर निर्भर होता है। अनुकूल मौसम वाले वर्ष मे उत्पादन अधिक एव प्रतिकूल मौसम वाले वर्ष म उत्पादन कम होता है, जिससे उनकी पूर्ति की मात्रा मे अनिश्चितता बनी रहती है। सामान्यतया अनुकूल मौसम वाले वर्ष मे उत्पादन की अधिकता से कीमतें गिर जाती हैं और प्रतिकूल मौसम वाल वर्ष मे उत्पादन कम होने से कीमतें बढ जाती हैं। औद्योगिक वस्तुओ के उत्पादन पर मौसम का प्रभाव कृषि-वस्तुओ के समान नही होता है।

(ब) कृषि एक जैविक क्रिया है, जिसके कारण कृषि वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा को कृषि-कीमतो मे परिवर्तन के साथ-साथ समायोजित नहीं किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा को कीमतो के अनुसार समायोजित करने मे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा समय अधिक लगता है। अत माग की मात्रा मे परिवर्तन के साथ-साथ पूर्ति की मात्रा मे परिवर्तन नही हो पाने से कीमतो मे उतार-चढाव होते रहते हैं।

(स) कृषि वस्तुओ के उत्पादन का निश्चित मौसम होता है, जबकि औद्योगिक एव निर्मित वस्तुओ का उत्पादन वर्ष भर होता रहता है। अत उत्पादन मौसम मे कृषि-वस्तुओ की पूर्ति अधिक होती है एव वर्ष के अन्य मौसम मे पूर्ति कम होती है, जिसके कारण उत्पादन मौसम मे कीमतो मे गिरावट होती है और उसके बाद कीमतो मे वृद्धि होना प्रारम्भ होता है।

(द) कृषि-वस्तुओ मे शीघ्रनाशी होने का गुण विद्यमान होने के कारण उन्हे अधिक समय तक सगृहीत नही किया जा सकता है, जिससे उनकी पूर्ति की मात्रा सभी समयो मे समान नही होती है और कीमतो मे उतार-चढाव होते हैं।

(य) कृषि वस्तुएँ जीवन की प्रमुख आवश्यकता की वस्तुएँ होती हैं, जिसके कारण उनकी मांग निरपेक्ष होती है। अतः पूर्ति की अनिश्चितता

तथा माँग के निरपेक्ष होने के कारण कृषि-वस्तुओं की कीमत उतार-चढाव होते रहना स्वाभाविक है।

(2) जनसंख्या में वृद्धि—कृषि-वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि का दूसरा प्रमुख कारण देश में जनसंख्या का तीव्र गति से बढना है। जनसंख्या वृद्धि से खाद्यान्नों की माँग में वृद्धि होती है। कृषि-वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि की गति के समतुल्य नहीं हो रही है। अत. कृषि-वस्तुओं की माँग के बढने तथा उनकी पूर्ति में उसी अनुपात से वृद्धि नहीं होने के कारण कीमतों में निरन्तर वृद्धि होती रही है।

(3) सरकार की मौद्रिक नीति—कृषि-वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि का एक कारण सरकार की मौद्रिक नीति है। सरकार की मौद्रिक नीति से तात्पर्य मुद्रा-संचालन एवं रिजर्व बैंक की ऋण विस्तार नीति से है।

(अ) देश में मुद्रा-संचलन की राशि में वृद्धि अथवा कमी कृषि-वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन लाती है। अधिक मुद्रा-संचलन से मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है, रुपये का मूल्य गिर जाता है तथा कीमतों में वृद्धि होती है। इसके विपरीत मुद्रा-संचलन में कमी होने पर कीमतों में गिरावट होती है। मुद्रा-संचलन का अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कृषि-वस्तुओं की कीमतों पर अधिक प्रभाव पडता है क्योंकि वे आवश्यकता की प्रमुख वस्तुएँ होती है। योजना काल के प्रारम्भ से ही देश में मुद्रा-संचलन में वृद्धि हो रही है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों में मुद्रा-संचलन में वृद्धि की गति, राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गति से अधिक रही है जिसके कारण कीमतों में असाधारण गति से वृद्धि हुई है। देश में मार्च, 1951 में 2,016 करोड रुपये की मुद्रा-पूर्ति थी, जो बढकर 1961 में 2,869 करोड रुपये, 1971 में 7,373 करोड रुपये एवं 1978 में 18,083 करोड रुपये हो गई।

(ब) रिजर्व बैंक की ऋण विस्तार नीति भी कीमतों को प्रभावित करती है। रिजर्व बैंक द्वारा ऋण-स्वीकृति की नीति में ढिलाई देने एवं ब्याज की प्रतिशत दर में कमी करने से व्यापारी वर्ग अधिक मात्रा में खाद्यान्नों का संग्रहण करने में सक्षम होते हैं जिससे खाद्यान्नों की कृत्रिम कमी उत्पन्न होती है और कीमतें बढ जाती है। इसके विपरीत रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारियों को सट्टा, जमाखोरी आदि के लिए ऋण-विस्तार पर नियन्त्रण लगाने एवं ब्याज की दर में वृद्धि करने पर मुद्रा-संचलन की राशि में कमी होती है। व्यापारी वर्ग वित्त के अभाव में वस्तुओं के संग्रहण एवं जमाखोरी करने में सक्षम नहीं होते है जिससे खाद्यान्नों की पूर्ति में वृद्धि होती है और कीमतें गिर जाती हैं। अत. रिजर्व बैंक की ऋण-विस्तार नीति में परिवर्तन होने से कृषि वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढाव होता है। रिजर्व बैंक की इस नीति का कृषि वस्तुओं की कीमतों पर अधिक प्रभाव पडता है क्योंकि कृषि एवं कृषि आधारित वस्तुएँ वित्त आवश्यकता की दृष्टि से प्रमुख वस्तुएँ होती हैं।

(4) **सरकार की राजकोषीय नीति**—सरकार की राजकोषीय नीति के निम्नांकित पहलू कृषि-वस्तुओं की कीमतो मे परिवर्तन लाते हैं—

(अ) घाटे की वित्त व्यवस्था—घाटे की वित्त-व्यवस्था से तात्पर्य सरकार द्वारा आय से अधिक धन व्यय करने की व्यवस्था को बजट मे प्रदर्शित करने से है। इससे देश मे मुद्रा-सचलन अधिक होता है, मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होती है और कीमतो मे वृद्धि होती है। घाटे की वित्त व्यवस्था की राशि की अधिकता से कीमतो मे वृद्धि अधिक होती है। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही देश मे घाट की वित्त-व्यवस्था की राशि मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

(ब) विकास कार्यक्रमो पर सरकार के व्यय करने की प्रवृत्ति—सरकार की विभिन्न समयावधि के विकास-कार्यक्रमो को कार्यान्वित करन एव उन पर किये जाने वाले व्यय की राशि भी कृषि वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तन लाती है। अल्पकालीन विकास कार्यक्रमो को प्राथमिकता दी जाने पर कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढाव की गति धीमी होती है, क्योकि इनसे उत्पादन मे वृद्धि शीघ्रता स होती है। दीर्घ-कालीन विकास कार्यक्रमो पर अधिक धन व्यय करने से कीमतो मे उतार-चढाव की गति तेज होती है, क्योकि इन पर किये गये व्यय से उत्पादन वृद्धि देर से प्रारम्भ होती है, जबकि नागरिको की आय मे वृद्धि शीघ्रता से होती है।

(स) कर-नीति—सरकार की कर-नीति के कारण भी कीमतें प्रभावित होती हैं। सरकार द्वारा करो मे वृद्धि करने पर नागरिकों की वास्त-विक आय कम हो जाती है, मुद्रा-सचलन कम होता है और कीमतें गिर जाती हैं। साथ ही सरकार द्वारा जिस वस्तु पर कर की दर मे वृद्धि अधिक की जाती है, उस वस्तु की कीमत मे वृद्धि अपक्षाकृत अधिक होती है। कर-नीति मे सरकार प्रति वर्ष परिवर्तन करती है।

(द) प्रतिरक्षा पर व्यय नोति—सुरक्षा-व्यवस्था पर सरकार द्वारा अधिक धन व्यय करने की स्थिति मे, विकास कार्यक्रमो एव अन्य क्षेत्रो मे व्यय की जाने वाली राशि मे कटौती होती है। इससे विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन स्तर गिर जाता है और कीमतो मे वृद्धि होती है।

(य) प्रशासन-व्यय के सम्बन्ध मे नीति—कर्मचारियो के वेतन एव मँहगाई भत्ते मे वृद्धि तथा नये विभागो के प्रारम्भ एव विस्तार से सरकार का प्रशासनिक व्यय बढ जाता है। इस व्यय के बढने से सरकार के पास विकास कार्यक्रमो पर व्यय करने के लिए उपलब्ध वित्त कम हो

जाता है। साथ ही प्रशासनिक व्यय मे वृद्धि से नागरिको की आय मे वृद्धि तथा वस्तुओ की माँग की मात्रा मे वृद्धि होती है जिससे कीमतें बढती है।

(4) सरकार की व्यापार एव प्रशुल्क नीति—सरकार की व्यापार एव प्रशुल्क नीति जैसे—आयात-निर्यात नीति, लगाये गये प्रशुल्क आदि भी कृषि-वस्तुओं की कीमतो मे परिवर्तन लाते है। वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध होने तथा आयातित वस्तुओ की प्रशुल्क दर अधिक होने से वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि होती है। आयातित वस्तुओ पर प्रशुल्क-दर के कम होने पर उनकी कीमतो मे गिरावट आती है।

(6) देश मे आर्थिक एव राजनैतिक घटनाओ का होना—देश की आर्थिक घटनाएँ जैसे-रुपये का अवमूल्यन, आर्थिक मन्दी तथा राजनैतिक घटनाएँ जैसे-युद्ध का होना, शरणार्थियो का आना आदि से भी कीमतो मे उतार-चढाव आते हैं। वर्ष 1962 मे चीन के आक्रमण, 1965 मे पाकिस्तान के आक्रमण व 1971 मे बगला-देश युद्ध के फलस्वरूप देश मे कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे काफी वृद्धि हुई। इसी प्रकार सितम्बर, 1949 व जून, 1966 मे रुपये के अवमूल्यन के कारण भी कृषि-वस्तुओ की कीमतो पर प्रभाव पडा है। उपर्युक्त घटनाओ के फलस्वरूप अन्य वस्तुओ की अपेक्षा कृषि-वस्तुओ के उत्पादन पर विशेष प्रभाव पडता है।

(7) कृषि-विपणन सुविधाओ का अभाव—विपणन के लिए परिवहन, सग्रहण एव दक्ष नियन्त्रित मण्डियो का अभाव भी कृषि-वस्तुओ की कीमतो के उतार-चढाव मे सहायक होता है। परिवहन-सुविधाओ के अभाव मे खाद्यान्नो का सचलन रुक जाता है एव बिक्री गाँव मे ही अधिक होती है। सग्रहण-सुविधाओ के अभाव मे कृषको द्वारा खाद्यान्न फसल कटाई के शीघ्र पश्चात् अधिक मात्रा मे विक्रीत कर दिये जाते है। इस समय मण्डी मे वस्तुओ की पूर्ति की अधिकता के कारण कीमते गिर जाती है। देश मे नियन्त्रित मण्डियो की अपर्याप्तता के कारण कृषको को खाद्यान्न, अनियन्त्रित मण्डियो मे विक्रय करना होता है। अनियन्त्रित मण्डियो मे मध्यस्थो की लम्बी शृखला एव उनके द्वारा अपनायी जाने वाली कुचालो के कारण उत्पादक-कृषको को उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत मे से कम भाग प्राप्त होता है। साथ ही प्रतिस्पर्धा के अभाव मे अनियन्त्रित मण्डियो मे कीमत भिन्नता अधिक होती है। इन सबके परिणामस्वरूप कृषि-वस्तुओ की कीमतो म उतार-चढाव अधिक होते हैं।

(8) उचित कृषि-कीमत नीति का अभाव—सरकार की कृषि कीमत नीति के विभिन्न पहलुओ जैसे—बफर स्टॉक-निर्माण नीति, खाद्यान्नो की वसूली कीमत एव वसूली नीति, आयात-निर्यात नीति, कीमत निर्धारण नीति, अन्तर्राज्यीय-सचालन नीति, क्षेत्र-निर्माण नीति आदि के सम्बन्ध मे सरकार को ठोस, एव उचित नीति के

अभाव मे उनकी कीमतो मे उतार-चढाव होते रहते हैं। देश के उत्पादक एव उपभोक्ता कृषि कीमत नीति के उपर्युक्त पहलुओ के विकास मे सशय मे रहते हैं। कृषि-कीमत नीति के विभिन्न पहलुओ मे एकरूपता तथा सगति के अभाव के कारण कीमतो मे उतार-चढाव होते रहते हैं।

(9) व्यापारियो एव समाज विरोधी तत्त्वो द्वारा खाद्यान्नों की जमाखोरी एवं कालाबाजारी करना—समाज विरोधी तत्त्वो द्वारा खाद्यान्नो मे सट्टेबाजी, जमाखोरी एव कालाबाजारी की प्रवृति अपनाने से भी कीमतो मे वृद्धि होती है।

(10) विविध कारण—*कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढाव लाने वाले* उपर्युक्त प्रमुख कारणो के अतिरिक्त विविध कारण जैसे—परिवहन साधनो के किराये मे वृद्धि, औद्योगिक अशान्ति, श्रमिको द्वारा हडताल, भ्रष्टाचार, सरकार के प्रशासन मे ढिलाई आदि कारणो से भी कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढाव होते रहते हैं।

कीमत-स्फीति

कीमत-स्फीति से तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमे वस्तुओ की कीमतो मे सामान्य कीमत स्तर मे अत्यधिक तीव्र गति से वृद्धि होती है। स्फीति की स्थिति मे वस्तुओं की समग्र मांग उनकी समग्र पूर्ति की मात्रा से अधिक होती है, जिसके कारण कीमतो मे असामान्य एव अनावश्यक वृद्धि होती है। कीमतो मे असामान्य वृद्धि से तात्पर्य प्रतिवर्ष कीमतो के सूचकाक मे 3 से 6 प्रतिशत से अधिक वृद्धि होने से है। कीमत स्फीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग रैंडक्लीफ रिपोर्ट मे वर्ष 1931 मे किया गया था।

भारत मे द्वितीय एव तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल मे कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि की गति सामान्य दर (5 से 6 प्रतिशत) से थी। वार्षिक योजनाओं के काल मे कीमत वृद्धि की गति असामान्य हो गई। वर्ष 1966–67 मे कीमतो मे वृद्धि 14 प्रतिशत एव 1967–68 मे 13 प्रतिशत की दर से हुई। तत्पश्चात् चतुर्थ पचवर्षीय योजना के वर्ष 1972–73 एव 1973–74 मे पुन कीमतो मे वृद्धि असाधारण दर से हुई। कीमतो मे वृद्धि की दर 1972–73 मे 12 3 प्रतिशत एव 1973–74 मे 21 8 प्रतिशत थी। सरकार द्वारा अपनाये गये उपायो के फलस्वरूप पाचवी पचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष (1979–80) के अतिरिक्त अन्य वर्षों मे कीमतो की वृद्धि साधारण थी। इस योजना के अन्तिम वर्ष मे कीमतो मे वृद्धि 22 5 प्रतिशत दर से हुई। छठी पचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष (1980–81) मे भी कीमतो मे वृद्धि 16 7 प्रतिशत की दर से हुई। इस प्रकार कीमतो मे वृद्धि असाधारण गति से होने को कीमत स्फीति शब्द से सम्बोधित किया गया है। कीमत-स्फीति के कारण उत्पादक कृषको एव उपभोक्ताओ को हानि अधिक होती है। अत कीमत स्फीति पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो गया है।

कीमत स्फीति के प्रकार :

कीमत स्फीति अनेक प्रकार की होती है, जिसको निम्न आधारों के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. स्फीति उत्पन्न होने के कारणों के आधार :

(अ) मांगजन्य-स्फीति—वस्तुओं की मांग में वृद्धि, पूर्ति में वृद्धि की अपेक्षा अधिक दर से होने को मांगजन्य स्फीति कहते हैं। वस्तुओं की मांग में यह अत्यधिक वृद्धि उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि, मुद्रा पूर्ति में वृद्धि अथवा सरकार द्वारा लम्बी अवधि के विकास कार्यक्रमों पर अधिक धन व्यय करने की स्थिति में होती है।

(ब) लागतजन्य स्फीति—यह स्फीति-वस्तुओं की उत्पादन-लागत में अत्यधिक वृद्धि होने से उत्पन्न होती है। आवश्यक उत्पादन-साधनों—उर्वरक, डीजल, तेल, बीज, कीटनाशी दवाइयाँ एवं श्रम की लागत में वृद्धि होने पर लागतजन्य स्फीति उत्पन्न होती है।

2. कीमत वृद्धि के लिए नियन्त्रण के उपाय अपनाने के आधार पर :

(अ) अनियन्त्रित स्फीति—कीमत स्फीति की वह स्थिति जिसमें कीमतों में वृद्धि बिना किसी नियन्त्रण के उपाय अपनाये होती रहती है। कीमतों में वृद्धि होते रहने पर अन्त में यह स्फीति अतिस्फीति का रूप ले लेती है।

(ब) दबी हुई स्फीति—कीमतों में वृद्धि की स्थिति विद्यमान होते हुए भी कीमत नियन्त्रण के उपाय अपनाये जाने के कारण स्फीति की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती है, लेकिन कीमत नियन्त्रण के उपायों में ढिलाई देने पर कीमतों में असामान्य दर से वृद्धि होती है। इस प्रकार की कीमत स्फीति को दबी हुई स्फीति कहते हैं।

3. कीमतों में वृद्धि की गति के आधार पर :

(अ) क्रमिक स्फीति/मन्द स्फीति (Creeping Inflation) – स्फीति उत्पन्न होने की प्रथम अवस्था, जिसमें कीमतों में धीमी गति से वृद्धि होती है, मन्द स्फीति कहलाती है।

(ब) द्रुत-स्फीति (Running Inflation)—कीमतों में तीव्र दर से वृद्धि होने को द्रुत स्फीति कहते हैं। स्फीति की यह अवस्था खतरे का सूचक होती है।

(स) अति स्फीति (Galloping Inflation)—कीमतों में अत्यधिक तेज गति से वृद्धि को अति स्फीति कहते हैं। कीमत-स्फीति की यह अवस्था नागरिकों में सरकार के प्रति अविश्वास एवं भ्रान्तियाँ उत्पन्न करती है, जो बाद में आन्दोलन एवं अशान्ति में परिणत हो जाती है। इस अवस्था के उत्पन्न होने के पूर्व ही कीमत स्फीति पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता है।

□□□

अध्याय 17

कृषि-कीमत स्थिरीकरण एवं कृषि-कीमत नीति

कृषि के प्रकृति पर निर्भरता के कारण कृषि वस्तुओ के उत्पादन मे तथा उसके फलस्वरूप कृषि-कीमतो मे उतार-चढाव होना स्वाभाविक है। अत कृषको एव उपभोक्ताओ को कीमतो मे उतार-चढावो से होने वाली हानि से रक्षा करने हेतु कीमत स्थिरीकरण आवश्यक होता है। फार्म व्यवसाय से प्राप्त होने वाली आय की स्थिरता की दृष्टि से भी कीमत स्थिरीकरण महत्वपूर्ण है। इस अध्याय मे कृषि-उत्पादो की कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को कम करने के उपाय एव सरकार द्वारा कृषि-उत्पाद-कीमत नीति के लिए किए गए प्रयासो का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

कृषि-कीमत स्थिरीकरण से तात्पर्य :

कृषि-कीमत स्थिरीकरण से तात्पर्य कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढाव को कम करने अथवा कीमतो को निर्धारित सीमा के अन्तर्गत नियमित करने से है, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो की कीमतो के उतार-चढाव से होने वाली हानि से रक्षा की जा सके। अमरीकी कृषि व्यावसायिको के आयोग के अनुसार स्थिरीकरण से वास्तविक तात्पर्य कीमतो के उतार-चढाव के प्रभाव को समाप्त करना नही है, बल्कि कीमतो के उच्च-स्तरीय शिखरो को कम करने एव कीमतो की न्यूनतम गहराई वाली खाई को भरने मे मदद देने से है।[1] प्रथम पच-वर्षीय योजना के अनुसार कीमत स्थिरीकरण से तात्पर्य उच्चतम एव न्यूनतम कीमतो के स्तर को दृष्टि मे रखने से है।[2] कीमत स्थिरीकरण से तात्पर्य कीमतो को स्थायी अथवा अपरिवर्तनशील करने से नही होता है, बल्कि इससे तात्पर्य है कि कीमतें एक निर्धारित सीमा के अन्तर्गत ही नियमित होती रहे जिससे समाज के विभिन्न वर्ग अनावश्यक रूप से प्रभावित न हो।

1. Businessman's Commission on Agriculture is USA, 1927.
2. First Five Year Plan Draft, Planning Commission, Government of India. New Delhi

कृषि-कीमत स्थिरीकरण के उद्देश्य :

कृषि-उत्पादों की कीमत-स्थिरीकरण के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :

(1) कृषकों को फार्म पर उत्पादित विभिन्न उत्पादों की उचित कीमत प्राप्त कराना जिससे उनके पास उत्पादन लागत का भुगतान करने के उपरान्त पर्याप्त आय शेष रहे। शुद्ध आय की अधिकता से कृषकों में खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि करने की प्रेरणा बनी रहती है जो देश को खाद्यान्न उत्पादन में स्वावलम्बी बनाने में सहायक होती है।

(2) देश के उपभोक्ताओं को आवश्यक मात्रा में उचित कीमतों पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना, जिससे वे अपनी सीमित आय से निश्चित उपभोग-स्तर प्राप्त कर सकें।

(3) उत्पाद-कृषकों को उपभोक्ताओं द्वारा दी गई कीमत में से अधिकाधिक भाग प्राप्त कराना, जिससे विपणन में दक्षता आये। साथ ही विपणन-मध्यस्थों को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि को कम करना भी स्थिरीकरण का उद्देश्य है।

(4) कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र की वस्तुओं तथा कृषि क्षेत्र में विभिन्न फसलों के समूहों की कीमतों में उचित समता सम्बन्ध बनाये रखना, जिससे विभिन्न क्षेत्रों के व्यापार पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़े।

(5) मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण बनाये रखना।

(6) देश में उत्पादित की जाने वाली विभिन्न फसलों के निर्धारित उत्पादन लक्ष्य प्राप्त करना।

(7) औद्योगिक क्षेत्र की वस्तुओं का उत्पादन स्तर बनाये रखना, क्योंकि कृषि-क्षेत्र विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति करता है तथा औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का कृषि-क्षेत्र में उपयोग होता है।

(8) कृषकों द्वारा क्रय किये जाने वाले उत्पादन-साधनों एवं उनके द्वारा उत्पादित उत्पादों की कीमतों में उचित सम्बन्ध बनाये रखना, जिससे कृषकों में उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा बनी रहे।

(9) देश में नियोजित आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को सुचारु रूप से कार्यान्वित करना।

कृषि-कीमत स्थिरीकरण के उपाय :

कृषि-उत्पादों की कीमतों में होने वाले अत्यधिक उतार-चढ़ावों को निम्न उपाय अपनाकर कम किया जा सकता है और कीमत-स्थिरीकरण के उपर्युक्त उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते हैं—

(1) **कृषि-उत्पादों की मांग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना**—कृषि-

उत्पादो की कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावों को स्थायी रूप से कम करने के लिए उनकी माग एव पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है। वर्तमान मे कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि उनकी पूर्ति की मात्रा माग के अनुरूप नही होने से हुई है। अतः माग एव पूर्ति की मात्रा मे सन्तुलन स्थापित करने का तरीका, कृषि-कीमत-स्थिरीकरण की स्थायी एव सर्वोत्तम विधि है। कृषि-उत्पादो के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए स्वतन्त्रता के बाद निरन्तर प्रयास किया गया है, जिससे उनकी पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि हुई है, लेकिन अभी भी उनकी पूर्ति की मात्रा माग के अनुरूप नही हो पाई है। उत्पादन मे वृद्धि कृषि-योग्य परती भूमि को कृषि 'उत्पादन के लिए प्रयुक्त करके, कृषि मे तकनीकी ज्ञान का अधिकाधिक उपयोग करके, उर्वरक एव उन्नत बीजो का उपयोग करके, बहुफसलीय उत्पादन कार्यक्रम अपनाकर तथा सग्रहण काल मे होने वाली हानि से रक्षा करके की जा सकती है।

(2) कृषि-वस्तुओ की अधिकतम एव न्यूनतम कीमतें नियत करना—कृषि कीमतो के स्थिरीकरण का दूसरा उपाय कृषि वस्तुओ की अधिकतम एव न्यूनतम कीमत नियत करना है। इनके नियतन का मुख्य उद्देश्य कृषि-कीमतो को उपर्युक्त नियत सीमा मे ही परिवर्तित होते रहने देने से है। कीमतो के निर्धारित न्यूनतम स्तर से नीचे गिरने अथवा अधिकतम स्तर से ऊपर बढने पर सरकार उत्पादको एव उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाती है। कीमतो के न्यूनतम नियत स्तर से नीचे गिरने पर उत्पादको के हितो की रक्षा करने के लिए खाद्यान्नो को निर्धारित न्यूनतम कीमतों पर क्रय करने की सरकार व्यवस्था करती है। कीमतो के अधिकतम नियत स्तर से ऊपर बढने पर उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा करने के उद्देश्य से सरकार सगृहीत स्टॉक मे से नियत अधिकतम कीमत पर खाद्यान्नो के विक्रय का प्रबन्ध करती है। इस प्रकार सरकार कृषि-वस्तुओ की अधिकतम एव न्यूनतम कीमत नियत करके एव आवश्यकतानुसार क्रय अथवा विक्रय करके कीमतो मे होने वाले उतार-चढावा को कम करने का प्रयास करती है। वर्ष 1964-65 से प्रमुख कृषि उत्पादो की न्यूनतम समर्थित कीमत सरकार नियत कर रही है, जो सारणी 17.1 एव 17 2 मे दी गई है।

(3) खाद्यान्नों के सचलन पर नियन्त्रण लगाना एवं खाद्य-क्षेत्रों का निर्माण करना—देश के विभिन्न राज्यो, जिलो एव क्षेत्रो मे कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे पाई जाने वाली विभिन्नता एव होने वाले उतार-चढावों को कम करने के लिए सरकार कमी वाले क्षेत्रो से खाद्यान्नो की निकासी पर प्रतिबन्ध तथा अधिशेष पूर्ति वाले क्षेत्रो से कमी वाले क्षेत्रो मे खाद्यान्न के आयात करने का प्रबन्ध करती है। इन उपायों द्वारा कमी एव आधिक्य दोनो प्रकार के क्षेत्रो मे कीमतो के उतार-चढावों को कम करने के प्रयास किए जाते हैं। खाद्यान्नो की कमी को दूर करने के लिए विभिन्न

राज्यों को मिलाकर खाद्य-क्षेत्रों का निर्माण भी किया जाता है। खाद्य क्षेत्रों के निर्माण करते समय सरकार खाद्यान्नों में कमी एवं अधिशेष वाले क्षेत्रों/राज्यों को सम्मिलित करती है, जिससे दोनों क्षेत्रों में सम्मिलित रूप से माँग एवं पूर्ति में संतुलन स्थापित हो सके एवं खाद्यान्नों का अनावश्यक संचलन नहीं होवे।

(4) कृषि-वस्तुओं के व्यापार का सरकार द्वारा अधिग्रहण—देश में विपणन-मध्यस्थों द्वारा अधिक लाभ कमाने के लिए कृषि-वस्तुओं का सट्टा, गुप्त-संचय एवं अन्य विधियों द्वारा उनकी कृत्रिम कमी उत्पन्न करके कीमतों में होने वाले अत्यधिक उतार-चढ़ाव का नियन्त्रण सरकार द्वारा कृषि-वस्तुओं के व्यापार को निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र में संचालित करके किया जा सकता है। खाद्यान्नों के व्यापार को सार्वजनिक क्षेत्र में संचालित करके विपणन मध्यस्थों की कुचालों एवं उनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली कृत्रिम कमी एवं विपणन कुरीतियों पर सुगमता से नियन्त्रण किया जा सकता है और बढ़ती हुई कीमतों को रोका जा सकता है। वर्ष 1973-74 में खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों पर नियन्त्रण पाने के लिए सरकार ने गेहूँ के थोक व्यापार का अधिग्रहण किया और व्यापारियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये। अनेक कारणों से सरकार की यह योजना सफल नहीं हो सकी और इसे शीघ्र ही स्थगित कर दी।

(5) खाद्यान्नों का राशनिंग—देश, राज्य अथवा क्षेत्र-विशेष में खाद्यान्नों एवं अन्य कृषि-वस्तुओं की अत्यधिक कमी उत्पन्न होने पर उनकी कीमतों को तेजी से बढ़ने से रोकने के लिए सरकार उपभोक्ताओं की माँग पर नियन्त्रण लगाती है। सरकार द्वारा कृषि-वस्तुओं का राशनिंग करने का प्रमुख उद्देश्य समाज के – विशेषकर निर्धन वर्ग को नियत मात्रा में उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना है, क्योंकि बढ़ती हुई कीमत पर समाज का यह वर्ग आवश्यक मात्रा में खाद्यान्न क्रय कर पाने में सक्षम नहीं होता है। राशनिंग में सरकार प्रति परिवार/व्यक्ति खाद्यान्नों की निश्चित मात्रा नियत कीमत पर प्रतिमाह उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराती है। राशनिंग एक सार्वजनिक वितरण प्रणाली है। खाद्यान्नों के वितरण का यह कार्य कीमत-विभेद कार्यक्रम भी कहलाता है।

(6) लेवी द्वारा खाद्यान्नों की वसूली एवं बफर स्टॉक का निर्माण—कृषि-वस्तुओं की कीमतों में होने वाले अत्यधिक उतार चढ़ाव को कम करने एवं खाद्यान्न-वितरण की निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्नों का संगृहीत भण्डार होना आवश्यक है। बढ़ती हुई कीमतों की अवस्था में सरकार के लिए खाद्यान्नों की आवश्यक मात्रा को बाजार से क्रय करके संग्रहण करना कठिन होता है।

सरकार खाद्यान्नों के बफर स्टॉक का निर्माण कृषकों अथवा व्यापारियों पर लेवी लगाकर करती है। लेवी के अन्तर्गत सरकार कृषकों से क्षेत्रफल अथवा उपज

सारणी 17.1

खाद्यान्नों एव वाणिज्यिक फसलो की घोषित न्यूनतम समर्थित कीमतें

(रु० प्रति क्विन्टल)

विपणन वर्ष	जौ	दलहन फसले			वाणिज्यिक फसले		
		चना	अरहर	मूग एव उडद	जूट } (W-5 किस्म TD-5)	गन्ना°	कपास
1	2	3	4	5	6	7	8
1968–69	—	46	—	—	—	—	—
1969–70	—	—	—	—	—	—	—
1970–71	—	—	—	—	—	—	—
1971–72	—	—	—	—	113	—	—
1972–73	—	—	—	—	115	—	—
1973–74	—	—	NA	NA	125	8 00	—
1974–75	—	—	NA	NA	125	8 50	—
1975–76	—	—	NA	NA	135	8 50	210
1976–77	65	90	NA	NA	136	8 50	NA
1977–78	65	95	NA	NA	141	8 50	255
1978–79	67	125	155	165	150	10 00	255
1979–80	NA	140	165	175	155	12 50	275
1980–81	NA	145	190	200	160	13.00	304
1981–82	105	NA	NA	NA	175	13 00	NA
1982–83	122	NA	215	230 उडद 240 मूंग	175	13 00	380

1	2	3	4	5	6	7	8
1983–84	122	235	245	245 उड्द 250 मूंग	185	13 50	400+ 527*
1984 85	124	240	275	275	195	14 00	410+ 535*
1985–86	130	NA	300	300	215	16 50	425+ 535*
1986–87	132	260	320	320	225	17 00	430+ 540*
1987–88	135	280	325	325	240	18 50	440+ 550*
1988–89	135	290	360	360	250	19 50	500+ 600*
1989–90	145	325	425	425	295	22.00	570+ 690*
1990–91	180	420	480	480	320	23 00	620+ 750*
1991–92	200	450	545	545	375	26 00	695+ 840*
1992–93	210	500	640	640	400	27 00	800+ 950*
1993–94	260	600					

NA=Not Announced

+=for F 414, H 777 and 320 F variety of Cotten.

*=for H 4 long staple Good quality Cotton

}=upto 1988–89 W–5 variety in Assam and later for TD–5 variety in Assam

°=These are statutory minimum prices

Note—Crop year and marketing year are same in Arhar, Moong, Urad, Cotton and Jute For Barley and Gram, for the crop year 67–68 the marketing year is 1968-69 and so on. The Marketing year is April to March for Barley and Gram, November to October for Arhar, Moong and Urad, July to June for Jute and September to August for Cotton

Source : Publications of Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi

सारणी 17.2
तिलहन फसलों की घोषित न्यूनतम समर्थित कीमतें

(रुपये प्रति क्विन्टल)

विपणन वर्ष	सरसों (औसत किस्म)	मूंगफली (छिलके सहित)	सोयाबीन काली	सोयाबीन पीली	सूरजमुखी के बीज	कुसुम के बीज	खोपरा
1968–69	—	—	—	—	—	—	—
1969–70	—	—	—	—	—	—	—
1970–71	—	—	—	—	—	—	—
1971–72	—	—	—	—	—	—	—
1972–73	—	—	85	—	—	—	—
1973–74	—	—	85	—	—	—	—
1974–75	—	—	NA	—	—	—	—
1975–76	—	—	NA	—	—	—	—
1976–77	—	140	NA	—	150	—	—
1977–78	—	160	145	—	165	—	—
1978–79	225	175	175	—	175	—	—
1979–80	245	190	175	—	175	—	—
1980–81	NA	206	183	198	183	—	—
1981–82	NA	270	210	230	250	—	—
1982–83	NA	295	220	245	250	—	—
1983–84	355	315	230	255	275	—	—
1984–85	360	340	240	265	325	—	—
1985–86	385	350	250	275	335	—	—
1986–87	400	370	255	290	350	400	—
1987–88	415	390	260	300	390	415	—
1988–89	430	430	275	320	450	415	—
1989–90	460	500	325	370	530	440	1500
1990–91	575	580	350	400	600	550	1600
1991–92	600	645	395	445	670	575	1700
1992–93	670	750	475	525	800	640	
1993–94	760						

NA=Not announced.

Note : Crop year and marketing year are same in Soyabean, Groundnut and Sunflower while in Mustard and Safflower the marketing year is next of crop year for example for 1972-73 crop year the marketing year is 1973-74 and so on.
The marketing year is April to March for Mustard and November to October for Kharif Season crops.

Source : Publications of Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.

की मात्रा के अनुसार, उपज का एक भाग निर्धारित वसूली-कीमत पर अनिवार्य रूप से लेती है। सरकार कभी-कभी व्यापारियों से उनके द्वारा व्यापार की गई मात्रा के अनुरूप अथवा संसाधनकर्ताओं से उनके द्वारा संसाधित की गई मात्रा के अनुसार लेवी वसूल करती है। लेवी की दर विभिन्न राज्यों एवं उत्पादों के लिए भिन्न-भिन्न होती है। संगृहीत खाद्यान्नों को उचित कीमत की दुकानों के माध्यम से सरकार विक्रय करती है और कीमतों को नियन्त्रण में लाने की कोशिश करती है। प्रमुख खाद्यान्नों की वसूली हेतु सरकार प्रतिवर्ष उनकी वसूली कीमतें घोषित करती है। सरकार द्वारा घोषित खाद्यान्नों की वसूली कीमतें सारणी 17 3 में दी गई हैं।

सारणी 17 3

खाद्यान्नों की वसूली/न्यूनतम समर्थित कीमतें

(रुपये/क्विन्टल)

विपणन वर्ष	गेहूँ	धान	मोटे अनाज (ज्वार, बाजरा, मक्का एवं रागी)
1	2	3	4
1968–69	65–86	—	47–55
1969–70	66–76	45–56.25	52
1970–71	71–76	46–58	55
1971–72	71–76	47–58	55
1972–73	71–76	49–58	57–60
1973–74	71–82	70	70–72
1974–75	105	74	74

1	2	3	4
1975-76	105	74	74
1976-77	105	74	74
1977-78	110	77	74
1978-79	112 50	85	85
1979-80	115	95	95
1980-81	117	105-113	105
1981-82	130	115-123	116
1982-83	142	122-130	118
1983-84	151	132-140	124
1984-85	152	137-145	130
1985-86	157	142-150	130
1986-87	162	146-154	132
1987-88	166	150-170	135
1988-89	173	160-180	145
1989-90	183	185-205	165
1990-91	215	205-225	180
1991-92	225	230-250	205*
1992-93	250**	270-290	240
1993-94	305**		

Note— Crop year and marketing year are one and the same in paddy and coarse cereals while in wheat for the crop year 1967-68, the marketing year is 1968-69 and so on.

*=For maize it is Rs 210.

**=Central Government Bonus of Rs. 25 per quintal is extra for all those farmers selling before 30th June of the year.

Source : Publications of Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.

मुद्रा-सचलन को रोकने के लिए 16 जनवरी, 1978 को सरकार ने एक हजार व उससे बडे नोटो का विमुद्रीकरण अधिनियम पारित किया था।

(10) विविध उपाय — निम्न विविध उपाय अपनाकर भी कृषि-कीमतो मे पाये जाने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को कम किया जा सकता है—

(i) देश मे जनसख्या वृद्धि पर नियन्त्रण करके कृषि-वस्तुओ की बढती हुई मांग को कम करना।

(ii) उत्पादन वृद्धि के प्रयासो के साथ-साथ हडताल एव तालाबन्दी पर रोक लगाना।

(iii) वस्तुओ की जमाखोरी एव मुनाफाखोरी करने वालो के विरुद्ध सख्त कानूनी कार्यवाही करके वस्तुओ की कृत्रिम कमी को कम करना।

(iv) नागरिको का नैतिक उत्थान करना एव उनमे राष्ट्रीय भावना जागृत करना, जिससे देश मे समाज-विरोधी तत्त्व पनपने नही पायें।

उपर्युक्त उपायो को सम्मिलित रूप से अपनाकर कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को एक निर्धारित सीमा मे रखा जा सकता है, लेकिन ये सभी उपाय एक ही स्थिति मे काम मे नही लाये जा सकते हैं। इन उपायो का चुनाव, कीमतो मे उतार-चढाव के कारणो के विश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए।

कृषि-कीमतो के स्थिरीकरण मे कठिनाइयाँ .

कृषि-कीमतो के स्थिरीकरण की उपर्युक्त विधियो को कार्यान्वित करने मे अनेक कठिनाइयाँ आती हैं जिनके कारण कीमत स्थिरीकरण के उद्देश्य पूर्ण रूप से प्राप्त नही होते हैं और कीमतो मे निरन्तर उतार-चढाव होते रहते हैं। अतः कीमत स्थिरीकरण के विभिन्न उपायो की सफलता निम्न कठिनाइयो को दूर करने पर निर्भर करती है। कृषि कीमतो के स्थिरीकरण मे आने वाली कठिनाइयाँ निम्न हैं—

(1) कृषि के प्रकृति पर निर्भरता के कारण उत्पादन पूर्णतः मौसम की अनुकूलता एव प्रतिकूलता पर निर्भर करता है। अत. उत्पादन कम प्राप्त होने पर कृषि-कीमत स्थिरीकरण के उपर्युक्त उपायो द्वारा कीमतो के उतार-चढाव को कम करना सम्भव नही है।

(2) कृषि-वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि के लिए विभिन्न फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल नियत करने के निर्णय लेने मे कृषक आर्थिक कारको की अपेक्षा सामाजिक कारको एव घरेलू आवश्यकता को अधिक महत्त्व देते हैं, जिससे कृषि-वस्तुओ के कुल उत्पादन की प्राप्त होने वाली मात्रा मे अनिश्चितता बनी रहती है।

(3) कृषि-वस्तुओ की प्रति इकाई उत्पादन लागत मे क्षेत्र, जोत के आकार, उत्पादन-साधनो की प्रयुक्त मात्रा एव प्रबन्ध कारक की विभिन्नता के कारण बहुत भिन्नता पाई जाती है, जिससे निर्धारित न्यूनतम कीमत से विभिन्न कृषको को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि मे बहुत अन्तर होता है। अधिकाश कृषक न्यूनतम कीमत पर कृषि-वस्तुओ को विक्रय करना नही चाहते है क्योकि उन्हे इस कीमत पर उत्पादन-लागत की राशि भी प्राप्त नही होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कीमत निर्धारण के लिए विभिन्न स्थितियो मे उत्पादन-लागत के सही एव विश्वसनीय आंकडे सरकार को उपलब्ध नही होना है।

(4) कृषि-वस्तुओ के व्यापार के लिए सरकार के पास सग्रहण के लिए पर्याप्त क्षमता वाले भण्डारगृहो का उचित स्थानो पर अभाव, खाद्यान्नो के सचलन के लिए परिवहन सुविधाओ की अपर्याप्तता, प्रशिक्षित एव अनुभवी कार्यकर्त्ताओ का अभाव एव सरकारी नौकरी मे लाल-फीताशाही भी कृषि कीमतो की स्थिरीकरण नीति को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने मे बाधक होती है।

(5) कृषि-वस्तुओ की विपणन की नीति-निर्धारण मे राजनैतिक हस्तक्षेप होना, जिससे निर्धारित नीति पूण रूप से कार्यान्वित नहीं हो पाती है।

(6) व्यापारियो एव विपणन-मध्यस्थो द्वारा कीमत स्थिरीकरण नीति के लिए सरकार द्वारा अपनाये गये उपायो का विरोध करना एव निर्धारित नीति को असफल बनाने की निरन्तर कोशिश करना।

(7) खाद्यान्नो के क्रय-विक्रय के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे सहकारी समितियो एव उचित कीमत की दुकानो की अपर्याप्तता एव उनके द्वारा खाद्यान्नो के वितरण मे अनेक अनियमितताओ के व्याप्त होने से कीमत-स्थिरीकरण की नीति अपने उद्देश्यो मे सफल नही हो पाती है।

कृषि कीमत स्थिरीकरण नीति के विभिन्न उपायो के अपनाने एव निर्धारित नीति के अनुसार कार्य करने मे उपर्युक्त कठिनाइयो के होते हुए भी देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास एव समाज के विभिन्न वर्गों के हितो की रक्षा करने के उद्देश्य हेतु कृषि-कीमतो का स्थिरीकरण करना आवश्यक है। अत सरकार को उपर्युक्त कठिनाइयो को दूर करने के प्रयास करने चाहिए, जिससे कृषि उत्पादो की कीमत-स्थिरीकरण के उद्देश्य प्राप्त हो सकें।

कृषि-कीमत-नीति

समाज के विभिन्न वर्गों—उत्पादकों, उपभोक्ताओं, ऋणदात्री संस्थाओं, विपणन मध्यस्थों एवं निर्यातकों के हितों की रक्षा करने एवं देश की अर्थव्यवस्था के विकास हेतु, एक आदर्श कृषि-कीमत-नीति का होना आवश्यक है। कृषि वस्तुओं से सम्बन्धित कीमत नीति इस प्रकार से निर्धारित की जानी चाहिए जिससे कृषि-क्षेत्र में बढ़ते हुए उत्पाद से आवश्यकता की पूर्ति हो सके। यह प्रयास होना चाहिए कि कीमतें कृषकों के लिए कृषि-व्यवसाय में अधिक पूंजी-निवेश को प्रेरणा देने वाली हो तथा वे उपभोक्ताओं के लिए भी अधिक न हो।

एक सफल एवं आदर्श कृषि-कीमत-नीति से तात्पर्य देश के कृषकों को पैदावार की उचित कीमत दिलाने, उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर आवश्यक मात्रा में *खाद्यान्न उपलब्ध कराने एवं देश की अर्थव्यवस्था को विकास की ओर अग्रसर* करने वाली नीति से है। साथ ही यह नीति उत्पादन एवं बाजार-प्रधान भी होनी चाहिए।

एक सफल एवं आदर्श कृषि-कीमत-नीति के निम्न उद्देश्य होते हैं[3]—

(1) कृषि-उत्पाद एवं निर्मित औद्योगिक माल की कीमतों में उचित *सम्बन्ध बनाये रखना, जिससे दोनों क्षेत्रों के व्यापार का विकास* हो।

(2) विभिन्न कृषि-उत्पादों की कीमतों में परस्पर उचित सम्बन्ध बनाये रखना, जिससे नियोजित *अर्थव्यवस्था में विभिन्न कृषि उत्पादों के* निर्धारित उत्पादन लक्ष्य प्राप्त हो सकें।

(3) कृषि-वस्तुओं के लिए उपभोक्ता द्वारा दिये गये मूल्य एवं कृषक को उसी इकाई के लिए प्राप्त मूल्य के अन्तर को न्यूनतम करना, जिससे समाज के दोनों वर्गों के हितों की रक्षा हो सके एवं विपणन-मध्यस्थों द्वारा लिये जाने वाले अत्यधिक लाभ को कम किया जा सके।

(4) कृषकों को कृषि-उत्पादों की उचित कीमत दिलाकर उत्पादन बढाने की प्रेरणा देना, जिससे कृषि-आधारित उद्योगों को आवश्यक मात्रा में नियमित रूप से कच्चा माल उपलब्ध होता रहे।

(5) कृषि-वस्तुओं की कीमतों में होने वाले चक्रीय एवं मौसमी उतार-चढ़ाव कम करना।

3. नन्दलाल अग्रवाल, कृषि मूल्य नीति, योजना, वर्ष 15, अंक 23 व 24, दिसम्बर 19, 1971, पृष्ठ 29-30,

(6) कृषि-उत्पादो की कामतो मे स्थिरता लाना, जिससे कृषक कृषि-विकास मे अधिक से अधिक धन लगाने को तत्पर रहे।

(7) विभिन्न क्षेत्रो मे कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे पायी जाने वाली असमानता को कम करना, जिससे खाद्यान्नो का एक स्थान से दूसरे स्थान पर अनावश्यक सचलन नही होवे।

(8) कृषि-उत्पादो एव कृषि के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनो की कीमतो मे उचित समता (Parity) बनाये रखना, ताकि कृषको मे उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा बनी रहे।

(9) उपभोक्ताओ को उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना, जिससे वे सीमित आय से उचित जीवन-स्तर प्राप्त कर सकें।

(10) कृषि-वस्तुओ की माँग एव पूर्ति मे समन्वय स्थापित करना, जिससे कीमतो मे होने वाले उतार-चढाव कम होवें।

कृषि-कीमत नीति के उपर्युक्त उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए नीति-निर्धारण के साथ-साथ निर्धारित नीति को कार्यान्वित करना भी आवश्यक है। कार्यान्वियन मे ढील देने अथवा उसमे अड़चनें होने से निर्धारित कृषि-कीमत-नीति के उपर्युक्त उद्देश्यो की प्राप्ति सम्भव नही होती है। वर्तमान मे सरकार का नीति-निर्धारण का पक्ष मजबूत रहा है, लेकिन उसको कार्यान्वित करने का पक्ष कमजोर रहा है, जिससे समाज के दोनो *वर्गों—उत्पादको एव उपभोक्ताओ को सम्भावित लाभ प्राप्त नही हो* पाये हैं। कृषि-कीमत-नीति की सफलता का ज्ञान निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के पश्चात् ही प्राप्त होता है। अत. कृषि-कीमत-नीति के निर्धारण के साथ-साथ उसे कार्यान्वित करने के पहलू मे भी सुधार लाना आवश्यक है।

कृषि-कीमत-नीति के निर्धारण के लिए नियुक्त समितियाँ एव उनके सुझाव :

कृषि-कीमत-नीति के निर्धारण के लिए सरकार ने समय-समय पर विभिन्न समितियाँ नियुक्त की है, जिन्होने कृषि-वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले उतार-चढावो को कम करने एव खाद्यान्नो की कमी की समस्या को हल करने के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। सरकार द्वारा नियुक्त प्रमुख समितियां ये हैं—

(1) खाद्यान्न नीति समिति—यह समिति सर थियोडोर ग्रेगोरी की अध्यक्षता मे वर्ष 1943 मे नियुक्त की गई थी। समिति ने प्रतिवेदन मे कृषि-वस्तुओं की कीमतो के स्थिरीकरण, कीमतो के नियतन मे समता सूत्र के उपयोग एव कृषि-कीमतो से सम्बन्धित विभिन्न आँकड़े एकत्रित करने की विधि के लिए सुझाव प्रेषित किये थे।

(2) कीमत उप-समिति—यह समिति वर्ष 1944 मे श्री कृष्णमाचारी की

अध्यक्षता मे नियुक्त की गई थी, जिसने कृषि कीमतो के स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिये थे—

(i) कृषि-वस्तुग्रो की कीमतो का पूर्वानुमान फसल की बुवाई के पूर्व तथा पूर्वानुमानित कीमत पर खाद्यान्नो के क्रय करने को कृषको को ग्राश्वासन दिया जाना चाहिए।

(ii) कीमतो के निर्धारण मे उत्पादकों के हितो की रक्षा करने के साथ-साथ उपभोक्ताग्रो के हितो की रक्षा का उद्देश्य भी होना चाहिए।

(iii) बढती हुई कीमतों को रोकने के लिए सरकार को पर्याप्त मात्रा मे खाद्यान्नो के बफर स्टॉक का निर्माण करना चाहिए।

(iv) निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के लिए, सरकार द्वारा ग्रखिल भारतीय कृषि परिषद् का गठन करना चाहिए।

(v) देश मे खाद्यान्नो की ग्रावश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा विभिन्न खाद्यान्नो के ग्रन्तर्गत क्षेत्रफल नियत किया जाना चाहिए।

(3) कृषि-कीमत जाँच समिति—इस समिति की नियुक्ति वर्ष 1953 मे कृषको को लाभप्रद सूचना देने, विपणन के आँकडे एकत्रित करके उनके विश्लेषण के ग्राधार पर सरकार को उत्पादन नीति के विषय मे सलाह देने के उद्देश्य से की गई थी।

(4) कृषि-कीमत परिवर्तन जाँच समिति—इस समिति का गठन 1955 मे श्री एम० बी० कृष्णप्पा की अध्यक्षता मे ग्रन्तर्राज्यीय एव ग्रन्तर्क्षेत्रीय कीमतो की ग्रसमानता एव मौसमी कीमतो के उतार-चढावो को कम करने के लिए आवश्यक सुझाव देने हेतु किया गया था।

(5) खाद्यान्न जाँच समिति—यह समिति वर्ष 1957 मे श्री अशोक मेहता की ग्रध्यक्षता मे खाद्यान्नो की बढती हुई कीमतो की जाँच करने एव उनके स्थिरीकरण के लिए सुझाव देने हेतु गठित की गई थी। इस समिति ने देश मे खाद्य समस्या को हल करने के लिए नवम्बर, 1957 मे प्रस्तुत रिपोर्ट मे निम्नलिखित सुझाव दिये थे—

(i) कीमत-स्थिरीकरण के विभिन्न पहलुओ पर सरकार को सलाह देने के लिए कीमत स्थिरीकरण परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए।

(ii) कीमतो के सम्बन्ध मे सूचना तैयार करने के लिए केन्द्रीय एव क्षेत्रीय स्तर पर कीमत-सूचना विभाग की स्थापना की जानी चाहिए।

(iii) खाद्यान्नो की न्यूनतम कीमत का निर्धारण प्रति वर्ष माँग एव पूर्ति की स्थिति के अनुसार किया जाना चाहिए।

(iv) सरकार द्वारा पर्याप्त मात्रा मे खाद्यान्नो का बफर स्टॉक किया जाना चाहिए।

(v) खाद्यान्नो की बढती हुई अल्पकालीन कीमतो को रोकने के लिए व्यापारियो को अनुज्ञा-पत्र देने, विभिन्न क्षेत्रो को सम्मिलित करते हुए खाद्य-क्षेत्रो का निर्माण करके, लेवी द्वारा खाद्यान्नो की अनिवार्य वसूली एव उचित कीमत की दुकानो द्वारा उनके वितरण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(vi) कीमतो मे वृद्धि रोकने के उपर्युक्त उपायो को अपनाने के अतिरिक्त उत्पादन-वृद्धि की कोशिश भी की जानी चाहिए। उत्पादन-वृद्धि के लिए उन्नत बीजा के आविष्कार, उर्वरको का अधिक मात्रा मे उपयोग, कृषको को कृषि की उन्नत विधियो को अपनाने के लिए प्रेरित करने के लिए अनुदान तथा कृषि-ऋण की सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

(6) फोर्ड सस्थान दल—भारतीय खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए फोर्ड सस्थान दल ने वर्ष 1959 मे निम्न सुझाव दिये—

(i) विभिन्न खाद्यान्नो की न्यूनतम कीमत सरकार द्वारा फसल की बुवाई के पूर्व घोषित की जानी चाहिए, जिससे घोषित कीमतो से कृषक उत्पादन-योजना बनाते समय लाभान्वित हो सकें।

(ii) निर्धारित कीमत-नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार द्वारा स्थायी सगठन का निर्माण किया जाना चाहिए।

(iii) खाद्यान्नो की कीमतो का निर्धारण आयातित खाद्यान्नो की अपेक्षा 10 से 15 प्रतिशत कम स्तर पर किया जाना चाहिए।

(7) खाद्यान्न-नीति समिति—सरकार ने वर्ष 1966 मे श्री बी० वेंकटपैय्या की अध्यक्षता मे कीमतो मे होने वाले अत्यधिक उतार-चढावो को कम करने हेतु आवश्यक सुझाव देने के लिए खाद्यान्न-नीति समिति का गठन किया था। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिये थे—

(i) खाद्यान्नो मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने एव कीमत-स्थिरीकरण के लिए राष्ट्रीय खाद्य-बजट का निर्माण किया जाना चाहिए।

(ii) कीमतो के मौसमी उतार-चढावो को कम करने के लिए सरकार को खाद्यान्नो के पर्याप्त मात्रा मे भण्डारण का प्रबन्ध करना चाहिए।

(iii) खाद्यान्नो की वसूली एव वितरण का कार्य खाद्य निगम की प्रादेशिक शाखाओ के द्वारा करवाया जाना चाहिए, जिससे क्षेत्र में होने वाली व्यापारिक कुरीतियो को रोका जा सके।

(iv) प्रति वर्ष सरकार द्वारा खाद्यान्नो की न्यूनतम एव वसूली कीमत नियत की जानी चाहिए।

(v) ग्रामीण क्षेत्रो मे खाद्यान्नो की समुचित वितरण व्यवस्था के लिए उचित कीमत की दुकानो की सख्या मे वृद्धि की जानी चाहिए।

(vi) अधिक उत्पादन वाले क्षेत्रो के कृषको से उत्पादन की प्राप्त मात्रा अथवा क्षेत्रफल के अनुसार श्रेणीकृत लेवी विधि द्वारा खाद्यान्नो की वसूली की जानी चाहिए।

(vii) खाद्यान्नो के विपणन मे होने वाली विपणन-लागत को कम करने के लिए समिति ने देश की मण्डियो को नियन्त्रित करने, व्यापारियो को अनुज्ञा-पत्र देने एव उनके हिसाब की समय-समय पर जाँच करने की सिफारिश की है।

(viii) सरकार द्वारा कृषको को उत्पादन बढाने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। कृषको को उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देने के लिए उत्पादन-साधन, जैसे–उर्वरक, कीटनाशी दवाइयां, विद्युत् आदि के क्रय पर आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए, जिससे कृषक इनका अनुकूलतम मात्रा मे उपयोग करके खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि कर सकें।

(8) कृषि लागत एव कीमत आयोग (Commission for Agricultural Costs and Prices)—कृषि वस्तुओ की कीमत-नीति के विभिन्न पहलुओ के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने जनवरी, 1965 से प्रो एम एल. दान्तवाला की अध्यक्षता मे कृषि-कीमत आयोग (Agricultural Prices Commission) की स्थापना की थी। प्रारम्भ मे यह आयोग तीन वर्ष की अवधि के लिए स्थापित किया गया था, लेकिन नीति निर्धारण में इसकी महत्ता को दृष्टिगत रखते हुए इसे स्थायी रूप दे दिया गया है। कृषि कीमत आयोग की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य ये हैं—

(i) प्रमुख कृषि-उत्पाद—गेहूँ चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, चना, गन्ना, तिलहन, कपास, जूट, अन्य दालो एव मोटे अनाज वाली फसलो के सन्तुलित एव एकीकृत कीमतो के ढांचे का निर्माण करने एव उन्हें कार्यान्वित करने के लिए सरकार को समय-समय पर आवश्यक सुझाव देना।

(ii) विभिन्न कृषि उत्पादो की कीमतो मे होने वाले उतार-चढावो की

समीक्षा करना एव उनको कम करने के लिए सरकार को समय-समय पर आवश्यक सुझाव देना, जैसे खाद्यान्नो की वसूली के लिए लेवी लगाना, बॅफर स्टॉक निर्माण, खाद्य-क्षेत्रो का निर्माण, खाद्यान्नो का वितरण आदि।

(iii) कृषि-उत्पादन के क्षेत्र मे बाधक तत्वो—उत्पादन-साधनो की कमी, उनका समय पर उपलब्ध नही होना, कीमतो की अधिकता की समस्याओ को सुलझाने के लिए सरकार को आवश्यक सुझाव देना।

(iv) कृषि-उत्पादो के विपणन मे होने वाली विपणन-लागत एव मध्यस्थो को प्राप्त होने वाले लाभ का अध्ययन करना एवं उनको कम करने के उपायो की सरकार को सलाह देना, जिससे कृपको को उपभोक्ता-मूल्य मे से अधिक अश प्राप्त हो सके।

(v) कृषको को उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देने के लिए सरकार को आवश्यक सुझाव देना, जैसे—विभिन्न खाद्यान्नो की न्यूनतम समर्थित कीमत घोषित करना, खाद्यान्नो की वसूली के लक्ष्य एव कीमतें नियत करना आदि।

कृषि-कीमत आयोग प्रत्येक वर्ष खरीफ एव रबी की मौसम के प्रमुख कृषि-उत्पादो की न्यूनतम समर्थित कीमत एव वसूली कीमत नियत करने की सिफारिश अपनी रिपोर्ट मे सरकार को करता है। सरकार आयोग द्वारा सुझाई गई कीमतो पर विचार करके एव उनमे आवश्यकतानुसार सशोधन करके कीमतें घोषित करती है। वर्तमान मे सरकार ने इसका नाम कृषि-लागत एव कीमत आयोग करके इसके कार्य-क्षेत्र मे विस्तार किया है।

कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा कीमतो का निर्धारण—कृषि-कीमत आयोग अपने स्थापना वर्ष 1965 से ही कृषि-उत्पादो की तर्क-सगत योजना के आधार पर कीमत-निर्धारण का कार्य कर रहा है। कृषि लागत एव कीमत आयोग निम्न दो प्रकार की कीमतें प्रस्तावित कर रहा है—

(अ) न्यूनतम-समर्थित कीमत—कृषि-लागत एव कीमत आयोग विभिन्न कृषि-उत्पादो की कीमतो मे प्रतिवर्ष होने वाली गिरावट से कृपको की रक्षा करने के उद्देश्य से न्यूनतम समर्थित कीमत नियत करने का सुझाव सरकार को देता है। यह न्यूनतम समर्थित कीमत कृषकों की उत्पादन-लागत के आधार पर निर्धारित की जाती है। न्यूनतम समर्थित कीमत कृपको के लिए बीमा कीमत के रूप मे होती है। यह कीमत उन्हें विश्वास दिलाती है कि बाजार मे कृषि-उत्पादो की प्रचलित कीमत के कम होने अथवा उत्पादन अधिक मात्रा मे होने की दोनो ही अवस्थाओ मे सरकार कृपको से नियत की गई न्यूनतम समर्थित कीमतो पर कृषि-उत्पाद क्रय करेगी।

कृषि-लागत एव कीमत आयोग विभिन्न कृषि उत्पादो की न्यूनतम समर्थित कीमत की सिफारिश सरकार को फसल की बुवाई के समय से पूर्व ही कर देना है, जिससे सरकार फसल की बुवाई से पूर्व ही कृषको के लिए इन कीमतो को घोषित कर सके। इन कीमतो को फसल की बुवाई से पूर्व घोषित कर देने से कृषको को फार्म की उत्पादन-योजना बनाने से सम्बन्धित निर्णय लेने मे सहायता मिलती है।

(ब) वसूली/अधिप्राप्ति कीमत—कृषि-लागत एव कीमत आयोग न्यूनतम समर्थित कीमत के साथ-साथ प्रमुख खाद्यान्नो के लिए वसूली कीमते भी प्रस्तावित करता है। वसूली कीमत वह है जिस पर सरकार आवश्यकता होने पर कृषको, व्यापारियो एव मिल-मालिको से कृषि-उत्पाद क्रय करती है। सरकार कमजोर वर्ग को उचित कीमतो पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए वचनबद्ध होती है। अत इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वसूली कीमत का निर्धारण आवश्यक है। कृषि-लागत एव कीमत आयोग खाद्यान्नो के लिए वसूली कीमत का निर्धारण फसल के कटाई के पूर्व कृषको की उत्पादन-लागत एव प्राप्त उत्पादन की मात्रा को दृष्टिगत रखते हुए करता है।

कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित कीमतो पर सरकार राज्यो के मुख्यमन्त्रियो एव कृषि-मन्त्रियो से मन्त्रणा के पश्चात् निर्णय लेकर कीमतो की घोषणा करती है। सरकार कृषि लागत एव कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित कीमत मे सशोधन कर सकती है। वर्ष 1975–76 के अतिरिक्त सभी वर्षों मे कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित वसूली-कीमतो मे सरकार ने सशोधन किया है। राजनैतिक एव अन्य कारणो से सरकार ने खाद्यान्नो की वसूली कीमत, कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित कीमत से अधिक स्तर पर ही निर्धारित की है। वर्ष 1975–76 मे कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा गेहूँ की प्रस्तावित वसूली कीमत को सरकार ने मान लिया था। अत कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित कीमत एक सिफारिश मात्र है जिसे स्वीकार करना अथवा नही करना सरकार के अधिकार मे होता है।

कृषि-लागत एव कीमत आयोग द्वारा निर्धारित न्यूनतम समर्थित कीमत तब प्रभाव मे आती है जब कृषक निर्धारित न्यूनतम कीमत पर खाद्यान्न सरकार को विक्रय करना चाहते हैं, अर्थात् बाजार मे प्रचलित कीमत, न्यूनतम समर्थित कीमत से कम होती है। ऐसी कृषि-लागत एव कीमत आयोग की स्थापना के पश्चात् एक बार वर्ष 1970–71 मे गेहूँ के उत्पादन मे विशेष वृद्धि होने के कारण पजाब व हरियाणा राज्यो मे हुआ था, जब मण्डियो मे गेहूँ की कीमत निर्धारित न्यूनतम समर्थित कीमत से भी नीचे स्तर पर आ गई थी। सरकार के पास खाद्यान्न के क्रय सग्रहण, वित्त आदि की कार्य-कुशल व्यवस्था नहीं होने के कारण सरकार बाजार मे, उपलब्ध गेहूँ की मात्रा को निर्धारित न्यूनतम समर्थित कीमत पर क्रय नही कर सकी, जिसके कारण कृषको को न्यूनतम नियत कीमत से नीचे के स्तर पर गेहूँ विक्रय करके हानि उठानी पडी। सरकार के पास खाद्यान्नो के क्रय, सग्रहण आदि की उचित व

परोक्ष व्यवस्था के अभाव में न्यूनतम समर्थित कीमतों की घोषणा से कृषकों को लाभ नहीं हो पाता है। वर्ष 1970-71 के बाद खाद्यान्नों की कीमतों में निर्धारित न्यूनतम स्तर से नीचे गिरावट नहीं आई। अतः कृषि-लागत एवं कीमत आयोग द्वारा निर्धारित न्यूनतम समर्थित कीमतों की घोषणा एक औपचारिकता मात्र ही रही है।

कृषि-लागत एवं कीमत आयोग वसूली-कीमतों का निर्धारण कृषकों को होने वाली लागत के स्तर से ऊँचे स्तर पर करता है, जिससे कृषकों को उत्पादन-लागत की प्राप्ति के साथ-साथ लाभ की अच्छी राशि भी प्राप्त हो और उन्हें उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा मिले। लेकिन वसूली-कीमतों का निर्धारण बाजार में प्रचलित कीमतों से नीचे स्तर पर किया जाता है, जिससे देश के गरीब वर्ग के उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर सरकार खाद्यान्न उपलब्ध करा सके। देश में खाद्यान्नों की बाजार कीमत एवं सरकार द्वारा नियत वसूली-कीमत में काफी अन्तर होने पर, कृषक, व्यापारी एवं मिल-मालिक सरकार को निर्धारित वसूली कीमत पर स्वेच्छा से खाद्यान्न विक्रय करना नहीं चाहते हैं और ऐसा न करने के लिये अनेक प्रकार की दलीलें पेश करते हैं। उनके द्वारा दी गई दलीलों में प्रमुखतः उत्पादन-लागत की राशि पूरी प्राप्त नहीं होना, विक्रय के लिए उनके पास खाद्यान्न का अतिरेक नहीं होना, व्यापारियों एवं मिल-मालिकों द्वारा खरीद के प्रस्ताव नहीं किया जाना, आदि हैं।

कृषि-लागत एवं कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित वसूली-कीमत का अधिकांश राज्यों के मुख्य मन्त्रियों एवं कृषि मन्त्रियों द्वारा विरोध प्रकट किया जाता है तथा दलील दी जाती है कि प्रस्तावित वसूली-कीमतों में वृद्धि की जानी चाहिये, क्योंकि इन पर राज्य के अनेक कृषकों को उत्पादन-लागत की राशि एवं कृषकों को खाद्यान्नों के उत्पादन में अन्य क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों के समान लाभ की राशि प्राप्त नहीं होती है। कृषि-लागत एवं कीमत आयोग द्वारा गेहूँ के लिये प्रस्तावित वसूली-कीमत का गेहूँ के प्रमुख उत्पादन वाले राज्यों—पंजाब, हरियाणा एवं राजस्थान द्वारा विरोध किया जाता रहा है, जिसके कारण सरकार को प्रतिवर्ष वसूली-कीमत की घोषणा कृषि-लागत एवं कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित कीमतों से ऊँचे स्तर पर करनी पड़ती है।

कृषि-कीमत-नीति के कार्यान्वयन में सुधार के उपाय

कृषि-कीमत-नीति के कार्यान्वयन में सुधार के लिए निम्न उपाय अपनाये जाने चाहिएँ—

(1) कृषि-उत्पादों के संग्रहण एवं उनके अनावश्यक नुकसान को कम करने के लिए विभिन्न स्थानों—गाँवों, शहरों, मण्डियों एवं रेल्वे स्टेशनों के नजदीक वैज्ञानिक विधि के आधार पर गोदामों का निर्माण करना चाहिए। वर्तमान में देश के विभिन्न क्षेत्रों में गोदामों की स्थिति,

संख्या एवं संग्रहण-क्षमता संतोषजनक नहीं है। कृषि-कीमत नीति की सफलता के लिए इनकी महत्ता काफी अधिक है। उचित स्थानों पर गोदामों के निर्माण से परिवहन-लागत में कमी होती है।

(2) निर्धारित बफर स्टॉक के निर्माण के लिए खाद्यान्नों के क्रय का कार्य व्यापारियों एवं मध्यस्थों को नहीं देना चाहिए। खाद्यान्नों के क्रय का कार्य सहकारी-विपणन समितियों, भारतीय खाद्य निगम अथवा राज्य भण्डार व्यवस्था निगम के माध्यम से कराना चाहिए, जिससे उपभोक्ताओं में अनावश्यक भ्रांतियाँ नहीं फैलें।

(3) व्यापारियों की कुचालों एवं उनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली कृत्रिम कमी पर नियन्त्रण पाने के लिए व्यापारियों को अनुज्ञा पत्र जारी किये जाने चाहिएँ। उनके द्वारा संग्रहण की जाने वाली मात्रा का नियतन एवं उनके स्टॉक के प्रदर्शन की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

(4) निर्धारित कीमत-नीति में सरकार को परिवर्तन कम से कम करना चाहिए तथा किये गये परिवर्तनों की सूचना समय पर समाज के सभी वर्गों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(5) कीमत-नीति का उल्लंघन करने पर सभी वर्ग के नागरिकों के लिए समान जुर्माने का प्रावधान होना चाहिए, जिससे नागरिकों की कीमत-नीति के प्रति दृढ़ भावना जागृत हो सके।

(6) सरकार द्वारा विभिन्न खाद्यान्नों की न्यूनतम-समर्थित कीमतों का नियतन एवं उनकी घोषणा का कार्य फसल की बुवाई के पूर्व हो जाना चाहिए, जिससे कृषक फसलों का चुनाव एवं उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल-निर्धारण का सही निर्णय ले सकें।

(7) कीमतों के नियत न्यूनतम स्तर से नीचे गिरने की स्थिति में सरकार को खाद्यान्नों के क्रय की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक वित्त, संग्रहण एवं कार्यकर्त्ताओं की व्यवस्था समय से पूर्व ही कर लेनी चाहिए, जिससे आवश्यकता होने पर उनका शीघ्रता से उपयोग किया जा सके।

(8) कीमतों के बढ़ते हुए स्तर को रोकने के लिए कृषकों को आवश्यक मात्रा में एवं सस्ती दर पर उत्पादन-साधन—बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, कृषि-यन्त्र उपलब्ध कराने के लिए सरकार को प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे खाद्यान्नों की उत्पादन-लागत में कमी हो सके।

(9) सरकार द्वारा घोषित कीमत-नीति की सफलता के लिए आधारभूत सुविधाओं (Infrastructure) का विकास करना आवश्यक है, जैसे—देश में परिवहन सुविधा के लिए सड़कों का निर्माण, नियन्त्रित मण्डियों का विकास, सहकारी विपणन समितियों की स्थापना, आदि।

(10) गाँवों में खाद्यान्नों की उचित वितरण व्यवस्था के लिए उचित कीमत की दुकानों की संख्या में वृद्धि तथा सहकारी विपणन समितियों के निर्माण के लिए कृषकों में जागरूकता उत्पन्न की जानी चाहिए।

(11) कीमतों में अधिक वृद्धि होने की स्थिति में सरकार द्वारा खाद्यान्नों के व्यापार को पूर्णतः अपने हाथ में ले लेना चाहिए तथा वितरण-मध्यस्थों को समाप्त करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

अध्याय 18

कृषि उत्पादों की कीमत-निर्धारण

वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए कीमतो का निर्धारण आवश्यक होता है। कीमतो का निर्धारण मण्डी मे वस्तुओं के क्रेताओं एव विक्रेताओं के परस्पर सम्पर्क द्वारा होता है। कभी-कभी निर्धारित कीमतें व्यापारियों के प्रभाव के कारण अपने निर्धारित उद्देश्य—कृषकों को उत्पाद की लाभप्रद कीमत दिलाने तथा उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने मे सफल नही होती है। अत समाज के दोनो वर्गों को होने वाली हानि से रक्षा करने हेतु सरकार कीमत-निर्धारण का कार्य करती है।

कीमत-निर्धारण मे वस्तुओं के अधिकतम एव न्यूनतम दोनो ही स्तर निर्धारित किये जाते हैं। न्यूनतम कीमत का निर्धारण कृषकों को उत्पादन की उत्पादन-लागत एव उचित लाभ की राशि प्राप्त कराने तथा अधिकतम कीमत का निर्धारण उपभोक्ताओं के हितो की रक्षा करने हेतु किया जाता है, जिससे उपभोक्ता अपनी सीमित आय से उचित जीवन-स्तर बनाये रख सकें। कृषि-वस्तुओं की कीमतो का निर्धारण करने मे उत्पादकों एव उपभोक्ताओं के हितो की रक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त निम्न सावधानियाँ भी ध्यान म रखनी चाहिए—

(i) देश के विभिन्न क्षेत्रों मे कीमत निर्धारण नीति मे समानता बनाये रखने के लिए यह कार्य राज्य सरकारों की सलाह के अनुसार किया जाना चाहिए।

(ii) कृषि वस्तुओं की कीमतो के निर्धारण मे उन सभी उत्पादो को सम्मिलित किया जाना चाहिए, जो एक दूसरे से सम्बन्धित हैं एव एक उत्पाद की कीमत-निर्धारण से दूसरे उत्पाद की कीमत प्रभावित होती है।

(iii) कृषि उत्पादों की कीमतो के निर्धारण म विभिन्न राज्यों मे उत्पादों के उत्पादन-लागत के आँकडों को दृष्टिगत रखना चाहिए, क्योंकि इनमे विभिन्न राज्यों मे बहुत भिन्नता पायी जाती है।

(iv) कृषि-उत्पादन के लिए सभी वर्ष सामान्य नही होते हैं। अत कृषि व्यवसाय मे होने वाली जोखिमा को कीमतो के निश्चित करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(v) निर्धारित कीमतें कृषकों को उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देने वाली होनी चाहिए, जिससे देश खाद्यान्नों के उत्पादन मे आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर हो सके।

(vi) वस्तुओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए पृथक् कीमतें नियत की जानी चाहिए, जिससे देश मे अच्छी किस्म की वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि हो सके।

कृषि कीमतों के निर्धारण के आधार.

कृषि-कीमतो के निर्धारण के निम्न आधार होते है जिनका उपयोग सरकार कीमतें निश्चित करते समय विभिन्न परिस्थितियों मे करती है—

(1) औसत उत्पादन लागत का आधार—कृषि-कीमतो के निर्धारण का प्रथम आधार वस्तुओं के उत्पादन मे आने वाली औसत लागत है। विभिन्न वस्तुओं की प्रति इकाई मात्रा के उत्पादन पर खेत की तैयारी मे उनकी विपणन प्रक्रिया तक होने वाली लागत को उस वस्तु की उत्पादन-लागत कहते है। विभिन्न कृषि वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत की राशि भूमि की किस्म, जलवायु एव तकनीकी ज्ञान के स्तर के अनुसार परिवर्तित होती है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र विशेष मे उपर्युक्त कारको के समान होते हुए, कृषको की प्रबन्ध क्षमता, उत्पादन साधनो की उपलब्धि एव उपयोगित मात्रा मे भिन्नता, व्यवसाय मे पूँजी निवेश की राशि, फार्म पर कृषि-यन्त्रीकरण का स्तर आदि कारको के अनुसार उत्पादन-लागत मे बहुत अन्तर पाया जाता है। अत विभिन्न कृषको की उत्पादन-लागत मे अधिक भिन्नता पायी जाने के कारण, उनकी औसत लागत ज्ञात की जाती है। कृषि-उत्पादो की औसत उत्पादन-लागत की राशि मे कृषको को दिये जाने वाले लाभ की राशि को सम्मिलित करके उनकी न्यूनतम कीमते सरकार द्वारा नियत की जाती है।

वस्तुओं की औसत उत्पादन लागत ज्ञात करने के लिए विभिन्न मदो पर हुई लागत के आँकडे लागत-लेखा-विधि अथवा सर्वेक्षण-विधि द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। लागत-लेखा-विधि मे नियुक्त क्षेत्रिक, कृषको द्वारा फार्म पर उत्पादित की गई विभिन्न फसलो के उत्पादन पर किये गये व्यय का मद के अनुसार दैनिक लेखा रखते है। सर्वेक्षण-विधि के अन्तर्गत विभिन्न फसलो के उत्पादन-लागत के आँकडे क्षेत्र के कृषको मे साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। सर्वेक्षण-विधि द्वारा प्राप्त उत्पादन-लागत के आँकडो का सही अनुमान कृषको की स्मरण-शक्ति एव उनके द्वारा दी गई सूचना की सत्यता पर निर्भर करता है, जबकि लागत-लेखा-विधि के आँकडे अधिक विश्वसनीय होते हैं। उत्पादन-लागत के आँकडे लागत-लेखा-विधि द्वारा एकत्रित करने मे समय एव व्यय की अधिकता के कारण सर्वेक्षण विधि अधिक प्रयुक्त की जाती है।

औसत उत्पादन-लागत विधि द्वारा कीमतो के निर्धारण मे निम्न दोष विद्यमान होते हैं—

(i) विभिन्न कृषकों द्वारा फार्म पर प्रयुक्त श्रम एवं प्रबन्ध के मूल्यांकन की विधि, उत्पादन-साधनों की प्रयुक्त मात्रा, उत्पादन-साधनों की क्रय-कीमत में भिन्नता होने के कारण कृषकों की प्रति क्विन्टल उत्पादन-लागत में बहुत भिन्नता होती है, जिसके कारण औसत उत्पादन लागत की राशि अनेक कृषकों की प्रतिनिधि उत्पादन-लागत नहीं होती है। अनेक कृषकों को इसके आधार पर निर्धारित कीमत से उत्पादन-लागत की राशि भी प्राप्त नहीं हो पाती है। उदाहरण के लिए, नहरों से सिंचाई करने वाले कृषकों की विभिन्न फसलों की उत्पादन-लागत चरस अथवा पम्प से सिंचाई करने वाले कृषकों की अपेक्षा बहुत कम आती है। अतः निर्धारित कीमत से नहरी क्षेत्र के कृषकों को प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा में लाभ अधिक प्राप्त होता है, जबकि चरस से सिंचाई करने वाले कृषकों को व्यय की गई राशि भी पूरी प्राप्त नहीं हो पाती है।

(ii) औसत उत्पादन-लागत विधि के आधार पर कीमतों के निर्धारण से कृषकों द्वारा प्रयुक्त उर्वरक की मात्रा के कम होने की सम्भावना हो जाती है। वर्तमान में कृषक उर्वरक एवं अन्य उत्पादन-साधनों का उपयोग उस स्तर तक करते हैं जहाँ उनके उपयोग किये गये उर्वरक की सीमान्त-लागत व उससे प्राप्त सीमान्त-*लाभ की राशि बराबर होती है। इस स्तर तक उर्वरक के उपयोग से फसल की प्रति* इकाई भार पर औसत उत्पादन-लागत बढ जाती है, जिससे उन्हें प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा पर लाभ कम प्राप्त होता है और वे अगले वर्ष उत्पादन-साधनों की कम मात्रा का उपयोग करने का निर्णय लेते हैं।

(iii) इस विधि के द्वारा कीमत-निर्धारण में अर्थ-व्यवस्था के एक ही पहलू अर्थात् पूर्ति को ही ध्यान में रखा जाता है। कीमत-निर्धारण के दूसरे पहलू माँग को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। कीमत-निर्धारण में माँग एवं पूर्ति दोनों ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं।

विभिन्न फसलों के उत्पादन-लागत के सही आँकड़े ज्ञात करने के लिए भारत सरकार के कृषि मन्त्रालय के आर्थिक एवं सांख्यिकी सलाहकार के तत्त्वावधान में अनेक राज्यों में उत्पादन-लागत ज्ञात करने के लिए एक विस्तृत योजना (Comprehensive Scheme for Studying Cost of Cultivation of Principal Crops) वर्ष 1970–71 से शुरू की गई है, जिसके द्वारा भूमि एवं जलवायु की भिन्नता के अनुसार क्षेत्र की प्रमुख फसलों की औसत उत्पादन-लागत के आंकड़े एकत्रित किये जाते हैं। इन आंकड़ों के आधार पर कृषि-लागत एवं कीमत आयोग न्यूनतम एवं वसूली कीमत नियत करने की सरकार को सिफारिश करता है।

(2) बहुसंख्यक-उत्पादन-लागत विधि—एक ही क्षेत्र में लघु एवं दीर्घ जोत कृषकों, पूंजीपति एवं गरीब कृषकों तथा विद्युत् पम्प एवं चरस से सिंचाई करने वाले कृषकों के फार्म पर उत्पादों की प्रति इकाई भार पर आने वाली उत्पादन-

लागत मे बहुत भिन्नता होती है । अन विभिन्न कृषको की उत्पादन-लागत के आधार पर ज्ञात की गई औसत उत्पादन-लागत देश के अधिकाश कृषको की प्रतिनिधि उत्पादन-लागत नही होती है । इस दोष को दूर करने के लिए कीमत निर्धारण की दूसरी विधि बहुसख्यक उत्पादन-लागत विधि का उपयोग किया जाता है । इस विधि मे 80 से 85 प्रतिशत उत्पादित खाद्यान्नो की मात्रा प्रति इकाई उत्पादन-लागत के आँकडो को ही कीमत निर्धारण मे प्रयुक्त किया जाता है और शेष 15 से 20 प्रतिशत उत्पादन की मात्रा जो असख्य कृषको द्वारा उत्पादित की जाती है और जो कृषि को व्यवसाय के रूप मे नही लेकर जीविकोपार्जन के रूप मे लेते हैं, उनकी उत्पादन-लागत को कीमत-निर्धारण के लिए सम्मिलित नही किया जाता है । बहुसख्यक उत्पादन-लागत विधि के आधार पर भी कीमतो के निर्धारण मे अर्थ-व्यवस्था के एक ही पहलू अर्थात् पूर्ति को ही ध्यान मे रखा जाता है । अर्थ-व्यवस्था के दूसरे पहलू माग को कोई महत्त्व नही दिया जाता है । अतं यह विधि भी दोष रहित नही है ।

(3) प्रचलित कीमत-विधि—इस विधि मे कीमते, वस्तु के पिछले वर्षों की *औसत कीमत, वर्तमान प्रचलित कीमत, उनकी आकलित माग एव* पूर्ति की मात्रा एव उनमे परिवर्तन लाने वाले विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित आंकडो के आधार पर नियत की जाती है । वस्तुओ की कीमतो मे मौसमी, चक्रीय एव अनियमित उतार-चढावो के कारण, नियत कीमत मण्डी म प्रचलित वास्तविक कीमत की प्रतीक नही होती है । किसी वर्ष मे नियत कीमत मण्डी-कीमत से बहुत अधिक तथा अन्य वर्ष बहुत कम होती है । इस प्रकार कीमत-निर्धारण की यह विधि भी कृषको को सही कीमत दिलाने मे सफल नही होती है ।

(4) समता कीमत-सूत्र विधि—*समता-कीमत कृषि एव कृषितर* क्षेत्र की वस्तुओ की कीमतो, अमुक खाद्यान्न एव सभी कृषि-वस्तुओ की कीमतो, कृषको द्वारा उत्पादित वस्तुओ एव उनके द्वारा क्रय किये जाने वाले उत्पादन-साधनो की कीमतो मे आधार वर्ष के अनुसार पाये जाने वाले सम्बन्ध को द्योतक होती है । कृषि कीमतो को नियत करने के लिए कृषको द्वारा उत्पादित उत्पाद एव उनके उत्पादन के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले उत्पादन-साधनो की कीमतो मे समता ज्ञात की जाती है । समता-कीमत के आधार पर कृषि-कीमतें नियत करने का मुख्य उद्देश्य कृषि-क्षेत्र मे *कार्यरत कृषको को उसी अनुपात मे लाभ प्राप्त कराना है, जिस अनुपात मे यह लाभ* औद्योगिक एव अन्य क्षेत्रा म कार्यरत व्यक्तियो को प्राप्त होता है । इस पद्धति के पक्ष मे 1943 मे खाद्यान्न नीति समिति एव 1944 मे कीमत उप-समिति ने अपनी सहमति प्रकट की थी ।

कृषि-क्षेत्र मे समता-अनुपात एव समता-कीमत ज्ञात करने का सूत्र अग्र-*लिखित प्रकार से है*—

$$\text{समता-अनुपात} = \frac{\text{कृषको द्वारा विक्रय की गई वस्तुओ की कीमतो का आधार-वर्ष के अनुसार प्रचलित कीमत सूचकाक}}{\text{कृषको द्वारा क्रय की गई वस्तुओ की कीमतो का आधार-वर्ष के अनुसार प्रचलित कीमत सूचकाक}} \times 100$$

$$\text{समता-कीमत} = \frac{\text{आधार-वर्ष का विक्रय कीमत सूचकाक} + \text{प्रचलित क्रय कीमत सूचकाक}}{\text{आधार-वर्ष का क्रय-कीमत सूचकाक}}$$

समता-कीमत विधि के आधार पर कीमत नियत करने के लिए कृषि-उत्पादो की प्रति इकाई उत्पादन-लागत के आँकडे एकत्रित करने की आवश्यकता नही होती है। साथ ही यह विधि समाज के विभिन्न वर्गों मे पायी जाने वाली आय असमानता को कम करने मे भी सहायक होती है। समता-कीमत विधि के अनुसार कीमत नियत करने मे वस्तुओ की उपलब्धि एव आवश्यकता की मात्रा को ध्यान मे नही रखा जाता है, जिसके कारण बडे कृषको के पास विक्रय-अधिशेष की मात्रा की अधिकता के कारण उन्हे लघु कृषको की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त होता है।

(5) वायदा-कीमत विधि—कृषि-वस्तुओ की वायदा-कीमत सरकार द्वारा उनकी माँग, पूर्ति एव उत्पादन-लागत के आधार पर फसल की बुवाई के पूर्व घोषित की जाती है। यह कीमत कृषको को आश्वासन देती है कि उन्हे फसल की कटाई के उपरान्त विपणन मौसम मे नियत वायदा-कीमत प्राप्त होगी। मण्डी मे प्रचलित कीमत के कम होने पर सरकार घोषित कीमत पर कृषि-उत्पाद क्रय करती है। इस प्रकार वायदा-कीमत कृषको को फार्म की उत्पादन योजना बनाने एव उसे कार्यान्वित करने मे सहायक होती है, लेकिन वायदा-कीमत के निर्धारण के लिए आवश्यक आँकडे, जैसे—कृषि-वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा, उपभोक्ताओ की माँग की मात्रा एवं उसे प्रभावित करने वाले कारको से सम्बन्धित विश्वसनीय सूचना प्राप्त नही हो पाती है तथा नियत वायदा-कीमत, आवश्यक सग्रहण सुविधा के अभाव, सरकार के पास कार्य-कुशल शासन-व्यवस्था के न होने, सरकार की कीमत-नीति की अस्थिरता आदि कारणो से पूर्ण रूप मे कार्यान्वित नही हो पाती है। इन कारणो से देश मे वायदा-कीमत विधि भी सफल नही हो पायी है।

कृषि-वस्तुओ के कीमत-निर्धारण के लिए विभिन्न समयो मे विभिन्न आधार प्रयुक्त किये गये हैं।

कीमत-निर्धारण की विधियाँ

कीमत निर्धारण की निम्न दो विधियां होती हैं—

(1) समूह समग्र कीमत निर्धारण अथवा समष्टिमूलक कीमत निर्धारण विधि—इस विधि द्वारा कृषि उत्पादो की कीमतो के निर्धारण मे सर्वप्रथम उत्पादो के समूहों की कीमतो तथा उसके पश्चात् समूह के विभिन्न अवयवो की कीमतो का विवेचन किया जाता है। कीमत निर्धारण की इस विधि का सिद्धान्त सरल है, लेकिन कीमत निर्धारण का वास्तविक कार्य कठिन होता है, क्योकि कीमत निर्धारण के लिए राष्ट्रीय स्तर के सही आंकड उपलब्ध नही हो पाते है। कीमतो के निर्धारण के लिए आवश्यक सही आंकडे उपलब्ध नही हो पान की अवस्था म जो कीमतें निर्धारित होती है वे प्रचलित कीमतो की प्रतीक नहीं होती हैं।

(2) प्रति इकाई कीमत निर्धारण अथवा व्यष्टिमूलक कीमत निर्धारण विधि—इस विधि मे विभिन्न वस्तुओ की माग एव पूर्ति की मात्रा के आधार पर कीमते निर्धारित की जाती हैं। कीमतो का निर्धारण माँग एव पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर होता है। विभिन्न वस्तुओ की कीमतो के निर्धारण के लिए वस्तु की माँग, क्षेत्र के उत्पादकों द्वारा उत्पादित मात्रा एव बाजार मे वस्तु की पूर्ति की मात्रा का अध्ययन किया जाता है। कीमत निर्धारण की इस विधि को व्यष्टिमूलक विधि कहते हैं क्योंकि इस विधि मे कीमत सरचना के एक सूक्ष्म भाग पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। कीमत निर्धारण की यह विधि प्रयोग मे अधिक ली जाती है। माँग एव पूर्ति की शक्तियो के द्वारा कीमत निर्धारण की इस विधि का विस्तृत विवेचन नीचे किया गया है—

माग—कीमत निर्धारण की प्रथम शक्ति वस्तु की माग होती है। वस्तु की वह मात्रा जिसे उपभोक्ता दी हुई कीमतो पर विशिष्ट समय एव बाजार मे क्रय करने को तत्पर होते हैं, माँग कहलाती है। उपभोक्ताओ को किसी वस्तु की माग की मात्रा, उसकी कीमत, उपभोक्ताओ की आय उपभोक्ताओ की सख्या सम्बन्धित वस्तुओ की कीमतो मौसम परिवर्तन एव उपभोक्ताओ की रुचि मे परिवर्तन से प्रभावित होती रहती है।

माग और कीमत के सम्बन्ध के विवरण को माग का नियम कहते हैं। माग का नियम ह्रासमान उपयोगिता के नियम पर आधारित है। इस नियम के अनुसार जब वस्तु अधिक मात्रा मे उपलब्ध होती है तो वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है जिससे उपभोक्ता उसकी पहले के समान कीमत देने को तत्पर नहीं होते है और कीमते गिर जाती हैं। माग के नियम के अनुसार अन्य कारकों के समान रहते हुए किसी वस्तु की कीमत के कम हो जाने पर उसकी माग की मात्रा म वृद्धि तथा कीमत मे वृद्धि होने पर उसकी माग की मात्रा कम हो जाती है। अत वस्तु की कीमत एव माग मे सामान्यत विलोम सम्बन्ध होता है। माग का यह

नियम प्रायः सभी वस्तुओ मे लागू होता है तथा इनके सम्बन्ध से प्राप्त माँग-वक्र अधोमुखी होता है। यह वक्र बाये से दायें नीचे की तरफ ढलता है।

पूर्ति—कीमत-निर्धारण की दूसरी शक्ति वस्तु की पूर्ति होती है। वस्तु की वह मात्रा जो दी हुई कीमतो पर विशिष्ट समय एव बाजार मे विक्रय हेतु उपलब्ध होती है पूर्ति कहलाती है। पूर्ति और कीमत के सम्बन्ध के विवेचन को पूर्ति का नियम कहते हैं। पूर्ति के नियम के अनुसार वस्तु की कीमत मे वृद्धि होने पर उसकी पूर्ति की मात्रा बढ जाती है तथा कीमत के कम होने पर पूर्ति की मात्रा कम हो जाती है। वस्तु की कीमत एव पूर्ति मे सामान्यत धनात्मक सम्बन्ध होता है। पूर्ति और कीमत के सम्बन्ध से प्राप्त वक्र पूर्ति-वक्र कहलाता है जो बाये से दायें ऊपर की तरफ बढता है।

माँग व पूर्ति के द्वारा कीमत-निर्धारण का सिद्धान्त—कीमत निर्धारण के लिए समय-समय पर प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तो—उत्पादन-लागत का सिद्धान्त, श्रम का सिद्धान्त, सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त, मार्शल का सिद्धान्त—में से प्रो० मार्शल के सिद्धान्त का वर्तमान मे सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित कीमत-निर्धारण का सिद्धान्त माँग व पूर्ति का सिद्धान्त कहलाता है क्योंकि उसके अनुसार वस्तुओ की कीमते माँग एव पूर्ति नामक शक्तियो पर समान रूप से निर्भर होती हैं। माँग पर सीमान्त उपयोगिता एव पूर्ति पर वस्तु की उत्पादन-लागत का प्रभाव पडता है। प्रो० मार्शल के इस सिद्धा त को कीमत-निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त भी कहते हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त वैज्ञानिक, पूर्ण एव सर्वमान्य होने के कारण सर्वाधिक प्रचलित है।

प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न वस्तुओ की कीमते, उनकी माँग एव पूर्ति की शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव अथवा दोनो शक्तियो के सन्तुलन-बिन्दु पर निर्धारित होती है। वस्तुओ की माँग के आधार पर वस्तुओ की अधिकतम-कीमत नियत होती है और क्रेता (उपभोक्ता) इस अधिकतम-नियत कीमत से कम कीमत पर वस्तु प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत वस्तुओ के विक्रेता (कृषक) वस्तुओ की उत्पादन लागत के आधार पर वस्तुओ के विक्रय की न्यूनतम कीमत नियत करते हैं तथा वस्तुओ के विक्रय से वे न्यूनतम-नियत कीमत से अधिक कीमत प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। वस्तुओ की कीमत इन्ही दोनो सीमाओ—अधिकतम एव न्यूनतम कीमतो के मध्य निर्धारित होती है। क्रेताओ का वस्तुओ के क्रय करने के लिए अधिक उत्सुक होने पर कीमते अधिकतम-कीमत के समीप तथा विक्रेताओ द्वारा वस्तुओ के विक्रय करने को अधिक उत्सुक होने पर कीमतें न्यूनतम-कीमत के समीप निर्धारित होती हैं। इस प्रकार क्रेताओ एव विक्रेताओ की प्रतिस्पर्धा से कीमतो मे उतार-चढाव होता रहता है। अन्त मे कीमतें माँग एव पूर्ति के सन्तुलन-बिन्दु अर्थात् दोनो के समान स्तर पर होने पर निर्धारित होती

हैं। माँग एवं पूर्ति के सन्तुलन स्तर पर होने वाली कीमत वस्तु की सन्तुलन-कीमत कहलाती है।

कीमत-निर्धारण के सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए माँग एवं पूर्ति अनुसूची तथा माँग एव पूर्ति-वक्र का अध्ययन आवश्यक है। सारणी 18 1 मण्डी मे विभिन्न कीमतो पर गेहूँ की माँग एव पूर्ति की मात्रा प्रदर्शित करती है।

सारणी 18 1

गेहूँ की माँग एव पूर्ति अनुसूची

मण्डी मे गेहूँ की कीमत (रु० प्रति क्विन्टल)	गेहूँ की माँग (लाख क्विन्टल मे)	गेहूँ की पूर्ति (लाख क्विन्टल मे)
325	2000	3500
315	2200	3400
305	2500	3100
295	2750	2750
285	3000	2500
275	3300	2200

स्पष्ट है कि मण्डी मे गेहूँ की कीमत 295 रु० प्रति क्विन्टल होने पर माँग एव पूर्ति की मात्रा मे साम्यावस्था होती है। अत कीमत-निर्धारण के सिद्धान्त के अनुसार प्रतिस्पर्धा की अवस्था मे मण्डी मे गेहूँ को 295 रु० प्रति क्विन्टल कीमत निर्धारित होती है। सन्तुलन-कीमत 295 रु० प्रति क्विन्टल होने की स्थिति मे मण्डी मे विक्रय के लिए उपलब्ध गेहूँ की पूर्ण मात्रा का विक्रय एव मण्डी मे आये सभी क्रेताओ की माँग पूरी हो जाती है। मण्डी मे गेहूँ की 295 रु० प्रति क्विन्टल के अतिरिक्त अन्य सभी कीमतो पर सन्तुलन स्थापित नहीं हो पाता है। सन्तुलन-कीमत से ऊपर कीमत होने पर, उसकी माँग की मात्रा कम होती जाती है, लेकिन पूर्ति की मात्रा बढ़ती जाती है। इसके विपरीत गेहूँ की मण्डी मे कीमत 295 रु प्रति क्विन्टल से कम होने पर माँग की मात्रा मे वृद्धि होती है, लेकिन पूर्ति की मात्रा कम होती जाती है। अत मण्डी मे गेहूँ की कीमत, सन्तुलन-कीमत से ऊपर अथवा नीचे होने की दोनों ही अवस्थाओ मे सन्तुलन स्तर बिगड जाता है। माँग एव पूर्ति की मात्रा मे सन्तुलन बिगड जाने पर मण्डी मे आये सभी क्रेताओं की आवश्यकताएं पूर्ण नही हो पाती हैं अथवा विक्रेताओं द्वारा विक्रय करने हेतु लायी गयी गेहूँ की पूर्ण मात्रा विक्रय नही होती है। फलस्वरूप कीमतो मे पुन वृद्धि अथवा कमी होनी प्रारम्भ हो जाती है, जो कीमतों मे सन्तुलन स्थापित होने तक होती रहती है। कीमतें माँग एव पूर्ति से सन्तुलन स्तर पर आकर स्थिर हो जाती हैं।

मांग एव पूर्ति वक्र द्वारा गेहूँ की कीमत-निर्धारण के सिद्धान्त को चित्र 18 1 मे दर्शाया गया है ।
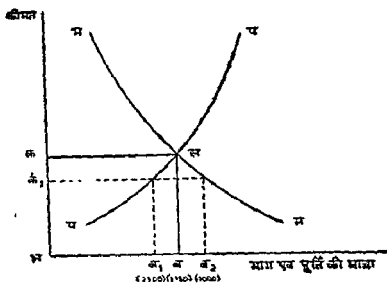
चित्र 18 1 मांग एव पूर्ति-वक्र द्वारा कीमत-निर्धारण

चित्र मे मांग वक्र (म म) पूर्ति-वक्र (प प) को स बिन्दु पर काटती है । अर्थात् स बिन्दु मांग एव पूर्ति का सन्तुलन-बिन्दु है । यह सन्तुलन 'क' कीमत स्तर (295 रु प्रति क्विन्टल) पर होता है । इस कीमत पर गेहूँ की अ ब मात्रा (2750 क्विन्टल) का क्रय विक्रय होता है । गेहूँ की कीमत सन्तुलन कीमत 'क' से ऊपर अथवा नीचे होने पर मांग एव पूर्ति का सन्तुलन स्तर बिगड जाता है। गेहूँ की कीमत 295 रु प्रति क्विन्टल अर्थात् 'क' कीमत से कम होने से बाजार मे गेहूँ की मांग मे वृद्धि होती है, लेकिन पूर्ति कम हो जाती है । उपर्युक्त चित्र मे 295 रु प्रति क्विन्टल अर्थात् 'क' स्तर मे कम कीमत होने पर गेहूँ की मांग अब2 मात्रा (3000 क्विन्टल) तथा पूर्ति अब1 मात्रा (2500 क्विन्टल) होती है । इस कीमत पर मण्डी मे गेहूँ की मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होनी है । सभी उपभोक्ताओ को इस कीमत पर आवश्यक मात्रा मे गेहूँ उपलब्ध नही होता है । अत उपभोक्ता अपनी आवश्यकता को पूरी करने के लिए गेहूँ की कीमत अधिक देने को तैयार होते हैं, जिससे गेहूँ की कीमत मे वृद्धि होनी शुरू होती है । कीमत मे यह वृद्धि तब तक होती रहती है जब तक मांग एव पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित नही हो जाता है अर्थात् सभी

उपभोक्ताओं को आवश्यक मात्रा में गेहूँ उपलब्ध नहीं हो जाता है। इसके विपरीत गेहूँ की कीमत 295 रु प्रति क्विन्टल अर्थात् 'क' स्तर से ऊपर बढ़ने पर गेहूँ की कुल माग की मात्रा कम हो जाती है और पूर्ति की मात्रा बढ जाती है। इस कीमत पर विक्रेताओं द्वारा लायी गयी गेहूँ की पूर्ण मात्रा विक्रय नहीं हो पाती है। बढी हुई कीमत पर सभी विक्रेता गेहूँ विक्रय करना चाहते हैं। प्रतिस्पर्धा के कारण विक्रेता कीमत कम करते है और कीमत उस स्तर तक गिरती है जब तक सभी विक्रेताओं द्वारा लाया गया गेहूँ विक्रय नहीं हो जाता है। अत स्पष्ट है कि गेहूँ की कीमत 'क' स्तर से ऊपर अथवा नीचे होने की दोनो ही अवस्थाओ मे माग एव पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित नहीं हो पाता है।

कृषि-वस्तुओं की पूर्ति मे कमी अथवा वृद्धि का कीमतो पर प्रभाव

कृषि-वस्तुओं की माँग एव पूर्ति मे अनेक कारणो से निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। कृषि-वस्तुओं की पूर्ति मे परिवर्तन माँग की अपेक्षा अधिक होते है। उनकी माँग की मात्रा प्राय स्थिर रहती है लेकिन पूर्ति की मात्रा मुख्यतया मौसम की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता पर निर्भर करती है। अत माँग-वक्र के समान स्थिति मे रहने तथा पूर्ति मे हुए परिवर्तन (वृद्धि अथवा कमी) के कारण कृषि वस्तुओं की कीमतो मे परिवर्तन होता है। कृषि-वस्तुओं के माग वक्र के समान स्थिति मे होने तथा उनकी पूर्ति मे परिवर्तन (कमी एव वृद्धि) से उनकी कीमतो पर आने वाले प्रभाव को चित्र 18 2 मे दर्शाया गया है।

चित्र मे म म कृषि-वस्तुओं का स्थिर माँग-वक्र एव प प पूर्ति-वक्र है।
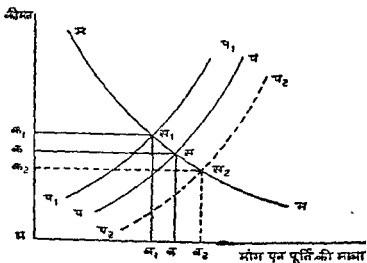
चित्र 18 2 कृषि-वस्तुओं की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन का कीमतों पर प्रभाव

वस्तुओं की पूर्ति के कम होने से नया पूर्ति-वक्र ($प_1$ $प_1$) पहले वाले पूर्ति-वक्र के बायीं तरफ स्थानान्तरित हो जाता है। माग वक्र के समान स्तर पर होने तथा पूर्ति-वक्र के बायीं तरफ स्थानान्तरित हो जाने से कीमत क से $क_1$ हो जाती है। इस बढी हुई कीमत पर उपभोक्ताओं की माँग कम होकर अ ब से अ $ब_1$ ही रह जाती है। अत कृषि वस्तुओं की पूर्ति मे कमी होने तथा माग के स्थिर रहने की स्थिति मे उनकी कीमतो मे वृद्धि होती है लेकिन विक्रय की मात्रा कम हो जाती है।

अनुकूल मौसम वाले वर्ष में कृषि वस्तुओं की पूर्ति के बढने से नया पूर्ति-वक्र ($प_2$ $प_2$) पहले वाले पूर्ति वक्र (प प) मे दाहिनी तरफ स्थानान्तरित हो जाता है। माग के समान स्तर पर होने तथा पूर्ति के बढने से कृषि वस्तुओ की कीमत क से $क_2$ बिन्दु तक गिर जाती है तथा उपभोक्ताओं की माग अ ब मे अ $ब_2$ हो जाती है। अत कृषि वस्तुओं की पूर्ति के बढने तथा माग के स्थिर रहने पर कीमतें गिर जाती हैं और क्रय की मात्रा बढ़ जाती है।

कृषि वस्तुओ की कीमतो के निर्धारण मे समय का महत्त्व

कीमत निर्धारण मे समय तत्त्व महत्त्वपूर्ण होता है। समय की अधिकता एव कमी का वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा पर प्रभाव पडता है। समय अधिक होने पर वस्तु की कीमत पर पूर्ति का प्रभाव अधिक होता है तथा समय कम होने पर माग का कीमत पर प्रभाव अधिक आता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे समय की दृष्टि से कीमतो का विश्लेषण अति-अल्पकाल, अल्पकाल एव दीघकाल मे विभाजन करके किया जाता है। इन समय कालो मे निर्धारित कीमता को अति अल्पकालीन, अल्पकालीन एव दीर्घकालीन कीमत कहते हैं।

(1) **अति अल्पकालीन कीमत**—अति अल्पकालीन मे तात्पर्य उस समय से है जो कुछ घण्टे या दिनो का होता है। अति अल्पकाल मे वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा उनकी बाजार मे उपलब्ध मात्रा पर निर्भर करती है। अल्पकाल मे वस्तुओं का उत्पादन करके पूर्ति मे वृद्धि कर पाना सम्भव नही होता है। उत्पादक उपलब्ध मात्रा से अधिक मात्रा मे वस्तुएँ नही बेच सकते हैं। अति अल्पकाल का समय विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न होता है जैसे—मछली एव दूध के लिए कुछ घण्टे तथा अन्य वस्तुओं के लिए कुछ दिनो का। अति अल्पकाल मे पूर्ति वक्र शीघ्रनाशी वस्तुएँ (जिन्हे सगृहीत नहीं किया जा सकता) तथा नाशवान वस्तुएँ (जिन्हें कुछ समय के लिए सगृहीत करके पूर्ति की मात्रा मे कमी अथवा वृद्धि की जा सकती है) म विभिन्न प्रकार का होता है जिसका विवेचन नीचे दिया जा रहा है—

(अ) शीघ्रनाशी कृषि वस्तुओं मे अति अल्पकालीन कीमत ज्ञात करना—शीघ्रनाशी कृषि वस्तुओ की पूर्ति उस दिन या उसी समय बाजार में उपलब्ध मात्रा होती है। उपलब्ध मात्रा को बाजार म प्रचलित कीमत पर विक्रय करना होता है

क्योकि उसे सगृहीत नही किया जा सकता है। अतः इन वस्तुओ की कीमतें प्रमुखतया उपभोक्ताओ की माग पर ही निर्भर करती है। मांग के अधिक होने पर कीमते बढ जाती हैं तथा माग के कम होने पर कीमतें कम हो जाती हैं। इस अवस्था मे प्राप्त सन्तुलन अस्थायी होता है, क्योकि भविष्य मे वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा को परिवर्तित किया जा सकता है। शीघ्रनाशी कृषि-वस्तुओ मे अति अल्पकालीन कीमत निर्धारण की विधि चित्र 18 3 मे प्रदर्शित की गई है—
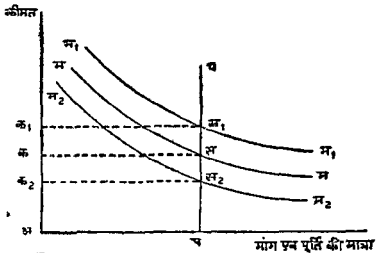
चित्र 18.3 शीघ्रनाशी कृषि-वस्तुओ मे अति अल्पकालीन कीमत ज्ञात करना

चित्र मे प प पूर्णतया बेलोच पूर्ति-वक्र है। अति अल्पकाल मे शीघ्रनाशी कृषि-वस्तुओ का पूर्ति-वक्र उदग्र/लम्बवत् तथा कीमत रेखा के समानान्तर होता है। माग-वक्र (म म) पूर्ति-वक्र (प प) को स बिन्दु पर काटता है और क कीमत निर्धारित होती है। इस कीमत पर वस्तुओ की माग एव पूर्ति की मात्रा समान होती है। किन्ही कारणो से कृषि-वस्तु की माग मे वृद्धि होने से नया माग-वक्र ($म_1$ $म_1$) दाहिनी ओर स्थानान्तरित हो जाता है। बाजार में पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है। अत पूर्ति की मात्रा समान रहने एव माग मे वृद्धि होने से कीमत मे वृद्धि होती है और सन्तुलन $क_1$ कीमत स्तर पर होता है। इसके विपरीत मांग के कम होने पर नया माग-वक्र ($म_2$ $म_2$) पहले वाले माग-वक्र के बायी तरफ स्थानान्तरित हो जाता है और कीमत कम होकर $क_2$ निर्धारित होती है। कीमतो मे इस गिरावट का प्रमुख कारण वस्तुओ मे शीघ्रनाशी होने का गुण होता है जिसके कारण कीमत कम होते हुए भी वस्तु का विक्रय करना होता है। अत स्पष्ट है कि शीघ्रनाशी वस्तुओं मे कीमतो का निर्धारण पूर्णतया माग की मात्रा पर ही निर्भर

करता है। वस्तुओं की उत्पादन लागत का कीमत निर्धारण में कोई महत्त्व नहीं होता है।

(ब) नाशवान कृषि-वस्तुओं में अति अल्पकालीन कीमतें ज्ञात करना— नाशवान कृषि वस्तुओं में पूर्ति-वक्र पूर्णतया बेलोचदार नहीं होकर चित्र 18 4 में प्रदर्शित रूप में होता है। इन वस्तुओं को कुछ काल के लिए सगृहीत किया जा सकता है, जिसके कारण उत्पादन की लागत से कम कीमत प्राप्त होने पर उत्पादक उन्हें विक्रय नहीं करते हैं। कीमतों में वृद्धि होने पर उनकी पूर्ति की मात्रा में वृद्धि सगृहीत स्टॉक को विक्रय हेतु लाये जाने के कारण ही होती है। सगृहीत स्टॉक समाप्त होने के पश्चात् पूर्ति की मात्रा स्थिर हो जाती है, जो चित्र 18 4 नीचे कीमत रेखा द्वारा प्रदर्शित है—
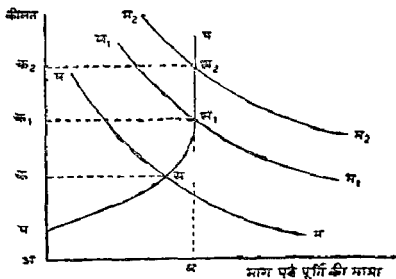
चित्र 18.4 नाशवान कृषि-वस्तुओं में अति अल्पकालीन कीमत ज्ञात करना

प प पूर्ति-वक्र है। वस्तु की कुल उपलब्ध मात्रा अ ब है। कृषकों की आरक्षित कीमत प है। मण्डी में इससे कम कीमत होने पर कृषक वस्तु की मात्रा को विक्रय नहीं करते हैं। आरक्षित कीमत प्राप्त होने के पश्चात् कीमत में वृद्धि होने के साथ-साथ वस्तु की पूर्ति की मात्रा में वृद्धि होती है। माँग-वक्र म म, पूर्ति-वक्र प प को स बिन्दु पर काटता है और क कीमत निर्धारित होती है। माग के बढने पर नया माग-वक्र म$_1$ म$_1$ पूर्ति-वक्र प प को स$_1$ बिन्दु पर काटता है और क$_1$ कीमत निर्धारित होती है। इस कीमत स्तर पर वस्तु की मण्डी में उपलब्ध पूरी मात्रा अ ब विक्रय हो जाती है। इस स्तर से आगे वस्तु की माग के बढ़ने पर माग-वक्र दाहिनी

ओर स्थानान्तरित हो जाता है। पूर्ति-वक्र लम्बवत् होने के कारण कीमत मे तो वृद्धि होती है, लेकिन पूर्ति की मात्रा यथावत अ ब ही रहती है। इस स्तर पर कीमत $क_2$ होती है। इसके विपरीत कीमत के कम होने पर वस्तु की अतिरिक्त मात्रा सगृहीत कर ली जाती है।

(2) *अल्पकालीन कीमतें*—अल्पकाल से तात्पर्य उस समय से है जिसमे वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा मे उपलब्ध उत्पादन साधनो की क्षमता तक वृद्धि की जा सकती है, लेकिन अल्पकाल मे वस्तुओ के उत्पादन मापदण्ड मे परिवर्तन करना सम्भव नही होता है। वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि सगृहीत वस्तुओ की मात्रा को विक्रय करके अथवा वस्तुओ को अन्य स्थानो से क्रय करके किया जा सकता है। चित्र 18 5 मे कृषि-वस्तुओ की अल्पकालीन कीमत ज्ञात करने की विधि दर्शायी गई है—
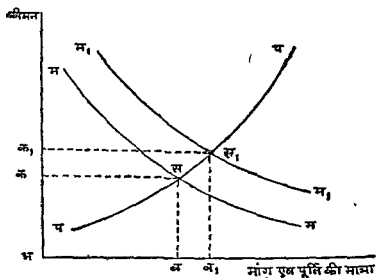
चित्र 18 5 माग एव पूर्ति-वक्र द्वारा अल्पकालीन कीमत ज्ञात करना

प प अल्पकालीन पूर्ति-वक्र एव म म माग-वक्र है जो एक दूसरे को स बिन्दु पर काटते है। इस बिन्दु पर विक्रेता वस्तु की अ ब मात्रा विक्रय करते हैं। क्रेताओ की माग इस बिन्दु पर अ ब मात्रा ही होती है। सन्तुलन स्थापित हो जाता है। किन्ही कारणो से उपभोक्ताओ की माग मे वृद्धि होने पर वस्तुओ का नया माग-वक्र ($म_1$ $म_1$) पहले वाले माग-वक्र के दाहिनी तरफ आ जाता है। अल्पकाल मे वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा अधिक बढ पाती है। उनकी पूर्ति मे वृद्धि सगृहीत की गई मात्रा तक ही की जा सकती है। माग मे वृद्धि हो जाने के कारण क कीमत पर वस्तु का अभाव उत्पन्न हो जाता है और सन्तुलन बिन्दु स स्थान से हटकर $स_1$ स्थान पर पहुँच

जाता है, जो कि पहले वाले सतुलन बिन्दु से ऊपर की ओर होता है। कीमतो मे क से $क_1$ स्तर तक वृद्धि होती है। नये सतुलन पर उत्पादक एव उपभोक्ता अ $ब_1$ मात्रा का क्रय-विक्रय करते हैं। ठीक इसके विपरीत माग मे कमी होने पर वस्तुओ का नया माग-वक्र वास्तविक स्थिति मे बायी ओर आ जाता है और सतुलन बिन्दु नीचे की ओर आ जाता है तथा कीमत कम हो जाती है। अत स्पष्ट है कि अल्पकालीन कीमतें भी पूर्ति की अपेक्षा माँग की मात्रा से अधिक प्रभावित होती है, लेकिन माँग की मात्रा का कीमत पर प्रभाव अति अल्पकालीन कीमत के प्रभाव से कम होता है।

अल्पकाल मे समय कम होने के कारण उत्पादन मापदण्ड म परिवर्तन करके पूर्ति मे वृद्धि कर पाना सम्भव नही होता है, क्योंकि कृषि-वस्तुओ के उत्पादन का निश्चित मौसम होता है और निश्चित मौसम मे भी उत्पादन करने मे नियत समय लगता है जिसे कम नही किया जा सकता है।

(3) दीर्घकालीन कीमत सामान्य कीमत—दीर्घकाल से तात्पर्य उस समय से है जिसमे वस्तुओ के उत्पादन स्तर मे परिवर्तन करके उत्पादन मे वृद्धि अथवा कमी की जा सकती है। दीर्घकाल मे उत्पादन सयन्त्र की विद्यमान क्षमता के उपयोग मे परिवर्तन करने के साथ-साथ उत्पादको को अपने उत्पादन के पैमाने मे वृद्धि अथवा कमी करने का समय भी मिल जाता है। फसलो के अन्तर्गत क्षेत्रफल मे वृद्धि अथवा कमी, उत्पादन वृद्धि के लिए तकनीकी ज्ञान का उपयोग आदि निर्णय लेने से पूर्ति म परिवर्तन काफी समय पश्चात् होता है। उपर्युक्त सम्भावनाओ के कारण
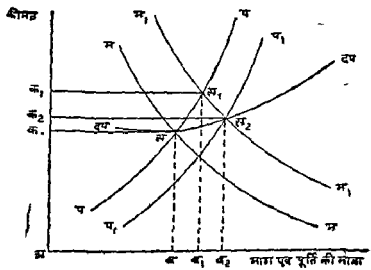
चित्र 18.6. मांग एव पूर्ति-वक्र द्वारा दीर्घकालीन कीमत ज्ञात करना

दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र की लोच अल्पकालीन पूर्ति-वक्र की अपेक्षा अधिक होती है। दीर्घकालीन-कीमत निर्धारण मे वस्तु की माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक प्रभाव डालती है। दीर्घकालीन कीमतो के निर्धारण की विधि चित्र 18 6 मे दर्शायी गई है—

अल्पकालीन पूर्ति-वक्र प प माग वक्र म म को स बिन्दु पर काटता है, जिससे क कीमत पर सतुलन स्थापित होता है। किन्ही कारणो से वस्तु की माँग मे वृद्धि होने से नया माँग-वक्र $म_1$ $म_1$ पहले वाले माँग-वक्र के दाहिनी ओर आ जाता है। माँग मे वृद्धि एव पूर्ति के उसी स्तर पर रहने से नया सन्तुलन $स_1$ बिन्दु पर स्थापित होता है और कीमत क से $क_1$ हो जाती है। उत्पादक वस्तु की मात्रा अ ब से अ $ब_1$ स्तर तक वृद्धि करते हैं जिससे उन्हे लाभ प्राप्त होता है।

समय की अधिकता के कारण व्यवसाय के स्तर मे परिवर्तन तथा नये उत्पादकों के व्यवसाय में प्रवेश करने से वस्तु की पूर्ति बढ जाती है और अल्पकालीन पूर्ति-वक्र दाहिनी ओर आ जाता है। वस्तुओ की पूर्ति की मात्रा मे होने वाली वृद्धि के अनुसार पूर्ति-वक्र दाहिनी ओर आ जाता है। इस प्रकार दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र दप दप बनता है, जो अल्पकालीन पूर्ति-वक्र की अपेक्षा कम ढलान वाला होता है। दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र दप दप, नये माँग वक्र $म_1$ $म_1$ को $स_2$ बिन्दु पर काटता है जिससे वस्तु की कीमत $क_2$ निर्धारित होती है। इस प्रकार दीर्घकालीन कीमत $क_2$, अल्पकाल मे निर्धारित कीमत $क_1$ से नीचे की ओर होती है। वस्तुओ की निर्धारित दीर्घकालीन कीमत $क_2$, प्रारम्भिक अल्पकालीन कीमत क से अधिक तथा अल्पकालीन कीमत $क_1$ से कम अर्थात् क और $क_1$ के मध्य मे निर्धारित होती है। दीर्घकालीन कीमत वस्तु की औसत उत्पादन लागत की राशि के समान होती है। इस कीमत पर अ $ब_2$ मात्रा का उत्पादन होता है। अत दीर्घकाल मे कृषि-वस्तुओ की कीमत पर पूर्ति का प्रभाव माँग की अपेक्षा अधिक होता है। दीर्घकाल मे वस्तुओ के उत्पादन-स्तर मे परिवर्तन हो पाने के कारण दीर्घकालीन कीमत, अल्पकालीन कीमत की अपेक्षा नीचे स्तर पर निर्धारित होती है।

दीर्घकालीन कीमत का उत्पादन लागत से सम्बन्ध - वस्तुओ की दीर्घकालीन कीमत एव उनकी उत्पादन-लागत मे गहरा सम्बन्ध होता है। दीर्घावधि मे वस्तुओ की प्रचलित कीमत उत्पादन-लागत से कम होने की अवस्था मे उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा कम कर देते हैं, जिससे पूर्ति कम हो जाती है और कीमतो का बढना शुरू हो जाता है। इसी प्रकार वस्तुओं की माग के अधिक होने पर, उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा मे उस स्तर तक वृद्धि करते हैं जब तक कि उत्पादित की जाने वाली वस्तु की अतिरिक्त इकाई की उत्पादन-लागत, उसकी कीमत के समान नही हो जाती है। साथ ही वस्तुओ की माँग के अधिक होने पर दीर्घकाल मे

नये उत्पादक भी वस्तुओ के उत्पादन हेतु क्षेत्र मे प्रवेश करते हैं, जिससे भी उत्पादन-मात्रा मे वृद्धि होती है । इन सबके फलस्वरूप कीमतो के स्तर मे गिरावट होती है और अन्त मे कीमतो का यह स्तर उत्पादन-लागत के समीप आ जाता है । इसके विपरीत वस्तुओ की माँग कम होने पर कीमतो मे गिरावट से यदि उत्पादको को उत्पादन-लागत (परिवर्तनशील लागत) की राशि भी पूरी प्राप्त नही होती है तो वे उस वस्तु का उत्पादन करना बन्द कर देते हैं । यदि उत्पादको को वस्तुओ के विपणन से परिवर्तनशील लागत की राशि तो पूरी प्राप्त होती है, लेकिन स्थायी लागत की राशि प्राप्त नही होती है, तो ऐसी अवस्था मे उत्पादक उत्पादन की मात्रा को उस स्तर तक गिरा देते हैं, जिस स्तर पर उनको होने वाली हानि कम से कम होती है ।

दीर्घकाल मे वस्तुओ की कीमतें कम होने पर उत्पादक उस व्यवसाय को बन्द कर देते हैं अथवा वस्तु का उत्पादन कम करते हैं या मशीनो एव तकनीकी ज्ञान मे परिवर्तन करके लागत कम करने के प्रयास करते हैं । उत्पादन-लागत की राशि से वस्तुओ की कीमतें अधिक होने पर नये उत्पादक व्यवसाय मे प्रवेश करते हैं एव वर्तमान मे उत्पादन मे लगे कृषक भी अपने उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करते हैं । ऐसा करने से उत्पादन की कुल मात्रा मे वृद्धि होती है तथा कीमतो मे गिरावट आती है जिससे व्यावसायिक कृषको को प्राप्त होने वाले लाभ की राशि मे कमी होती है । अत दीर्घकाल मे उत्पादन का स्तर, वस्तुओ की औसत कीमत एव औसत उत्पादन-लागत के स्तर पर होता है, अर्थात् दीर्घकाल मे सामान्य कीमतें ही प्रचलित होती हैं ।

उपर्युक्त तथ्यो को एक फलो के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा सकता है । उदाहरण के तौर पर, आम के बाग के मालिक को अपने उत्पादित आम प्रचलित कीमत पर विक्रय करने होते हैं । बाजार मे आम की माँग अधिक होने पर उत्पादको को अधिक लाभ एव माँग के कम होने पर लाभ कम अथवा हानि होती है । हानि होने अथवा लाभ कम प्राप्त होने की दोनो ही स्थितियो मे उत्पादक अपने वर्तमान उत्पादन निर्णय मे परिवर्तन नही कर सकता है । साथ ही आम के अनेक उत्पादक होने के कारण, एक उत्पादक द्वारा आम विक्रय नही करने के निर्णय लेने से आम की कीमत पर कोई प्रभाव नही आता है । वर्तमान मे कीमत के उत्पादन-लागत से कम होने एव भविष्य मे कीमतों के बढने की आशा नही होने की स्थिति मे कृषक आम के बाग को पूर्णतया नष्ट करने का निर्णय लेता है और उस भूमि के क्षेत्र को अन्य फसलों के उत्पादन मे लगाता है । इसी प्रकार यदि उसे प्रचलित कीमतो पर लाभ अधिक प्राप्त होता है तो वह आम की फसल के अन्तर्गत क्षेत्रफल मे वृद्धि करके एवं तकनीकी ज्ञान के उपयोग से आम के उत्पादन मे वृद्धि करने का निर्णय लेता है । इस क्रिया मे अन्य उत्पादक भी भाग लेते है । नये उत्पादक आम के बाग स्थापित करते

है। इन प्रयासो के फलस्वरूप उत्पादन मे वृद्धि होती है और कीमतें गिर जाती हैं। दीर्घकाल मे पूर्ण साम्यावस्था-बिन्दु आने पर उत्पादन में वृद्धि अथवा कमी नही होती है।

विभिन्न उद्यमो मे दीर्घावधि का समय विभिन्न होता है। यह समय खाद्यान्नो एव दालो की फसलो मे एक वर्ष, दूध उत्पादन मे 4 से 5 वर्ष एव फलो के उत्पादन मे 6 से 10 वर्ष का होता है। अल्पकाल मे वस्तुओ की बाजार मे प्रचलित कीमत उनकी उत्पादन-लागत से कम अथवा अधिक होती है। वस्तुओ की माग अधिक होने पर अधिक कीमत तथा माँग कम होने पर कम कीमत होती है। अतः अल्पकाल मे कीमतो का वस्तुओ की उत्पादन-लागत से सम्बन्ध नही होता है।

अध्याय 19

कृषि-कराधान

योजना-बद्ध, विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए देश मे सार्वजनिक कार्य, जैसे-सड़क निर्माण, विद्युत् उत्पादन एव उसका प्रसार, सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराने के लिए नहरो एव बाँधो का निर्माण, आधारधारिक सरचना (Infra-structures) का विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा, शिक्षा, समाज कल्याण एव स्वास्थ्य आदि पर होने वाले व्यय की राशि मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, जिसके कारण देश मे आय के स्रोतो मे वृद्धि करना आवश्यक है। आय एवं व्यय के इस अन्तर को सरकार कर लगाकर पूरा करती है। सरकार प्रतिवर्ष कुछ नये कर लगाती है एव प्रचलित करो की दरो मे सशोधन करती है। सरकार के कोष मे करो द्वारा जितनी अधिक राशि एकत्रित होगी, देश मे सार्वजनिक विकास कार्य उतने ही अधिक हो सकेंगे और उसी अनुपात मे साधारण व्यक्ति का जीवन स्तर ऊँचा होगा। प्रत्येक देश की सरकार के पास आर्थिक प्रगति, विकास एव अन्य सेवाओ को बनाये रखने एवं प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए कर ही प्रमुख वित्तीय स्रोत होते हैं।

कर अनिवार्य शुल्क हैं जिनका भुगतान नागरिकों द्वारा सरकार को सामान्य हित के कार्यों को करने के लिए किया जाता है। कर भुगतान के बदले मे करदाता को कोई विशेष-सुविधा मिलना आवश्यक नहीं है।[1] प्रत्येक नागरिक को, जो करदाता की श्रेणी मे आता है, कर का भुगतान अनिवार्य रूप से करना होता है।

कराधान के अभिनियम—कराधान के प्रमुख अभिनियम निम्न होते हैं—

(1) समानता का अभिनियम (Canon of Equity),

(2) निश्चितता का अभिनियम (Canon of Certainty),

(3) सुविधा का अभिनियम (Canon of Convenience),

(4) मितव्ययिता का अभिनियम (Canon of Economy),

(5) उत्पादकता का अभिनियम (Canon of Productivity),

1- Philip E. Taylor, The Economics of Public Finance, The Macmillan Company, Newyork, 1961, P. 282

(6) लोच का अभिनियम (Canon of Elasticity),
(7) सरलता का अभिनियम (Canon of Simplicity),
(8) विविधता का अभिनियम (Canon of Variety)।

उपर्युक्त प्रथम चार अभिनियम प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित किये गये थे।

सरकार वित्तीय आवश्यकताओं के कारण नागरिको पर विभिन्न प्रकार के कर लगाती है, जैसे भू राजस्व आयकर, बिक्री-कर, सम्पत्ति कर, मनोरंजन कर आयात-कर, यात्री-कर आदि। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य कृषि-क्षेत्र मे लगने वाले करो अर्थात् कृषि-करो का विस्तृत अध्ययन करना है।

कृषको द्वारा कृषक-उपभोक्ताओं, कृषक-सम्पत्तिधारियों आदि के रूप मे कृषको द्वारा भुगतान किये जाने वाले कर, कृषि कर की श्रेणी मे आते हैं। कृषि कर देश के आर्थिक विकास मे निम्न प्रकार से सहायक होते हैं।

(i) कृषि-कर सरकार को देश के विकास कार्यक्रमो पर व्यय करने के लिए वित्त प्रदान करते हैं।
(ii) कृषि क्षेत्र म कर होने से, कर भुगतान राशि की प्राप्ति के लिए वस्तुओं की मात्रा के विक्रय करने से मंडी में पूर्ति बढ़ जाती है जो कीमत स्थिरीकरण में सहायक होती है।
(iii) कृषि-करो के भुगतान के लिए कृषको को आवश्यक रूप से बचत करनी होती है। इससे कृषको मे बचत करने की भावना को बढ़ावा मिलता है जो अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक है।

कृषि-करों का वर्गीकरण :

कृषि-क्षेत्र मे लगाये गये करों को मुख्यत: दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है :

(i) प्रत्यक्ष कृषि-कर—वे कर जो प्रत्येक कृषक करदाता के लिए पृथक् रूप से निर्धारित किए जाते हैं तथा उनके द्वारा ही सीधे सरकार को भुगतान किये जाते हैं, जैसे-भू-राजस्व, कृषि-आयकर, कृषि-सम्पत्ति कर, सिंचाई-कर, सुधार-लेवी आदि।
(ii) अप्रत्यक्ष कृषि-कर—ये कर कृषको द्वारा वस्तुओं एव सेवाओं के क्रय/उपयोग के लिए देय होते हैं तथा कृषको द्वारा सरकार को सीधे भुगतान नही किये जाते हैं। ये कर व्यापारियो एव अन्य संस्थाओं द्वारा कृषको से वसूल किये जाते हैं और वे ही सरकार को एकत्रित किये गये कर राशि का भुगतान करते हैं। अप्रत्यक्ष कृषि-करो का भार तो कृषको पर होता है, लेकिन इनके भुगतान का दायित्व कृषको पर न होकर अन्य व्यक्तियो पर होता है। अप्रत्यक्ष कृषि-करो मे बिक्री-कर, विद्युत-कर प्रमुख हैं।

कृषि-क्षेत्र मे लगने वाले प्रमुख प्रत्यक्ष करो का संक्षिप्त विवेचन निम्न है—

(1) भू-राजस्व :

भू-राजस्व की राशि प्रत्येक कृषक के लिए उसकी भूमि के क्षेत्र एव किस्म के अनुसार पृथक् रूप से निर्धारित की जाती है। सरकार भू-राजस्व कृषको से सीधे रूप मे वसूल करती है। भू-राजस्व कर, कृषको को भूमि से प्राप्त होने वाली आय के कारण देय होता है। इसके भुगतान का निम्न कार्यों से कोई सम्बन्ध नही होता है—

(i) कृषको द्वारा कृषि कार्यों को करने अथवा भूमि को अपने अधिकार मे रखने।

(ii) सरकार द्वारा कोई विशेष सेवा कृषको को प्राप्त कराने, जैसे बाध, सडक, नहर आदि का निर्माण।

(iii) कृषको द्वारा कृषि को व्यवसाय के रूप मे अपनाने।

भू राजस्व की विशेषताएँ—भू-राजस्व की निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए—

1 भू-राजस्व उन कृषको से वसूल किया जाना चाहिए, जिन्हे भूमि को कृषित करने से शुद्ध लाभ प्राप्त होता है। लघु, सीमान्त एव अलाभकर जोतो पर इसका भार नही पडना चाहिए।

2 भू-राजस्व मे आरोहीपन (Progressiveness) का गुण होना चाहिए अर्थात् यह उत्पादकता से सम्बन्धित होना चाहिए।

3 भू-राजस्व मे लचीलेपन का गुण होना चाहिए अर्थात् यह परिवर्तनशील आर्थिक कारको के अनुसार परिवर्तित होना चाहिए।

4. भू-राजस्व का भार राज्य मे एक-सी परिस्थितियो के कृषको पर समान होना चाहिए।

भू राजस्व के गुण—इसमे निम्न गुण विद्यमान हैं

1 भू-राजस्व सरकार की आय का प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इसकी राशि निश्चित होती है तथा इसकी वसूली मे खर्च कम आता है।

2. भू-राजस्व फसल की कटाई के उपरान्त वसूल किया जाता है जिसके कारण यह कर कृषको के लिए भुगतान की दृष्टि से सुविधाजनक होता है।

3 भू-राजस्व की भुगतान की जाने वाली राशि का कृषको को पूर्ण ज्ञान पहले से ही होता है।

4. भू-राजस्व का निर्धारण भूमि की किस्म, उर्वरता आदि गुणो के आधार पर किया जाता है, जिससे अच्छी किस्म की भूमि वाले कृषको को प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र के लिए अधिक भू-राजस्व देना होता है।

5 मौसम की प्रतिकूलता के कारण फसल उत्पादन कम होने अथवा फसल के पूर्णतया नष्ट होने की स्थिति मे भू-राजस्व की राशि मे छूट देने अथवा उसके भुगतान को स्थगित करने का प्रावधान होता है।

6 भू-राजस्व मे एक उत्तम कर-प्रणाली के सभी गुण, जैसे–निश्चितता, सरलता, उत्पादकता, मितव्ययिता, सुविधा आदि विद्यमान होते हैं।

भू-राजस्व मे व्याप्त दोष—भू-राजस्व मे व्याप्त प्रमुख दोष निम्न हैं :

1 भू-राजस्व एक निरपेक्ष कर है, क्योकि भू-राजस्व की राशि एव भूमि से प्राप्त पैदावार के मूल्य में उचित सम्बन्ध नही होता है।

2 भू-राजस्व मे सभी वर्गों के कृषको पर समान भार होने के सिद्धान्त का अभाव होता है। साधारणतया भू-राजस्व का भार लघु कृषकों पर बडे कृषकों की अपेक्षा अधिक आता है।

3 भू-राजस्व एक लम्बी अवधि के लिए नियत किया जाता है। कीमतो मे परिवर्तन के कारण भूमि से प्राप्त उत्पाद के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन तथा भू-राजस्व की राशि मे सामजस्य नही होता है।

4 फसल की कटाई देर मे होने तथा फसल विपणन से आय देर मे प्राप्त होने की अवस्था मे भू-राजस्व के भुगतान करने मे असुविधा होती है तथा इसके समय पर भुगतान करने के लिए कृपको को गैर-सस्थागत अभिकरणो से अधिक ब्याज-दर पर ऋण लेना होता है।

5 भू-राजस्व के निर्धारण का कार्य बहुत खर्चीला होता है तथा इसके निर्धारण मे समय अधिक लगता है।

6 भू-राजस्व की राशि राज्य सरकारो द्वारा नियत की जाती है, जिसके कारण विभिन्न राज्यो मे भू-राजस्व की दरो मे असमानता होती है।

भू-राजस्व से प्राप्त आय :

सारणी 19.1 भारत मे वर्ष 1951–52 से 1988–89 तक भू-राजस्व, कृषि-आयकर एव कृषि-करो से प्राप्त राशि प्रदर्शित करती है।

सारणी 19 1
भारत मे कृषि करो से प्राप्त राशि

(करोड़ रुपयों मे)

वर्ष	भू-राजस्व	कृषि आय कर	कृषि क्षेत्र से प्राप्त कर	राज्यो एव केन्द्र को प्राप्त कुल कर राजस्व राशि	कृषि क्षेत्र से प्राप्त कर का कुल कर राजस्व राशि म अशदान
1951–52	48	4	52	741	7 0
1961–62	95	9	104	1,537	6 8
1971–72	101	13	114	5,568	2 0
1975–76	230	29	259	11,155	2 3
1980–81	146	46	192	19,844	1 0
1981–82	205	38	243	24,067	1.0
1985–86	353	127	480	43,267	1.1
1986–87	382	104	486	49,540	1.0
1987–88	415	71	486	56,949	0.9
1988–89 (B E)	*536*	*100*	*636*	*64,147*	*1 0*

Source Basic statistics Relating to Indian Economy, vol I, All India, August 1989, Centre for monitoring Indian Economy

भारत मे कर-राजस्व राशि वर्ष 1951-52 मे 741 करोड रुपये थी, जो बढ कर वर्ष 1988-89 मे 64,147 करोड रुपये हो गई। इस काल मे कुल कर-राजस्व राशि मे 86 गुना वृद्धि हुई है, जबकि कृषि क्षेत्र से प्राप्त करो की राशि मे 12 गुना ही वृद्धि हुई है।

कृषि क्षेत्र मे प्रमुखतया भू-राजस्व एव कृषि आयकर दो प्रमुख कर हैं। भू-राजस्व की राशि वर्ष 1951-52 मे 48 करोड रुपये थी, जो बढ़ कर वर्ष 1988-89 मे 536 करोड रुपये अर्थात् 12 गुना वृद्धि हुई है लेकिन भू-राजस्व का कुल राजस्व मे प्रतिशतता जो वर्ष 1951-52 मे 6 5 थी, वह घटकर एक प्रतिशत से भी कम रह गई। इसी प्रकार कृषि आयकर की राशि मे भी उपरोक्त काल मे 25

गुना वृद्धि हुई है लेकिन कुल राजस्व कर में इसकी प्रतिशतता नगण्य है। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवधि में कृषि क्षेत्र से प्राप्त करों की राशि में वृद्धि की गति अन्य क्षेत्र के करों में हुई वृद्धि की अपेक्षा बहुत कम रही है।

भू-राजस्व की कुल राशि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में 237 1 करोड़ रुपये, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 464 6 करोड़ रुपये, तृतीय पंचवर्षीय योजना में 570 3 करोड़ रुपये एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 539 5 करोड़ रुपये थी। भू-राजस्व की प्राप्त राशि में द्वितीय योजना-काल में प्रथम योजना की अपेक्षा 42 3 प्रतिशत की वृद्धि तृतीय योजना-काल में द्वितीय योजना की अपेक्षा 22 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भू-राजस्व की राशि में तृतीय योजना की अपेक्षा गिरावट आई है। द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजना-काल में भू राजस्व की राशि में वृद्धि वर्ष 1957 58 में जम्मू एवं कश्मीर राज्य के भारत में विलय होने के कारण क्षेत्रफल में वृद्धि, जागीरदारी एवं जमींदारी-प्रथा की समाप्ति, इनाम एवं धार्मिक संस्थाओं की भूमि पर भू-राजस्व के भुगतान में दी गई छूट को समाप्त करने एवं अनेक राज्यों में भू-राजस्व पर अधिभार लगान के कारण हुई थी। विभिन्न राज्यों में भू राजस्व की राशि एवं करों से प्राप्त कुल राजस्व में उनके प्रतिशत अंशदान में बहुत भिन्नता पाई जाती है। विकसित राज्यों में कुल कर-राजस्व में भू-राजस्व का प्रतिशत अंशदान कम है।

भू राजस्व की समाप्ति के पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये तर्क

भू-राजस्व की समाप्ति के पक्ष एवं विपक्ष में विभिन्न अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों एवं प्रशासकों ने पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न तर्क दिये हैं। उनमें से प्रमुख तर्क निम्न हैं—

भू-राजस्व की समाप्ति के पक्ष में दिये गये तर्क

1. भू-राजस्व एक निष्पक्ष कर है क्योंकि इसका भूमि से प्राप्त उत्पाद के मूल्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता है।
2. भू-राजस्व का भार विभिन्न राज्यों के कृषकों पर समान नहीं है।
3. भू-राजस्व का भार विभिन्न जोत वाले कृषकों पर भी समान नहीं है। अतः इसमें करारोपण के समानता अधिनियम का पालन नहीं होता है।
4. भू-राजस्व अवरोही (Regressive) होता है। अतः इसमें करारोपण के आरोही-अधिनियम का अभाव पाया जाता है।
5. भू-राजस्व के निर्धारण का कोई निश्चित आधार नहीं होता है।
6. भू-राजस्व वसूली के समय में छूट नहीं होती है।

भू राजस्व की समाप्ति के विपक्ष मे दिये गये तर्क :

1. भू-राजस्व राज्य सरकारो की ग्राय का प्रमुख स्रोत है। भू-राजस्व की समाप्ति से राज्यो की ग्राय मे कमी होगी, जिससे राज्य सरकारो के पास विकास कार्यों पर व्यय करने के लिए धन की कमी से विकास की गति रुक जाएगी।

2 भू-राजस्व सरल एव सुविधाजनक कर है। इसका भुगतान करने मे कृषको को विशेष भार महसूस नही होता है। भू-राजस्व का भार प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से प्राप्त उत्पादन के मूल्य की तुलना मे नगण्य होता है। साथ ही कृषक इस कर का काफी लम्बी अवधि से भुगतान करते आ रहे हैं।

3 सरकार भू-राजस्व राशि वसूल करके भूमि पर ग्रधिकार अस्थायी रूप से कृषकों को प्रदान करती है।

4 वर्तमान मे ग्रामीण क्षेत्र के नागरिको पर शहरी क्षेत्र के नागरिको की ग्रपेक्षा कर का भार कम है। भू राजस्व की समाप्ति से ग्रामीण क्षेत्र के नागरिको पर करा का भार पहले से और कम हो जायेगा। अतः समाज के विभिन्न क्षेत्रो के नागरिको पर कर का भार समान बनाये रखने के लिए भू-राजस्व की समाप्ति उचित नही है।

5 विभिन्न पचवर्षीय योजनाग्रो मे विकास कार्यों के लिए कुल व्यय का काफी अधिक प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रो के विकास पर व्यय किया गया है। जैसे—सिचाई, ग्रामीण विद्युतीकरण, भू-सरक्षण आदि कार्यों पर। ग्रत कृषको से भू राजस्व वसूल किया जाना चाहिए।

6. कृषि क्षेत्र मे तकनीकी ज्ञान के प्रयोग से कृषको की ग्राय मे वृद्धि हुई है। ग्राय के बढने से उन पर भू राजस्व का भार पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गया है। ग्रत बढती हुई ग्राय मे से एक भाग सरकार को विकास कार्यों के लिए भू-राजस्व के रूप मे मिलना चाहिए। वर्तमान मे कृषक सरकार को भू राजस्व की राशि का भुगतान खेत से प्राप्त लूम, पाला, मूज ग्रादि वस्तुग्रो को विक्रय करके ही कर पाने मे सक्षम होते हैं।

7 भू-राजस्व के भुगतान दायित्व से बचना कृषको के लिए ग्रासान नही है। इसका उन्हे ग्रवश्य ही भुगतान करना होता है, जबकि वे अन्य प्रकार के करो के भुगतान से ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक सुगमता से बच जाते हैं।

भू-राजस्व की समाप्ति के पक्ष एव विपक्ष मे दिये गये तर्कों से स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थितियो मे इसे समाप्त नही किया जाना चाहिए, बल्कि इसमे सुधार किया जाना चाहिए । भू राजस्व मे विद्यमान अवरोहीपन (Regressiveness) के गुण को समाप्त करके इसका लोचदार बनाने की आवश्यकता है । भू-राजस्व मे सुधार के लिए निम्न सुझाव प्रेषित हैं—

1. देश की ग्रामीण विकास योजनाओ एव हरित-क्रान्ति का मुख्य लाभ बडे एव सम्पन्न कृषको को अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त हुआ है । लघु एव सीमान्त वर्ग के कृषक, बडे कृषको के समान उत्पादन साधनो के अभाव मे लाभान्वित नही हो पाये हैं । अत बडे एव मध्यम जोत वाले कृषको पर भू-राजस्व के भार मे वृद्धि की जानी चाहिए तथा लघु एव अनार्थिक जोतो पर लगने वाले भू-राजस्व को स्थायी रूप से समाप्त किया जाना चाहिए । ऐसा करने से राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ, लघु कृषको की देश मे बहुलता होने के कारण भू-राजस्व की वसूली की लागत मे भी कमी होगी । इस नीति से सरकार को प्राप्त होने वाले कुल राजस्व राशि मे विशेष अन्तर नही आयेगा ।
2 भू-राजस्व मे विद्यमान अवरोहीपन के गुण को समाप्त करने के लिए इस पर बढती हुई दर (50 से 200 प्रतिशत तक) से अधिभार लगाना चाहिए ।
3. भू-राजस्व के भार को विभिन्न राज्यो मे समान करने के लिए भू-राजस्व मे आवश्यक सशोधन किये जाने चाहिएँ ।
4 भू-राजस्व का नियतन 5 से 10 वर्षों की अवधि के लिए ही किया जाना चाहिए । तत्पश्चात् भूमि की उत्पादकता, कीमतो एव उत्पादन-लागत मे परिवर्तन के अनुसार भू-राजस्व मे परिवर्तन किया जाना चाहिए । इस प्रकार भू-राजस्व से प्राप्त आय की राशि मे वृद्धि होगी एव इसमे लोचपन का गुण आयेगा ।
5 वाणिज्यिक फसलो से खाद्यान्नों की अपेक्षा प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से अधिक लाभ प्राप्त होता है । अत वाणिज्यिक फसलो पर भू-राजस्व के अतिरिक्त विशेष कर भी लगाया जाना चाहिए ।

(2) कृषि आयकर .

कृषि-क्षेत्र मे दूसरा प्रमुख प्रत्यक्ष कर कृषि-आयकर है । यह कर कृषको की कृषि-व्यवसाय से प्राप्त आय पर देय होता है । कृषि आय से तात्पर्य उस आय से है जो कृषको को भूमि पर उत्पादित कृषि-उत्पादो से प्राप्त होती है । कृषि-आयकर

कृषको को वर्ष मे प्राप्त शुद्ध कृषि आय पर देय होता है। कृषको को एक वर्ष मे प्राप्त समग्र आय की राशि म से कानून के अन्तर्गत दी जाने वाली अनुमेय कटौतियो को निकालने पर जो आय शेष रहती है, वह उनकी शुद्ध कर-योग्य आय कहलाती है। कृषि-आयकर कानून के अन्तर्गत दी जाने वाली कटौतियो म प्रमुख अनुमेय कटौतियाँ निम्न है—

(i) भू राजस्व, लगान, सिंचाई कर आदि की देय राशिया।

(ii) कृषि कार्यों के लिए प्राप्त ऋण पर दिये गये ब्याज की राशि।

(iii) सिंचाई के साधनो एव अन्य कार्यो पर की गई मरम्मत की लागत।

(iv) कृषि सम्पदा—भवन, पशुशाला, सग्रहघर, ट्रैक्टर एव अन्य मशीनो की घिसावट एव मूल्य ह्रास लागत।

(v) मशीनो एव औजारो के अप्रयोज्य (Obsolete) होने से सम्भाव्य मूल्य ह्रास की राशि।

(vi) कृषि उत्पादन के लिए प्रयुक्त उत्पादन साधनों, जैसे-बीज, खाद, उर्वरक, श्रम आदि की लागत।

(vii) कृषि बीमा की भुगतान किश्त की राशि।

(viii) कृषि उत्पादन एव विपणन पर सरकार को दिए गये करो की राशि।

(ix) अन्य कटौतियाँ जैसे–धार्मिक सस्थाओ को दी गई सहायता, अनुसधान पर किया गया व्यय आदि।

भारत मे सर्वप्रथम आयकर ब्रिटिश शासन-काल मे वर्ष 1860 मे लागू किया गया था। इसम कृषि स्रोत से प्राप्त आय भी आयकर मे सम्मिलित थी। आयकर कानून, 1886 मे कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय को आयकर कानून से मुक्त कर दिया गया। कृषि-आय पर यह छूट वष 1935 तक बनी रही। देश मे कृषि आय वष 1935 के पूर्व (1860 से 1865एव 1869 से 1873 के नौ वर्षों के अतिरिक्त) आयकर से मुक्त रही थी। वष 1935 मे भारत सरकार ने कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय पर आयकर लगाने का अधिकार राज्य सरकारो को दे दिया, जिसे भारतीय सविधान ने 1950 मे अपना लिया। भारतीय सविधान मे कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो पर आयकर लगाने का अधिकार केन्द्र सरकार का एव कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय पर आयकर लगाने का अधिकार राज्य सरकारो को प्राप्त है। वर्ष 1935 के उपरान्त अनेक राज्यो मे कृषि आयकर लागू करके कुछ समय पश्चात् समाप्त कर दिया तथा अनेक राज्यों ने लागू ही नही किया। अत कृषि आयकर के होने तथा नही होने की दृष्टि से विभिन्न राज्यो को निम्न तीन श्रेणियो म वर्गीकृत किया जा सकता है—

(i) वे राज्य, जहां कृषि आय पर वर्तमान मे कृषि-आयकर लागू है :

इस श्रेणी मे विहार, असम, पश्चिम बगाल, उडीसा, केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र एव मध्यप्रदेश राज्य हैं। इन राज्यो मे सर्वप्रथम विहार राज्य ने 1938, असम ने 1939, उडीसा ने 1947, केरल ने 1949, मध्यप्रदेश ने 1952 एव तमिलनाडु व कर्नाटक ने 1955 म कृषि-आयकर लागू करने के कानून पारित किये। इन राज्यों मे आयकर लगाने की विधि एव उसमे दी जाने वाली छूट मे बहुत भिन्नता है। दक्षिण क्षेत्र के राज्यो मे कृषि-आयकर प्रमुखतया बागान वाली फसलो पर लगाया गया है।

(ii) वे राज्य, जहां कृषि-आयकर कुछ समय के लिए लागू हुआ, लेकिन बाद मे समाप्त कर दिया गया :

इस श्रेणी मे उत्तर प्रदेश, आध्रप्रदेश एव राजस्थान राज्य आते हैं। उत्तर-प्रदेश राज्य मे 1948 मे आयकर लागू किया गया था, जिसे 1957 मे दीर्घ भूमि जोत कर द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया। हैदराबाद मे लागू कृषि-आयकर को 1956 मे राज्य का पुनर्गठन होने पर आन्ध्रप्रदेश सरकार ने भू-राजस्व (अधिभार) कानून द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया। राजस्थान राज्य ने अप्रैल, 1966 से कृषि-आयकर समाप्त कर दिया तथा राज्य मे यह कर लगान पर अधिभार के रूप में वसूल किया जाता है।

(iii) वे राज्य, जहाँ अभी तक कृषि-आयकर लागू नहीं किया गया है :

इस श्रेणी मे पजाब, हरियाणा, गुजरात, मध्यप्रदेश (भोपाल एव विन्ध्य-प्रदेश के अतिरिक्त), हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय एव नागालैंड राज्य हैं। पजाब एव हरियाणा राज्य की सरकारें कृषि-आयकर लगाने के पक्ष मे नही हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि देश का 55 प्रतिशत कृषित-क्षेत्र कृषि-आयकर से मुक्त है।[2] विभिन्न राज्यो मे कृषि आय पर दी गई छूट की विषमता के साथ-साथ, राज्यों मे कृषि-आयकर की दरो मे भी बहुत भिन्नता पायी जाती है, जिसके कारण विभिन्न राज्यो मे कृषि-आयकर का भार भिन्न-भिन्न है।

कृषि-आयकर से प्राप्त आय—कृषि-आयकर से देश को वर्ष 1951–52 में 4 3 करोड रुपयो की आय प्राप्त हुई थी। यह आय बढकर 1978–79 में 80 36 करोड रुपये हो गई (सारणी 19.1)। वर्ष 1951–52 की अपेक्षा 1988–89 मे कृषि-आयकर की राशि मे 25 गुना वृद्धि हुई है, लेकिन देश के कुल कर-राजस्व की राशि मे कृषि-आयकर के प्रतिशत अश मे उपर्युक्त काल मे गिरावट आई है।

2. Reserve Bank of India Bulletin, Vol. XXVII, No 8, August, 1973, p. 1031.

सारणी 19.2

विभिन्न वर्षों मे कृषि आयकर से राज्यवार प्राप्त आय की राशि

(करोड़ रुपयो मे)

राज्य	1950–51	1960–61	1966–67	1972–73	1978–79	1979–80	1980–81
आन्ध्रप्रदेश	—	0 03	—	—	—	—	—
असम	0 79	2 75	4 84	3 11	35 04	17 53	17 00
बिहार	0 69	0 51	0 30	0 44	0 08	—	0 01
केरल	0 50	2 35	2 40	3 52	11 14	10 57	11 50
कर्नाटक	—	0 74	1 33	1 95	14 37	15 60	11 00
महाराष्ट्र	—	—	0 40	0 38	0 50	0 45	0 35
उड़ीसा	0 10	0 04	0 05	—	0 01	0 02	—
राजस्थान	—	0 03	0 01	—	—	—	—
तमिलनाडु	—	1 35	1 26	1 95	10 32	6 82	5 98
उत्तरप्रदेश	1 38	0 83	0 22	0 08	—	—	—
पश्चिमी बगाल	0 63	0 85	0 77	0 98	8.81	7 28	4 25
त्रिपुरा	—	—	—	—	0 09	0 08	0 04
भारत मे कुल कृषि-आयकर	4 09	9 48	11 58	12 41	80 36	58 35	50 13

स्रोत . Reserve Bank of India Bulletins—Various Issues

कृषि-आयकर से प्राप्त आय की राशि में विशेष वृद्धि नहीं होने के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(i) अनेक राज्यों में कृषि-आय पर दी गई छूट की सीमा की अधिकता के कारण, अधिकांश कृषक आयकर भुगतान की श्रेणी में नहीं आते हैं, जैसे—महाराष्ट्र में 36,000 रु वार्षिक आय, पश्चिम बंगाल में 100 मानक बीघा तक कृषित भूमि, कर्नाटक में 100 एकड़ प्रथम श्रेणी की भूमि या उसके समतुल्य अन्य श्रेणी की भूमि का क्षेत्र, मध्यप्रदेश के भोपाल एवं विन्ध्यप्रदेश में 50 एकड़ तक ट्रैक्टर द्वारा कृषित भूमि अथवा 100 एकड़ तक अन्य प्रकार से कृषित भूमि, कृषि-आयकर से मुक्त है।

(ii) जमींदारी एवं जागीरदारी प्रथा की समाप्ति, भू-सीमा निर्धारण आदि के कारण, बड़ी कृषि जोतें छोटी जोतों में विभक्त हो गई हैं, जिसके कारण भी आयकर भुगतान की श्रेणी में आने वाले कृषकों की संख्या कम हो गई है।

(iii) कृषि-उत्पादन का प्रकृति पर निर्भरता के कारण, कृषकों की आय में अनिश्चितता बनी रहती है, जिससे भी आयकर की राशि कम प्राप्त होती है।

(iv) अधिकांश कृषक कृषि-व्यवसाय का लेखा-जोखा नहीं रखते हैं जिससे कृषि से प्राप्त आय के सही आंकड़े उपलब्ध नहीं होते हैं और अनेक कृषक आय-कर भुगतान से बच जाते हैं।

(v) कृषि-आयकर की वसूली में राजनैतिक हस्तक्षेप भी एक बाधा है।

विभिन्न राज्यों में कृषि-आयकर से प्राप्त आय की राशि में बहुत भिन्नता है। असम, केरल, कर्नाटक एवं तमिलनाडु राज्यों में कृषि-आयकर से प्राप्त आय की राज्यों में कृषि-आयकर से प्राप्त कुल आय के 80 प्रतिशत से अधिक है। इन राज्यों में कृषि आयकर से अधिक आय की प्राप्ति का प्रमुख कारण बागान वाली फसलों के अन्तर्गत अधिक क्षेत्रफल का होना है। पंजाब, हरियाणा, गुजरात, हिमाचल-प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, नागालैण्ड राज्यों में कृषि आय पर आयकर नहीं लगाया गया है। राजस्थान में कृषि-आयकर की समाप्ति के कारण वर्ष 1972-73 से कोई आय प्राप्त नहीं हो रही है।

कृषि-आयकर के पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये तर्क :

कृषि-आयकर एक वाद विवाद का प्रश्न बना हुआ है जिसके पक्ष एवं विपक्ष में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। कृषि-आयकर के पक्ष में दिए जाने वाले प्रमुख तर्क अग्रलिखित हैं—

(1) शहरी क्षेत्र के निवासी ग्रामीण क्षेत्र के निवासियो की अपेक्षा प्रति व्यक्ति अधिक कर-राशि का भुगतान कर रहे हैं। राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक अनुसन्धान परिषद्[3] के अध्ययन के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र से 5 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्र से 22 प्रतिशत कर प्राप्त होता है। अत. कर मे भार की भेद भाव की समाप्ति के लिए कृषि क्षेत्र मे प्राप्त आय पर आयकर होना आवश्यक है।

(2) सरकार द्वारा ग्रामीण विकास-कार्यक्रमो पर अधिक राशि मे धन व्यय करने के कारण कृषि-क्षेत्र मे कार्य कर रहे व्यक्तियो की आय मे निरन्तर वृद्धि हुई है। अत कृषको की बढती हुई आय पर, आयकर का होना अनिवार्य है, अन्यथा बढती हुई आय देश मे मुद्रा स्फीति उत्पन्न करने मे सहायक होगी।

(3) वर्तमान मे कृषि—क्षेत्र मे भू-राजस्व के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष कर नही है। भू-राजस्व अवरोही कर है जिसका भार बड़े कृषको की अपेक्षा लघु कृषको पर अधिक आता है। अत. बडे एव लघु कृषको की आय मे व्याप्त असमानता का समाप्त करने एव करो के भार मे समानता बनाये रखने के लिए बडी जोत वाले कृषको पर कृषि-आयकर का होना आवश्यक है।

(4) देश के सविधान मे ग्रामीण एव शहरी-व्यक्तियो को समान अधिकार प्राप्त है। अत. कर भार मे पाये जाने वाले भेदभाव की नीति की समाप्ति के लिए कृषि आयकर का लगाया जाना आवश्यक है।

कृषि-आयकर की समाप्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियो द्वारा दिये गये तर्क निम्न हैं—

(1) भू-राजस्व के साथ-साथ कृषि आय पर आयकर के होने से कृषको को भूमि से प्राप्त आय पर दो करो का भुगतान करना होता है। कृषक भू-राजस्व बहुत पहले से देते आ रहे हैं। अत. कृषि-आय पर जो भूमि से ही प्राप्त होती है, आयकर का होना उचित नही है।

(2) कृषि-क्षेत्र से प्राप्त आय पर आयकर होने से कृषको को उत्पादन बढाने की पर्याप्त प्रेरणा नही मिलती है।

(3) देश के अधिकाश कृषक लघु जोत वाले एव गरीब है तथा वे कृषि-व्यवसाय से प्राप्त आय एव उसमे होने वाली लागत का लेखा-जोखा नही रखते हैं। अतः कृषि-आयकर के निर्धारण मे सरकार को अनेक

3. National Council of Applied Economic Research; Techno-Economic Survey of Uttar Pradesh, New Delhi, 1965, p. 188.

परेशानियो का सामना करना होगा एव अनेक कृषको को भी अनावश्यक रूप में परेशान होना पड़ेगा।

(4) कृषि-आयकर के होने से सरकार की प्रशासनिक कठिनाइयाँ एव व्यय की राशि मे वृद्धि होगी।

कृषि-आयकर के पक्ष एव विपक्ष मे दिये गये तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि कृषि-आयकर लगाये जाने के पक्ष मे दिये गये तर्क अधिक सुदृढ हैं। अन कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय पर आय कर होना चाहिये, लेकिन आयकर लगाने की विधि से राजस्व-राशि अधिक प्राप्त करने के लिये आवश्यक सशोधन किये जाने चाहिये। कृषि आय पर आयकर लगाने के लिये समय-समय पर अनेक समितियो एव व्यक्तियो ने सुझाव दिये हैं। उनमे से प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं—

1 जिन राज्यो ने कृषि आयकर लागू नही किया है, उन राज्यो द्वारा भी कृषि-आयकर लगाया जाना चाहिये।

2 सभी राज्यो मे कृषि आयकर की दरो मे समानता होनी चाहिये।

3 साधारण आयकर एव कृषि-आयकर के लिये दी जाने वाली छूट की राशि मे समानता होनी चाहिये, जिससे नागरिक एक क्षेत्र से प्राप्त आय को दूसरे क्षेत्र से प्राप्त आय मे प्रदर्शित करके आयकर भुगतान से बच नही पाये।

4 कृषि-आयकर, कृषको की समग्र आय के स्थान पर शुद्ध आय के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिये।

5 कृषि-आयकर, साधारण आयकर के समान प्रगामी दर से होना चाहिये।

6 कृषि-आयकर की दर मे आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन किये जाने चाहिये, जिससे देश के विकास के लिये आवश्यक वित्त जुटाया जा सके।

कृषि-आयकर के लिए नियुक्त राज-समिति—प्रथम पचवर्षीय योजना-काल से ही सरकार का ध्यान कृषि-क्षेत्र से प्राप्त आय पर आयकर लगाने की ओर आकर्षित हुआ था। सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियो ने भी कृषि आय पर आयकर लगाने का सुझाव दिया था। डॉ० जान मथाई की अध्यक्षता मे नियुक्त कराधान, जाँच आयोग, 1953-54 ने कृषि-आयकर लगाने का सुझाव दिया था। अनेक राज्य सरकारो ने कृषि-आयकर लगाने के लिये कानून पारित किये और उन्हे क्रियान्वित किया। न्यायाधीश श्री के एन. वाँचू ने 21 मार्च, 1972 को आय कर व काले धन की समस्या-सम्बन्धी रिपोर्ट मे कृषि आय पर केन्द्रीय सरकार के आयकर कानून को लागू करने का सुझाव दिया था। कृषि केन्द्रीय विषय-सूची मे न

होकर राज्यो की विषय-सूची मे होने की सवैधानिक अड़चन के कारण आयकर लगाने का उपर्युक्त सुझाव कार्यान्वित नहीं हो सका। कृषि-आय पर कर लगाने की बढ़ती हुई आवश्यकता तथा अर्थशास्त्रियो, राजनीतिज्ञो एव प्रशासको के विचारो मे मतभेद होने के कारण सरकार ने 24 फरवरी, 1972 को कृषि-सम्पत्ति व आय पर कर लगाने के लिए आवश्यक सुझाव देने हेतु एक समिति डॉ के एन. राज की अध्यक्षता मे नियुक्त की। राज-समिति नियुक्त करने के प्रमुख उद्देश्य निम्न-लिखित थे—

(i) कृषि-आय एव सम्पत्ति पर कर लगाने की विधि का सुझाव देना, जिससे देश के विकास कार्यो के लिए अतिरिक्त धन जुटाया जा सके।

(ii) देश मे व्याप्त आर्थिक असमानता को कम करना एव उत्पादन-साधनो का दक्षतापूर्ण उपयोग करने के लिए सुझाव देना।

राज-समिति ने अपनी रिपोर्ट 31 अक्टूबर, 1972 को वित्त मन्त्रालय को प्रस्तुत की। राज समिति ने कृषि आय पर कर लगाने मे आने वाली सभी प्रशासनिक एव सवैधानिक समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए कृषि आय पर कर लगाने के लिए निम्न सिफारिशें की हैं—

(1) जिन कृषको के यहाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से आय नही है, उनके यहाँ भू-राजस्व के स्थान पर कृषि जोतकर (Agricultural Holding Tax) लागू किया जाना चाहिए।

(2) जिन कृषको के यहाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से भी आय प्राप्त होती है, उनके यहाँ कृषि से प्राप्त आय को कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय मे सम्मिलित करके आयकर की दर निर्धारित की जानी चाहिए। प्रस्तावित आयकर की दर से आयकर कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय पर ही वसूल किया जाना चाहिए।

(3) पशुपालन, मत्स्य पालन, मुर्गीपालन एव दुग्ध उत्पादन से प्राप्त आय पर कर लगाना चाहिए।

(4) कृषि-सम्पत्ति को अन्य सम्पत्ति मे सम्मिलित करके समन्वित सम्पत्ति कर प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

(5) कृषि-भूमि के विक्रय से प्राप्त लाभ की राशि को सम्पत्ति लाभ की श्रेणी मे मानते हुए उस पर कर लगाना चाहिए।

उपर्युक्त सिफारिशो का विवरण नीचे दिया गया है—

(1) कृषि-जोतकर—राज-समिति की सिफारिश के अनुसार राज्य सरकारो द्वारा कृषि जोत के आकार तथा उत्पादन के अनुसार "कृषि-जोत कर" लागू किया

जाना चाहिए। कृषि जोत कर भू-राजस्व पद्धति की एक सुधरी हुई विधि है, जिसके अन्तर्गत भूमि के क्षेत्रफल के साथ-साथ भूमि की उत्पादकता एवं प्राप्त उत्पाद की कीमतों को भी दृष्टिगत रखा जाता है। समिति ने कृषि-जोत कर निर्धारण करने के लिए "अखिल भारतीय कृषि-जोत कर स्थायी समिति" स्थापित करने की सिफारिश की थी। समिति के अनुसार 5000 रु० या इससे अधिक कर योग्य आय की सभी जोतों पर भू-राजस्व के स्थान पर कृषि-जोत कर लगाने से 200 करोड़ रु प्रति वर्ष की आय प्राप्त होगी, जबकि वर्तमान में भू-राजस्व से 50 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार 2500 रुपये तक की कर योग्य आय की जोत पर कृषि-जोत कर लागू करने से 150 करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी।

कृषि-जोत कर के निर्धारण की विधि—कृषि-जोत कर के निर्धारण की विधि निम्न है—

(1) समिति ने कृषि-जोत कर कृषकों की कृषित जोत के आधार पर लागू करने का सुझाव दिया है। कृषित जोत ज्ञात करने का सूत्र निम्न है:

कृषित जोत = स्वय के स्वामित्व का भूमि क्षेत्र + दूसरे कृषकों से कृषि करने के लिए प्राप्त भूमि क्षेत्र − दूसरे कृषकों को बंटाई पर दिया गया भूमि क्षेत्र

(2) समिति ने कर-निर्धारण वर्ष एक जुलाई से 30 जून तक रखने का अनुमोदन किया है।

(3) समिति के अनुसार पारिवारिक इकाई में पति, पत्नी तथा नाबालिग बच्चों को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए।

(4) पति एवं पत्नी की सम्मिलित आय के योग की राशि पर आय-कर निर्धारण करना चाहिए।

(5) कृषि-जोत-कर की राशि का निर्धारण करने के लिए देश को भूमि, जलवायु एवं उत्पादकता की समानता के आधार पर विभिन्न सम-जातीय जिलों या क्षेत्रों में विभक्त करना चाहिए।

(6) विभिन्न जिलों व क्षेत्रों के लिए विभिन्न फसलों का प्रतिवर्ष प्रति हैक्टर उत्पादन की मात्रा का स्तर निर्धारित किया जाना चाहिए। उत्पादन की मात्रा का निर्धारण पिछले 10 वर्षों की औसत उत्पादकता के आधार पर ज्ञात किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, 1980–81 के लिए किसी क्षेत्र में गेहूँ का उत्पादन स्तर, उस क्षेत्र में गेहूँ के 1970–71 से 1979–80 तक के औसत उत्पादन के आधार पर निर्धारित किया जाता है। औसत उत्पादन के आधार पर ज्ञात किये गये उत्पादन स्तर में मौसम की प्रतिकूलता के कारण उत्पादन स्तर

के बहुत कम प्राप्त होने वाले वर्ष मे पूर्ण व आंशिक छूट देने का प्रावधान होता है ।

(7) विभिन्न फसलो से प्रति हैक्टर प्राप्त आय की राशि, औसत उत्पादन-स्तर की मात्रा को पिछले तीन वर्षों की कटाई मौसम की औसत कीमत से गुणा करके ज्ञात किया जाना चाहिए । उदाहरण के लिए, वर्ष 1980–81 की गेहूँ की क़ीमत ज्ञात करने के लिए उस क्षेत्र या जिले की 1977–78 से 1979–80 की कीमतो का औसत लिया जाता है ।

(8) विभिन्न फसलो से प्रति हैक्टर प्राप्त आय मे से, फसल-उत्पादन कार्यों के लिए दी गई लागत (Paid-out-costs) एव सम्पत्ति पर मूल्य-ह्रास की राशि को घटाकर, उस क्षेत्र के लिए उस फसल की प्रति हैक्टर कर-योग्य आय की राशि (Rateable Value) ज्ञात कर ली जाती है । राज समिति के अनुसार असिंचित क्षेत्रों मे उत्पादन-लागत कुल आय में 40 से 50 प्रतिशत व सिंचित क्षेत्रों में 70 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए ।

(9) विभिन्न फसलो के लिए प्राप्त प्रति हैक्टर कर-योग्य आय की राशि को फार्म पर विभिन्न फसलो के अन्तर्गत लिये गये क्षेत्रफल से गुणा करके फार्म की कुल कर-योग्य आय ज्ञात कर ली जाती है ।

(10) फार्म पर प्राप्त कुल कर-योग्य आय (Total Rateable Value) की राशि मे से विकास-छूट (Development Allowance) की राशि घटाने से फार्म की शुद्ध कर योग्य आय ज्ञात हो जाती है । फार्म पर विकास-छूट की राशि कुल कर-योग्य आय राशि के 20 प्रतिशत की दर से ज्ञात की जाती है, लेकिन विकास-छूट की कुल राशि 1,000 रुपये प्रति फार्म से अधिक नही होनी चाहिए ।

(11) कृषि-जोत कर की प्रतिशत दर निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात की जाती है—

$$\text{कृषि-जोत कर की प्रतिशत दर} = \frac{\text{फार्म की कुल कर-योग्य आय (हजार रुपयो मे)} - \text{विकास-छूट की राशि (हजार रुपयो मे)}}{2}$$

उदाहरण के लिए यदि किसी फार्म की शुद्ध कर-योग्य आय 25,000 रु० और विकास छूट राशि 1,000 रुपये है तो उस फार्म पर कृषि-जोतकर की प्रतिशत दर $\left(\frac{25,000 - 1,000}{2}\right) = 12$ होती है ।

(12) उपर्युक्त प्रतिशत दर के अनुसार शुद्ध कर-योग्य आय पर कृषि-जोतकर की राशि ज्ञात की जाती है । फार्म पर कृषि-जोतकर की राशि, कर-योग्य आय की राशि के अनुसार बढती एव घटती है । कर योग्य आय की राशि मे वृद्धि होने से कृषि जातकर की दर मे वृद्धि एव कर योग्य आय कम होने पर कृषि-जोतकर की दर म कमी होती है ।

(2) कृषि व कृषि अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को सम्मिलित करते हुए आयकर की दर निर्धारित करना

राज-समिति ने दूसरा प्रमुख सुझाव कृषि एव कृषि अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को सम्मिलित करके प्राप्त कुल आय पर लागू होने वाली आयकर की दर से कृषि अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय पर आयकर लगाने के प्रस्ताव का अनुमोदन किया है । इस प्रकार आयकर की दर निर्धारित करने स कृषि-अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय पर लगने वाले आयकर की दर मे वृद्धि होगी और सरकार को आयकर से प्राप्त राजस्व की राशि मे वृद्धि होगी । समिति न दोनो क्षेत्रो की आय को सिर्फ आयकर की दर निर्धारित करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मिलित करने का सुझाव दिया है । इस विधि से आयकर-निर्धारण करने के लिए सविधान मे सशोधन करने की आवश्यकता नही है और न ही इस प्रस्ताव से राज्य सरकारो के अधिकारो का हनन होता है, क्योकि प्रस्ताव मे केन्द्र सरकार को प्राप्त अतिरिक्त आय, सम्बन्धित राज्य सरकारो को वितरित करने का प्रावधान है ।

राज-समिति का अनुमान है कि वे व्यक्ति जो कृषि क्षेत्र मे आयकर नही होने के कारण अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय प्रदर्शित करके आयकर भुगतान से बच जाते है, वे इस प्रस्ताव के लागू होने के पश्चात् आयकर की वास्तविक भुगतान राशि से बच नही सकेंगे और न ही एक क्षेत्र से प्राप्त आय को दूसरे क्षेत्र मे दिखा सकेंगे । इस प्रकार इससे राष्ट्रीय आय के विभिन्न क्षेत्रो के सही आँकडे प्राप्त होंगे । इस विधि के अन्तर्गत आयकर की दर ज्ञात करने की विधि इस प्रकार है—

(i) *कृषि-अतिरिक्त अन्य स्रोतो मे प्राप्त आय की राशि मे से छूट की सीमा* की राशि (वर्तमान मे 28,000 रु) घटाकर शेष राशि मे कृषि-क्षेत्र *से प्राप्त आय की राशि सम्मिलित की जाती है ।*

(ii) दोनो स्रोतो से प्राप्त सम्मिलित राशि पर लगने वाले आयकर की दर से *कृषि-अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय पर आयकर* की राशि ज्ञात की जाती है । इस प्रकार आयकर की दर साधारण आयकर की अपेक्षा अधिक निर्धारित होती है, जिससे सरकार को अधिक राजस्व प्राप्त होगा ।

वित्त मन्त्री ने वर्ष 1973–74 का वार्षिक बजट 28 फरवरी, 1973 को लोकसभा मे पेश करते हुए राज-समिति द्वारा दिये गये सुझाव के अनुसार कृषि व कृषि-अतिरिक्त अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को सम्मिलित करते हुए, आयकर की दर निर्धारण करने की विधि को स्वीकार करते हुए उसे वित्त वर्ष 1973–74 मे लागू करने का प्रस्ताव सदन मे प्रस्तुत किया था। जिसे सदन ने स्वीकृति प्रदान कर दी थी।

(3) कृषि-सम्पत्ति कर (Agricultural Wealth Tax)

कृषि-सम्पत्ति कर से तात्पर्य कृषको की सम्पत्ति-भूमि, पशु, भवन, मशीनो, आदि पर कर लगाने से है। कृषि-क्षेत्र मे सम्पत्ति-कर लगाने का प्रमुख उद्देश्य वास्तविक कृषको के अतिरिक्त कृषि-क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले पूंजीपतियो पर, जो कृषि-व्यवसाय मे अधिक धन-निवेश करते हैं, कर लगाकर राजस्व प्राप्त करना है। पूंजीपति एव व्यवसायी औद्योगिक क्षेत्र मे सम्पत्ति कर के होने तथा कृषि-क्षेत्र मे सम्पत्ति-कर के नही होने से कृषि-क्षेत्र मे अधिक धनराशि निवेश करके सम्पत्ति-कर के भुगतान से बच जाते हैं। अतः इस प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए कृषि-क्षेत्र मे सम्पत्ति-कर का होना आवश्यक है।

कृषि-क्षेत्र मे सम्पत्ति-कर लगाने मे परेशानियां :

(1) देश के अधिकाश कृषक अशिक्षित होने के कारण कृषि-सम्पत्ति का लेखा-जोखा नही रखते हैं, अत उसके अभाव मे कृषको के लिए सम्पत्ति-कर का प्रतिवर्ष सही हिसाब प्रस्तुत करने का कार्य कठिन होता है।

(2) कृषि-सम्पत्ति मे भूमि की किस्म एव उपजाऊ शक्ति मे भिन्नता तथा भूमि एव भवन पर बने हुए विभिन्न भवनो के मूल्यो के निर्धारण का कार्य कठिन होता है। अत कर निर्धारण अधिकारी इच्छानुसार भूमि की कीमत निर्धारित करके कृषको को आवश्यक रूप से परेशान करने की कोशिश करेंगे।

(3) कृषको की आय मौसम की अनुकूलता पर निर्भर रहती है। प्रतिकूल मौसम वाले वर्ष मे कृषको के लिए सम्पत्ति-कर का भुगतान कर पाना सम्भव नही होता है। ऐसी स्थिति मे कृषक सम्पत्ति-कर के भुगतान के लिए सम्पत्ति का विक्रय करेंगे, जो कृषि-विकास मे घातक होगा।

(4) कृषि-सम्पत्ति-कर के द्वारा सरकार को शुद्ध आय बहुत कम प्राप्त होने की सम्भावना है क्योकि देश मे कृषको की सख्या की अधिकता के कारण सम्पत्ति-कर के आकलन मे व्यय अधिक होगा।

(5) कृषि-क्षेत्र मे सम्पत्ति-कर के होने से कृपको मे उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा का ह्रास होगा। तकनीकी ज्ञान के उपयोग से कृषि-क्षेत्र मे पूंजी-निवेश की राशि मे वृद्धि होने से देय सम्पत्ति-कर की राशि मे वृद्धि होती है। सम्पत्ति-कर की देय राशि मे वृद्धि होने से कृपक उत्पादन-वृद्धि मे अधिक इच्छुक नही होगे।

(6) कृपि-सम्पत्ति पर कर लगाने से कृपक पूंजी का निवेश कृषि-उपकरणो के स्थान पर सोना, चांदी के जेवर, शेयर एव अन्य सामान के रूप मे करेगे। कृषि-क्षेत्र मे पूंजी-निवेश नही होने से कृषि-उत्पादन मे वृद्धि नही हो पायेगी।

कृषि सम्पत्ति-कर के लिए राज-समिति के सुझाव :

कृषि-सम्पत्ति-कर के लिए राज-समिति द्वारा प्रस्तावित सुझाव निम्नांकित हैं—

(1) सम्पत्ति-कर परिवार के आधार पर नियत किया जाना चाहिए। सम्पत्ति-कर के निर्धारण मे दी जाने वाली अनेक छूटो को समाप्त किया जाना चाहिए।

(2) धार्मिक सस्थानो को सम्पत्ति-कर के भुगतान के लिए दी गई छूट को समाप्त किया जाना चाहिए।

(3) सम्पत्ति का मूल्य ज्ञात करते समय परिवार के सदस्यो द्वारा विभिन्न सहकारी समितियो एव कम्पनियो के क्रय किये गये शेयरो का वर्तमान मूल्य उनकी सम्पत्ति मे शामिल करना चाहिए।

(4) सम्पत्ति के लेन-देन से होने वाली वृद्धि को आय मे सम्मिलित करते हुए कर-निर्धारण करना चाहिए।

(5) कृषि-सम्पत्ति पर कर-निर्धारण करने के लिए भूमि का मूल्य, आय-पूंजीकृत विधि (Income Capitalization Method) द्वारा ज्ञात करना चाहिए।

(6) हिन्दू अविभाज्य परिवार को कर इकाई (Tax entity) के रूप मे दी गई छूट को समाप्त करना चाहिए।

(4) सुधार-कर (Betterment Levy)

सरकार द्वारा क्षेत्र-विशेष मे विकास कार्यक्रमो जैसे—सिंचाई की सुविधाओ का विकास, नहरो एव बांधो का निर्माण, बाढ से रक्षा, भूमि का क्षारीयपन दूर करना आदि के क्रियान्वयन से क्षेत्र-विशेष के कृपको को अन्य क्षेत्र के कृपको की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार की सुविधाओ से कृपको को उत्पादन लागत मे कमी (नहरो द्वारा सिंचाई से) एव भूमि के मूल्य मे वृद्धि होती है। अतः ऐसे क्षेत्रो के कृषको पर सरकार अतिरिक्त कर लगाती है जिसे सुधार-कर कहते

हैं। विकास योजनाओ मे लगाये गये धन के ब्याज, मूल्य-ह्रास, मरम्मत एव उन्हे कार्यगत रखने के लिए होने वाले खर्च की वसूली हेतु सुधार-कर लगाया जाता है। सुधार-कर के लगाने मे सरकार को वित्त प्राप्त होता है तथा दूसरे क्षेत्र के कृषको को, क्षेत्र विशेष के कृषको को प्राप्त हो रहे अतिरिक्त लाभ मे ईर्ष्या नही होती है। सुधार-कर क्षेत्र-विशेष मे लाभान्वित कृषको से ही वसूल किया जाता है। नानावती एव अन्जारिया के शब्दो मे "सुधार-कर कृषकों की भूमि के मूल्य मे वृद्धि के लिए दिया जाने वाला कर है। कृषकों की भूमि का मूल्य सिंचाई सुविधाओ के बढने, क्षेत्र मे नहर व बांध के बनाने अथवा क्षेत्र की बाढ़ से रक्षा करने से बढता है।"

(5) विशेष-कर :

देश के कई राज्यो ने विभिन्न फसलो पर विशेष-कर भी लगाये हैं। विशेष-कर लगाने से प्रमुख तात्पर्य यह है कि कृषको को विशेष फसल के फार्म पर उत्पादन करने से खाद्यान्नो की अपेक्षा अधिक व अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, उसमे से एक भाग सरकार विशेष-कर के रूप मे प्राप्त करती है। विशेष-कर प्रमुखतया वाणिज्यिक फसलो पर लगाये गये हैं। जैसे—आन्ध्रप्रदेश राज्य ने तम्बाकू, गन्ना, मिर्च, कपास व मूगफली पर तथा पजाब राज्य ने मूगफली एव गन्ने की फसलों पर विशेष-कर लगाये हैं।

(6) सिंचाई-कर

विभिन्न क्षेत्रो के कृषको को, उपलब्ध सिंचाई-सुविधाओ के उपयोग के लिए सरकार जो राशि प्राप्त करती है, उसे सिंचाई कर कहते हैं। विभिन्न क्षेत्रो में कृषि एव आर्थिक विकास के लिए सरकार प्रतिवर्ष नहरो एव बांधो का निर्माण कराती है, जिस पर करोडों रुपये व्यय होते हैं। उपलब्ध सिंचाई सुविधाओ को बनाये रखने तथा प्रशासनिक व्यय की पूर्ति के लिए सरकार कृषको से सिंचाई-कर के रूप मे राजस्व प्राप्त करती है। सिंचाई की दरें दो प्रकार की होती हैं—

(अ) ऐच्छिक—ऐच्छिक सिंचाई-दर कृषि सिंचाई विभाग द्वारा निर्धारित की जाती है। जो कृषक सिंचाई के लिए पानी का उपयोग करना चाहते हैं वे निर्धारित दर के भुगतान पर सिंचाई सुविधा प्राप्त कर सकत हैं।

(ब) अनिवार्य—अनिवार्य सिंचाई-दर के अन्तर्गत सिंचाई योजनाओ के क्षेत्र मे आने वाले सभी कृषको को सिंचाई दर कर भुगतान करना होता है। प्रत्येक कृषक निर्धारित मात्रा मे सिंचाई की सुविधा प्राप्त कर सकता है। निर्धारित मात्रा से अधिक सिंचाई की सुविधा प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त कर देना होता है।

सिंचाई-दर निर्धारित करने की पद्धतियाँ—सिंचाई-दर निर्धारित करने की प्रमुख पद्धतियां निम्न हैं—

(1) पानी की मात्रा के अनुसार—प्रत्येक कृषक को उपयोग किये गये पानी की मात्रा के अनुसार सिंचाई की दर देय होती है। कृषको द्वारा

उपयोग किये गये पानी की मात्रा का अनुमान लगाने के लिए जल-मापक यन्त्र लगाये जाते हैं। इस विधि मे पानी का अपव्यय नहीं होता है।

(2) भू-राजस्व राशि के भुगतान के आधार पर—इस विधि मे सिंचाई की दर कृषको से भू-राजस्व राशि के आधार पर अनिवार्य रूप से वसूल की जाती है।

(3) भूमि की उत्पादकता के अनुसार—इस विधि मे सिंचाई की दर भूमि की उत्पादकता के अनुसार वसूल की जाती है।

(4) समझौते के अनुसार—इस विधि मे सिंचाई की दर सरकार एव कृषको मे आपसी समझौते के अनुसार नियत की जाती है।

(5) फसलो के अनुसार—इस विधि मे विभिन्न फसलो के लिए पानी की आवश्यक मात्रा के अनुसार सिंचाई की दर नियत की जाती है। इस विधि मे अमुक फसल के लिए कम एव अधिक पानी का उपयोग करने वाले कृषको को समान दर से सिंचाई-कर का भुगतान करना होता है, जिसके कारण पानी का अपव्यय होता है।

□□□

अध्याय 20

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि

देश के नियोजित आर्थिक विकास के लिए वर्ष 1951 से पचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं। पचवर्षीय योजनाओ का प्रमुख उद्देश्य उपलब्ध उत्पादन-साधनो का सन्तुलित एव उचित उपयोग करके देश के निवासियो के जीवन-स्तर को निर्धारित समय में ऊंचा उठाना है। इस कार्य के लिए 1950 मे योजना आयोग की स्थापना की गई। योजना आयोग की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं[1]—

(1) देश मे सीमित उत्पादन-साधन, जैसे—पूंजी, मानव-श्रम आदि की उपलब्धि का आकलन करना एव उनकी पूर्ति बढाने के लिए अन्वेषण करना।

(2) देश मे उपलब्ध सीमित साधनो के अनुकूलतम एव सन्तुलित उपयोग की योजना तैयार करना।

(3) देश मे विभिन्न कार्य की योजनाओ को प्राथमिकता के अनुसार पूरा करने के लिए उपलब्ध उत्पादन-साधनो का आवटन करना, जिससे निर्धारित लक्ष्य प्राप्त हो सकें।

(4) देश के आर्थिक विकास मे बाधक कारको का पता लगाना एव उन्हे दूर करने की योजना बनाना।

(5) विभिन्न योजनाओ को विभिन्न चरणो मे कार्यान्वित करने का कार्य-कुशल तन्त्र तैयार करना।

(6) योजनाओ की प्रगति का समय समय पर मूल्याकन करना एव निर्धारित नीति मे आवश्यक परिवर्तन करने की सिफारिश करना।

(7) आवश्यकता होने पर जन-साधारण से सम्बन्धित नीति के विषय मे सरकार को अन्तरिम सिफारिशें करना।

योजना आयोग एक सलाहकार समिति है जिसका मुख्य कार्य केन्द्रीय सरकार

1 P L Srivastava, A Comparative Study of Four-Five Year Plans, Book-Land Pvt Ltd, 1965 pp 4-5

को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना है। योजना आयोग विभिन्न विकास कार्यक्रमो के विषय मे सिफारिशें करने के पूर्व केन्द्रीय सरकार एव राज्य सरकारो से आवश्यक परामर्श करता है, क्योकि निर्मित योजनाओ को कार्यान्वित करने का दायित्व राज्य एव केन्द्र सरकार पर होता है। प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली मे योजना बनाकर आर्थिक विकास करने का श्रेय सर्वप्रथम भारत सरकार को प्राप्त हुआ है।

विभिन्न पचवर्षीय योजनाएँ

विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ का सक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है .

प्रथम पचवर्षीय योजना (अप्रैल 1951 से मार्च 1956) :

देश मे प्रथम पचवर्षीय योजना अप्रैल, 1951 से लागू की गई। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य देश के निवासियो के रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाना, समाज के सभी वर्गों के लिए समान सुविधाएँ उपलब्ध कराना एव विभिन्न वर्गों मे व्याप्त आर्थिक विषमता को समाप्त करना था। इस योजना के कुल व्यय की राशि मे से कृषि, सिचाई एव बाढ नियन्त्रण पर सर्वाधिक राशि व्यय की गई। योजना आयोग द्वारा इस योजना-काल मे कृषि-क्षेत्र के विकास को प्राथमिकता प्रदान करने मे मुख्य मान्यता यह थी कि कृषि उत्पादन मे वृद्धि के बिना औद्योगिक विकास प्राप्त करना सम्भव नही है। अत. देश की आधारभूत कृषि-अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाना अति-आवश्यक माना गया था।

द्वितीय पचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1956 से मार्च, 1961) ·

द्वितीय पचवर्षीय योजना का प्रमुख उद्देश्य देश मे समाजवादी स्तर का समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करना था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नाकित थे—

(i) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करना जिससे देश के निवासियो का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके।

(ii) देश के औद्योगीकरण के लिए प्रमुखतया भारी एव आधारभूत उद्योगो का विकास करना।

(iii) योजना-काल मे देश के निवासियो को रोजगार उपलब्ध कराना।

(iv) समाज मे व्याप्त आय की असमानता को कम करना एव आर्थिक साधनो का समानता के आधार पर बँटवारा करना।

इस योजना मे औद्योगीकरण एव खनिज विकास कार्यों को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। यह महसूस किया गया कि उद्योग एव खनिज विकास के बिना राष्ट्रीय आय मे निर्धारित स्तर तक वृद्धि करना तथा बेरोजगारी की समस्या को हल करना सम्भव नही है। योजना-काल मे औद्योगीकरण के साथ-साथ कृषि, परिवहन एव सामाजिक सेवाओ के विकास पर भी ध्यान दिया गया।

तृतीय पचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1961 से मार्च, 1966) :

तृतीय पचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(i) राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से निरन्तर वृद्धि करना।

(ii) खाद्यान्न उत्पादन मे देश को आत्म-निर्भरता प्राप्त कराना तथा उनके निर्यात की मात्रा मे वृद्धि करना।

(iii) देश के प्रमुख उद्योगो जैसे—लोहा, ईंधन, रसायन, ऊर्जा, मशीनरी एव औजारो के निर्माण को प्रोत्साहन देना।

(iv) देश मे उपलब्ध श्रम-शक्ति के पूर्ण उपयोग के लिए योजना बनाना।

(v) देश मे आय एव धन की विभिन्न वर्गों मे पायी जाने वाली असमानता को कम करना एव आर्थिक साधनो का समानता के आधार पर बँटवारा करना।

(vi) देश मे आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करना।

वार्षिक योजनाएँ (अप्रैल, 1966 से मार्च, 1969)

तृतीय पचवर्षीय योजना की समाप्ति के उपरान्त जून, 1966 मे रुपये के अवमूल्यन, कीमतो मे वृद्धि एव वर्ष 1965–66 तथा 1966–67 मे देश के कई राज्यो मे विषम सूखा पडने के कारण चतुर्थ पचवर्षीय योजना अप्रैल, 1966 से प्रारम्भ नही हो सकी। उपर्युक्त कारणो से चतुर्थ पचवर्षीय योजना के प्रारूप एव पूजीगत व्यय की राशि मे आवश्यक सशोधन किये जाने के कारण चतुर्थ योजना एक अप्रैल, 1969 से प्रारम्भ हो पायी। तृतीय योजना की समाप्ति एव चतुर्थ पचवर्षीय योजना के शुरू होने के तीन वर्षों मे तीन वार्षिक योजनाएँ बनाकर योजना की प्रक्रिया को जारी रखा गया। इन तीनो वार्षिक योजनाओ के काल मे भी कृषि एव सम्बन्धित कार्यक्रम, सिंचाई एव ऊर्जा के विकास पर विशेष व्यय का प्रावधान किया गया।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1969 से मार्च, 1974) :

चतुर्थ पचवर्षीय योजना का प्रमुख उद्देश्य खाद्यान्नो के उत्पादन मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करना था। योजना के अन्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(i) राष्ट्रीय आय मे 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से निरन्तर वृद्धि करना।

(ii) कृषि उत्पादन मे 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से निरन्तर वृद्धि के लिए आवश्यक साधन जुटाते हुए उत्पादन-वृद्धि करना।

(iii) देश मे खाद्यान्नो के आयात को समाप्त करना।

(iv) निर्यात की दर मे 7 प्रतिशत तक वृद्धि करना।

(v) देश के विभिन्न क्षेत्रो का सन्तुलित विकास करना।

(vi) सहकारी समितियो (विशेषकर कृषि एव उपभोक्ता समितियो) के विकास पर बल देना।

(vii) लघु कृषको एव सूखे क्षेत्रो के कृषकों को विकास कार्यों मे भाग ले सकने और उनसे लाभान्वित हो सकने में सक्षम बनाना।

(viii) खाद्यान्नो एव अन्य आवश्यक वस्तुओ की कीमतो मे स्थिरता बनाये रखना।

पांचवी पचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1974 से मार्च, 1979) :

इस योजना का प्रमुख उद्देश्य निर्धनता-उन्मूलन एव आत्म-निर्भरता प्राप्त करना था। समग्र घरेलू उत्पाद की मात्रा मे प्रतिवर्ष 5 5 प्रतिशत की दर से औसत वृद्धि करके देश मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करना एव आर्थिक एव सामाजिक असमानता को दूर करके देश के निम्न आय स्तर के व्यक्तियो के रहन-सहन के स्तर मे सुधार लाना था। विलासिता एव सुख-साधन की वस्तुओ के उपभोग पर सख्ती से नियन्त्रण एव सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमो का विस्तार करना भी इस योजना के उद्देश्यो मे शामिल था। पाँचवी योजना की समाप्ति से उपरान्त एक वर्ष की वार्षिक योजना (1979–80) कार्यान्वित की गई।

छठी पचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1980 से मार्च, 1985) :

छठी पचवर्षीय योजना में अर्थव्यवस्था के विशेष महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो के समन्वित और चहुँमुखी विकास पर बल दिया गया है। योजना की विकास कार्यनीति मे गरीबी को हटाने, लाभदायक रोजगार पैदा करने, प्रौद्योगिकी और आर्थिक क्षेत्र में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने तथा कृषि और उद्योग का आधार मजबूत करने की दिशा मे तेजी से प्रगति करने की बात कही गई है। सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यो के अनुरूप राष्ट्रीय आय, उपभोग तथा जन सेवाओ के उपयोग मे गरीब वर्ग के हिस्से को बढ़ाने के लिए ठोस प्रयास भी किये जायेंगे। छठी योजना के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

(i) देश के समग्र घरेलू उत्पाद मे 5 2 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है जिससे प्रति व्यक्ति समग्र घरेलू उत्पाद मे 3.3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हो सके। योजना के अन्त मे प्रति व्यक्ति आय 1979–80 को कीमतो के आधार पर 1,484 रुपये से बढ़कर 1,744 रुपये होने का अनुमान है।

(ii) प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग जो 1979–80 में 95 रुपये का था, वह बढाकर 1984–85 मे (1979–80 की कीमतो पर) 110 रुपये का करना।

(iii) गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगो का प्रतिशत 48 44 से घटाकर 30 प्रतिशत करना।

(iv) रोजगार मे 3 40 करोड मानक व्यक्ति वर्ष की वृद्धि करना जिससे योजना के अन्त तक यह 18 50 करोड मानक व्यक्ति-वर्ष हो जायेगा।

(v) योजना अवधि के दौरान प्रति व्यक्ति अनाज की खपत मे 2 प्रतिशत, चीनी की खपत मे 3 प्रतिशत और कपडे की खपत मे 2 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि करना।

(vi) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता देना।

सातवीं पचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1985 से मार्च, 1990)

सातवी पचवर्षीय योजना मे औसतन 5 0 से 5 5 प्रतिशत वृद्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। इस योजना काल मे निम्न क्षेत्रो के विकास को प्राथमिकता दी जावेगी—

(i) देश के मुख्य आधार-क्षेत्र (*Core-sector*) जैसे–शक्ति, कोयला, स्टील, रेल्वे, सचार, उर्वरक, सिंचाई एव सीमेन्ट मे व्याप्त कमी को दूर करना। इस योजना-काल मे ऊर्जा क्षेत्र पर कुल परिव्यय का सर्वाधिक अश 30 45 प्रतिशत व्यय करने का लक्ष्य रखा गया है।

(ii) दूसरी प्राथमिकता कृषि एव ग्रामीण विकास क्षेत्र को दी जावेगी। कृषि विकास पर ही उद्योगो का विकास निर्भर करता है। अत कृषि विकास हेतु तीन स्तरीय नीति अपनाने का कार्यक्रम है—

(अ) अनुसन्धान एव तकनीकी ज्ञान के द्वारा दलहन, तिलहन एव शुष्क कृषि क्षेत्र मे उत्पादन वृद्धि करना। इसके लिए इन क्षेत्रो मे अधिक पूंजी निवेश करने का भी कार्यक्रम है।

(ब) कृषि विकास के लिए आवश्यक सरचनात्मक सुविधाओ का बढाना जैसे—सिंचाई तकनीकी ज्ञान का विस्तार जोत चकबन्दी करना।

(स) उचित कीमत पर कृषको को आवश्यक कृषि निविष्ट जैसे— उर्वरक, उन्नत बीज, विद्युत् सुविधा उपलब्ध कराना।

(iii) ग्रामीण क्षेत्रो मे विकास कार्यक्रम शुरू करना, जिससे रोजगार उपलब्धि मे वृद्धि होवे।

(iv) गरीबी के स्तर पर जीवन-यापन करने वाले व्यक्तियो की सख्या मे कमी करना। अनुमान के अनुसार गरीबी के स्तर पर वर्तमान मे

कार्यरत जनसख्या 273 मिलियन से वर्ष 1989–90 तक 211 मिलियन लाना अर्थात् प्रतिशतता मे 36 9 से कमी करके 25 8 प्रतिशत ही रखना ।

योजना आयोग ने सातवी योजना के लिए सार्वजनिक क्षेत्र म 1,80,000 करोड रुपयो का व्यय प्रस्तावित किया है । यह राशि छठी पचवर्षीय योजना मे प्रस्तावित व्यय राशि से 85 प्रतिशत अधिक है । कुल परिव्यय राशि मे 95,534 करोड रुपये (53 प्रतिशत) केन्द्र सरकार एव 80,698 करोड रुपये राज्य सरकारो तथा 3,768 करोड रुपये सघ-शासित प्रदेशो (राज्यो एव सघ-शासित प्रदेशो को 47 प्रतिशत) को आवटन किया गया है । सातवी योजना मे केन्द्रीय सरकार का अशदान पिछली पचवर्षीय योजनाओ की तुलना मे काफी बढा दिया गया है, जिसका प्रमुख उद्देश्य ऊर्जा, सिंचाई एव कृषि मे अधिक व्यय करने हेतु किया गया है ।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (अप्रैल, 1992 से मार्च, 1997) ·

आठवी पचवर्षीय योजना को अप्रैल, 1990 के स्थान पर अप्रैल, 1992 से प्रारम्भ की जा सके । इसके पूर्व के दो वर्ष दो वार्षिक योजनाएँ (1990 से 1992) के रूप मे अपनाई गई । आठवी पचवर्षीय योजना मे 5 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है । इस योजना मे चार पहलुओ पर ध्यान केन्द्रित किया जाना है :

(i) विभिन्न क्षेत्रो/कार्यक्रमो मे सघन पंजी निवेश को प्राथमिकता देना जिससे राजकोषीय, व्यापार एव औद्योगिक क्षेत्र की नीति को कार्यान्वित किया जा सके ।

(ii) प्राथमिकता वाले क्षेत्रो के लिए साधन सुविधा उपलब्ध कराना एव उनको दक्षता से उपयोग करने की योजना बनाना ।

(iii) देश मे सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए रोजगार उपलब्धि, स्वास्थ्य सेवाओ मे वृद्धि एव शिक्षा के क्षेत्र को बढावा देना ।

(iv) आवश्यक आधारधारिक सस्थाओ का विकास करना, जिससे पूँजी निवेश से प्राप्त लाभ देश के सभी व्यक्तियो तक पहुँच सके ।

उपरोक्त पहलुओ के सन्दर्भ मे आठवी योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नाकित है

(1) आवश्यक रोजगार सुविधा उत्पन्न करना, जिससे इस शताब्दी के अन्त तक लगभग पूर्ण रोजगार की स्थिति देश मे बने ।

(2) देश मे जनसख्या वृद्धि पर रोक लगाना । यह व्यक्तियों के सहयोग तथा उन्हे प्रेरणाजनक योजनाओ को अपनाकर किया जाना है ।

(3) देश मे प्राथमिक शिक्षा सभी को उपलब्ध कराना जिससे देश के 15 से 35 वष के उम्र समूह के व्यक्तियो मे से अशिक्षा को पूणतया समाप्त किया जा सके।

(4) देश के सभी गाँवो एव जनसख्या को पीने का स्वच्छ जल एव आव श्यक प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराना।

(5) कृषि का विकास एव विविधिकरण करना जिससे देश मे सभी वस्तुओ मे स्वावलम्बता प्राप्त की जा सके तथा निर्यात के लिए अविशेष वस्तुओ का उत्पन्न करना।

(6) आधारधारिक सुविधाओ—परिवहन सचार सिचाई का विकास करना जिससे विकास की दर मे वृद्धि हो सके।

सारणी 20 1 व 20 2 देश मे विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे सावजनिक क्षेत्र मे विभिन्न क्षेत्रो मे की गई परिव्यय राशि प्रदर्शित करती है।

सारणी 20 3 विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ म प्राप्त उपलब्धियाँ एव आठवी योजना के लक्ष्य प्रदर्शित करती है। देश मे विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ के काल मे सभी क्षेत्रो का विकास हुआ है। योजना काल से पूव देश मे खाद्यान्नो का उत्पादन-स्तर 50 मिलियन टन ही था जो बढकर 1989 90 मे 170 4 मिलियन टन हो गया। इस प्रकार योजना काल के 40 वर्षों म खाद्यान्नो के उत्पादन स्तर मे 3 5 गुना के लगभग वृद्धि हुई है। उन्नत किस्मो के बीजो का आविष्कार देश मे सवप्रथम 1966–67 मे हुआ था जो विस्तार होकर आज 61 3 मिलियन हैक्टर क्षेत्र मे कृपित किये जा रहे हैं। स्वतन्त्रता के समय देश मे ट्रैक्टर निर्माण का एक भी कारखाना नही होने के कारण इनका आयात किया जाता था। वतमान मे देश मे ट्रैक्टरो के 15 कारखानो से आवश्यक सख्या मे ट्रैक्टर निर्मित किये जा रहे हैं। इसी प्रकार उवरको के उत्पादन के लिए भी अनेक कारखाने स्थापित हो चुके हैं।

सारणी 20 1

भारत मे विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे सार्वजनिक क्षेत्र मे परिव्यय राशि

(करोड रुपयो मे)

योजना/क्षेत्र	कृषि एव उससे सम्बन्धित कार्यक्रम	सिचाई, बाढ नियन्त्रण एव ऊर्जा	उद्योग एव खनिज	परिवहन एव सचार सेवा	सामाजिक सेवाये एव विविध	कुल परिव्यय राशि
प्रथम योजना (1951–56)	290@ (14 80)	583 (29 74)	97 (4 95)	518 (26 43)	472 (24 08)	1960 (100)
द्वितीय योजना (1956–61)	549@ (11 75)	882 (18 88)	1025 (24 08)	1261 (26 99)	855 (18 30)	4672 (100)
तृतीय योजना (1961–66)	1089 (12 70)	1917 (22 35)	1967 (22 93)	2112 (24 62)	1492 (17 40)	8577 (100)
वार्षिक योजनाएँ (1966–69)	1107 (16 71)	1684 (25 42)	1636 (24 69)	1222 (18 45)	976 (14 73)	6625 (100)
चतुर्थ योजना (1969–74)	2320 (14 70)	4286 (27 16)	3107 (19 69)	3080 (19 52)	2986 (18 93)	15779 (100)

पाँचवी योजना (1974–79)	4865 (12 34)	11276 (28 60)	9581 (24 30)	6870 (17 43)	6834 (17 33)	39426 (100)
वार्षिक योजना (1979–80)	1997 (16 4)	3528 (29 0)	2639 (21 7)	2045 (16 8)	1968 (16 1)	12177 (100)
छठी योजना (1980–85)	15201 (13 9)	41681 (38 1)	16948 (15 5)	17678 (16 2)	17784 (16 3)	109292 (100)
सातवी योजना (1985–90) का प्रस्तावित	22793 (12 6)	71801 (39 9)	22461 (12 5)	29443 (16 4)	33503 (18 6)	180000 (100)
1985–86 वास्तविक	4499 (13 6)	12471 (37 8)	5437 (16 5)	5014 (15 1)	5649 (17 0)	33060 (100)
1986–87 वास्तविक	5511 (14 1)	14680 (37 5)	5564 (14 2)	6287 (16 1)	7107 (18 2)	39149 (100)

कोष्ठक मे दिये गये आंकडे कुल परिव्यय के प्रतिशत है। @ कृषि एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम।

स्रोत : 1 Reserve Bank of India Bulletin, December, 1984

2 Financial Survey, 1988–89, Ministry of Finance, Covernment of India, New Delhi, 1989, pp 5–40–42

आठवी पचवर्षीय योजना मे 798,000 करोड रुपये के परिव्यय की व्यवस्था की गई है, जिसम 3,61,000 करोड रुपये सार्वजनिक क्षेत्र (45 24 प्रतिशत) एव 4,37,000 करोड रुपये निजि क्षेत्र (54 76 प्रतिशत) स परिव्यय का लक्ष्य है। इस योजना म सार्वजनिक क्षेत्र की महत्ता म कमी की गई है। सातवी योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र का अशदान 51 72 प्रतिशत था। आठवी योजना मे क्षेत्रवार किए जाने वाले परिव्यय को सारणी 20 2 मे प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 20 2

आठवीं योजना मे विभिन्न क्षेत्रो मे परिव्यय राशि

(करोड रुपयो मे)

क्षेत्र	सार्वजनिक क्षेत्र परिव्यय	निजी क्षेत्र परिव्यय	कुल परिव्यय	प्रतिशत
1 कृषि	52,000	96,800	148,800	18 65
2 खनिज	28,500	11,100	39,600	4 96
3 निर्मित क्षेत्र	71,300	14,100	188,400	23 61
4 ऊर्जा	92,000	10,120	102,120	12 80
5 निर्माण	3,300	17,240	20,540	2 57
6 परिवहन	49,200	38,710	87,910	11 02
7 सचार सेवा	25,000	1,000	26,000	3 26
8 सेवाएँ	63,900	120,730	184,630	23 13
कुल	361,000	437,000	798,000	100

स्रोत Yojana, Vol 36 (14 & 15) August 15, 1992, p 25

सारणी 20 3

विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं की अवधि मे प्राप्त उपलब्धियाँ

विवरण	इकाई	योजना-काल से पूर्व 1950 51	प्रथम योजना के अन्त मे 1951–56	द्वितीय योजना के अन्त मे 1956–61	तृतीय योजना के अन्त मे 1961–66	तीन वर्षीय योजनाएं 1966–69	चतुर्थ योजना के अन्त मे 1969–74	पाचवी योजना के अन्त मे 1974–79	छठी योजना के अन्त मे 1980–85	सातवी योजना के अन्त मे 1985–90	आठवी योजना के अन्त मे 1992–97
1 खाद्यान्न उत्पादन	मि टन	55 01	66 9	82 0	72 3	94 0	104 7	126 4	145 5	169 92	210 00
2 तिलहन उत्पादन	मि टन	5 10	5 7	7 0	6 4	6 8	8 9	9 7	13 0	16 80	23.00
3. गन्ना (गुड़ के रूप मे) उत्पादन	मि टन	5 6	6 1	11 0	12 8	12 8	14 4	17 7	17 0	NA	NA
4 कपास उत्पादन	मि गाठें	2 9	4 0	5 3	4 6	5 1	6 3	7 2	8 5	10 50	14 00
5 जूट उत्पादन	मि गाठे	3 3	4 2	4.1	4 5	—	6 2	6 5	6 5	7 85	NA
6 दूध उत्पादन	मि. टन	17 41	19 72	20 38	20 0	21 2	23 2	29 1	42 3	51.45	70 00
7 ऊन उत्पादन	मि किग्रा.	25.6	NA	NA	35 66	37 6	30 1	33 0	39.8	41.70	50

8 अंडे उत्पादन	मिलियन	1832	NA	NA	4100	5300	7700	11,285	14,500	20204	30,000
9 कुल कृषित क्षेत्र	मि हैक्टर	131 9	147 3	152 8	155 3	159 5	169 9	175 20	176 4	182 50	190 6
10 कुल सिंचित क्षेत्र	मि हैक्टर	22 6	25 0	28 0	30 9	35 9	43 4	48 20	60 5	75 70	89 3
11. उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्र	मि हैक्टर	—	—	—	—	9 2	26 4	40 13	54 14	61 30	78 00
12 उर्वरक उत्पादन	हजार टन	64	109	154	355	588	1383	2638	5181	8543	12,800
13 उर्वरक उपयोग	हजार टन				785	1761	2839	5117	8210	11,695	18,300
14 कृषि उत्पादन चक्रवृद्धि दर से वृद्धि	प्रतिशत	—	4 3	4 1	1 0	6 9	3 1	4 6	6 0		
15 औद्योगिक उत्पादन मे चक्र वृद्धि दर से वृद्धि	प्रतिशत	—	7 4	6 6	9 0	2 6	3 7	6 2	5 5		

स्रोत Publications of Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi

सारणी 20 4 प्रमुख कृषि उत्पादो का पिछले 40 वर्ष (सात पचवर्षीय योजना काल) मे हुए उत्पादन वृद्धि एव आठवी योजना के लक्ष्य प्रदर्शित करती है ।

सारणी 20.4

प्रमुख कृषि उत्पादो का योजना काल के 40 वर्षों में प्राप्त उत्पादन वृद्धि

कृषि उत्पाद	इकाई	योजना काल से पूर्व 1949–50	सातवी योजना के अन्त मे 1989–90	प्रतिशत वृद्धि	आठवी योजना के लक्ष्य 1992–97
1 चावल	मिलियन टन	23.54	74 06	214.61	88.00
2. गेहूं	,, ,,	6.39	49.65	677 00	66.00
3. मोटे अनाज	,, ,,	16.83	34.31	103.86	39.00
4 दलहन	,, ,,	8 16	12.61	54 53	17.00
5 कुल खाद्यान्न	,, ,,	54 92	107.63	210 69	210 00
6 तिलहन	,, ,,	5 23	16 80	221 22	23.00
7. गन्ना	,, ,,	50.17	222.6	343.69	275 00
8. कपास रेशा	मिलियन गाठें	2 75	10 50	281 82	140 00
9 जूट एव मेस्टा	,, ,,	3.31	7.85	137 16	9 50
10 दूध	मि टन	17 41	51 45	195 52	70.00
11. ऊन	मि. किग्रा.	25 6	41.70	62 89	50 00

स्रोत : (i) Yojana, Vol 24(14 & 15), August, 1980, p. 82

(ii) Economic Survey, Ministry of Finance, Government of India New Delhi

अध्याय 21

कृषि में तकनीकी ज्ञान का विकास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खाद्यान्न-उत्पादन मे वृद्धि एव देश के आर्थिक विकास के लिए पचवर्षीय-योजनाएँ शुरू की गई। विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे कृषि-विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई है। कृषि-क्षेत्र मे तकनीकी ज्ञान का बडे पैमाने पर उपयोग किया गया, जिससे कृषि उत्पादन एव कृषको की आय मे वृद्धि हुई है। कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए तृतीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से विशेष प्रयास किए गए है। कृषि विकास की नई नीति के अनुसार चुने हुये जिलो मे कृषि के नये तरीकों का उपयोग करके उत्पादन बढाने की कोशिश की गई। कृषि अनुसधान को भी पचवर्षीय योजनाओ मे विशेष महत्ता दी गई। इन योजनाओ का एक प्रमुख उद्देश्य खाद्यान्न उत्पादन मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करना था। कृषि मे तकनीकी ज्ञान विकास के लिए समय समय पर अनेक कार्यक्रम अपनाये गये। इन कार्यक्रमो का सक्षिप्त विवरण निम्नाकित है—

अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम (Grow More Food Compaign) :

वर्ष 1942 मे बगाल अकाल के फलस्वरूप कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए "अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम" शुरू किया गया। अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम मे खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि के लिए निम्न उपाय अपनाये गये—

(i) नई भूमि को कृषि योग्य बनाकर दो या अधिक फसलें प्रतिवर्ष उत्पन्न करना।

(ii) नहरो, बाँधो एव नये कुओ का निर्माण करके सिंचाई के क्षेत्र मे वृद्धि करना।

(iii) उर्वरको के उपयोग की मात्रा मे वृद्धि करना।

(iv) उन्नत बीजो की पूर्ति एव उपयोग मे वृद्धि करना।

अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम निर्धारित कृषि-उत्पादन के लक्ष्य की प्राप्ति मे पूर्ण रूप से सफल नही हुआ, जिसके कारण कार्यक्रम के उद्देश्यो मे समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किए गए। फरवरी, 1952 मे भारत सरकार ने अधिक अन्न

उपजाम्रो कार्यक्रम की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति के प्रमुख सुझाव निम्न थे—

(i) देश मे प्रसार-सेवा सुविधा का सुव्यवस्थित प्रबन्ध करना।

(ii) लघु-सिचाई कार्यक्रमो को बढावा देना।

(iii) आवश्यक ऋरण-सुविधा की व्यवस्था करना।

अधिक अन्न उपजाम्रो जाँच समिति की उपरोक्त सिफारिशो को प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि-विकास कार्यक्रम मे सम्मिलित कर ली गई। प्रसार-सेवा सुविधाम्रो के विकास के लिए देश मे वर्ष 1952 मे सामुदायिक विकास खण्ड एव वर्ष 1953 मे राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाएँ प्रारम्भ की गई।

फोर्ड संस्थान दल

वर्ष 1957-58 मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे गिरावट के कारण देश मे गम्भीर खाद्य-समस्या का समाधान सुझाने के लिए भारत सरकार ने फोर्ड-सस्थान के कृषि विशेषज्ञो के एक दल को भारत आमन्त्रित किया। इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय विशेषज्ञो के सहयोग से कृषि स्थिति का अध्ययन करना एव खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि के लिए सुझाव देना था। फोर्ड-सस्थान दल ने वर्ष 1959 मे भारत-भ्रमरण के पश्चात् 'भारतीय खाद्य समस्या एव उसे दूर करने के उपाय' नामक प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया। फोर्ड-सस्थान दल ने प्रतिवेदन मे चुनी हुई फसलो एव चुने हुए क्षेत्रो मे सघन कृषि-विकास कार्यक्रम (पैकेज कार्यक्रम) अपनाने का सुझाव दिया।

फोर्ड-सस्थान के कृषि उत्पादन दल की सिफारिशो को लागू करने के लिए, फोर्ड-सस्थान के कृषि विशेषज्ञो के दूसरे दल ने, अक्टूबर, 1959 मे भारत का पुन. दौरा किया और चुने हुये क्षेत्रो मे खाद्यान्न-उत्पादन मे वृद्धि के लिए निम्नांकित दस-सूत्रीय कार्यक्रम तैयार किया—

(1) उत्पादन-योजना के आधार पर कृषको को आवश्यक कृषि-ऋण सुविधा सहकारी ऋरण समितियो के माध्यम से उपलब्ध कराना।

(2) कृषको को उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, उन्नत बीज, कृषि औजार एव अन्य साधनो की सुगमता से उपलब्धि के लिए सहकारी सेवा समितियो का विकास करना।

(3) गेहूँ, चावल एवं मोटे अनाजो की न्यूनतम समर्थित कीमत द्वारा कृषको को उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देना।

(4) विभिन्न फसलो के विक्रय अधिशेष के विपणन से उचित कीमत की प्राप्ति के लिए सुव्यवस्थित विपणन-व्यवस्था का विकास करना।

(5) कृषको को गाँवो मे तकनीकी शिक्षा एव फार्म-प्रबन्धक की सुविधा प्रदान करने के लिए खण्ड-स्तर पर प्रसार-शिक्षा की व्यवस्था करना।

(6) कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए कृषको को फार्म-योजना बनाने को प्रोत्साहित करना ।

(7) कृषि एव पशुपालन सुधार के लिए गाँवो मे विभिन्न आवश्यक सस्थाओ का विकास करना एव विकास के लिए आवश्यक नेतृत्व प्रदान करना ।

(8) देश मे कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए बाँध निर्माण, सडक निर्माण, भू-सरक्षण, लघु सिचाई परियोजनाओ पर अधिक ध्यान देना ।

(9) गाँव, खण्ड, राज्य एव केन्द्रीय स्तर पर उपलब्ध उत्पादन-साधनो के उपयोग से कार्यक्रमो के विकास की योजना बनाना ।

(10) कार्यक्रम की प्रगति का समय-समय पर मूल्याकन करना ।

फोर्ड सस्थान दल के प्रतिवेदन के अनुसार देश मे आवश्यक मात्रा मे खाद्यान्न उत्पादन करने के लिए उपलब्ध उत्पादन-साधन सीमित मात्रा मे थे और सीमित उत्पादन-साधनो का सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र मे अनुकूलतम उत्पादन की मात्रा प्राप्त करने के लिए उपयोग कर पाना सम्भव नही था। दल की धारणा थी कि सीमित उत्पादन-साधनो का चुने हुए क्षेत्रो मे आवश्यकतानुसार प्रस्तावित मात्रा मे उपयोग करने से उत्पादन मे अधिक वृद्धि की जा सकती है । इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए फोर्ड सस्थान दल ने भारत के लिए सघन-कृषि कार्यक्रम योजना अपनाने की सिफारिश की । भारत सरकार न फोर्ड सस्थान दल के उपर्युक्त सुझावो को स्वीकार करते हुए वर्ष 1960 मे सघन कृषि-जिला कार्यक्रम शुरू किया ।

सघन-कृषि जिला-कार्यक्रम/पैकेज कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme or Package Programme)

भारत सरकार ने फोर्ड सस्थान दल की सिफारिश के अनुसार पैकेज कार्यक्रम सर्वप्रथम देश के सात जिलो मे शुरू किया । ये जिले लुधियाना (पजाब), पाली (राजस्थान), अलीगढ (उत्तरप्रदेश), पश्चिमी गोदावरी (आन्ध्र प्रदेश), शाहाबाद (बिहार), रायपुर (मध्यप्रदेश) एव तजोर (तमिलनाडु) थे । लुधियाना एव अलीगढ जिलो मे गेहूँ के लिए वर्ष 1961–62 मे, पाली जिले मे मोटे अनाज के लिए खरीफ 1961–62 मे व अन्य जिलो मे चावल के लिए वर्ष 1960–61 एव खरीफ वर्ष 1961–62 मे कार्यक्रम शुरू किए गये । इसकी सफलता को देखते हुए वर्ष 1962–63 व 1963–64 मे यह कार्यक्रम देश के 8 अन्य जिलो मे भी शुरू किया गया । इस कार्यक्रम को दिल्ली क्षेत्र मे वर्ष 1964–65 व करनाल (हरियाणा) मे वर्ष 1966–67 मे शुरू किया गया ।

योजनाबद्ध, सुचारू रूप से आवश्यकताओ एव साधनो की प्राप्ति तथा क्षमता के आधार पर निर्मित तथा सही रूप से कार्यान्वित योजना को सघन कृषि-कार्यक्रम या पैकेज कार्यक्रम कहते हैं । पैकेज कार्यक्रम की सफलता का मुख्य आधार कृषकों

की प्रगति के लिए उत्सुकता तथा उसे प्राप्त करने के प्रयास मे नि:संकोच व उत्साहपूर्वक परिश्रम करना है।

पैकेज कार्यक्रम के उद्देश्य पैकेज कार्यक्रम शुरू करने के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(1) पैकेज कार्यक्रम देश मे उत्पादन-वृद्धि के तरीके अपनाने की एक पथ-प्रदर्शन परियोजना है, जिसके आधार पर एक क्षेत्र मे खाद्यान्न-उत्पादन मे वृद्धि के सफलीभूत तरीकों को देश के अन्य क्षेत्रो मे प्रयुक्त करने अथवा उन विधियो मे आवश्यक सशोधन करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

(2) कृषको की आय मे वृद्धि करना, जिससे उन्हे अच्छा जीवन-स्तर प्राप्त हो सके।

(3) देश मे उपलब्ध-साधनो की उत्पादकता मे वृद्धि करना।

(4) देश के आर्थिक एव सामाजिक विकास के लिए आधारभूत कृषि-सरचनाओ का विकास करना।

पैकेज-कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ—पैकेज-कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

(1) स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार प्रत्येक फसल के लिए पैकेज तरीको, जैसे—उन्नत बीज, उर्वरक, कृषि-यन्त्रो एव कृषि-विधियो के अपनाने की सिफारिश करना एव सिंचाई की सुविधाओ का विकास करना।

(2) पैकेज कार्यक्रम को फार्म पर अपनाने के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनो के प्रबन्ध करने मे कृषको की सहायता करना एव प्राप्त उत्पादो के विपणन के लिए उचित विपणन-सुविधा उपलब्ध कराना।

(3) अनुकूलतम लाभ प्रदान करने वाली फार्म-योजना बनाने मे कृषको की सहायता करना, जिससे कृषक प्रस्तावित फार्म-योजना को लागू करने के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनो को समय से पूर्व जुटा सकें।

(4) फार्म प्रदर्शनो द्वारा कृषको को सुधरे हुए तरीको से खेती करने की शिक्षा प्रदान करना। फार्म प्रदर्शन, पैकेज कार्यक्रम की मूलभूत प्रेरणादायक विशेषता है।

सघन-कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agricultural Area Programme) :

तृतीय पचवर्षीय योजना की अन्तरिम मूल्याकन रिपोर्ट मे सुझाव दिया गया कि जिन क्षेत्रो मे कृषि-उत्पादन मे वृद्धि की सम्भावना अधिक है, उन क्षेत्रों मे कृषि-विकास की आधुनिक विधियां अपनाई जानी चाहिए। कृषि-उत्पादन दल ने भी इस

पर अपनी सहमति जनवरी, 1964 में प्रदान की, जिसके कारण देश में सघन-कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम मार्च, 1964 से शुरू किया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भी क्षेत्र-विशेष में कृषि विकास के लिए सघन-कृषि-योजना अपनाई गई। सघन-कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम एवं सघन-कृषि-जिला कार्यक्रम में प्रमुख अन्तर अपनाये जाने वाले क्षेत्र का है। प्रथम में कार्यक्रम खण्ड अथवा पंचायत-समिति स्तर पर अपनाया जाता है, जबकि दूसरे कार्यक्रम में जिला-स्तर पर कृषि की उन्नत विधियाँ अपनाई जाती हैं। सघन-कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम के प्रमुख आधार निम्न हैं—

(1) समुचित सिंचाई व्यवस्था वाले क्षेत्रों में 20 से 25 प्रतिशत कृषित क्षेत्र में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए विकास योजना शुरू करना।

(2) चुने हुए 140 जिलों से तकनीकी ज्ञान का अधिकाधिक उपयोग करते हुए फसलों की उत्पादकता में वृद्धि करना।

कृषि-क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान विकास :

कृषि क्षेत्र के विकास के लिए तकनीकी ज्ञान में निम्न कार्यक्रम सम्मिलित हैं-

(1) अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों का उपयोग बढ़ाना।

(2) बहुफसलीय कार्यक्रम का विस्तार करना।

(3) कृषकों को प्रेरणादायक कीमतें दिलाना।

(4) कृषि-विकास के लिए आवश्यक आधारभूत संरचना, जैसे–ऋण, विपणन, संग्रहण, अनुसंधान, शिक्षा, प्रशिक्षण, विद्युत् परिवहन, संचार एवं प्रशासनिक सुविधाओं का विकास करना।

(5) सिंचाई सुविधाओं का विकास करना।

(6) आवश्यक उत्पादन-साधनों, जैसे—बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाइयों की समय पर उपलब्धि का प्रबन्ध करना।

(7) फसल-संरक्षण के उपायों को अपनाने के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना।

(8) विद्युतीकरण का विकास।

(9) लघु कृषकों के विकास के लिए योजना शुरू करना।

(10) शुष्क क्षेत्रों में भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करना।

(11) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम।

उपर्युक्त कार्यक्रमों में से प्रथम आठ कार्यक्रम भूमि की प्रति इकाई क्षेत्रफल पर निश्चित समयावधि में उत्पादकता में वृद्धि करते हैं, जबकि अन्तिम तीन कार्यक्रम लघु कृषकों एवं सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पाई जाने वाली आय की असमानता को समाप्त करने एवं ग्रामीण विकास के उद्देश्य से सरकार द्वारा कार्यान्वित किए गए हैं। इन कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवेचन निम्न है—

1 अधिक उपज देने एवं अल्पावधि में तैयार होने वाले संकर एवं बौनी किस्म के बीजों का आविष्कार – देश में कृषि-योग्य भू-क्षेत्रफल की सीमितता के

कारण खाद्यान्न-उत्पादन मे वृद्धि के लिए अल्पावधि मे तैयार होने वाले एव अधिक उपज देने वाले बीजो का आविष्कार नए तकनीकी ज्ञान एव हरित क्रांति का प्रथम चरण है। देश के कृषि वैज्ञानिकों ने अनुसन्धानो द्वारा कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए विभिन्न फसलो के अधिक उपज देने वाले सकर (Hybrid) एव बौनी (Dwarf) किस्म के बीजो का आविष्कार किया है। इन बीजो के उपयोग मे खाद्यान्नो का उत्पादन देशी किस्म के बीजो की अपेक्षा कई गुना अधिक होता है। ये किस्मे उर्वरक एव सिचाई की मात्रा अधिक चाहती हैं तथा पकने मे भी कम समय लेती हैं, जिससे भूमि के क्षेत्र मे वर्ष मे 3 से 4 फसलो को लेना सम्भव हो गया है। इसके लिए निरन्तर बीज सुधार कार्यक्रम अपनाया जा रहा है। बीज-सुधार कार्यक्रमो के अन्तर्गत किए जा रहे अनुसधानो के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित हैं—

(i) विभिन्न फसलो की उत्पादकता मे वृद्धि के लिए उन्नत बीजो का आविष्कार करना।

(ii) बीमारियों के प्रभाव से मुक्त किस्म के बीजो का आविष्कार करना।

(iii) प्रस्तावित नई किस्म के बीजो मे प्रोटीन एव खनिज की मात्रा मे वृद्धि करना।

(iv) अल्पकाल मे पकने वाली किस्म के बीजो का आविष्कार करना, जिससे भूमि पर वर्ष मे अधिक से अधिक फसलें उगाई जा सकें।

(v) देश मे भूमि एव जलवायु की विभिन्नता के अनुसार विभिन्न किस्म के बीजो का आविष्कार करना।

उपर्युक्त उद्देश्यो के अनुसार विभिन्न कृषि विश्वविद्यालय तथा राज्य कृषि विभाग के फार्मों पर किये गये अनुसधाना के परिणामस्वरूप विभिन्न फसलो की अनेक सकर एव बौनी किस्मो का आविष्कार हुआ है। देश म खाद्यान्नो की अधिक उपज देने वाली सकर एव बौनी किस्मो के बीजों के अन्तगत प्रयुक्त क्षेत्रफल सारणी 21 1 म प्रदर्शित है।

सारणी 21.1

भारत मे प्रमुख खाद्यान्नो फसलो की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल

(लाख हैक्टर)

	फसल/विवरण	1966-67	1970-71	1980-81	1989-90	1990-91
1	धान					
	कुल क्षेत्र	353	376	402	422	426
	उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्रफल	9	56	182	262	281
	प्रतिशत	2 5	14 9	45.3	62 1	66.0
2	गेहूँ					
	कुल क्षेत्र	128	182	223	235	240
	उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्र	5	65	161	203	204
	प्रतिशत	3 9	35 7	72 2	86 4	84 6
3	ज्वार					
	कुल क्षेत्र	181	174	158	149	145
	उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्र	2	8	35	69	67
	प्रतिशत	1 1	4 6	22 2	46 3	46.2
4.	बाजरा					
	कुल क्षेत्र	122	129	117	109	104
	उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्र	1	2	36	56	51
	प्रतिशत	0 8	1 6	30 8	51 4	49 0
5	मक्का					
	कुल क्षेत्र	51	59	60	59	59
	उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्र	2	5	16	23	26
	प्रतिशत	3 9	8 5	26 7	39 0	44 1
	पांचो खाद्यान्नो के अन्तर्गत क्षेत्र	835	920	960	974	974
	पांचो खाद्यान्नो के अन्तर्गत उन्नत किस्मो का क्षेत्रफल	19	136	430	613	629
	प्रतिशत	2 3	14 8	44 8	62 9	64 6

Source . (i) Indian Agriculture in Brief, 23rd Edition, Direc-

torate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi

(ii) Economic Survey, Ministry of Finance, Government of India, New Delhi

देश मे खाद्यान्नो की अधिक उपज देने वाली किस्मो के बीजो का उपयोग सर्वप्रथम वर्ष 1965–66 मे शुरू हुआ था। इसके पश्चात् इनके उपयोग के क्षेत्रफल मे निरन्तर वृद्धि हुई है। वर्ष 1966–67 मे पाँचो खाद्यान्नो की उन्नत किस्मो के अन्तर्गत 1 9 मिलियन हैक्टर क्षेत्र ही था, यह बढकर वर्ष 1970–71 मे 13 6 मिलियन हैक्टर, 1980–81 मे 43 0 मिलियन हैक्टर तथा वर्ष 1990–91 मे 62 9 मिलियन हैक्टर हो गया। पाँचो खाद्यान्नो के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्रफल वर्ष 1966–67 मे मात्र 2 3 प्रतिशत ही था, जो बढकर वर्ष 1990–91 मे 64 6 प्रतिशत हो गया। अत: उन्नत किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्रफल मे निरन्तर वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि सभी खाद्यान्नो मे समान नही है। वर्तमान मे धान के कुल क्षेत्र का 66 प्रतिशत क्षेत्र मे उन्नत किस्मो के बीज कृषित किए जाते हैं। गेहूँ मे यह प्रतिशतता 84 6 है। मोटे अनाज, ज्वार, बाजरा एव मक्का मे यह प्रतिशतता 44 से 49 हैं। मोटे अनाजो के अन्तर्गत उन्नत किस्मो के क्षेत्रफल मे गेहूँ एवं धान के समान वृद्धि नही होने का प्रमुख कारण, इन फसलो का उन क्षेत्रो मे लिया जाना है, जहाँ सिंचाई की पर्याप्त सुविधा का नही होना है।

उन्नत किस्मो के बीजो के उपयोग से देशी किस्म के बीजो की अपेक्षा कई गुना अधिक उत्पादन प्राप्त होता है। गेहूँ की उन्नत किस्मो से प्रति हैक्टर उत्पादन 40 से 60 क्विन्टल प्राप्त होता है, जो देशी किस्मो के बीजो के उपयोग से प्राप्त उत्पादन की अपेक्षा 2 से 2½ गुना अधिक है। इसी प्रकार चावल की उन्नत किस्मो के उपयोग से प्रति हैक्टर 70 से 80 क्विन्टल धान प्राप्त होता है, जबकि देशी किस्मो से 15 से 20 क्विन्टल ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार ज्वार, बाजरा एव मक्का की उन्नत किस्मो से उनकी देशी किस्मों की अपेक्षा कई गुना अधिक उत्पादन प्राप्त होता है।

सारणी 21.2 विभिन्न खाद्यान्नो की फसलो की उन्नत एव देशी किस्म के बीजो के उपयोग से प्राप्त प्रति हैक्टर उत्पादन की मात्रा, लाभ की राशि एव उन पर होने वाले उत्पादन-लागत की राशि प्रदर्शित करती है।

सारणी 21.2

उन्नत एवं देशी किस्म के बीजो के उपयोग से प्रति हैक्टर प्राप्त लाभ एव प्रति क्विन्टल उत्पादन-लागत

अध्ययन क्षेत्र एव वर्ष	उन्नत किस्म			देशी किस्म		
	उत्पादन प्रति हैक्टर (क्विन्टल)	लाभ प्रति हैक्टर (रु)	उत्पादन-लागत प्रति क्विन्टल (रु)	उत्पादन प्रति हैक्टर (क्विन्टल)	लाभ प्रति हैक्टर (रु)	उत्पादन लागत प्रति क्विन्टल (रु)
1 -	2	3	4	5	6	7
		गेहूँ				
अलीगढ (उत्तर प्रदेश) 1967–68 a	26 52	903 67	36 83	12 56	459 95	59 43
दिल्ली 1968–69 b	36.77	1355 58	49 12	21 45	630 26	71 65
उदयपुर (राजस्थान) 1968–69 c	29 15	1746 27	—	16 80	1185 35	—
कोटा (राजस्थान) 1972–73 d	40 10	2039.00	31 40	22 75	1238.80	42 67
		चावल				
कानपुर (उत्तर-प्रदेश) 1966–67 e	31.71	1931 79	17.89	6 61	285 96	35 66
तजाऊर (तमिलनाडु) 1967–68 d	34 85	1368 12	—	22 15	943 50	—
कोटा (राजस्थान) 1972–73 d	41 82	1728 00	37.66	20 00	622 00	58 90

1	2	3	4	5	6	7
		मक्का				
कानपुर (उत्तर प्रदेश) 1966–67 e	29.53	1993 46	20 26	9 13	334 89	44 20
अलीगढ (उत्तर प्रदेश) 1967–68 a	41 75	678 64	35 96	18 40	183 64	48 56
		बाजरा				
अलीगढ (उत्तर-प्रदेश) 1967–68 a	29 42	1006 16	27 08	15 08	270 45	47.72
		ज्वार				
कोटा (राजस्थान) 1972–73 d	29 10	1216 75	—	16 25	789 55	—

स्रोत . (a) G S Lavania & R S Dixit, Economics of High, Yielding Varieties in Package District Aligarh, I J A E, Vol XXIII No 4, October-December, 1968, pp. 93–103.

(b) B M Sharma, S K Goel & R K Patel ' Economic Aspect of Dwarf Wheat, Agricultural Economics Research Bulletin No 1, January-June 1973, Division of Agricultural Economics, Indian Agricultural Research Institute, New Delhi

(c) S S Acharya, Comparative Study of HYVP–Case Study of Udaipur District, Economic & Political Weekly, November, 1969

(d) R A. Yadav, Impact of High, Yielding Varieties on Farm Incomes, Employment and Resource Use Efficiency in Kota District Rajasthan, M. Sc Ag. Economics Thesis, University of Udaipur, 1974.

(e) S. P. Dhondyal, 'Cost and Effectiveness of Modern Technology on Farm Production and Farm Income,' I J A E Vol XXIII, No. 2, April-June, 1968, pp 61–62

उन्नत किस्म के बीजों के उपयोग से सभी खाद्यान्नों—गेहूँ, चावल, मक्का, बाजरा एवं ज्वार में देशी किस्मों की अपेक्षा प्रति हैक्टर उत्पादन की मात्रा 100 से 500 प्रतिशत अधिक होती है। उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग करने से फार्म पर प्रति हैक्टर लागत भी अधिक आती है। यह अतिरिक्त लागत बीज की अधिक कीमत, उर्वरकों की अधिक मात्रा में उपयोग, सिंचाई की अधिक आवश्यकता एवं श्रम की अतिरिक्त आवश्यकता के कारण होती है। उन्नत किस्म के बीजों के उपयोग से कृषकों को प्रति हैक्टर शुद्ध लाभ, देशी किस्म के बीजों की अपेक्षा 50 से 200 प्रतिशत अधिक प्राप्त होता है। उन्नत किस्म के बीजों के उपयोग से उत्पादन की अधिकता के कारण, खाद्यान्नों की प्रति क्विन्टल उत्पादन-लागत कम हो जाती है। अतः उपर्युक्त अध्ययनों के परिणामों से स्पष्ट है कि देशी किस्म के बीजों के स्थान पर उन्नत किस्म के बीजों का उपयोग आवश्यक मात्रा में उत्पादन-साधनों के साथ करने से कृषकों को प्रति हैक्टर क्षेत्र से अधिक उत्पादन एवं शुद्ध लाभ प्राप्त होता है।

(2) बहुफसलीय कार्यक्रम—बहुफसलीय कार्यक्रम से तात्पर्य भूमि के क्षेत्र से प्रति वर्ष दो या दो से अधिक फसलें उत्पन्न करने से है अर्थात् भूमि की उर्वरता-शक्ति को नष्ट किये बिना, भूमि के एक इकाई क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना ही बहुफसलीय कार्यक्रम कहलाता है। वर्तमान में देश के अधिकांश क्षेत्रों में वर्ष में एक ही फसल उत्पन्न की जाती है। सिंचित क्षेत्रों में वर्ष में भूमि पर दो फसलें भी उत्पन्न की जाती हैं। राजस्थान के सूखा क्षेत्रों में 3–4 वर्षों में एक फसल ही उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार देश में फसल-गहनता बहुत कम है, इसमें वृद्धि करने के लिए बहुफसलीय-कार्यक्रम शुरू किया गया है।

बहुफसलीय कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न फसलों की अल्पावधि में पकने वाली किस्मों को अधिकाधिक अपनाया जाता है, जिससे कृषक उपलब्ध सीमित भूमि के क्षेत्र से वर्ष में अधिक से अधिक संख्या में फसलें उत्पन्न कर पाते हैं। बहुफसलीय कार्यक्रम को अपनाने से जोत का क्षेत्र सीमित होते हुए भी, कुल कृषित क्षेत्र में वृद्धि होती है। अल्पावधि में पकने वाली किस्में साधारणतया अधिक उत्पादन देने वाली होती हैं, जिससे फार्म पर कुल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है। अल्पावधि में पकने वाली उन्नत किस्मों के आविष्कार के कारण कृषक, वर्ष में एक या दो फसलों को उगाने के स्थान पर पर्याप्त सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्र में तीन से चार एवं कम सिंचाई वाले क्षेत्रों में दो फसलें प्रति वर्ष लेने लग गये हैं। अल्पावधि में पकने वाली उन्नत किस्मों को अपने निश्चित मौसम के अतिरिक्त अन्य मौसमों में भी उत्पन्न किया जा सकता है। इस कार्यक्रम से भूमि वर्ष में किसी भी समय बेकार नहीं रहती है एवं कृषकों को अधिक समय तक रोजगार मिलता है।

कृषि वैज्ञानिकों ने विभिन्न राज्यों में भूमि व जलवायु की विभिन्नता के परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि जहाँ सिंचाई की सुविधा पूरे वर्ष उपलब्ध है, वहाँ पर कृषक वर्ष में चार फसलें सुगमता से उगा सकते है तथा प्रति हैक्टर कई गुना अधिक उपज प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, सिंचित क्षेत्रों में गेहूँ, मूंग, मक्का फसल-चक्र वर्ष में आसानी से लिया जा सकता है। इस फसल-चक्र के द्वारा प्रति हैक्टर प्रति वर्ष 14–15 टन खाद्य-पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं। खाद्य-पदार्थ उत्पादन का यह स्तर मक्का-गेहूँ फसल-चक्र द्वारा वर्ष 1950 में प्राप्त उत्पादन स्तर का लगभग 5 गुना है। बहुफसलीय कार्यक्रम के प्रसारण हेतु देश में स्थान-स्थान पर प्रदर्शन लगाये जाते हैं।

बहुफसलीय कार्यक्रम के लाभ—बहुफसलीय कार्यक्रम को अपनाने से कृषकों को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(i) भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से अधिक उत्पादन प्राप्त होता है।

(ii) भूमि पर निरन्तर फसलों के होने से खरपतवार कम होती है।

(iii) भूमि पर निरन्तर फसलों के होने से भूमि का कटाव कम होता है।

(iv) कृषकों को वर्ष भर कार्य उपलब्ध होता है जिससे उनमें व्याप्त बेरोजगारी के समय में कमी होती है।

(v) लघु कृषकों के फार्म पर मुख्यतया बैलों का श्रम, जो अधिकांश समय बेकार रहता था, उसका पूर्ण रूप से उपयोग होता है

बहुफसलीय कार्यक्रम की सफलता के लिए आवश्यक तत्व—बहुफसलीय कार्यक्रम की सफलता के लिए निम्न तत्व आवश्यक हैं—

(i) बहुफसलीय कार्यक्रम के लिए चुने हुए क्षेत्र में सिंचित एवं जल-निकासी की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

(ii) बहुफसलीय कार्यक्रम की सफलता के लिए सेवा-संस्थाएँ जैसे—वाणिज्यिक बैंक, सहकारी समितियाँ एवं उत्पादन-साधनों की पूर्ति के लिए क्षेत्र में पर्याप्त संख्या में दुकानें होनी चाहिएँ।

(iii) बहुफसलीय कार्यक्रम की सफलता के लिए क्षेत्र में आधारभूत सुविधाएँ जैसे—विपणन संग्रहण, परिष्करण आदि की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

3. प्रेरणादायक कीमत—प्रेरणादायक कीमत से तात्पर्य उस कीमत से है जो कृषकों को उत्पादन-लागत की प्राप्ति के अतिरिक्त पर्याप्त आय प्रदान करके उत्पादन-वृद्धि की आवश्यक प्रेरणा प्रदान करती है। कृषकों को यह प्रेरणा या तो उत्पाद की अधिक कीमत के रूप में अथवा नियत कीमत अथवा दोनों रूपों में प्रदान की जा

सकती है । कृषकों को प्रेरणादायक कीमत प्राप्त कराने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर नियुक्त समितियो न आवश्यक सुझाव दिए हैं तथा कृषि-लागत एव कीमत आयोग की स्थायी तौर पर देश मे स्थापना की गई है । विभिन्न कृषि-उत्पादो के लिए न्यूनतम समर्थित कीमत स कार प्रतिवर्ष निर्धारित करती है जो उन्हे उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देती है ।

(4) आधारभूत सरचना का विकास (Development of Infrastructural Facilities)—कृषि-विकास के लिए आवश्यक आधारभूत सरचना सुविधाओ जैसे—कृषि-ऋण उपलब्धि, समुचित कृषि-विपणन व्यवस्था, सग्रहण एव भण्डारण सुविधाओ का विकास, विद्युत् सुविधा का विस्तार, सडक एव परिवहन सुविधाओ का विकास, कृषि शिक्षा, अनुसन्धान एव प्रशिक्षण आदि का विकास भी अत्यन्त आवश्यक है । इन सुविधाओ के होने से कृषि मे तकनीकी ज्ञान के अपनाने की गति को तीव्रता मिलती है । जिन क्षेत्रों मे इन सुविधाओं का विकास अधिक हुआ है, वहाँ पर कृषि विकास की दर अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक है । इन सुविधाओ के होने से कृषकों को अनेक प्रकार से लाभ प्राप्त होते हैं, जैसे-उत्पादन-लागत मे कमी होना, प्राप्त उत्पाद की अधिक कीमत प्राप्त होना, कृषि म आविष्कारित तकनीकी ज्ञान को शीघ्रता से अपनाना आदि ।

(5) सिंचाई सुविधाओं का विकास—कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए उन्नत किस्मो के बीजो के अपनाने के लिए सिंचाई की समुचित व्यवस्था का होना भी आवश्यक है । उन्नत किस्मो के बीजो का उपयोग एव उत्पादन वृद्धि के लिए अनुकूलतम मात्रा मे उर्वरको का उपयोग उन्ही क्षेत्रो मे सम्भव है, जहाँ सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है । योजना-काल के प्रारम्भ से ही देश मे सिंचाई सुविधाओ के विकास के लिए सरकार प्रयास कर रही है तथा इसके लिए विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे काफी धन व्यय किया जाता है ।

योजना-काल के पूर्व (1950–51) देश मे मात्र 22 60 मिलियन हैक्टर क्षेत्रफल (कुल कृषित क्षेत्रफल का 17 4 प्रतिशत) मे सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी । विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे सिंचाई सुविधा के विकास के लिए अनेक लघु एव मध्यम व बडी सिंचाई योजनाएँ शुरू की गई हैं । इनके फलस्वरूप वर्ष 1989–90 तक 80.4 मिलियन हैक्टर क्षेत्र म सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो सकी है, जो कुल कृषित क्षेत्र का 36 5 प्रतिशत है ।

सारणी 21 3 मे देश मे विभिन्न पचवर्षीय योजना-काल मे विकसित सिंचाई क्षेत्रफल एव बडी योजनाओ पर सरकार द्वारा व्यय की गई राशि प्रदर्शित है—

सारणी 213

देश में सिंचाई सुविधाओं का विकास

योजना-काल		उपलब्ध सिंचित क्षेत्र (मिलियन हैक्टर)	बडी सिंचाई योजनाओ पर किया गया व्यय राशि (करोड रुपये)
योजनाकाल से पूर्व	(1950–51)	22 60	—
प्रथम योजना	(1951–56)	26.26	313
द्वितीय योजना	(1956–61)	29.08	428
तृतीय योजना	(1961–66)	33 61	665
वार्षिक योजनाएँ	(1966–69)	37 10	457
चतुर्थ योजना	(1969–74)	44 20	1354
पाँचवी योजना	(1974–79)	52 02	3434
छठी योजना	(1980–85)	67 50	8448
सातवी योजना	(1985–90)	80 44	11556

-सातवी योजना के अन्त तक 80 मिलियन हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराने का लक्ष्य है । अत तकनीकी ज्ञान विकास का लाभ इन्ही क्षेत्रो के कृषको को प्रमुखतया प्राप्त हुआ है । सिंचाई सुविधाओ का विकास हरित क्रान्ति मे गति लाने के लिए आवश्यक है ।

(6) उर्वरकों का उपयोग—कृषि मे तकनीकी ज्ञान के प्रसार के लिए उर्वरको के उत्पादन एव उपभोग में वृद्धि करना भी आवश्यक है । उन्नत किस्मो के बीजो के उपयोग द्वारा फसलों की अधिक उत्पादकता प्राप्त करने के लिए उर्वरको का सन्तुलित मात्रा मे सही समय पर उपयोग करना होता है । बहुफसलीय कार्यक्रम के अपनाने से उर्वरको की आवश्यकता मे पहले की अपेक्षा वृद्धि हुई है । सारणी 21.4 देश मे उर्वरक उत्पादन, आयात एव उपभोग की मात्रा प्रदर्शित करती है ।

उर्वरको का उत्पादन स्वतन्त्रता के समय बहुत कम था । अतः उर्वरको के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए स्वतन्त्रता के उपरान्त देश मे अनेक उर्वरक कारखाने सार्वजनिक, सहकारी एवं निजी क्षेत्र मे स्थापित किए गए हैं । देश मे उर्वरको का उत्पादन जो वर्ष 1951–52 मे मात्र 0.273 लाख टन था, वह बढकर 1990 मे 90.40 लाख टन हो गया । उर्वरको का आयात भी काफी मात्रा मे है

उर्वरकों के आयात में वर्ष 1985–86 तक निरन्तर वृद्धि हुई है। तत्पश्चात् उसमें कमी आई है और पिछले 3 वर्षों से इनकी मात्रा में पुन: वृद्धि हुई है। वर्ष 1970 तक देश की उर्वरक आवश्यकता का लगभग 50 प्रतिशत भाग आयात से ही पूरा होता था। आज भी पोटाश उर्वरक की पूर्ति पूर्णतया आयात की मात्रा से ही होती है। उर्वरक उपयोग में भी इस काल में द्रुत गति से वृद्धि हुई है। वर्ष 1951–52 में उर्वरक उपभोग मात्र 0.218 लाख टन था, जो 1990–91 में 126 77 लाख टन हो गया। उर्वरक उपभोग में तीव्र गति से वृद्धि होने के उपरान्त भी प्रति हैक्टर कृषित भूमि क्षेत्र पर उर्वरक उपभोग देश में विकसित देशों की अपेक्षा कम है। भारत में उर्वरक उपभोग वर्ष 1951–52 में 0 6 किलोग्राम प्रति हैक्टर ही था, जो बढ़कर वर्ष 1989–90 में 68 7 किलोग्राम प्रति हैक्टर हो गया। विभिन्न राज्यों में भी उर्वरक उपभोग में बहुत असमानता व्याप्त है।

सारणी 21.4

भारत में उर्वरक उत्पादन, आयात एवं उपभोग

वर्ष	उत्पादन	आयात	उपभोग
1951–52	0 273	0 380	0 218*
1956–57	1 003	0 564	1 526**
1961–62	2.242	1 739	3 382
1965–66	3.550	4 159	7 750
1970–71	10 590	6 295	21 770
1975–76	24 850	15 507	28 940
1980–81	30 050	27 590	55 160
1985–86	57 560	33 990	84 740
1986–87	70 700	23 100	86 450
1987–88	71 310	9 840	87 840
1988–89	89 640	16 080	110 360
1989–90	85 430	31 140	116 950
1990–91	90 440	27 580	126 770
1991–92	100 00	27 930	136 000

*=Excluding Nitrogen **=Excluding K_2O

स्रोत : Economic Survey, Ministry of Finance, Government of India, New Delhi—Various Issues.

7. पौध सरक्षण सुविधा—कृषि मे तकनीकी ज्ञान के प्रसार के लिए पौध सरक्षण सुविधा का विकास भी महत्त्वपूर्ण है । उन्नत किस्म के बीज, बीमारियो एव कीडे मकोडो से अधिक प्रभावित होते हैं। वर्ष 1950–51 मे कुल कीटनाशी दवाइयो का उपभोग मात्र 2 35 हजार टन था, जो बढ़कर वर्ष 1960–61 मे 8.62 हजार टन, वर्ष 1970–71 मे 24 31 हजार टन, वर्ष 1980–81 मे 45 हजार टन एव वर्ष 1984–85 मे 56 हजार टन हो गया। वर्ष 1990–91 मे इनके उपभोग का स्तर 80 हजार टन होने का प्राकलन है । कीटनाशी दवाईयो के उपभोग मे इस दर से वृद्धि के बावजूद भी प्रति हैक्टर उपभोग का स्तर विकसित देशो से बहुत कम है । कीटनाशी दवाईयो का उपभोग स्तर वर्ष 1955–56 मे 16 ग्राम प्रति हैक्टर था, जो बढकर 1970–71 मे 147 ग्राम व 1984–85 मे 317 ग्राम प्रति हैक्टर हो गया। अमेरिका मे कीटनाशी दवाईयो का उपभोग स्तर 1490 ग्राम प्रति हैक्टर तथा जापान मे 10,790 ग्राम प्रति हैक्टर है। अत देश मे उन्नत किस्मो के बीजो के क्षेत्र मे वृद्धि के साथ-साथ पौध सरक्षण उपायो के उपभोग स्तर मे वृद्धि होना भी आवश्यक है ।

(8) विद्युतीकरण का प्रसार—कृषि मे उपलब्ध तकनीकी ज्ञान के प्रसार के लिए गावो तक विद्युतीकरण करना भी अति आवश्यक है। कृषि क्षेत्र मे विद्युतीकरण का उपयोग सिंचाई हेतु कुओ से जल निकालने, थ्रेसर चलाने, कुट्टी काटने की मशीन चलाने गन्ना पेलने के कोल्हू चलाने आदि कार्यों मे किया जाता है। विद्युत् उपलब्ध होने पर विभिन्न कृषि-कार्य जैसे सिंचाई, फसल की गहाई, आदि समय पर एव उचित दक्षता से कम खर्चे पर सम्पन्न होते हैं।

कृषि क्षेत्र विद्युत् उपभोग का एक प्रमुख स्रोत है। इस क्षेत्र मे विद्युत् उपभोग निरन्तर बढता जा रहा है । कृषि क्षेत्र मे विद्युत् उपभोग वर्ष 1950–51 मे मात्र 20 3 मिलियन किलोवाट था, जो बढकर वर्ष 1965–66 मे 1892 मिलियन किलोवाट तथा 1984–85 मे 20,500 मिलियन किलोवाट हो गया। उपलब्ध विद्युत् शक्ति का कृषि क्षेत्र मे उपभोग का स्तर 1950–51 मे 3 9 प्रतिशत था जो बढकर 1960–61 मे 6 0 प्रतिशत, 1970–71 म 10 2 प्रतिशत, 1980–81 मे 17.6 प्रतिशत एव 1990–91 मे 26 0 प्रतिशत हो गया । विभिन्न राज्यो मे विद्युत् उपभोग स्तर मे बहुत भिन्नता है, पजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, राजस्थान एव उत्तरप्रदेश राज्यो मे पूर्वी क्षेत्र के राज्यों की अपेक्षा विद्युत् उपभोग का स्तर अधिक है।

गाँवो एव कृषि क्षेत्र के विकास मे विद्युतीकरण की महत्ता के कारण इसके प्रसार के लिए सरकार निरन्तर प्रयास कर रही है। वर्ष 1960 मे ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की पृथक् रूप मे स्थापना की है, जिसका प्रमुख उद्देश्य विद्युतीकरण द्वारा समन्वित ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन देना है। ग्रामीण विद्युतीकरण

निगम की स्थापना के पश्चात् गाँवों मे विद्युतीकरण पहुँचाने एवं विद्युत् चलित सिंचाई के पम्पसेटो की सख्या म चहुँमुखी प्रगति हुई है। ग्रामीण विद्युतीकरण के कारण देश मे सिंचाई के ग्रन्तर्गत क्षेत्रफल मे वृद्धि, कृषको के फार्म पर कृषित क्षेत्र मे वृद्धि, फसलो से अधिक उत्पादन एव कृषि क्षेत्र से प्राप्त लाभ की राशि मे वृद्धि हुई है। सारणी 21 5 मे विद्युत् उपलब्ध गांवो की सख्या एव विद्युत् चलित पम्पसेटो की सख्या दर्शाती है।

सारणी 21 5

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों मे विद्युत् उपलब्धता

वर्ष	विद्युत् उपलब्ध गाँवो की प्रगामी सख्या	कुल गाँवो का प्रतिशत	विद्युत् चलित पम्प सैटो की प्रगामी सख्या (लाख)
अप्रैल, 1, 1951	3,061	0 53	0 21
अप्रैल, 1, 1961	21,754	3,78	1 98
अप्रैल, 1, 1969	73 939	12 84	10 89
अप्रैल, 1, 1980	249 799	43 76	34 49
जुलाई, 1, 1987	413,754	71 80	67 32
अगस्त, 1, 1991	481,956	83 20	89 92

Source Indian Agriculture in Brief–various Issues, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.

वर्तमान मे देश मे 4 82 लाख गाँवो (83 20 प्रतिशत) एव 89 92 लाख पम्पसेट पर विद्युत् सुविधा उपलब्ध है। वर्ष 1995 तक देश के सभी गाँवो तक विद्युत् सुविधा उपलब्ध कराने का लक्ष्य है। विद्युत चलित पम्पसेटो की सख्या मे भी द्रुतगति से वृद्धि हुई है। डीजल तेल से चलित पम्पसेटो के सचालन मे लागत की अधिकता एव डीजल उपलब्ध नही होने के कारण भी विद्युत् चलित पम्प सेटो की सख्या मे वृद्धि हो रही है।

(9) मशीनीकरण—कृषि मे मशीनीकरण का होना भी तकनीकी ज्ञान के प्रसार के लिए अति आवश्यक है। कृषि मे मशीनो के उपयोग से कृषि कार्य उचित समय पर, उचित दक्षता तक न्यूनतम लागत पर कर पाना समव हो गया

है। कृषि-क्षेत्र मे प्रमुखतया ट्रैक्टर, पम्पसेट, थ्रैसर, पावर टिलर एव स्प्रेयर तथा डस्टर उपयोग मे लिए जाते है।

सिंचाई की आवश्यकता मे वृद्धि के साथ-साथ डीजल चलित एव विद्युत् चलित पम्पसेटो की सख्या मे वृद्धि हुई है। पूर्व मे कृषक अपने कुओ से पानी निकालने का काम चरसे द्वारा किया करते थे, जिसमे समय अधिक लगने के कारण बहुत कम क्षेत्र मे सिंचाई प्रति दिन हो पाती थी। वर्ष 1950–51 मे मात्र 87 हजार पम्पसेट कार्यरत थे, जो बढकर 1960–61 मे 4.28 लाख, 1968–69 मे 18 10 लाख, 1979–80 मे 61 02 लाख एव 1990–91 मे 133.47 लाख हो गए।

कृषित भूमि के बढते क्षेत्र को उचित गहराई तक जोतने मे ट्रैक्टरो की भी प्रमुख भूमिका है। पूर्व मे यह कार्य बैलो की शक्ति से किए जाते थे जिनमे समय एव धन अधिक व्यय होता था। ट्रैक्टर भूमि को कृषित करने के अतिरिक्त, माल ढोने तथा अन्य मशीनें जैसे थ्रैसर चलाने, कुट्टी काटने, स्प्रेयर चलाने तथा सिंचाई के पम्पसेट चलाने मे भी काम आते हैं। वर्ष 1960 के पूर्व ट्रैक्टर का उत्पादन देश मे नही होता था, अतः आयात ही किए जाते थे। ट्रैक्टर का देश मे उत्पादन वर्ष 1960 मे प्रारम्भ हुआ था। वर्तमान मे 1 40 लाख ट्रैक्टर का उत्पादन देश मे 15 इकाईयो द्वारा प्रति वर्ष होता है। देश मे वर्ष 1951 मे कुल 8,635 ट्रैक्टर उपयोग मे थे, जो बढकर 1961 म 31,016, 1971 मे 1,43,000, 1981 मे 5,72,973 एव 1991 मे 14.68 लाख हो गए। ट्रैक्टर के उपयोग साथ-साथ पावर टिलर का उपयोग भी बढता जा रहा है। वर्ष 1970–71 मे जहाँ पावर टिलर का उत्पादन 1387 ही था, जो बढकर 1990–91 मे 6228 पहुँच गया। अधिक उत्पादन का समय पर कटाई एव गहाई हेतु कम्बाइन्ड हारवेस्टर का उपयोग भी बढता जा रहा है। वर्ष 1987–88 मे इनका उत्पादन 149 का था जो 1990–91 मे 337 प्रति वर्ष हो गया। इस प्रकार कृषि क्षेत्र मे विभिन्न फार्म मशीनरी का उपयोग भी बढा है। इनके होने से कृषक बहुफसली कार्यक्रम आसानी से अपनाकर, उत्पादित उत्पादो को समय पर बाजार म विपणन हेतु लाने मे सक्षम हो पाये हैं।

नए तकनीकी ज्ञान विकास के उपरोक्त अवयवो के सम्मिलित प्रभाव के कारण देश मे खाद्यान्न उत्पादन मे हुई वृद्धि को सारणी 21 6 मे प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 21.6

तकनीकी ज्ञान विकास के विभिन्न अवयवों का खाद्यान्न उत्पादन पर प्रभाव

वर्ष	खाद्यान्न उत्पादन (मि टन)	कुल कृषित क्षेत्र (मि हैक्टर)	कुल सिंचित क्षेत्र (मि हैक्टर)	उन्नत किस्मों के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल (मि हैक्टर)	उर्वरक (सभी उपभोग तत्त्व) (हजार टन)	कीटनाशी दवाईयों का उपयोग (हजार टन)
1961–62		156 21	28 46	—		2 00
1962–63	80 33	156 76	29 45	—	452	NA
1965–66	72 35	155 28	30 90	—	785	14 63
1966–67	74 23	157 35	32 68	1 89	1101	NA
1970–71	108 42	165 80	38 09	13 60	2177	24 31
1975–76	121 03	171 30	43 38	31 89	2894	NA
1980–81	129 90	173 10	49 88	43 07	5516	45 00
1981–82	133 00	177 04	51 55	46 05	6067	NA
1982–83	129 52	173 34	52 12	47 48	6390	NA
1983–84	152 37	180 36	53 94	53 74	7710	NA
1984–85	145 54	176 42	54 08	54 14	8210	56 00
1985–86	150 44	178 83	54 65	55 42	8470	NA
1986–87	143 42	176 92	55 64	56 12	8645	NA
1987–88	140 350	NA	59 33	51 23	8784	49 00
1988–89	170 250	180 10	58 50	62 60	11,036	84 70
1989–90	169 92	182 5	NA	61 30	11 695	
1990–91	176 50			62 90	12,677	
1991–92	169 20					

स्रोत Economic Survey, Ministry of Finance Government of India, New Delhi

हरित क्रान्ति
(Green Revolution)

हरित क्रान्ति, हरित एव क्रान्ति शब्द के मिलने से बना है। क्रान्ति से तात्पर्य किसी घटना मे द्रुतगति से परिवर्तन होने तथा उन परिवर्तनो का प्रभाव आने वाले लम्बे समय तक रहने से है। हरित शब्द कृषि फसलो का सूचक है। अत हरित क्रान्ति से तात्पर्य कृषि-उत्पादन मे अल्पकाल मे विशेष गति से वृद्धि का होना तथा उत्पादन की वह वृद्धि-दर आने वाले लम्बे समय तक बनाये रखने से है।

दूसरे शब्दो मे हरित क्रान्ति से अभिप्राय देश के सिंचित एव असिंचित कृषि-क्षेत्रो मे अधिक उपज देने वाले सकर एव बौनी किस्म के बीजो के उपयोग द्वारा कृषि-उत्पादन मे द्रुतगति से वृद्धि करना है। अधिक उत्पादन देने वाली किस्मो के बीजो द्वारा कृषि-उत्पादन मे वृद्धि करना अथवा कृषि विकास के क्षेत्र मे अपनाये जा रहे नये तकनीकी ज्ञान को ही 'हरित क्रान्ति" का नाम दिया गया है।

हरित क्रान्ति का प्रादुर्भाव—देश मे कृषि-क्षेत्र मे तकनीकी ज्ञान का आविष्कार एव उसका वृहत स्तर पर उपयोग, उन्नत एव अधिक उत्पादन देने वाले सकर एवं बौने किस्म के बीजो का आविष्कार, विभिन्न उर्वरको का अधिक मात्रा मे उत्पादन एव उनका सन्तुलित मात्रा मे उपयोग, सिंचाई सुविधाओ का विकास, कीटनाशी दवाइयो का उपयोग, कृषि क्षेत्र मे उन्नत औजार एव मशीनो का अधिकाधिक उपयोग, कृषि मे विद्युतीकरण, कृषि क्षेत्र मे ऋण का विस्तार, कृषि-शिक्षा एव विस्तार कार्यक्रमो के सम्मिलित प्रयासो के फलस्वरूप वर्ष 1966–67 के उपरान्त काल मे उत्पादन मे तीव्रगति से वृद्धि हुई है। उत्पादन वृद्धि की इस असाधारण गति दर को देश के कृषि वैज्ञानिको ने हरित-क्रान्ति का नाम दिया है। अत हरित क्रान्ति का देश में प्रादुर्भाव वर्ष 1966–67 के उपरान्त काल मे हुआ है। हरित-क्रान्ति के जन्मदाता का श्रेय नोबल पुरस्कार विजेता प्रो० नोरमन बारलोग को है।

हरित क्रान्ति के प्रादुर्भाव के पूर्व, कृषक फार्म पर उत्पादन बढाने के लिए पुरानी विधियो, फार्म पर उत्पादित बीज एव खाद तथा उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक अन्य उत्पादन साधन, जैसे—कृषि ऋण कीटनाशी दवाइयां आदि का कम मात्रा म उपयोग करते थे, जिसके कारण उन्हे भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन की मात्रा कम प्राप्त होती थी। हरित क्रान्ति के कारण कृषक प्रति इकाई क्षेत्र से अधिक उत्पादन की मात्रा प्राप्त कर रहे हैं और वे अब निश्चलता (Stagnation) की स्थिति से बाहर आकर गतिशीलता के क्षेत्र मे प्रवेश कर गए हैं।

कृषि-उत्पादन मे वृद्धि की यह असाधारण गति कृषि म तकनीकी ज्ञान विकास के विभिन्न अवयवो के सम्मिलित प्रयास का ही प्रतिफल है। इन सब उपायो

को सम्मिलित या पैकेज रूप मे अपनाने से ही कृषि-उत्पादन मे यह उत्पादन वृद्धि-दर प्राप्त हो पाई है। अत हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयवों मे वे सभी पहलू सम्मिलित होते हैं जो तकनीकी ज्ञान विकास के होते हैं।

हरित क्रान्ति का कृषि-क्षेत्र पर प्रभाव—हरित क्रान्ति के कारण देश के सभी जोत एव क्षेत्र के कृषको को लाभ प्राप्त हुआ है। यह लाभ कृषको को फार्म पर प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादकता एव आय मे वृद्धि के कारण प्राप्त होता है। कृषको को लाभ की राशि उनके द्वारा प्रायोगित ज्ञान स्तर की विभिन्नता के कारण समान राशि मे प्राप्त नही होकर उनके द्वारा अपनाए गए तकनीकी ज्ञान स्तर की विभिन्नता के कारण विभिन्न राशि मे प्राप्त होता है। अतः हरित क्रान्ति के कारण दीर्घ जोत कृषको एव समृद्ध कृषको को लघु जोत कृषको की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त हुआ है। हरित क्रान्ति के प्रति अधिक एव कम राशि मे लाभ प्राप्त करने वाले सभी कृषक जागरूक है, लेकिन प्राप्त आय की असमानता ने उनके मध्य सामाजिक विषमताओं को भी जन्म दिया है। अत हरित क्रान्ति का कृषि-क्षेत्र मे आने वाले प्रभावो को आर्थिक प्रभाव (Economic impact) एव सामाजिक प्रभाव (Sociological impact) की श्रेणी मे वर्गीकृत किया जाता है।

हरित क्रान्ति का आर्थिक प्रभाव—हरित क्रान्ति द्वारा कृषि-क्षेत्र मे आए आर्थिक प्रभाव दो प्रकार के है·

(i) कृषि-उत्पादो की प्रति इकाई भूमि-क्षेत्र से उत्पादकता मे वृद्धि, एव

(ii) कृषि-उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि।

उपरोक्त दोनो ही प्रकार के प्रभावो से कृषि-क्षेत्र के उत्पादन मे वृद्धि के कारण फार्म पर उत्पादित उत्पादो की प्रति इकाई मात्रा पर उत्पादन-लागत मे कमी आई है। कृषको को अपने फार्म-क्षेत्र से पूर्व की अपेक्षा अधिक शुद्ध लाभ की राशि प्राप्त होने लगी है, जिससे उनके आर्थिक स्तर मे सुधार हुआ है।

कृषि-उत्पादो की उत्पादकता मे वैसे तो स्वतन्त्रता के उपरान्त निरन्तर वृद्धि हुई है, लेकिन उत्पादकता मे वृद्धि की दर वर्ष 1965-66 के उपरान्त विशेष दर से हुई है। कृषि-उत्पादो मे यह वृद्धि खाद्यान्नो मे सर्वाधिक तथा खाद्यान्न समूह मे गेहूँ एव चावल मे सर्वाधिक पाई गई है। गेहूँ की प्रति हैक्टर उत्पादकता का स्तर वर्ष 1969-70 मे 1209 किलोग्राम एव चावल का 1073 किलोग्राम था, जो बढकर वर्ष 1989 90 मे क्रमश 2117 किलोग्राम एव 1756 किलोग्राम हो गया। इसी प्रकार ज्वार, बाजरा एव मक्का खाद्यान्नो की उत्पादकता मे भी 15 से 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

हरित क्रान्ति के आर्थिक प्रभाव का दूसरा पहलू देश मे कृषि-उत्पादन की कुल मात्रा मे वृद्धि होना है। हरित क्रान्ति के प्रादुर्भाव के पश्चात् कृषि-उत्पादन एव विशेषकर खाद्यान्नो के उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति के

पूर्व वर्ष 1965-66 मे देश मे खाद्यान्नो का कुल उत्पादन 72.347 मिलियन टन था, जो बढकर वर्ष 1970-71 मे 108 422 मिलियन टन, वर्ष 1980-81 मे 129 590 मिलियन टन तथा वर्ष 1983-84 मे 152 37 मिलियन टन हो गया। सूखा के कारण वर्ष 1986-87 व 1987-88 मे उत्पादन मे गिरावट आई है। वर्ष 1990-91 मे 176.50 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन हुआ है। इस प्रकार हरित क्रान्ति के प्रादुर्भाव के पश्चात् पिछले 25 वर्षों मे खाद्यान्नो के उत्पादन स्तर मे 100 प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई है। खाद्यान्नो मे सर्वाधिक उत्पादन वृद्धि गेहूँ मे हुई है।

वर्ष 1965-66 मे देश मे गेहूँ का कुल उत्पादन मात्र 10 39 मिलियन टन था, जो बढकर वर्ष 1990-91 मे 54 6 मिलियन टन अर्थात् 5 गुना स अधिक हो गया। ऐसा ससार के इतिहास मे अद्वितीय है। उपरोक्त काल मे चावल के उत्पादन मे 90 प्रतिशत वृद्धि अर्थात् उत्पादन-स्तर 40 मिलियन टन से 75 मिलियन टन पहुँच गया। उत्पादन में वृद्धि से कृषको के आय-स्तर मे वृद्धि हुई है। गेहूँ के उत्पादन-क्षेत्रो के कृषको की आय मे अन्य क्षेत्र के कृषको की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है, जिससे कृषको के रहन-सहन स्तर में बहुत परिवर्तन आया है।

हरित क्रान्ति का सामाजिक प्रभाव :

हरित क्रान्ति के उपरोक्त आर्थिक प्रभावो के फलस्वरूप सामाजिक विषमताएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। विभिन्न जोत स्तर के कृषको एव विभिन्न क्षेत्रो के कृषको की प्राप्त आय मे विषमता मे वृद्धि के कारण वैमनस्यता की भावना को जागृत कर दिया है। हरित क्रान्ति के कारण सामाजिक क्षेत्र मे उत्पन्न प्रभाव निम्न दो प्रकार के हैं—

(i) कृषको की व्यक्तिगत आय असमानता मे वृद्धि—हरित क्रान्ति के फलस्वरूप धनी अथवा दीर्घ जोत कृषक पूर्व की अपेक्षा अधिक धनी हो गए हैं तथा गरीब अथवा लघु कृषको की आय के स्तर म विशेष वृद्धि नही होने से वे दूसरे कृषको की तुलना मे गरीब होते जा रहे हैं। इस प्रकार दोनो वर्गों के मध्य पाई जाने वाली आय के अन्तर मे वृद्धि हुई है।

वैज्ञानिको का मानना है कि नया तकनीकी ज्ञान स्तर अथवा हरित क्रान्ति उत्पादन के पैमाने के प्रति उदासीन (Neutral to Scale) होता है। अर्थात् सभी जोत स्तर के कृषक तकनीकी ज्ञान के उपयोग से समान उत्पादकता स्तर एव लाभ की राशि प्राप्त कर सकत हैं। तकनीकी दृष्टिकोण से वैज्ञानिको का यह दृष्टिकोण सही है. लेकिन संस्थागत कारणों से दीर्घ जोत अथवा धनी कृषक हरित क्रान्ति से लघु जोत कृषको की अपेक्षा वास्तविक परिस्थिति मे अधिक लाभ प्राप्त कर पाने मे सक्षम होते हैं।

इस प्रकार विभिन्न दर पर लाभ प्राप्त होने का प्रमुख कारण नये तकनीकी ज्ञान के उपयोग स्तर मे अन्तर का होना है । नये तकनीकी ज्ञान स्तर के अपनाने में विभिन्नता का कारण आवश्यक राशि मे पूंजी का उपलब्ध नही होना है । नया तकनीकी ज्ञान अर्थात् उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, सिंचाई के लिए विद्युत । डीजल तेल का उपयोग, उन्नत कृषि-यन्त्रो के क्रय करने आदि-के अपनाने से फसलो के कृषित करने पर प्रति हैक्टर व्यय राशि अधिक आती है । उत्पादन में वृद्धि के लिए नये तकनीकी ज्ञान स्तर के विभिन्न पहलू अर्थात् कृषि निविष्टो को सम्मिलित या पैकेज रूप में उपयोग करने से ही निर्धारित उत्पादन स्तर या आय प्राप्त हो सकती है । इसके लिए कृपका को पहले की अपेक्षा अधिक राशि मे पूंजी की आवश्यकता होती है । पूंजी का इतनी अधिक मात्रा मे लघु एव मध्यम जोत अथवा निर्धन कृषको के लिए निवेश कर पाना सम्भव नही होता है, क्योंकि उनके पास सचय की गई धन राशि का अभाव होता है । साथ ही इन कृषको को संस्थागत अभिकरणो से प्रतिभूति के अभाव मे आवश्यक राशि मे ऋण सुविधा भी उपलब्ध नही हो पाती है ।

अत: आवश्यक राशि मे धन के अभाव मे कृषक विभिन्न कृषि निविष्टो को सिफारिश मात्रा मे उपयोग नही कर पाते हैं जिससे लघु एव सीमान्त कृषको अथवा निर्धन कृषको को हरित क्रान्ति का पूर्ण लाभ प्राप्त नही होता है । दूसरी ओर दीर्घ जोत या समृद्ध कृपक विभिन्न कृषि निविष्टो का उपयोग सिफारिश मात्रा मे कर पाते हैं । उनके पास धन का अभाव नही होता है । स्वय की पर्याप्त बचत राशि के अतिरिक्त वे सस्थागत अभिकरणो से भी पर्याप्त राशि मे ऋण प्राप्त कर पाने में सक्षम होते हैं । इस प्रकार हरित क्रान्ति के कारण वास्तविक परिस्थिति मे विभिन्न स्तर के कृषको को प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र अथवा फार्म से प्राप्त लाभ की कुल राशि मे बहुत अन्तर पाया जाता है । अत. धनी कृषक पूर्व की अपेक्षा अधिक धनी हो गये हैं । इससे दोनो वर्गों के कृषको के मध्य पायी जाने वाली आय के अन्तर में निरन्तर वृद्धि होने से कृषक समाज धनी एव निर्धन वर्ग मे विभक्त होता जा रहा है । इस आय-असमानता की बढती हुई खाई ने उनमें आपस में वैमनस्यता की भावना जागृत कर दी है ।

नये तकनीकी ज्ञान स्तर के उपयोग मे जोखिम की अधिकता के कारण लघु एव निर्धन वर्ग के कृषक जोखिम वहन क्षमता के कम होने के कारण इस ज्ञान को देर से फार्म पर अपनाते हैं, जबकि दीर्घ जोत कृषक तकनीकी ज्ञान को शीघ्र अपनाते हैं । इससे दीर्घ जोत कृषको को तकनीकी ज्ञान के अपनाने के प्रारम्भिक वर्षों मे अधिक लाभ की राशि प्राप्त होती है । धीरे-धीरे अन्य कृषक जब उस ज्ञान-स्तर को अपनाते हैं तो प्रतिस्पर्धा के बढने से लाभ की राशि कम होती जाती है । अत लघु एव निर्धन कृपको को नये तकनीकी ज्ञान से लाभ की राशि ही कम प्राप्त

नहीं होती है बल्कि उन्हें यह लाभ देर मे भी प्राप्त होता है । इस प्रकार इससे भी आय-असमानता की विषमता के बढने मे सहयोग मिलता है ।

(ii) विभिन्न क्षेत्र के कृषकों की आय-असमानता मे वृद्धि होना (Increased income disparities among the regions)—हरित क्रान्ति का दूसरा सामाजिक प्रभाव देश के विभिन्न राज्यों एवं एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्र के कृषकों की आय-असमानता मे विषमता का होना है । हरित क्रान्ति का लाभ उन्ही क्षेत्रों के कृषकों को अधिक प्राप्त हुआ है जिन क्षेत्रों म पर्याप्त सिचाई सुविधा उपलब्ध है । पर्याप्त सिंचाई सुविधा नही होने वाले क्षेत्रों मे अथवा सूखे क्षेत्रों म उन्नत एव सकर किस्म के बीज, उर्वरक आदि कृषि निविष्टों का उपयोग सम्भव नहीं होता है । सिंचाई की सुविधा देश के सभी राज्यों एवं राज्य के विभिन्न क्षेत्रों मे समान नहीं है ।

वर्तमान मे देश के 36 प्रतिशत क्षेत्र मे ही सिचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है एव शेष 64 प्रतिशत क्षेत्र कृषि उत्पादन के लिए वर्षा पर निर्भर है । पंजाब एव हरियाणा राज्य मे सिचाई की सुविधा अन्य राज्यों की अपेक्षाकृत अधिक है । राजस्थान राज्य के गगानगर एव कोटा जिलो मे सिंचाई की सुविधा नहरों के विस्तार के कारण अन्य जिलों की अपेक्षा अधिक है । इस कारण इन राज्यों एव क्षेत्रों के कृषकों का पर्याप्त सिचाई सुविधा की उपलब्धि के कारण हरित क्रान्ति का लाभ अधिक प्राप्त हुआ है तथा अन्य क्षेत्रों के कृषकों को लाभ कम प्राप्त हुआ है । इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों मे उपलब्ध सिचाई सुविधा के कारण क्षेत्रिक आय-असमानता मे वृद्धि हुई है । जो क्षेत्र पहले समृद्धशाली थे, वे हरित क्रान्ति के कारण अधिक समृद्धशाली हो गये है और पिछडे राज्य क्षेत्र अधिक पिछड गए है । इस प्रकार विभिन्न राज्यों एव क्षेत्रों के विकास में विषमता के कारण, उनकी समृद्धि मे अन्तर उत्पन्न हो गया है ।

(9) लघु कृषकों का विकास—स्वतन्त्रता के पश्चात् देश मे अपनाए गए विभिन्न विकास कार्यक्रमों से जो लाभ कृषक-वर्ग को प्राप्त हुआ है, उसमे विभिन्न जोतों के कृषकों को प्राप्त लाभ की राशि मे बहुत विषमता है । इस बात पर सभी एक मत हैं कि देश के लघु कृषकों को उनकी कुल सख्या के अनुपात मे विभिन्न विकास कार्यक्रमों से दीर्घ एव मध्यम जोत वाले कृषकों के समान लाभ प्राप्त नही हुआ है ।

देश के कृषकों को *विभिन्न श्रेणी मे विभक्त करने के लिए विभिन्न मापदण्ड* जैसे—जोत का आकार, तकनीकी ज्ञान का उपयोग स्तर, फार्म-सम्पत्ति की राशि, कृषि-व्यवसाय से प्राप्त आय की राशि आदि को आधार माना जाता रहा है, लेकिन उपर्युक्त पैमानो मे जोत का आकार मुख्य रूप से कृषकों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करने के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त किया जाता है । साधारणतः 5 एकड़ अथवा

2 हैक्टर से कम भूमि क्षेत्र के कृषकों को लघु कृषकों की श्रेणी में विभक्त किया जाता है। कृषि-गणना 1970–71 के अनुसार देश में लघु जोतों का प्रतिशत 69 7, 1980–81 के अनुसार 74.6 प्रतिशत एवं 1985–86 में 76.4 प्रतिशत है। लघु कृषकों की प्रतिशतता अधिक होते हुए भी उनके पास कुल भूमि का क्षेत्र मात्र 28 8 प्रतिशत ही है।

लघु-कृषकों की समस्याएँ—लघु-कृषकों की प्रमुख समस्याएँ निम्न-लिखित हैं—

(i) जोत का आकार कम होना एवं जोत के विभिन्न खण्डों के विभिन्न स्थानों पर होना।
(ii) आवश्यक मात्रा में उत्पादन-साधन समय पर उपलब्ध नहीं होना।
(iii) लघु जोत वाले कृषकों को कृषि की उन्नत विधियों की जानकारी नहीं होना।
(iv) उचित समय एवं कम ब्याज दर पर आवश्यक राशि में ऋण-सुविधा उपलब्ध नहीं होना।
(v) वर्ष में अधिक समय तक काम उपलब्ध नहीं होने से बेरोजगार रहना।
(vi) फार्म पर विक्रेय-अधिशेष की मात्रा के कम होने के कारण उत्पादों के विपणन पर प्रति इकाई विपणन-लागत अधिक होना।
(vii) कृषि कार्यों के लिए यान्त्रिक सुविधा का उपयोग नहीं हो पाने के कारण प्रति इकाई उत्पादन-लागत अधिक होना।

उपर्युक्त समस्याओं के कारण देश के लघु एवं दीर्घ जोत के कृषकों की आय में विषमता बढ़ती जा रही है। सरकार लघु कृषकों की स्थिति में सुधार करने के लिए प्रयत्नशील है। लघु कृषकों को राहत पहुँचाने के लिए सरकार ने निम्न योजनाएँ शुरू की है—

(i) सिंचाई की सुविधा उपलब्ध कराने के लिए छोटी-छोटी सिंचाई की योजनाएँ गाँवों में शुरू की गई हैं।
(ii) बेरोजगारी को दूर करने के लिए गाँवों में सरकार ने रोजगार उपलब्धि के लिए अनेक कार्यक्रम शुरू किए हैं।
(iii) लघु कृषकों को कम ब्याज की दर एवं उचित समय पर ऋण-सुविधा उपलब्ध कराने के लिए वाणिज्यिक बैंकों के द्वारा विशेष सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की गई है जैसे—रियायती ब्याज दर पर ऋण सेवा, भूमि को बन्धक रखे बिना ऋण प्रदान करना, उत्पादन के साथ-साथ उपभोग ऋण-सुविधा प्रदान करना, गाँवों में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की शाखाओं का विस्तार करना आदि।

(iv) सरकार ने लघु कृषको के विकास के लिए लघु-कृषक विकास सस्थाएँ स्थापित की हैं ।

लघु-कृषक विकास सस्थाएँ :

लघु-कृषक विकास सस्थाएँ देश मे उन गरीब कृषको की समस्याओ को दूर करने के लिए स्थापित की गई है, जिन्हे देश मे कार्यरत विकास योजनाओ से आवश्यक लाभ प्राप्त नही हुआ है । ये योजनाएँ श्री बी वेकटर्प्पैया की अध्यक्षता मे नियुक्त अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण जाँच समिति, 1969 के सुझावो के आधार पर शुरू की गई हैं । इस समिति ने अपनी रिपोर्ट मे सुझाव दिया था कि सहकारी समितियाँ, वाणिज्यिक बैंक तथा विकास की अन्य सस्थाओ ने लघु एव सीमान्त कृषको की समस्याओ के समाधान के लिए वर्तमान मे ध्यान नही दिया है । देश के विकास के लिए लघु कृषको का विकास भी अति आवश्यक है । भारत सरकार ने श्री बी वेकटर्प्पैया समिति की सिफारिश पर चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे 46 चुने हुए जिलो मे लघु कृषको के विकास के लिए विशेष योजनाएँ चालू की थी, जिन पर केन्द्रीय बजट मे 67 ७ करोड रुपये व्यय करने का प्रावधान था । इन सस्थाओ का प्रमुख उद्देश्य उन क्षेत्रो के 50,000 लघु कृषक परिवारो को लाभान्वित करना था ।

लघु-कृषक विकास सस्था के कार्य—लघु-कृषक विकास सस्था के प्रमुख कार्य निम्न है—

(i) लघु एव सीमान्त कृषको तथा खेतिहर मजदूरो की समस्याओ का सर्वेक्षण द्वारा पता लगाना एव उन्हे आवश्यक मात्रा मे रोजगार उपलब्ध कराने के लिए आर्थिक कार्यक्रम तैयार करना ।

(ii) विभिन्न ग्रामीण उद्योगो के विकास के लिए प्रयत्न करना ।

(iii) लघु कृषको को उत्पाद के सग्रहण एव विपणन की उचित सुविधा प्रदान करना ।

(iv) क्षेत्र-विशेष की क्षमताओ पर आधारित योजना निर्मित करना एव कार्यान्वित योजना का समय समय पर मूल्याकन करना ।

(v) लघु एव सीमान्त कृषको का सहकारी सस्थाओ, तकनीकी एव प्रशासकीय व्यक्तियो की सेवा उपलब्ध कराना एव उन्हे सहायता देने के लिए विभिन्न सस्थाओ को प्रेरित करना ।

(vi) लघु कृषको एव खेतिहर मजदूरो को ऋण आवश्यकताओ की पूर्ति करना ।

(vii) लघु कृषको को आवश्यक उत्पादन-साधन उपलब्ध कराने मे सहायता करना ।

(viii) लघु कृषकों की आय में वृद्धि करने के लिए पशु-पालन, कुक्कुट-पालन, भेड-पालन, आदि योजनाओं को अपनाने में कृषकों की सहायता करना।

लघु कृषक विकास संस्थाओं का प्रबन्ध—लघु-कृषक विकास संस्थाओं का अध्यक्ष क्षेत्र का सम्बन्धित विकास आयुक्त अथवा कृषि-उत्पादन आयुक्त अथवा जिलाधीश होता है। इन संस्थाओं में प्रबन्ध हेतु सरकार एवं स्वायत्त संस्थाओं के प्रतिनिधि जैसे—केन्द्रीय सरकार से दो, राज्य सरकार से तीन, भूमि विकास बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंक एवं विपणन समिति से एक-एक प्रतिनिधि, वाणिज्यिक बैंकों से आवश्यकतानुसार, जिला परिषद् का अध्यक्ष एवं राज्य सरकार की सलाह से नियुक्त दो गैर-सरकारी प्रतिनिधि होते हैं। परियोजना अधिकारी संस्था का सदस्य-सचिव होता है। लघु-कृषक विकास संस्थाएँ स्वायत्त संस्थाएँ होती हैं। समिति पंजीकरण अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत होती है। इन संस्थाओं के लिए आवश्यक वित्त केन्द्रीय सरकार से प्राप्त होता है। लघु-कृषक-विकास संस्था के अन्य कार्यकर्त्ता राज्य सरकार से प्रतिनियुक्ति पर लिए जाते हैं।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में प्रत्येक लघु-कृषक-विकास अभिकरण के लिए 1 5 करोड़ रुपये स्वीकार किये गये है। इस राशि में से 5 प्रतिशत प्रशासन पर और शेष 0.5 प्रतिशत प्रत्येक संस्था द्वारा सहायता के रूप में व्यय करने के लिए रखा गया था। यह सहायता कृषकों को उत्पादन-साधनों के क्रय करने, सहकारी समितियों को लघु कृषकों को ऋण देने में होने वाली जोखिम को पूरा करने तथा कृषि-सेवा केन्द्रों को यान्त्रिक सेवा उपलब्धि हेतु केन्द्र स्थापित करने के लिए रखी गई थी।

देश में मार्च, 1974 तक लघु कृषक विकास संस्थाएँ तथा 41 सीमान्त कृषक एवं श्रमिक संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं। राष्ट्रीय कृषि-आयोग ने 16 अगस्त, 1973 को लघु-कृषक विकास संस्थाओं तथा सीमान्त कृषक एवं कृषि श्रमिक संस्थाओं के पुनर्गठन कार्यक्रम के लिए सरकार को प्रस्तुत प्रतिवेदन में सुझाव दिया कि दोनों संस्थाओं के अन्तर को समाप्त करके, दोनों संस्थाएँ सम्मिलित रूप से एक ही क्षेत्र का चुनाव करें तथा उस क्षेत्र के लघु, सीमान्त एवं कृषि-श्रमिकों के विकास के लिए कार्य करें, जिससे लघु एवं सीमान्त कृषकों एवं कृषि-श्रमिक की दशा में सुधार हो सके। राष्ट्रीय कृषि-आयोग की सिफारिश पर वर्तमान में इनकी संख्या 168 हो गई है। लघु कृषक विकास संस्थाओं से मार्च, 1980 तक 79.65 कृषक परिवार लाभान्वित हो चुके है।

(10) शुष्क भूमि कृषि—भारत का कुल कृषि योग्य क्षेत्र का 63 प्रतिशत क्षेत्र शुष्क है। देश के 128 जिले वर्षा के बहुत कम अथवा मध्यम स्तर के होने तथा सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध न होने से शुष्क क्षेत्र की श्रेणी में आते हैं। इन जिलों की कुल भूमि 77 मिलियन हैक्टर है जो शुद्ध कृषित क्षेत्र का लगभग आधा भाग है। सूखे क्षेत्रों से भूमि की उत्पादकता बहुत कम प्राप्त होती है। शुष्क भूमि-क्षेत्र विशेष तौर से तमिलनाडु, कर्नाटक, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं

राजस्थान राज्य मे हैं। ऐसे क्षेत्रो मे मुख्य समस्या जल को सगृहीत करके बेकार जाने से रोकना एवं फसल उत्पादन के लिए कम जल की मात्रा चाहने वाली फसलो का चुनाव करना है।

कृषि मे नये तकनीकी ज्ञान विकास के अन्तर्गत शुष्क क्षेत्रो मे भी भूमि की प्रति इकाई क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन की मात्रा प्राप्त करने का लक्ष्य होता है। सूखे क्षेत्रो के विकास के लिए भारत सरकार द्वारा वर्ष 1970–71 मे "शुष्क भूमि कृषि-विकास" योजना शुरू की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत 12 राज्यो मे 24 परियोजनाएँ कार्य कर रही है। शुष्क क्षेत्रो मे विकास के लिए उपलब्ध तकनीकी ज्ञान के मुख्य अवयव निम्न हैं—

(i) भूमि प्रबन्ध—क्षारीय भूमि को ठीक करना एव उत्पादकता वृद्धि में सुधार के विभिन्न उपाय अपनाना।

(ii) वाटर हारवेस्टिग विधि अपनाना।

(iii) कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए शुष्क क्षेत्रो के उपयुक्त नई विधियो का आविष्कार करना, जैसे—उर्वरकों का पत्तियो पर छिडकाव आदि।

(iv) शुष्क क्षेत्रो मे उत्पादन के लिए शीघ्र पकने वाली एव कम जल चाहने वाली किस्मो का आविष्कार करना।

वर्तमान मे देश मे उत्पादित खाद्यान्नो का 42 प्रतिशत भाग शुष्क क्षेत्रों मे प्राप्त होता है। तिलहन, दलहन एव मोटे अनाज मुख्यतया शुष्क भूमि क्षेत्र पर उत्पादित किए जाते हैं।

(11) **एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम**—योजना आयोग ने छठी पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे पूर्व पिछले कार्यक्रमो की प्रगति की समीक्षा करने के उपरान्त महसूस किया कि देश मे व्याप्त गरीबी का उन्मूलन करने एव ग्रामीण विकास हेतु विकास खण्ड स्तर पर एक ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता है, जो उनके लिए उत्पादन साधन बनाते हुए उन्हे स्वत' रोजगार उपलब्ध करा सके। इसी उद्देश्य से एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme or I. R. D. P) अप्रैल, 1978 से देश के 2300 विकास खण्डो मे प्रारम्भ किया गया है। इस कार्यक्रम की प्रमुख विशेषता देश के ग्रामीण निर्धन वर्ग (मुख्यतया लघु एव सीमान्त कृषक, कृषि-श्रमिक व दस्तकार) को स्वत रोजगार प्राप्त करने मे सक्षम बनाना है तथा उनके पास आवश्यक उत्पादन साधनो के जुटाने से है, जिनका कि प्राय उनके पास अभाव होता है। उत्पादन के प्रमुख साधन–सिंचाई सुविधाओ का विकास, औजार, बैल, दुग्ध उत्पादन के लिए पशुपालन उपलब्ध कराना प्रमुख है। एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम का विस्तार करके 2 अक्टूबर, 1980 से इसके अन्तर्गत देश के सभी 5011 विकास खण्डो को सम्मिलित किया गया है। इस योजना मे सम्मिलित परिवारो को ऋण एव वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। वर्ष 1979–80 से इस कार्यक्रम पर होने वाली व्यय-राशि केन्द्र एव राज्य सरकारो मे 50 : 50 के अनुपात मे की जाती है।

सारणी 21 6 एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम की प्रगति प्रदर्शित करती है।

सारणी 21 6

एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम की प्रगति

वर्ष	लाभान्वित कुल परिवार (लाख)	परिवार संख्या अनुसूचित जाति एव जनजाति परिवारो की सख्या (लाख)	कुल व्यय राशि (करोड रु)	कुल स्वीकृत ऋण राशि (करोड रु)	कुल पूजी निवश राशि (करोड रु)
छठी पचवर्षीय योजना					
1980–81	27 3	7 8	158	289	447
1981–82	27 1	10 0	265	468	733
1982–83	34 6	14 0	360	714	1074
1983–84	36 8	15 4	406	774	1180
1984–85	39 8	17 4	472	857	1329
योग	165 60	64 60	1661	3102	4763
सातवी पचवर्षीय योजना					
1985–86	30 60	13 23	441	730	1171
1986–87	37 47	16 80	613	1015	1628
1987–88	42 47	18 99	728	1175	1903
1988–89	37 71	17 50	770	1239	2009
1989–90	33 52	15 45	764	1214	1978
योग	181 77	81 97	3316	5373	8689
वार्षिक योजना					
1990–91	28 98	14 46	810	1190	2000

स्रोत (i) The Seventh and Eighth Five Year Plans Planning Commission Government of India New Delhi
(ii) Inderjit Khanna, Rural Employment and Subsidiary Occupation A perspective for the year 2000 Taken from Yojana vol 35 (8), May 1991, p 15

एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लघु कृषको को सम्पत्ति साधनो के क्रय पर 25 प्रतिशत एव सीमान्त कृषक एव कृषि श्रमिक परिवार को 33 3 प्रतिशत वित्तीय सहायता दी जाती है, जो एक परिवार के लिए अधिकतम रु 3000 की होनी है। सूखा प्रवण क्षेत्रो एव जनजाति क्षेत्रो मे यह सहायता राशि 4000 रु एव 5000 रु की क्रमश होती है। इस प्रोग्राम मे उन काश्तकारो को वित्तीय सहायता दी जानी है जिनकी वार्षिक आय 4800 रु तक होती है।

वर्ष 1980 81 से 1990–91 के 11 वर्षों मे 376 35 लाख परिवार इस कार्यक्रम से लाभान्वित हो चुके है। इनमे से 161 03 लाख परिवार (42 79 प्रतिशत) अनुसूचित जाति एव जनजाति के थे। कार्यक्रम की नीति मे 30 प्रतिशत लाभान्वित परिवार अनुसूचित जाति एव जनजाति से होने चाहिए। वर्ष 1990–91 से इनकी सख्या मे वृद्धि करके 50 प्रतिशत कर दी गई है। लाभान्वित परिवारो को बैको से 9665 करोड रुपये का ऋण स्वीकृत किया गया, 5787 करोड रुपयो की वित्तीय सहायता प्रदान की गई। इस प्रकार लाभान्वित परिवारो ने 15,452 करोड रुपयो का कुल पूंजी निवेश किया है। इस कार्यक्रम के प्रमुख अवयव स्वत रोजगार के लिए ग्रामीण युवको का प्रशिक्षण (Trysem) एव ग्रामीण क्षेत्रो के स्त्री एव बच्चो का विकास Dwcra) है।

□□□

अध्याय 22

कृषि-बीमा

कृषि विभिन्न प्रकार से प्राकृतिक प्रकोपो जैसे—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओलावृष्टि, अग्नि तूफान, बीमारियो एव कीडो आदि से प्रभावित होती रहती है। इन प्राकृतिक आपदाओ से कृषको को होने वाली सम्भावित हानि से एक सीमा तक रक्षा करने की विधि को कृषि बीमा कहते हैं। जिस प्रकार जीवन बीमा की एक साधारण-सी किश्त की राशि आम आदमी के जीवन को अधिक सुरक्षित बनाती है, ठीक उसी तरह कृषि-बीमा के तहत कृषको द्वारा भुगतान की जाने वाली बीमा की प्रीमियम राशि प्राकृतिक आपदाओ के कारण उसकी फसल के चौपट हो जाने अथवा पशुओ के मर जाने से उत्पन्न भारी ऋण ग्रस्तता एव बर्बादी से रक्षा करनी है।

कृषि-बीमा दो प्रकार का होता है

(1) फसल-बीमा (Crop Insurance)

(2) पशु बीमा (Livestock Insurance)

फसल-बीमा

फसल-बीमा कृषको को प्राकृतिक प्रकोपो के कारण फसलो को होने वाली हानि से रक्षा के लिए प्रीमियम की राशि का भुगतान करके जोखिम को बीमा कम्पनी पर स्थानान्तरित करने की विधि है। फसलो का बीमा कराने के उपरान्त प्राकृतिक प्रकोपो से यदि फसलो को किसी प्रकार की क्षति होती है, तो उसकी पूर्ति कृषक को बीमा कम्पनी करती है। बीमा कम्पनी द्वारा बीमा की प्रीमियम की राशि का निर्धारण क्षेत्र मे होने वाले प्राकृतिक प्रकोपो की सम्भावना एव फसलो की उत्पादकता के आधार पर किया जाता है।

भारतीय कृषि-उत्पादन मे प्राकृतिक आपदाओ का प्रकोप निरन्तर बना रहता है, जिसके कारण कृषि-व्यवसाय अनिश्चितता के वातावरण से ग्रस्त रहता है। पिछले वर्षों के कृषि-उत्पादन के आँकडो के अवलोकन से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि मे एक चार वर्षीय चक्र पाया जाता है जिसमे औसतन दो वर्ष बहुत अच्छे उत्पादन के, एक वर्ष औसत उत्पादन का एव एक वर्ष कम उत्पादन वाला होता है। कम उत्पादन वाले वर्ष मे कृषको को अनेक बार उत्पादन-साधनो पर की गई लागत

राशि भी प्राप्त नहीं होती है प्राकृतिक आपदा वाले वर्ष मे घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अगले वर्ष के लिए उत्पादन-साधनो के क्रय के लिए आवश्यक वित्तीय राशि कृषक साधारणतया गैर-संस्थागत ऋणदात्री संस्थाओं से प्राप्त करते हैं। ऋणदात्री संस्थाएँ मजबूर कृषको से अधिक ब्याज की दर वसूल करती है और होने वाली पैदावार को उनके माध्यम से विक्रय करने को प्रतिबन्ध कर देती है। इस प्रकार कृषक ऋणग्रस्तता के शिकार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे फसल बीमा आवश्यक है। फसल-बीमा का महत्त्व लघु एव सीमान्त कृषको के लिए अधिक होता है, क्योंकि साधारण उत्पादन वाले वर्ष मे भी उनके यहाँ बचत की मात्रा नगण्य होती है। फसल-बीमा पद्धति के कारण दूसरे देशों मे जहाँ जनसंख्या का दबाव भारत की अपेक्षा कई गुना अधिक है, कृषि उत्पादकता का स्तर अधिक पाया जाता है।

फसल-बीमा से लाभ—फसल-बीमा के लागू होने पर कृषको को निम्न लाभ प्राप्त होना अवश्यम्भावी है—

(1) प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप कृषको की आर्थिक स्थिति कमजोर होने से बच जाती है। उत्पादन कम होने से हुई हानि की पूर्ति बीमा कम्पनी से प्राप्त क्षति-राशि से हो जाती है।

(2) फसल-बीमा कृषको को नये तकनीकी ज्ञान के उपयोग के लिए प्रेरणा देती है और उनमे जोखिम-वहन करने की शक्ति बढाती है।

(3) फसल-बीमा अधिक हानि की सम्भावना वाली भूमि पर भी कृषि करने का साहस कृषको को देती है। इस प्रकार देश मे कृषित क्षेत्र-फल मे वृद्धि होती है, जो अन्यथा सम्भव नहीं है।

(4) फसल-बीमा कृषको को उत्पादन नहीं होने पर भी एक निश्चित राशि क्षतिपूर्ति के रूप म प्रदान करती है। इससे कृषको की आमदनी मे स्थिरता आती है एव परोक्ष रूप मे कृषि-उत्पादन मे सुधार होता है।

(5) विषम परिस्थितियो मे भी फसल-बीमा कृषको के मनोबल को ऊँचा रखती है, जिससे वे जिम्मेदारी एव साहस के साथ फार्म पर निर्णय ले पाते हैं।

(6) फसल-बीमा पद्धति के होने पर आपदाओं व दुर्घटनाओं वाले वर्ष मे भी कृषक ऋणदात्री संस्थाओं से प्राप्त ऋण की किश्त का समय पर भुगतान करने मे सक्षम होते हैं।

(7) फसल-बीमा कृषको की ऋणग्रस्तता की समस्या को कम करने मे सहायक होता है।

(8) फसल-बीमा कृषको मे बचत की प्रवृत्ति डालने मे सहायक होता है जिससे कृषि क्षेत्र मे पूंजी-निवेश की राशि एव कृषि क्षेत्र मे उत्पादन वृद्धि की दर मे बढोत्तरी होती है।

(9) फसल-बीमा के होने पर सरकार द्वारा प्राकृतिक आपदाओ वाले वर्ष मे राहत कार्यों पर किये जाने वाले व्यय की राशि मे भारी कटौती होती है, जिसम सरकार उस धन का अन्य विकास कार्यक्रमों मे व्यय करके अर्थव्यवस्था को विकास की ओर अग्रसर करने मे सक्षम होती है।

भारत मे फसल बीमा योजना का कार्यान्वयन—भारत मे फसल एव पशु-बीमा योजना लागू करने का सुझाव सर्वप्रथम वर्ष 1939 मे राष्ट्रीय नियोजन समिति द्वारा बनाई गई भूमि-नीति, कृषि-श्रम एव बीमा उप-समिति ने दिया था। फसल-बीमा योजना लागू करने का प्रथम प्रयोग मध्यप्रदेश के देवास ग्राम निगम द्वारा अनिवार्य रूप मे किया गया था, जो कुछ माह उपरान्त अनेक कारणो से स्थगित कर दिया गया। वर्ष 1946 मे श्री नारायणस्वामी नायडू की अध्यक्षता मे गठित ग्रामीण ऋण जाँच समिति द्वारा फसल-बीमा को अमेरिका की फेडरल फसल-बीमा पद्धति पर चलाये जाने का सुझाव दिया, जिससे कृषको की आय मे स्थिरता बनी रहे। तत्पश्चात् सहकारी नियोजन समिति ने राज्य स्तर पर फसल एव पशु बीमा को प्रयोगात्मक रूप से सचालित करने की सिफारिश की, जिसे 1947 मे सहकारी समितियो के रजिस्ट्रारो के सम्मेलन मे अनुमोदित किया गया।

इनके परिणामस्वरूप कृषि एव खाद्य मन्त्रालय ने वर्ष 1948 मे डॉ जी. एस प्रियोल्कर की नियुक्ति चुने हुए क्षेत्रो मे फसल एवं पशु-बीमा लागू करने में आने वाली समस्याओं के अध्ययन हेतु की गई। डॉ प्रियोल्कर ने चयनित फसलो (तमिलनाडु मे धान एव कपास, महाराष्ट्र मे कपास, मध्यप्रदेश मे गेहूँ एव चावल तथा उत्तरप्रदेश म चावल, गेहूँ एव गन्ना) मे फसल-बीमा की एक अग्रणी योजना के कार्यान्वियन का सुझाव दिया। इस सुझाव पर विशेषज्ञो की सहमति ली गई और उन्होने फसल-बीमा का 50 प्रतिशत व्यय केन्द्रीय सरकार द्वारा वहन किए जाने की सिफारिश की। इस शर्त पर राज्य सरकारो ने फसल-बीमा योजना लागू करने मे रुचि नही ली जिससे फसल-बीमा योजना कार्यान्वित नही हो पाई। बीमा सलाहकार समिति ने शीघ्र ही फसल-बीमा योजना प्रारम्भ करने की सिफारिश की थी। वर्ष 1947 मे दिल्ली मे हुए एशियन क्षेत्रिक सम्मेलन ने सिफारिश की कि सरकार को पूरे देश मे अथवा उन क्षेत्रो मे जहाँ फसल बीमा योजना लागू करने की सम्भावना अच्छी है, वहाँ फसल-बीमा शीघ्र लागू करने का निर्णय लेना चाहिए। खाद्य एव कृषि सगठन सस्था की कार्यकारी समिति ने भी अपनी बैंकाक बैठक, 1956 मे फसल-बीमा योजना को कार्यान्वित करने का सुझाव दिया था। तृतीय

पंचवर्षीय योजना के कृषि-कार्यकारी दल ने भी फसल एव पशु-बीमा की समस्याओ पर विचार किया था। इन सबके बावजूद इसके कार्यान्वियन के सम्बन्ध मे देश में प्रगति नहीं हो सकी।

वर्ष 1960 से 1965 के काल मे प्राकृतिक विपदाओ के कारण फसलो का निरन्तर उत्पादन कम होने के फलस्वरूप फसल-बीमा का महत्त्व स्पष्ट हो पाया। वर्ष 1966 मे केन्द्रीय खाद्य एव कृषि मन्त्रालय मे फसल-बीमा हेतु एक बिल तैयार करने की घोषणा की, जिसे 1968 मे अनिवार्य फसल-बीमा की अग्रणी योजना के रूप मे राज्य सरकारो को भिजवाया गया और उनसे कहा गया कि वे अपने राज्यो में उन क्षेत्रो मे उन फसलो मे फसल-बीमा योजना लागू करें, जो प्राकृतिक विपदाओ मे अधिक ग्रस्त होती है। चूँकि कृषि राज्य सरकार का विषय है, अत केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रस्तावित बिल पर राज्य सरकारो से सुझाव आमन्त्रित किए गए। प्राप्त सुझावो से यह स्पष्ट था कि किसी भी राज्य सरकार की फसल एव पशु बीमा योजना को लागू करने में रुचि नही है। केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रस्तावित फसल एव पशु-बीमा योजना बिल तथा स्कीम की पुन जाँच हेतु जुलाई, 1970 म डॉ० धर्मनारायण की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति न फसल-बीमा योजना के आर्थिक एव प्रशासनिक पहलुओं पर अपनी राय देने के साथ-साथ अनिवार्य फसल-बीमा योजना कानूनन लागू करन पर आने वाली प्रमुख कठिनाइयो (राज्य सरकारो की अरुचि तथा प्रीमियम राशि का निर्धारण) के फलस्वरूप इसे स्वेच्छा के आधार पर प्रयोग हेतु जनवरी, 1971 मे सरकार को अपन प्रतिवेदन मे आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किये। जुलाई, 1971 मे केन्द्रीय कृषि मन्त्री द्वारा फसल-बीमा योजना पर लोकसभा में हुई बहस के दौरान सदस्यों को विभिन्न राज्यो की प्रतिक्रिया से अवगत कराया गया। साथ ही फसल बीमा बिल मे से फल, फूल एव सब्जियो की फसलो को पृथक् कर दिया गया क्योकि इनमे अनिश्चितता अन्य कृषि-फसलो की अपेक्षा अधिक होती है। राष्ट्रीय कृषि आयोग न भी फसल एव पशु-बीमा योजना के कार्यान्वियन की सिफारिश अपने प्रतिवेदन मे की है।

उपर्युक्त तथ्यो के अवलोकन से स्पष्ट है कि भारत मे कृषि क्षेत्र मे होने वाली अनिश्चितता के कारण फसल एव पशु-बीमा के लिए सभी सहमत हैं, लेकिन इसके कार्यान्वियन मे आने वाली कठिनाइयों के कारण आज भी यह योजना विभिन्न फसलो के लिए प्रायोगिक स्तर पर ही अनेक राज्यो मे लागू है।

फसल-बीमा योजना के कार्यान्वियन से प्राप्त परिणाम

फसल-बीमा योजना के कार्यान्वियन के लिए अनेक प्रयोग किए गए हैं। जनवरी, 1973 के पूर्व एक फसल-बीमा योजना गुजरात राज्य मे जीवन बीमा निगम द्वारा कपास की सकर किस्म-4 के लिए चलाई गई थी। वर्ष 1974–75 मे

भारतीय सामान्य बीमा निगम (General Iusurance Corporation of India) ने 10 प्रायोगिक फसल बीमा योजनाएँ आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र एव तमिलनाडु राज्यो मे कपास, गेहूँ व मूँगफली की फसलो के लिए प्रारम्भ की थी। इन योजनाओ मे सभी प्रकार की प्राकृतिक आपदाओ (चोरी एव युद्ध के कारण होने वाली जोखिमो के अतिरिक्त) से सुरक्षा की व्यवस्था थी। भारतीय सामान्य बीमा निगम ने फसल-बीमा की उपर्युक्त योजनाएँ राज्यो मे अनेक सस्थाओ जैसे—भारतीय उर्वरक निगम, राज्य उर्वरक निगम आदि के सहयोग से कार्यान्वित की थी। भारतीय सामान्य बीमा निगम को वर्ष 1973 से 1976 के काल मे कार्यान्वित प्रायोगिक फसल-बीमा योजनाओ से मात्र 3 38 लाख रुपये की प्रीमियम राशि प्राप्त हुई, जबकि निगम द्वारा इस काल मे 36 06 लाख रुपये की क्षति-पूर्ति राशि का मुगतान किया गया। अत योजना से प्राप्त परिणाम उत्साहवर्द्धक नही है।

भारतीय सामान्य बीमा निगम ने राज्य सरकारो के सहयोग से पायलट फसल-बीमा योजना (Pilot Crop Insurance Scheme) वर्ष 1979 से परिचालित की है। यह योजना वर्ष 1982–83 की खरीफ मौसम मे 9 राज्यो में—आन्ध्रप्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उडीसा, तमिलनाडु, पश्चिम बगाल और मध्यप्रदेश—कार्यान्वित थी। सामान्य बीमा निगम ने इन राज्यो मे खरीफ 1982–83 के वर्ष मे 4 करोड रुपये की बीमा अभिरक्षा धान, ज्वार, मूँगफली कपास और मक्का के उत्पादक कृषको को प्रदान की। बीमे की प्रति किसान अधिकतम सीमा 2,000 रुपये प्रतिवर्ष से बढाकर 5,000 रुपये व कम जोखिम वाले क्षेत्रो के अतिरिक्त मध्यम जोखिम वाले क्षेत्रो को सम्मिलित करते हुए, योजना में सशोधन किया, ताकि योजना किसानो मे अधिक लोकप्रिय हो सके। सम्पूर्ण देश के लिए बीमाकृत राशि 6.5 करोड रुपये से बढाकर 12 करोड रुपये प्रतिवर्ष कर दी गई। वर्ष 1981–82 तक समाप्त तीन वर्षों के दौरान प्राप्त प्रीमियम राशि 20 लाख रु० थी जबकि इस काल मे निपटाए गए दावो की राशि 16 लाख रुपये थी।[1] अत यह बीमा योजना अभी तक सीमित रूप मे ही सफल रही है।

कृषको को विभिन्न प्रतिकूल अवस्थाओ मे होने वाले नुकसान एव सस्थागत अभिकरणो से प्राप्त ऋण का समय पर मुगतान करने की सामर्थ्यता बनाये रखने की दृष्टि से खरीफ 1985 से भारत सरकार ने सम्पूर्ण देश के स्तर पर एक व्यापक फसल बीमा योजना (Comprehensive Crop Insurance Scheme) बनाई है। यह व्यापक फसल बीमा योजना भारतीय सामान्य बीमा निगम

1. Reserve Bank of India—Report on the Trend and Progress of Banking in India—1982-83, 1983, P, 157.

द्वारा राज्य सरकारो के सहयोग से कार्यान्वित की जावेगी। प्रस्तावित योजना सहकारी सस्थाग्रो, वाणिज्यिक बैंको एव क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको मे प्राप्त ऋण से सम्बन्धित होगी। प्रारम्भ मे यह योजना चावल, गेहूँ, मोटे अनाज, तिलहन एव दालो की फसलो के लिए बीमा सुविधा प्रदान करेगी। बीमा लागत की राशि किए गए बीमा राशि का चावल, गेहूँ एव मोटे अनाज मे दो प्रतिशत एव तिलहन एव दालों मे एक प्रतिशत होगी। प्रति कृषक-बीमा की राशि उपर्युक्त फसलो के लिए प्राप्त सस्थागत फसल ऋण-राशि का 150 प्रतिशत होगी। यह बीमा योजना देश के उन सभी क्षेत्रो मे क्रियान्वित की जावेगी, जिनके पिछले 5 वर्ष के फसल उत्पादकता के आँकडे उपलब्ध है। कार्यान्वयन की दृष्टि से योजना खण्ड-स्तर पर लागू की जावेगी। इस फसल बीमा योजना मे यदि बीमा किए गए क्षेत्र मे कृषको को प्रति हैक्टर उत्पादन, निर्धारित उत्पादकता स्तर से कम प्राप्त होता है तो उस क्षेत्र के सभी कृषको को हुई हानि की राशि का समान दर से भुगतान किया जावेगा। अतः इस योजना मे सभी कृषको के उत्पादन के आँकडे प्राप्त करने की आवश्यकता नही होती है।

फसल-बीमा योजना का लाभ लघु एव सीमान्त कृषको तक पहुँचाने के लिए उनके द्वारा देय प्रीमियम राशि का 50 प्रतिशत सहायता के रूप मे राज्य एव केन्द्र सरकार द्वारा समान अनुपात मे दिया जावेगा, जिससे यह वर्ग भी फसल-बीमा योजना मे भाग लेने के लिए उत्सुक होवे। प्रीमियम की राशि ऋण दात्री सस्थाओ द्वारा ऋण स्वीकृत करते समय ही वसूल कर ली जावेगी। ऋणदात्री सस्था प्राप्त प्रीमियम राशि को पूर्ण विवरण सहित भारतीय सामान्य बीमा निगम को भेजेगा एव भारतीय सामान्य बीमा निगम एक विस्तृत पालिसी ऋणदात्री सस्था के नाम से जारी करेगा।

भारत सरकार ने राज्य सरकारो से प्राप्त हुए सुझावो को ध्यान मे रखकर इस व्यापक फसल-बीमा योजना को किसानो के लिए अधिक आकर्षक और लाभकारी बनाने की दृष्टि से इसमे निम्नाकित सशोधन किए हैं[2]—

(1) उपज मे होने वाली घट-बढ के गुणाक के आधार पर गेहूँ एव धान के लिए क्षतिपूरक सीमाओ की तीन दरें—80 प्रतिशत, 85 प्रतिशत एव 90 प्रतिशत होगी। प्रारम्भ की उपजो का निर्धारण पिछले तीन वर्षों की उपज के परिवर्तनशील औसत के आधार पर किया जायेगा। गेहूँ एव धान की क्षतिपूरक सीमाओ की इन विभेदक दरों को वर्ष 1986–87 की रबी की फसल से लागू किया गया है। अत उपज म घट-बढ का गुणाक जहाँ कम है, वहा क्षतिपूरक सीमा ज्यादा होगी

2. नेशनल बैंक न्यूज रिव्यू, खण्ड 3, सख्या 7, सितम्बर 1987, पृष्ठ 11।

और जहाँ उपज में घट बढ़ का गुणाक ज्यादा है, वहाँ क्षतिपूरक सीमा कम होगी। उपज मे घट-बढ़ का गुणाक और विभिन्न इकाई क्षेत्रो की प्रारम्भिक उपज का निर्धारण भारतीय कृषि सांख्यिकीय अनुसन्धान संस्थान, नई दिल्ली द्वारा किया जावेगा।

(ii) राज्यो की सरकारो को योजना के कार्यान्वयन के लिए किसी जिले/जिलो को चुनने का विकल्प होगा और इस प्रकार चुने हुए जिले/जिलो को तीन वर्ष की अवधि के लिए योजना से पृथक् नही किया जा सकेगा।
किसी भी वित्तीय संस्था अर्थात् सहकारी बैंक, वाणिज्यिक बैंक अथवा क्षेत्रीय-ग्रामीण बैंक से योजना मे सम्मिलित फसलो के लिए ऋण प्राप्त करने वाले सभी ऋणकर्ता किसानो को इसमे अनिवार्य रूप से सम्मिलित करना होगा।

(iii) योजना की कार्यान्वयन इकाई खण्ड-स्तर पर होगी तथा इससे छोटे स्तर की इकाई तक पहुँचने के लिए भी प्रयत्न किए जाने चाहिए। राज्य सरकार अपनी "फसल कटिंग मशीनरी" को मजबूत बनाकर इस योजना को ग्राम-स्तर अथवा गाँवो के छोटे समूह के स्तर तक लागू कर सकती है।

(iv) जिन क्षेत्रो मे विशेष-कृषि परियोजनाएँ, जैसे—राष्ट्रीय तिलहन विकास परियोजना, विशेष चावल उत्पादन कार्यक्रम चल रहे हैं, यथासम्भव ऐसे जिलो को इस व्यापक फसल-बीमा योजना मे सम्मिलित किया जाना चाहिए।

व्यापक फसल-बीमा योजना की प्रगति :

व्यापक फसल-बीमा योजना अप्रैल, 1988 (खरीफ 1985) मे प्रारम्भ की गई। इस योजना को अप्रैल, 1988 मे कुछ समय के लिए निलम्बित कर दिया गया था और सितम्बर, 1988 मे पुनः प्रारम्भ किया गया। पुनः प्रारम्भ करने मे दो मुख्य संशोधन किए गये —

(अ) प्रति कृषक बीमा की अधिकतम राशि 10,000 रुपये होगी, चाहे कृषक ने कितनी ही राशि मे ऋण प्राप्त किया हो।

(ब) बीमा की राशि प्राप्त ऋण-राशि का 100 प्रतिशत होगी जबकि पूर्व मे यह राशि 150 प्रतिशत थी।

वर्ष 1985–86 से 1990–91 की अवधि मे इस बीमा योजना की प्रगति के विभिन्न पहलू सारणी 22.1 मे प्रस्तुत हैं—

सारणी 22 1

व्यापक फसल बीमा योजना की प्रगति

मौसम/वर्ष	योजना मे सम्मिलित राज्य एव केन्द्र शासित प्रदेश	योजना मे सम्मिलित कृषक (लाख)	योजना मे सम्मिलित क्षेत्रफल (लाख हेक्टर)	किए गए बीमा बीमें की राशि (करोड रुपये)	किश्त से प्राप्त राशि (करोड रुपये)	बीमा की क्षतिपूर्ति राशि भुगतान की गई (करोड़ रुपये)
खरीफ 1985	11+2	26 36	53 74	542 73	9 41	84 12
रबी 1986	14+2	12 12	23 18	238 41	4 47	3 11
खरीफ 1986	15+3	39 55	77 40	856 20	14 99	169 16
रबी 1987	15+2	11 28	20 99	242 37	4 51	4 58
खरीफ 1987	18+3	46 32	84 10	1140 68	19 10	277 24
रबी 1988	17+2	21 28	32 36	475 44	8.84	12 07
खरीफ 1988	13+0	29 64	52 35	547 88	8 82	29 18
रबी 1989	9+0	8 73	10 12	164 10	3 12	3 87
खरीफ 1989	15+2	42 76	66 45	873 89	14 48	34 36
रबी 1990	16+1	6 59	9 58	151 56	2 76	3 06
खरीफ 1990	17+1	19 42	34 09	515 15	7 66	NA
कुल					98 16	620 75

स्रोत Reserve Bank of India, Report on Currency and Finance, 1990-91 (Vol I) p 211

(Taken from Economic and Political Weekly, September, 26, 1992, P A-124

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि व्यापक फसल बीमा योजना की प्रगति सम्मिलित कृषको की सख्या एव सम्मिलित क्षेत्रफल की दृष्टि से अच्छी रही है। सर्वाधिक कृषक एव कृषि क्षेत्रफल खरीफ 1987 मे इस योजना म सम्मिलित किया गया। पिछले 5½ वर्षों मे इस योजना क तहत 98 16 करोड रुपये बीमा किश्त राशि से प्राप्त हुए तथा 620 75 करोड रुपये बीमा क्षति पूर्ति राशि भुगतान की

गई। वर्ष 1986-87 एव 1987 88 मे देश के अधिकाश भागों मे सूखा एवं बाढ की स्थिति होने के कारण खरीफ 1987 मे ही 277 करोड रुपये बीमा क्षति पूर्ति के भुगतान किए गए। स्पष्ट है कि कृषि मे जोखिम अधिक होने से बीमा क्षति पूर्ति राशि का भुगतान प्राप्त बीमा किश्त राशि मे कई गुना अधिक करना पड़ा है। अत. व्यापक फसल बीमा योजना की प्रगति भी उत्साहवर्द्धक नही है।

फसल-बीमा योजना के कार्यान्वयन मे आने वाली कठिनाइयां—फसल-बीमा योजना के कार्यान्वयन मे प्रमुख रूप स निम्न कठिनाइयां आती हैं—

1. विभिन्न फसलो के उत्पादन मे होने वाली क्षति की मात्रा एव उसकी आवृत्ति के सही क्षेत्रवार आंकडे उपलब्ध नही होने के कारण प्रीमियम की सही राशि के निर्धारण का कार्य कठिन होता है।
2. देश मे लघु एव सीमान्त कृषको की अधिकता, जोत का छोटे-छोटे खण्डो मे विभक्त होना तथा विभिन्न कृषको द्वारा भिन्न-भिन्न फसल-चक्र लागू किये जाने के कारण भी बीमा-किश्त की सही राशि के निर्धारण का कार्य कठिन होता है।
3. भू-स्वामित्व के सही अभिलेख प्राप्त नही होना भी फसल-बीमा योजना लागू करने मे प्रमुख समस्या है।
4. सरकार के पास फसल-बीमा योजना को कार्यान्वित करने के लिए दक्ष कार्यकर्त्ताओ का अभाव होना।
5. अशिक्षा एव अज्ञानता के कारण कृषको द्वारा फसल-बीमा के महत्त्व को समझ नही पाना।
6. कृषको को कृषि-व्यवसाय से बचत की राशि कम प्राप्त होना तथा बीमा की किश्त राशि को उनके द्वारा अतिरिक्त-कर के रूप मे मानना।
7. सरकार के पास बीमा कम्पनियो को प्रारम्भ मे फसल एवं पशु-बीमा लागू करने से होने वाली क्षति को पूरा करने के लिए धन की कमी का होना।
8. बीमा कम्पनियो द्वारा फसल-बीमा का लागू करने से उत्पन्न परेशानियो के कारण इसका किसी-न-किसी आधार पर विरोध करना।

फसल-बीमा योजना के लिए राष्ट्रीय कृषि-आयोग के सुझाव :

राष्ट्रीय-कृषि-आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है कि भविष्य मे फसल-बीमा योजना का विस्तार वर्तमान मे कार्यान्वित अग्रणी योजनाओ के परिणामों पर निर्भर करेगा। फसल-बीमा योजना भारतीय कृषि के लिए आवश्यक ही नही अपितु

अपरिहार्य है। फसल-बीमा योजना के भावी विस्तार के लिए राष्ट्रीय-कृषि-आयोग ने सुझाव दिए हैं—

1. पायलट योजनाएँ (Pilot Schemes) सभी कृषि-वस्तुओं एवं प्रमुख खाद्यान्नों के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों में शुरू की जानी चाहिए, जिससे सभी क्षेत्रों एवं विभिन्न फसलों में फसल बीमा के कार्यान्वियन की पूरी तस्वीर सामने आ सके।
2. देश के उन क्षेत्रों में जहाँ अनिश्चितता की अधिकता के कारण कृषक बीमा-किश्त (प्रीमियम) का भुगतान करने में समर्थ नहीं हैं, वहाँ किश्त का निर्धारण न्यूनतम स्तर पर किया जाना चाहिये। यह समाज कल्याण कार्यक्रम के अन्तर्गत किया जा सकता है।
3. पूंजी सम्पदा की बीमा योजना लागू किये जाने की सिफारिश भी आयोग ने की है। आयोग का मानना है कि पूँजी-सम्पदा का बीमा न्यूनतम किश्त की राशि पर किया जा सकता है। आयोग के मतानुसार सम्पदा-बीमा का महत्त्व फसल-बीमा की अपेक्षा कृषकों के लिए अधिक है।

पशु बीमा

भारतीय कृषि में पशु-बीमा भी फसल-बीमा के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व लघु एवं सीमान्त कृषकों के लिए फसल-बीमा की अपेक्षा अधिक होता है। भारतीय कृषि में पशु रीढ़ की हड्डी के समान माने जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक कृषि-कार्य के करने में पशु प्रमुख रूप से काम में लिए जाते हैं। अतः पशुओं के प्राकृतिक प्रकोपों के फलस्वरूप मरने के कारण होने वाली जोखिम का बीमा कृषकों के लिए आवश्यक होता है।

फसल-बीमा के समान पशु-बीमा का इतिहास भी पुराना है। स्वतन्त्रता से पूर्व देश में अनेक पशु-बीमा समितियाँ थी, जो सहकारिता के आधार पर कार्यरत थी। धीरे-धीरे ये समितियाँ समाप्त हो गई। श्री जी०सी० प्रियोल्कर ने 1948 में फसल-बीमा के साथ-साथ पशु-बीमा योजना भी बनाई थी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में पशु-बीमा योजना को अग्रगामी योजनाएँ शुरू करने के सुझाव भी दिए गए थे।

पशु-बीमा योजना के कार्यान्वियन में भी अनेक परेशानियाँ होने के कारण इसे लागू नहीं किया जा सका। पशु-बीमा में होने वाली परेशानियाँ फसल-बीमा में होने वाली परेशानियों से भिन्न होती हैं। भारत में पशु बीमा योजना के कार्यान्वियन में प्रमुख कठिनाइयाँ अग्रलिखित हैं—

(1) भारत मे पशु अधिक सख्या मे पाले जाते हैं। पाले जाने वाले पशुओ मे अधिकाश पशु आर्थिक नही होते हैं। कम वर्षा वाले क्षेत्रो मे पशुपालक एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे पशुओ को चारे की तलाश मे ले जाते हैं। अत. सभी पशुओ का बीमा करवाना सम्भव नही होता है।

(2) पशुओ मे होने वाली मृत्यु-दर (Mortality Rate) के सही आँकडे उपलब्ध नही हैं। यह सभी मानते है कि पशुओ मे मृत्यु-दर अधिक होती है। अत इस धारणा के कारण बीमा की किश्त राशि अधिक होती है।

(3) पशुओ का बीमा प्राकृतिक कारणो से हुई मौत के लिए किया जाता है। अनेक बार पशु की मृत्यु पशुपालक की लापरवाही के कारण होती है, जिसका पता लगाने का कार्य कठिन होता है।

(4) पशु-बीमा के कार्यान्वियन मे अन्य परेशानी मृतक पशु के पहचानने की होती है। क्या मृतक पशु वही है जो बीमा कम्पनी से बीमा हेतु पजीकृत किया गया है ?

(5) पशुओं का बीमा किसी निर्धारित मूल्य के लिये किया जाता है। पशुओ के मूल्य मे उम्र के साथ साथ निरन्तर कमी तथा वृद्धि होती रहती है।

(6) देश मे पशु चिकित्सा की व्यवस्था भी पूर्ण रूप से विकसित नही होने के कारण अनेक बार पशुओ मे सक्रामक बीमारी के कारण काफी पशुओ की मृत्यु चिकित्सा सुविधा बाहर के जुटाने से पूर्व ही हो जाती है। अत. बीमा कम्पनी को बहुत हानि उठानी पडती है।

(7) पशु-बीमा योजना के कार्यान्वियन मे प्रबन्ध की लागत अधिक आती है, क्योंकि बीमाशुदा पशुओ का निरन्तर निरीक्षण आवश्यक होता है।

पशु बीमा के क्षेत्र मे उपर्युक्त परेशानियो के होते हुए भी, यह आवश्यक है कि देश मे कृषको को पशुओ की असामयिक मृत्यु से होने वाली जोखिम वहन करने की शक्ति उत्पन्न करने हेतु पशुओ के बीमा की व्यवस्था लागू की जाए। अनेक कृषकों के यहाँ पर बैल के मरने पर दूसरा बैल खरीदने के लिए ऋण उपलब्धि की व्यवस्था न होने से कृषि-व्यवसाय या तो चौपट हो जाता है, अथवा गैर सस्थागत ऋणदात्री सस्था से ऋण लेने को कृषक मजबूर होते हैं, जिसके फलस्वरूप वे ऋणग्रस्तता के

स्थायी शिकार हो जाते हैं। पशु-बीमा के महत्त्व को मद्देनजर रखते हुए इसकी पायलट योजना लागू करते समय निम्न सुझाव ध्यान में रखने आवश्यक हैं—

(1) पशु का बीमा पूरी कीमत पर नहीं करके उसकी दो-तिहाई कीमत का ही किया जाना चाहिए, जिससे पशुपालक पशु की देखभाल में किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरते।

(2) पशु-बीमा सभी पशुओं का नहीं किया जाकर कुछ चुने हुए अच्छे पशुओं का ही किया जाना चाहिए।

(3) समय पर पशु-चिकित्सा की व्यवस्था एवं बीमाशुदा पशुओं की निरन्तर देखभाल की जानी चाहिए।

पशु बीमा योजना की प्रगति :

वर्ष 1974 में जब पशु-बीमा योजना प्रारम्भ की गई थी, मात्र 29,570 पशु ही बीमाशुदा थे। बीमाशुदा पशुओं की संख्या 1983 में 1 06 करोड़ हो गई। अत पिछले दशक में इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है। वर्तमान में संकर नस्ल के जानवरों के लिए पशु-बीमा सुविधा सभी स्थानों पर उपलब्ध है।

अध्याय 23

भारत में सहकारिता

सहकारिता आर्थिक संगठन का एक रूप है। सहकारी आन्दोलन भारत में नया नहीं है। भारत के ग्रामीण समुदायों का संगठन—संयुक्त परिवार प्रणाली सहकारिता के सिद्धान्तों पर ही आधारित है। पश्चिमी सभ्यता के प्रादुर्भाव के कारण देश में सहकारिता के स्थान पर व्यक्तिवाद का उदय हुआ, जिससे सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्द्धा की भावना बढ़ी। कृषि की दुर्दशा, ग्रामीण उद्योगों का पतन, जमींदारों, व्यापारियों एवं साहूकारों द्वारा किसानों के शोषण के कारण कृषकों की स्थिति दयनीय हुई। कृषकों में ऋणग्रस्तता के बढ़ने, उत्पादों के विक्रय से उचित कीमत प्राप्त नहीं होने एवं लघु कृषकों को पूँजीवादी कृषकों के समान लाभ नहीं प्राप्त होने के कारण, इस वर्ग की उन्नति के लिए जर्मनी की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में अपनाये गये सहकारी आन्दोलन के आधार पर भारत में सहकारिता के उपयोग करने का विचार ब्रिटिश शासन-काल में किया गया। परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में सहकारिता आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

विभिन्न आर्थिक प्रणालियों—व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में पाये जाने वाले दोषों को निवारण करने का उपाय सहकारिता ही है। यह इन दोनों के बीच की स्थिति है।

सहकारिता से तात्पर्य—सहकारिता से तात्पर्य परस्पर सहयोग से अथवा मिल-जुलकर काम करने से है। अर्थशास्त्र में सहकारिता से तात्पर्य स्वेच्छा से बने हुए व्यक्तियों के संगठन से है जिसका उद्देश्य आर्थिक एवं/अथवा सामाजिक होता है। इसमें सम्मिलित सभी व्यक्तियों को समान स्तर पर समझा जाता है। संक्षेप में सहकारिता से तात्पर्य स्वयं की सहायता एक संगठन के माध्यम से प्राप्त करने से है।

कलवर्ट के अनुसार सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति मानवता की भावना से समानता के आधार पर स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होते हैं तथा परस्पर सहयोग से सबकी आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं। स्ट्रीकलैण्ड के अनुसार सहकारिता का तात्पर्य व्यक्तियों के उस समूह से है जो सबके आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है।

मैकलेगन समिति के अनुसार, सहकारिता का सिद्धान्त संक्षेप मे यह दर्शाता है कि एक अकेला एव साधन-रहित व्यक्ति भी अपने स्तर के व्यक्तियो का सगठन बनाकर, एक-दूसरे के सहयोग से एव नैतिक विकास व पारस्परिक समर्थन से अपनी कार्य-क्षमता के अनुसार, धनवान, शक्तिशाली व साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को उपलब्ध सारे भौतिक लाभ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार साधन-रहित व्यक्ति अपना विकास सहकारिता के माध्यम से कर सकता है।

सहकारिता नियोजन समिति के अनुसार, सहकारिता एक ऐसा सगठन है जिसमे व्यक्ति स्वेच्छा से समानता के आधार पर अपने आर्थिक हितो को आगे बढाने के लिए सम्मिलित होते हैं।

सहकारी के सिद्धान्त—*सहकारिता के प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं*—

1 स्वेच्छापूर्वक (Voluntary)—सहकारिता मे सम्मिलित होने की प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होती है। वे स्वेच्छा से सदस्य बनते हैं। सदस्य बनने हेतु उन पर किसी प्रकार का दबाव नही डाला जाता है।

2 लोकतान्त्रिक (Democratic)—इसमे सम्मिलित सदस्यो को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रत्येक सदस्य को, चाहे उसने समिति के कितने ही शेयर खरीदे हो, एक ही वोट देने का अधिकार होता है। सहकारिता मे 'एक व्यक्ति-एक मत' का सिद्धान्त अपनाया जाता है। इसका प्रबन्ध भी लोकतन्त्र पर आधारित होना है।

3 आर्थिक, सामाजिक एव नैतिक उत्थान—सहकारिता म सभी सदस्यो का उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक एव नैतिक उत्थान प्राप्त करना होना है।

4. तटस्थता—सहकारिता मे सम्मिलित सदस्यों का धर्म, जाती, राष्ट्रीयता एव राजनीतिक दलो के प्रभाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

5. सहकारिता मे व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है, न कि उसकी सम्पत्ति को।

6 स्वावलम्बन एव परस्पर सहयोग—सहकारिता मुख्यतया निर्बलो का सगठन है जिसमें वे स्वावलम्बन तथा परस्पर सहयोग से अपनी निर्बलता को सगठित शक्ति मे बदल देते हैं। 'एक व्यक्ति सबके लिए व सब व्यक्ति एक के लिए' सहकारिता का मूलमन्त्र है।

7 सेवा भावना—सहकारी सगठन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नही होकर सदस्यों को अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त कराना होता है।

सहकारिता मे सम्मिलित व्यक्तियों मे गुण—सहकारिता मे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियो मे निम्न गुण होने चाहिए। इनके होने पर सहकारिता का विकास होगा तथा इन गुणो के नही होने पर सहकारिता की प्रगति मे रुकावट आयेगी।

स्तर	अल्प एव मध्यकालीन ऋण के लिए सरकारी ऋण समितियाँ	दीर्घकालीन ऋण के लिए भूमि विकास बैंक	कृषि-उत्पादों के विपणन के लिए सहकारी विपणन समितियाँ
(अ) प्राथमिक स्तर (गाँव या आस-पास के गावो के समूह के लिए)	प्राथमिक कृषि-सहकारी ऋण समितियाँ	प्राथमिक भूमि विकास बैंक	प्राथमिक सहकारी कृषि-विपणन समिति
(ब) जिला-स्तर	केन्द्रीय सहकारी बैंक	जिला भूमि विकास बैंक	जिला सहकारी विपणन समिति
(स) राज्य-स्तर	राज्य/शीर्ष सहकारी बैंक	राज्य भूमि विकास बैंक	राज्य सहकारी विपणन सघ

भारत मे सहकारिता का इतिहास

भारत मे सहकारिता बहुत समय से प्रचलित है। पूर्व मे सहकारिता वर्तमान रूप मे नही होकर अन्य रूपो, जैसे–सयुक्त परिवार प्रणाली, पचायत, चिट फण्ड्स, निधि आदि रूपो मे प्रचलित थी। भारत में सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ वर्तमान रूप मे मुख्यतया कृषको को साहूकारो के शोषण से बचाने के लिए किया गया। अकाल आयोग, 1901 ने कृषको को ऋण उपलब्ध कराने के लिए दिए गए सुझाव पर सरकार ने एडवर्ड लॉ की अध्यक्षता मे नियुक्त समिति की राय ली। इस समिति ने सन् 1901 मे सहकारी समितियाँ स्थापित करने का सुझाव दिया एव एक विधेयक बनाया जो 25 मार्च, 1904 को सहकारी ऋण समिति कानून के रूप में पारित किया गया। इस प्रकार आधुनिक काल मे सहकारिता का जन्म भारत मे वर्ष 1904 मे हुआ। इस कानून का प्रमुख उद्देश्य लघु कृषको को आवश्यक मात्रा मे ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना था। भारत म सहकारी ऋण समितियो का सगठन हुआ। इस कानून मे व्याप्त कमियो, जैसे—विपणन, परिष्करण, कृषि आदि कार्यों के लिए गैर-ऋण सहकारी समितियो के सगठन की व्यवस्था के न होने, जिला एव राज्य स्तर पर सहकारी बैंको के नही होने आदि की स्थिति को दूर करने हेतु वर्ष 1912 मे वृहद् सहकारी समिति कानून पारित किया गया। इस कानून के अनुसार सभी उद्देश्यो के लिए सहकारी समितिया की स्थापना की व्यवस्था की गई। इससे सहकारिता के विकास की गति मे तीव्रता आई।

1. सदस्यो को सहकारिता के उद्देश्य लाभ आदि का ज्ञान होना चाहिए।
2 सदस्यो को सहकारिता का ज्ञान होना चाहिए।
3 सदस्यो में ईमानदारी की भावना होनी चाहिए।
4 सदस्य सहकारिता के प्रति वफादार होने चाहिए।
5 सदस्यो मे सहकारिता के प्रति विश्वास होना चाहिए।
6. सदस्यो द्वारा सहकारिता के कार्य मे रुचि होनी चाहिए।

सहकारिता से लाभ :

सहकारिता मे सम्मिलित व्यक्तियो को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(1) आर्थिक लाभ—*सहकारिता के प्रत्येक क्षेत्र—ऋण*, विपणन, कृषि परिकरण आदि मे सम्मिलित होने पर सदस्यो को आर्थिक लाभ प्राप्त होता है। ऋण के क्षेत्र मे कम ब्याज दर पर ऋण-सुविधा प्राप्त होती है, जबकि विपणन के क्षेत्र मे कम विपणन-लागत देनी होती है एव उचित कीमत प्राप्त होती है। यह आर्थिक लाभ बाजार मे प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति के कारण प्राप्त होता है।

(2) नैतिक लाभ—सहकारिता के माध्यम से ग्रामीण सदस्यो का नैतिक उत्थान होता है। सदस्यो मे बचत करने की भावना जागृत होती है। तथा असामाजिक आदतें, जैसे—सट्टा, शराब पीने की आदत आदि मे कमी होती है।

(3) सामाजिक लाभ—सहकारिता से समाज मे व्याप्त कुरीतियाँ, जैसे—मृत्यु-भोज, बाल-विवाह एव अन्य सामाजिक कुरीतियो को समाप्त करने, ग्राम सुधार के लिए जल-प्रबन्ध, जल-निकासी व स्वास्थ्य सेवाओ मे सुधार करने के लिए सदस्यो को प्रेरित किया जाता है।

(4) शैक्षिक लाभ—सहकारिता मे सम्मिलित सभी व्यक्तियो को समान स्तर पर समझा जाता है। सदस्यो मे शिक्षा का प्रसार किया जाता है।

सहकारी सस्थाओ का ढाँचा :

भारत मे *विभिन्न सहकारी समितियो का ढाँचा तीन स्तरीय या स्तूपाकार* (Pyramidal) होता है। ये तीन स्तर इस प्रकार होते हैं : गाँव या गाँवो का समूह, जिला एव राज्य स्तर। इनकी सख्या ग्राम स्तर पर अधिक, जिला स्तर पर उससे कम एव राज्य स्तर पर एक होने से स्तूपाकार आकार का निर्माण होता है। विभिन्न उद्देश्यो के लिए गठित समितियो का स्तर अग्राकित प्रकार का होता है—

स्तर	अल्प एवं मध्यकालीन ऋण के लिए सरकारी ऋण समितियाँ	दीर्घकालीन ऋण के लिए भूमि विकास बैंक	कृषि-उत्पादों के विपणन के लिए सहकारी विपणन समितियाँ
(अ) प्राथमिक स्तर (गाँव या आस-पास के गाँवों के समूह के लिए)	प्राथमिक कृषि-सहकारी ऋण समितियाँ	प्राथमिक भूमि विकास बैंक	प्राथमिक सहकारी कृषि-विपणन समिति
(ब) जिला-स्तर	केन्द्रीय सहकारी बैंक	जिला भूमि विकास बैंक	जिला सहकारी विपणन समिति
(स) राज्य-स्तर	राज्य/शीर्ष सहकारी बैंक	राज्य भूमि विकास बैंक	राज्य सहकारी विपणन संघ

भारत में सहकारिता का इतिहास

भारत में सहकारिता बहुत समय से प्रचलित है। पूर्व में सहकारिता वर्तमान रूप में नहीं होकर अन्य रूपों, जैसे–संयुक्त परिवार प्रणाली, पंचायत, चिट फण्ड्स, निधि आदि रूपों में प्रचलित थी। भारत में सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ वर्तमान रूप में मुख्यतया कृषकों को साहूकारों के शोषण से बचाने के लिए किया गया। अकाल आयोग, 1901 ने कृषकों को ऋण उपलब्ध कराने के लिए दिए गए सुझाव पर सरकार ने एडवर्ड लॉ की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की राय ली। इस समिति ने सन् 1901 में सहकारी समितियाँ स्थापित करने का सुझाव दिया एवं एक विधेयक बनाया जो 25 मार्च, 1904 को सहकारी ऋण समिति कानून के रूप में पारित किया गया। इस प्रकार आधुनिक काल में सहकारिता का जन्म भारत में वर्ष 1904 में हुआ। इस कानून का प्रमुख उद्देश्य लघु कृषकों को आवश्यक मात्रा में ऋण-सुविधा उपलब्ध कराना था। भारत में सहकारी ऋण समितियों का संगठन हुआ। इस कानून में व्याप्त कमियों, जैसे—विपणन, परिष्करण, कृषि आदि कार्यों के लिए गैर-ऋण सहकारी समितियों के संगठन की व्यवस्था के न होने, जिला एवं राज्य स्तर पर सहकारी बैंकों के नहीं होने आदि की स्थिति को दूर करने हेतु वर्ष 1912 में वृहद् सहकारी समिति कानून पारित किया गया। इस कानून के अनुसार सभी उद्देश्यों के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की व्यवस्था की गई। इससे सहकारिता के विकास की गति में तीव्रता आई।

सहकारी आन्दोलन मे सुधार के लिए सुझाव देने हेतु सरकार ने वर्ष 1914 मे सर एडवर्ड मैकलेगन की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने सहकारी आन्दोलन को प्रगति उचित दिशा मे करने के लिए कई सुझाव दिए। वर्ष 1919 मे सहकारिता को राज्यीय दर्जा दिया गया और 1912 के कानून मे आवश्यक सुधार करने का अधिकार राज्य सरकारो को दिया गया। फलत विभिन्न राज्यो मे सहकारिता के कानून पारित किए गए। विभिन्न राज्यो मे स्थानीय स्थिति के अनुसार सहकारी आन्दोलन की प्रगति मे तेजी आई।

वर्ष 1929 की विश्व-व्यापी मदी का भारतीय सहकारी आन्दोलन पर विपरीत प्रभाव पडा। कृषको के उत्पाद की कीमतें कम हो जाने के कारण उनकी आर्थिक दशा दयनीय हो गई तथा समितियो की बकाया ऋण की राशि मे कई गुना वृद्धि हुई, जिसके कारण बहुत-सी समितियाँ बन्द करनी पडी। वर्ष 1935 मे रिजर्व बैंक की स्थापना की गई तथा उसके कृषि ऋण विभाग ने 1937 मे सहकारी आन्दोलन पर एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की, जिसमे बहुउद्देशीय समितियो के विकास करने का सुझाव दिया गया। द्वितीय महायुद्ध काल मे कृषि-वस्तुओ की कीमतो म वृद्धि होने के कारण कृषको की स्थिति मे सुधार हुआ एव युद्धकाल मे देश मे अनेक प्रकार की समितियो—फल एव गन्ना उत्पादको की सहकारी समितियाँ, उपभोक्ता समितियाँ, विपणन समितियो का विकास हुआ। वर्ष 1945 मे सरैय्या सहकारी नियोजन समिति ने सहकारी सस्थाओ को सरकार के द्वारा वित्तीय सहायता तथा अन्य सुविधाएँ देकर उन्हे सुदृढ बनाने हेतु सुझाव दिए। श्री गोरवाला की अध्यक्षता मे नियुक्त अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपनी 1954 मे प्रस्तुत रिपोर्ट मे मत प्रकट किया कि 'भारत मे सहकारिता असफल हुई है, किन्तु उसे सफल बनाना होगा' क्योकि कृषको की स्थिति मे सुधार लाने के लिए वर्तमान मे सहकारिता के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही है।

स्वतन्त्र भारत मे विभिन्न उद्देश्यो के लिए बनाई गई सहकारी-समितियो के विकास के लिए किए गए प्रयासो का वर्णन पुस्तक के सम्बन्धित अध्यायो मे किया गया है।

सहकारी समितियो का वर्गीकरण

रिजर्व बैंक ने सहकारी समितियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(I) सहकारी ऋण-समितिया
- कृषि-ऋण सहकारी समितियाँ
- गैर कृषि-ऋण सहकारी समितियाँ

(II) सहकारी गैर-ऋण समितियाँ
- कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ
- गैर-कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ

अतः प्रमुखतया सहकारी समितियां चार प्रकार की होती हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न है :

1. कृषि ऋण सहकारी समितियाँ—ये सहकारी समितियाँ कृषकों को कृषि व्यवसाय के लिए आवश्यक ऋण कम ब्याज दर पर उपलब्ध कराती हैं। सहकारी समितियां अल्प एवं मध्यकालीन ऋण उपलब्ध कराती हैं जबकि दीर्घकालीन ऋण भूमि विकास बैंक उपलब्ध कराते हैं। इनका ढांचा साधारणतया तीन-स्तरीय होता है। गाँव स्तर पर प्राथमिक सहकारी ऋण समितियाँ, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक एवं राज्य-स्तर पर राज्य सहकारी बैंक या शीर्ष (Apex Banks) होते हैं। इसी प्रकार दीर्घकालीन ऋण के लिए प्राथमिक भूमि विकास बैंक, जिला भूमि विकास बैंक एवं राज्य भूमि विकास बैंक होते है। कुछ राज्यों मे भूमि विकास बैंकों का ढाचा दो स्तरीय होता है। विभिन्न स्तरीय सहकारी ऋण समितियों एवं भूमि विकास बैंकों की विस्तृत कार्य-प्रणाली, प्रगति एवं बाधक कारकों का विवेचन अध्याय 10 मे कृषि-ऋण के संस्थागत अभिकरणों के खण्ड मे किया गया है।

2. कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ—कृषकों को ऋण के अतिरिक्त, आवश्यक उत्पादन-साधनों–बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, कृषि-औजार उपलब्ध कराने के लिए बनाई गई सहकारी उन्नत कृषि समितियाँ, कृषकों को फार्म से प्राप्त उत्पादों के विपणन के लिए बनाई गई सहकारी कृषि-विपणन समितियाँ, कृषि-उत्पादों के परिष्करण (Processing) के लिए बनाई गई कृषि-उत्पादन परिष्करण सहकारी समितियाँ, पशुपालन सहकारी समितियाँ, मछली पालन सहकारी समितियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं। विभिन्न प्रकार की सहकारी कृषि समितियों का विवेचन अध्याय 8 मे तथा सहकारी विपणन समितियों का विवेचन अध्याय 15 मे किया गया है।

3. गैर कृषि सहकारी ऋण-समितियाँ—ये समितियाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों के व्यक्तियों को ऋण-सुविधा उपलब्ध कराती हैं, जैसे–शहरी बैंक, बचत एवं ऋण-समितियां, शहरी ऋण समितियाँ, आदि।

4 गैर-कृषि, गैर-ऋण सहकारी समितियाँ—ये समितियाँ मुख्यतया उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करती हैं। इनके अन्तर्गत उपभोक्ता-भण्डार, भवन-निर्माण समितियाँ, हाथ-करघा बुनकर समितियां आदि आती हैं।

सहकारिता की प्रगति मे बाधक कारक :

सहकारिता के विकास के लिए वर्ष 1904 मे पारित सहकारिता कानून के पश्चात् निरन्तर प्रयास किए जा रहे हैं, लेकिन सहकारिता के विभिन्न क्षेत्रों–ऋण, विपणन, कृषि, परिष्करण मे हुई प्रगति के आंकड़ो से स्पष्ट है कि भारत मे सहकारिता की प्रगति आशातीत नहीं हुई है। उदाहरण के लिए सहकारी ऋण-

समितियाँ वर्तमान मे कुल ऋण का 30 प्रतिशत से कम अंश ही कृषको को प्रदान कर रही हैं। इसी प्रकार सहकारी विपणन समितियाँ अधिकाश राज्यो में उत्पादो का विक्रय नही करके उत्पादन-साधनो एव आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति का कार्य कर रही है। सहकारिता के क्षेत्र मे धीमी प्रगति के प्रमुख कारण निम्न हैं। वैसे सहकारी ऋण, सहकारी विपणन एव सहकारी कृषि की प्रगति मे बाधक कारको की विवेचना सम्बन्धित अध्यायो मे पहले ही की जा चुकी है।

I. सामान्य कारण—निम्न सामान्य कारण सहकारिता की प्रगति मे बाधक हैं—

1. सदस्यो में सच्ची सहकारिता की भावना का नही होना।
2 सहकारिता मे ऋण को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है, जबकि अन्य प्रकार की सहकारी समितियो के विकास के लिए विशेष प्रयास नही किया गया है।
3. भारत में सहकारिता को एक सहकारी सस्था के रूप मे माना जाता है, क्योकि इनके सचलन मे सरकार का पूर्ण हस्तक्षेप होता है। भारत मे सहकारिता आन्दोलन मे राज्यो की भूमिका स्पष्टतया झलकती है।

II आन्तरिक कारण—निम्न आन्तरिक कारण भी सहकारिता की प्रगति मे बाधक होते हैं—

1. सहकारिता कानून मे कमियो का होना एव सदस्यो का सही चुनाव नहीं किया जाना।
2. सहकारिता का प्रबन्ध ऐसे व्यक्तियो के नियन्त्रण मे होना जिन्हें सहकारिता का अनुभव नही होता है।
3 सहकारिता मे सदस्यो का एक-दूसरे के प्रति पक्षपात का रुख अपनाना एव ऋण स्वीकृति मे पक्षपात करना।
4 सहकारी ऋण की राशि का सदस्यो पर बकाया रहना।
5. सहकारी समितियो के हिसाब मे घोटाला, निरीक्षण समय पर नही किया जाना, दोषी पाये जाने पर व्यक्तियो को दण्ड नही दिया जाकर उनके आक्षेपो पर लीपा-पोती करना।
6 सहकारी समितियो के पास पर्याप्त धन नही होना, जिसके कारण वे सदस्यो को आवश्यक मात्रा मे समय पर ऋण सुविधा उपलब्ध कराने मे समर्थ नही होती हैं।
7. सभी राज्यो मे सहकारी विकास की गति का समान नही होना।
8 कृषको की ऋण के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताएँ समितियो के द्वारा पूरी नही करना।
9 अधिकाश सहकारी समितियो का आर्थिक दृष्टि से सक्षम नही होना।

सहकारिता के विकास के लिए सुझाव

सहकारी आन्दोलन भारत मे असफल रहा है, लेकिन देश के आर्थिक विकास के लिए इसे सफल बनाना आवश्यक है। सहकारिता के विकास के बिना ग्रामीण भारत के उत्थान का सपना साकार नही हो सकता है। अत सहकारिता के विकास के लिए निम्न सुझाव प्रेषित किये जाते है—

1 प्राथमिक समितियो का पुनर्गठन करके उन्हे बहुउद्देश्यीय समितियां बनाना चाहिए, जिससे वे आर्थिक दृष्टि से सक्षम हो सकें।

2 प्राथमिक समितियो का कार्यक्षेत्र विस्तृत होना चाहिए, जिससे उन्हे सक्षम व सबल होने का अवसर मिल सके।

3 सदस्यो को ऋण सुविधा सम्भावित पैदावार की मात्रा के आधार पर स्वीकृत करनी चाहिए।

4 कृषि ऋण का कृषि विपणन से समन्वय होना चाहिए जिससे कृषको द्वारा उत्पादित माल के विक्रय से प्राप्त कीमत से ऋण का सीधा भुगतान किया जा सके और बढती हुई ऋण की बकाया राशि को कम किया जा सके।

5. सहकारी समितियो द्वारा गांवो मे उपलब्ध बचत की राशि को एकत्रित करने का कार्य भी किया जाना चाहिए।

6 केन्द्रीय एव राज्य स्तरीय सहकारी बैंको एव भूमि विकास बैंको की शाखाओ का विस्तार किया जाना चाहिए।

7 सरकार द्वारा उपलब्ध की जाने वाली सहायता कृषको को सीधे नकद रूप मे न दी जाकर, सहकारी समितियो के माध्यम से वस्तु रूप मे दी जानी चाहिए।

8 सहकारी कार्यकर्त्ताओ को पर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे वे कार्य को दक्षता से कर सकें।

9 सदस्यो मे सहकारिता की भावना जागृत की जानी चाहिए।

10 सहकारी समितियो द्वारा रिजर्व कोष की स्थापना की जानी चाहिए। प्रारम्भ मे निर्बल एव अनार्थिक समितियो को सक्षम बनाने के लिए आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

11 सहकारी समितियो द्वारा कृषको को ऋण उत्पादन कार्यों के लिए ही स्वीकृत किया जाना चाहिए।

□□□

अध्याय 24

बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम एवं नई कृषि नीति

देश मे 26 जून, 1975 को आपात स्थिति की घोषणा के साथ ही 1 जुलाई, 1975 को देश मे 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम को लागू करने की घोषणा की गई। इस घोषणा का प्रमुख उद्देश्य प्रस्तावित कार्यक्रमो को निर्धारित समय मे अपनाकर आर्थिक विकास लाना है। ये आर्थिक कार्यक्रम सरकार के लिए एक दिशा-सूचक का कार्य करते हैं। घोषित आर्थिक कार्यक्रम मे अनेक सूत्र पहले से ही चल रहे थे एव कुछ कार्यक्रम इनमे नये सम्मिलित किये गये हैं। वर्ष 1982 मे इन आर्थिक कार्यक्रमो मे सशोधन किये गये और 14 जनवरी, 1982 को नये 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम की सरकार ने घोषणा की। नये आर्थिक कार्यक्रम के 20 सूत्र निम्न हैं—

(1) देश मे सिंचाई क्षमता मे वृद्धि करना एव शुष्क भूमि कृषि हेतु आवश्यक उत्पादन-साधन उपलब्ध कराना।

(2) तिलहन एव दलहन उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए विशेष प्रयास करना।

(3) एकीकृत ग्रामीण विकास एव राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम को सुदृढ़ बनाते हुए उनका विकास करना।

(4) भूमि जोत की उच्चतम सीमा कानून को सख्ती से लागू करना एव उसके कार्यान्वयन से प्राप्त अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन श्रमिको व लघु एव सीमान्त कृषको मे वितरित करना।

(5) कृषि श्रमिको के लिए न्यूनतम मजदूरी की दरो की जाँच करना एव उन्हे प्रभावशाली बनाना।

(6) बन्धक मजदूरो के पुनर्वास की व्यवस्था करना ।

(7) अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए बनाये गये कार्यक्रमो को गति देना ।

(8) प्रभावग्रस्त गाँवो तक पीने का पानी पहुँचाना ।

(9) ग्रामीण परिवारो को मकान बनाने हेतु भूमि आवटन करना एव मकान बनाने के लिए वित्त सुविधा उपलब्ध कराना ।

(10) गन्दी बस्ती क्षेत्रो के वातावरण मे सुधार लाना, आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के व्यक्तियो को मकान उपलब्ध कराने की योजना बनाना एव भूमि की बढती हुई कीमतो को रोकना ।

(11) विद्युत् उत्पादन मे वृद्धि करना एव गाँवों तक बिजली पहुँचाना ।

(12) जगलात, सामाजिक एव फार्म जगल एव बायो गैस एव शक्ति के अन्य स्रोतो का अधिकाधिक विकास करना ।

(13) परिवार नियोजन कार्यक्रम को स्वेच्छा से जन-आन्दोलन के रूप मे बढाना ।

(14) आवश्यक प्राथमिक सेवाओ मे वृद्धि करना एव कोढ़, टी० बी० एव अन्धापन आदि बीमारियो का निराकरण करना ।

(15) महिलाओ एव बच्चो के लिए कल्याण कार्यक्रमो मे वृद्धि करना एव जनजाति, पहाडी एव पिछडे क्षेत्रो के बच्चो, गर्भित महिलाओ एव बच्चा पालने वाली माताओ के लिए पोषाहार कार्यक्रम चलाना ।

(16) 6 से 14 वर्ष के बच्चो (विशेषकर लडकियो) के लिए प्राथमिक शिक्षा का विस्तार करना एव प्रौढ शिक्षा के लिए स्वेच्छिक सस्थाओ को प्रोत्साहन देना ।

(17) उद्योगो मे पूँजी निवेश की प्रवृत्ति को बढावा देने के लिए पूँजी निवेश नीति को उदार बनाना, विभिन्न योजनाओ को समय पर पूरा कराने, हस्तकला उद्योग, हैण्डलूम एव लघु एव कुटीर उद्योगो को नवीनतम तकनीकी एव अन्य आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराना ।

(18) जमाखोरो, तस्करो एव कालाबाजारी तथा करो की चोरी करने की बढती प्रवृत्ति को रोकना ।

(19) देश मे सामाजिक वितरण प्रणाली का विस्तार करना, विद्यार्थियो को पाठ्य पुस्तकें एव कापियाँ प्राथमिकता के आधार पर सस्ती दर पर उपलब्ध कराना तथा उपभोक्ता की रक्षा के लिए जन-आन्दोलन को प्रेरणा देना ।

(20) सामाजिक क्षेत्र मे कार्यरत व्यवसायो/उद्योगो की कार्य-कुशलता मे वृद्धि करना ।

नई कृषि नीति

भारत सरकार द्वारा घोषित नई कृषि नीति 1992 के प्रमुख उद्देश्य निम्नाकित हैं :

1 कृषि मे व्यापार एव पूंजी निवेश हेतु उद्योगो के समान सकारात्मक वातावरण उत्पन्न करना ।

2 *कृषि क्षेत्र को उद्योगो के समान लाभप्रद स्थिति मे लाने हेतु कार्यशील प्रणाली बनाना ।*

3 नगरपालिका क्षेत्र मे भूमि की कीमतो मे हो रही वृद्धि से कृषको को प्राप्त पूंजी लाभ की राशि को कर मुक्त रखना ।

4 सरकार की कर नीति से कृषि व्यवसाय को मुक्त रखना ।

5. कृषि व्यवसाय को लाभप्रद बनाने के लिए कृषको को उत्पाद की लाभप्रद कीमतें दिलाना, जिससे उन्हे अच्छा लाभ प्राप्त हो सके ।

6 कृषि क्षेत्र मे पंजी निर्माण की दर मे वृद्धि करना ।

7 कृषि क्षेत्र मे सरकारी एव निजी पूंजी निवेश को आधारधारिक सुविधाओ के विकास पर अधिक धन व्यय करने के लिए प्रोत्साहन देना, जिससे कृषि क्षेत्र मे विकास की गति को बढाने मे सहायक हो सके ।

8. वर्षा पर आधारित एव सिंचित फल, सब्जी, पुष्प, सुगन्धित एव दवाई वाली फसलें तथा बागवानी वाली फसलो को बढावा देने पर बल देना ।

9 घरेलू खपत एव निर्यात मे वृद्धि हेतु कृषि क्षेत्र मे ससाधन एव विपणन पर पूर्ण सहायता प्रदान किया जाना, जिससे कृषको को उत्पादित उपज की कीमत मे वृद्धि हो सके ।

10 कृषि के विभिन्न पहलुओ मे किए गए अनुसन्धान से प्राप्त परिणामो का लाभ उठाने के लिए कृषको को प्रेरित करना।

11 वर्तमान मे उपलब्ध साधनो का पूंजी निर्माण एव आधारधारिक सुविधाओ के विकास मे प्रयुक्त करना।

12 विभिन्न क्षेत्रो मे व्याप्त क्षेत्रीय असमानता को कम करना।

13. कृषि क्षेत्र मे सिचाई एव अन्य कृषि कार्यों हेतु शक्ति के वैकल्पिक स्रोतो के उपयोग को बढावा देना।

---

* Farm Banking News, Vol 3(3), October-December, 1992, State Bank of Travancore.

□□□

अध्याय **25**

भारत में गरीबी

गरीबी एक सामाजिक बुराई है, जिससे समाज का प्रत्येक वर्ग किसी न किसी रूप मे प्रभावित होता है। देश की दो प्रमुख समस्याओ—गरीबी एव बेरोजगारी मे गरीबी की समस्या सर्वोपरि है। गरीबी शब्द नया नही है। इसे सर्वप्रथम वर्ष 1876 मे दादाभाई नोरोजी ने अपने लेख 'भारत मे गरीबी', जो ईस्ट इण्डिया सघ की बम्बई शाखा के समक्ष प्रस्तुत किया था मे उपयोग किया था।

मार्टीन रैन ने गरीबी की परिभाषा मे जीवन निर्वाह (Subsistence), असमानता (Inequality) एव बाह्यता (Externality) शब्द का उपयोग किया है। जीवन-निर्वाह से तात्पर्य व्यक्ति को स्वस्थ एव उसमे कार्यशील क्षमता बनाए रखने के लिए न्यूनतम आवश्यकताओ की वस्तुओ की पूर्ति से है। असमानता से तात्पर्य विभिन्न व्यक्तियो की आय सापेक्षता से है अर्थात् गरीब की परिभाषा करते समय सम्पन्न व्यक्तियो से तुलना की जाती है तथा बाह्यता से तात्पर्य इसके होने से समाज के अन्य वर्ग पर आने वाले सामाजिक प्रभाव से है।

गरीबी एक सामाजिक स्थिति है जिसमे समाज के सदस्य जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकता की वस्तुएँ भी उपलब्ध नही करा पाते हैं। जब समाज के अधिकाश सदस्य न्यूनतम आवश्यकता की वस्तुएँ उचित मात्रा मे प्राप्त कर पाने से वचित होते हैं और वे न्यूनतम स्तर से भी कम स्तर पर जीवन निर्वाह करते हैं, तो उस समाज मे गरीबी व्याप्त होना कहा जाता है। गरीबी को परिभाषित करने का प्रयास सभी देशो मे किया गया है, लेकिन सभी ने न्यूनतम या उचित जीवन-स्तर प्रदान करने पर बल दिया है। भारत मे गरीबी की परिभाषा मे उचित जीवन-स्तर के स्थान पर न्यूनतम जीवन-स्तर को स्वीकार किया है। अतः विभिन्न देशो मे गरीबी की परिभाषा मे अन्तर विद्यमान है।

गरीबी दो प्रकार से होती है—एक तो तुलनात्मक (Relative) एव दूसरे असम्बन्ध (Absolute)। तुलनात्मक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास दूसरे व्यक्ति

के मुकाबले मे कम सम्पत्ति है, वह गरीब है। सम्पत्ति मे व्याप्त इस प्रकार की असमानता को पूरी तरह मिटाना सम्भव नही है तथा भारत जैसे विकासशील देश की गरीबी को समझना भी इससे सम्भव नही है। अत. गरीबी नापने का असम्बन्ध विधि ही उपयुक्त है। इसमे जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओ की न्यूनतम मात्रा निर्धारित की जाती है और उन्हे रुपयो के रूप मे परिवर्तित करके आवश्यक आय अथवा प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय की राशि ज्ञात की जाती है। वह व्यक्ति या जनसख्या जो न्यूनतम निर्धारित स्तर से भी कम स्तर पर उपभोग व्यय करता है वह निर्धनता रेखा/गरीबी रेखा से नीचे माना जाता है।

गरीबी रेखा (Poverty Line) :

गरीबी रेखा शब्द का उपयोग सर्वप्रथम भारतीय श्रम सम्मेलन (1957) मे किया गया था। इसे तृतीय पचवर्षीय योजना मे सर्वप्रथम सम्मिलित किया था। विभिन्न लेखको ने गरीबी रेखा का निर्धारण करने मे निम्न तीन अवधारणाओं का उपयोग किया है—

(i) प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग व्यय—इसमे विभिन्न व्यक्तियो द्वारा मासिक उपभोग व्यय के उपलब्ध आकडो के आधार पर गरीबी रेखा के ऊपर एव नीचे जनसख्या को विभाजित किया जाता है। एक निश्चित मासिक उपभोग व्यय (निश्चित कीमत स्तर पर) से कम स्तर वाले व्यक्ति निर्धनता रेखा से नीचे कहे जाते हैं।

(ii) कैलोरी आधार पर—इसमे सर्वप्रथम जीवन को चलाने के लिए पौष्टिक आहार के रूप मे आवश्यक कैलोरी का निर्धारण किया जाता है। इसके बाद इसे एक विशेष आधार वर्ष पर आय मे परिवर्तित कर लिया जाता है।

(iii) प्रति व्यक्ति मासिक आय
इन सभी अवधारणाओ की कुछ सीमाएँ हैं, जैसे–न्यूनतम आवश्यकता को परिभाषित करना कठिन है। कैलोरी आवश्यकता मे भी जलवायु एव आदतो के अनुसार विभिन्नता होती है।

गरीबी सामान्यतया कम आय, बचत का निम्न स्तर तथा कम विनियोजन के दुश्चक्र का परिणाम है, जिसके कारण रोजगार का अभाव एव आय की कमी उत्पन्न होती है। उत्पादकता स्तर का कम होना, बाजार की अपूर्णता नए तकनीकी स्तर का कम उपयोग, जनसख्या की अधिकता आदि कारक इस दुश्चक्र का और विस्तृत करते हैं। गरीबी के सामाजिक अवाछनीय परिणामो म उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा का अभाव, शारीरिक एव मानसिक प्रयासो का सदुपयोग नही होना एव आत्म-विश्वास की कमी का होना है।

गरीबी का माप-दण्ड

भारत सरकार द्वारा गठित एक "विशिष्ट अध्ययन दल" ने जुलाई, 1962 के वृत्तान्त मे कहा है कि निम्नतम राष्ट्रीय वांछित उपभोग प्रतिमाह 20 रुपये प्रति व्यक्ति (वर्ष 1960–61 की कीमतो पर) होना चाहिए। इसमे ग्रामीण एव शहरी क्षेत्रो के लिए पृथक् उपभोग-दर तय नही की गई थी। प्रो डाण्डेकर एव रथ ने अपने अध्ययन के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रो के लिए 15 रुपये प्रतिमाह और शहरी क्षेत्रो के लिए 22 50 रुपये प्रतिमाह तय किया। योजना आयोग ने कैलोरी उपभोग के मानक का भी उपयोग किया है। योजना आयोग द्वारा गठित कार्यदल ने वर्ष 1977 मे यह निश्चित किया कि ग्रामीण क्षेत्रो मे एक व्यक्ति के लिए 2400 कैलोरी प्रतिदिन एव शहरी क्षेत्रो मे 2100 कैलोरी ऊर्जा की प्रतिदिन न्यूनतम आवश्यकता होती है। इसे प्राप्त करने के लिए वर्ष 1979–80 की कीमतो पर ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति औसतन कम से कम 76 रुपये और शहरो मे 88 रुपये प्रतिमाह की आवश्यकता होती है।

प्रति व्यक्ति प्रतिमाह उपभोग व्यय स्तर पर विभिन्न वर्षों मे गरीबी नापने का प्रायोगित मापदण्ड सारणी 25 1 मे प्रदर्शित है।

सारणी 25 1

गरीबी रेखा के माप-दण्ड

(रुपयो मे)

कीमत-स्तर का वर्ष	(उपभोग व्यय प्रति व्यक्ति, प्रतिमाह	
	ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र
1960–61	18.90	25 00
1973–74	49.09	56 64
1976–77	61 80	71 30
1977–78	65 00	76.00
1979–80	76.00	88 00
1983–84	101 88	117.50
1984–85	107.00	122 00
1985–86	106 66 अथवा	121.66 अथवा
(सातवी योजना)	6400 रु. प्रति परिवार प्रतिवर्ष	7300 रु प्रति परिवार प्रतिवर्ष

Source : Draft Five Year Plans, Planning Commission, Government of India, New Delhi.

सातवी योजना मे गरीबी रेखा से नीचे के स्तर के व्यक्तियों को पुन. चार श्रेणी मे वर्गीकृत किया है—

(i) गरीबो मे सर्वाधिक गरीब अथवा निराश्रय (Destitutes)—2265 रुपये प्रति परिवार प्रतिवर्ष से कम उपभोग व्यय स्तर वाले व्यक्ति।

(ii) अत्यन्त गरीब (Very-Very Poor)—2266 से 3500 रुपये प्रति परिवार प्रतिवर्ष से कम उपभोग व्यय स्तर वाले व्यक्ति।

(iii) बहुत गरीब (Very Poor)—3501 से 4800 रुपये प्रति परिवार प्रतिवर्ष से कम उपभोग व्यय स्तर वाले व्यक्ति।

(iv) गरीबो मे धनवान (Richest among the poor)—4801 से 6400 रुपये प्रति परिवार प्रतिवर्ष के उपभोग स्तर वाले व्यक्ति।

भारत मे गरीबी के अनुमान

भारत मे अनेक व्यक्तियो ने गरीबी के विषय मे अध्ययन किया है। इनके प्राप्त परिणामो मे समय की भिन्नता एव आकलन की अवधारणा के कारण विभिन्नता व्याप्त है। विभिन्न अध्ययनो के प्राप्त परिणाम सारणी 25 2 मे प्रदर्शित हैं।

सारणी 25.2

भारत मे गरीबी का अनुमान

(मिलियन मे)

अनुमानकर्त्ता	आधार	आकलन वर्ष	व्याप्त गरीबी ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र	कुल
1	2	3	4	5	6
1. पी डी ओझा	न्यूनतम आवश्यकता पर आधारित 2250 कैलोरी प्रतिदिन की उपलब्धि हेतु वर्ष 1960-61 की कीमत पर मासिक उपभोग व्यय प्रति व्यक्ति रु 8 से 11 ग्रामीण क्षेत्र मे एव 15 से 18 रु. शहरी क्षेत्र मे।	1960 61	184.2 (51 6)	6 0 (7 6)	190 2 (44 0)
2. इ पी डब्ल्यू डाकोस्टा	राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकडो के आधार पर।	1963-64	—	—	162 (34.9)

1	2	4	4	5	6
3 पीके वरघान	वप 1960–61 की कीमत स्तर पर प्रति व्यक्ति प्रतिमाह उपभोग व्यय 15 रु० ग्रामीण क्षेत्र मे एव 20 रु० शहरी क्षेत्र मे।	1960–61	131 0 (28 0)	—	—
		1967–68	220 5 (54 0)	—	—
4 डाण्डेकर एव रथ	वर्ष 1960–61 की कीमत स्तर पर प्रति व्यक्ति प्रतिमाह उपभोक्ता व्यय के आधार पर 15 रु० ग्रामीण क्षेत्र मे एव 22 50 रु० शहरी क्षेत्र मे।	1960–61	135 0 (33 1)	42 0 (48 6)	177 0 —
		1969–70	166 4 (40 0)	49 0 (50 0)	215 5 (41 0)
		1978–79	249 (50 82)	57 (38 19)	306 (48 13)
5 बी एस मिन्हास	राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से प्राप्त आंकडो पर वर्ष 1967–68 मे प्रति व्यक्ति 240 रु० वार्षिक उपभोग व्यय (न्यूनतम आवश्यकता के आधार पर)।	1969–70	210 (50 6)	—	—
6 सातवे वित्त आयोग	विस्तृत अध्ययन के अनुसार।	1970–71	225 (53)	52 (51)	277 (52)
7 योजना आयोग	राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 32वें व 38वें दौर की रिपोट के आधार पर।	1972–73	—	—	(51 5)
		1977–78	—	—	(48 3)
		1983	—	—	(37 4)
8. योजना आयोग	—	1980–85 (छठी योजना)	259 6 (50 7)	57 2 (40 0)	316 8 (48 4)
9 योजना आयोग	वर्ष 1973–74 को कीमत स्तर पर रु० 4909 प्रति व्यक्ति प्रति माह ग्रामीण क्षेत्र मे एव रु० 56 64 शहरी क्षेत्र।	1983–84	221 5 (40 4)	49 5 (28 1)	271 0 (37 4)
10 CMIE	भारत सरकार।	1977–78	(51 2)	(38 2)	—
		1984–85	(39 9)	(27 7)	—
		1989–90	(28 2)	(19 3)	—

कोष्ठक मे दिए गए आकडे कुल जनसख्या का प्रतिशत है।

सातवें वित्त आयोग ने इन सभी व्यक्तियो द्वारा दिये गये अनुमानो को अस्वीकार करके एक नयी विचारधारा "तर्कयुक्त गरीबी की रेखा (Argumented Poverty Line)" प्रस्तुत की है। इसमे प्रति व्यक्ति प्रतिमाह व्यक्तिगत उपभोग पर किये गये व्यय के साथ-साथ सरकार द्वारा शिक्षा, समाज कल्याण, सडकें, पानी, सफाई, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण और प्रशासन पर किये गये व्यय को भी सम्मिलित किया गया है। गरीबो की इस विस्तृत अवधारणा के आधार पर 15 राज्यो के अध्ययन के अनुसार आयोग ने निष्कर्ष निकाला कि वर्ष 1970–71 मे 53 प्रतिशत व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रो मे तथा 51 प्रतिशत व्यक्ति शहरी क्षेत्रो मे गरीबी की रेखा मे नीचे रहते थे।

योजना आयोग के अनुसार छठी पचवर्षीय योजना मे गरीबी की रेखा से नीचे रहने वालो का प्रतिशत 48.4 एव सातवी पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे 38 4 प्रतिशत था। विभिन्न राज्यो के अध्ययन से स्पष्ट है कि गरीबी रेखा से नीचे जीवन-निर्वाह करने वाले व्यक्तियो की प्रतिशतता मे बहुत विभिन्नता है। असम, बिहार, मध्यप्रदेश कर्नाटक, उडीसा तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तरप्रदेश एव पजाब राज्य मे गरीबी देश के औसत से अधिक है।

उपरोक्त आँकडो से स्पष्ट है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा गरीबी के अनुमान मे उनके द्वारा प्रयोगित विधि के कारण विभिन्नता है। उपरोक्त आकलन से निम्न तथ्य स्पष्ट है—

(i) देश मे गरीबो की सख्या मे वृद्धि हुई है।

(ii) गरीबी रेखा से नीचे जीवन-निर्वाह करने वाले व्यक्तियो की प्रतिशतता मे कोई विशेष कमी नही हुई है।

(iii) गरीबो की सर्वाधिक सख्या एव प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रो मे है। शहरी क्षेत्रो मे बढती हुई गरीबी का प्रमुख कारण गाँवो से शहरो की ओर व्यक्तियो का पलायन करना है।

(iv) विभिन्न राज्यो मे गरीबी के स्तर मे बहुत विभिन्नता है।

ग्रामीण कृषक परिवारो मे व्याप्त गरीबी

सारणी 25 3 भारत के विभिन्न राज्यो मे 4,800 रुपये प्रति परिवार एव 6,400 रुपये प्रति परिवार प्रति वर्ष उपभोग व्यय पर वर्ष 1985–86 मे व्याप्त गरीबी प्रदर्शित करती है।

सारणी 25.3
भारत मे निर्धनता रेखा से नीचे के ग्रामीण कृषक परिवार, 1985–86

(संख्या लाखों में)

राज्य	वर्ष 1970–71 के आधार वर्ष पर 1,728 रुपये प्रति परिवार प्रति वर्ष के उपभोग व्यय पर	1985–86 4,800 रुपये प्रति परिवार प्रति वर्ष के उपभोग व्यय पर	1985–86 6,400 रुपये प्रति परिवार प्रति वर्ष के उपभोग व्यय पर
1	2	3	4
1 आन्ध्र प्रदेश	32 156	44.989	52 038
	(59 32)	(58 76)	(67.96)
2 असम	10 196	9.085	10 290
	(51 90)	(39.54)	(44.78)
3. बिहार	52 847	85 206	89 225
	(69 74)	(75 87)	(79 45)
4 गुजरात	8 988	13.875	16.909
	(36 95)	(47 35)	(57.71)
5 हरियाणा	2 692	2.224	3 256
	(30 99)	(21.98)	(32.18)
6. कर्नाटक	16 773	23.275	27 411
	(47.23)	(55 51)	(65 37)
7. मध्य प्रदेश	31.753	33 289	38 791
	(60 48)	(51 92)	(60 51)
8 महाराष्ट्र	28 389	29 895	37 441
	(57 34)	(43.44)	(54.41)
9. उड़ीसा	23 385	18 270	22.102
	(68 63)	(54.89)	(66 41)
10. पंजाब	3.868	1 104	1 460
	(35.28)	(10.75)	(14.21)
11. राजस्थान	20 223	23.933	28 012
	(54.26)	(53 34)	(62.43)

1	2	3	4
12 तमिलनाडु	36 246	43 629	58 377
	(68 20)	(61 02)	(81 63)
13 उत्तर प्रदेश	111 519	121 702	131 250
	(71 30)	(67 9ा)	(73 26)
14 पश्चिम बंगाल	18 458	27 915	29 350
	(43.77)	(47 49)	(49.93)
भारत	442 785	536 577	602 473
	(+3 22)	(60 36)	(67 78)

Figures in parentheses indicate Percentage of Cultivating House holds below the poverty line to the total Cultivating Households.

स्रोत I J Singh, Agricultural Instability and Farm Poverty in India, Presidential Address to 48th Annual Conference of the Indian Society of Agricultural Economics held at B H U. Varanasi on December 27, 1988

स्पष्ट है कि वर्ष 1985–86 मे देश मे 6,400 रुपये प्रति परिवार प्रति वर्ष के उपभोग व्यय स्तर पर 68 प्रतिशत एव 4,800 रुपये प्रति परिवार प्रति वर्ष के उपभोग व्यय स्तर पर 60 प्रतिशत ग्रामीण कृषक परिवार गरीबी रेखा से नीचे थे। यह प्रतिशत वर्ष 1970–71 मे 63 थी। अत पिछले 15 वर्षो मे निर्धनता की प्रतिशतता मे तीन प्रतिशत की कमी आई है, लेकिन निर्धनो की सख्या मे 93 लाख की वृद्धि हुई है। *विभिन्न राज्यो के आंकडो से स्पष्ट है कि पजाब राज्य के अतिरिक्त* अन्य सभी राज्यो मे ग्रामीण कृषक परिवार जो निर्धनता रेखा से नीचे हैं, की सख्या मे वृद्धि हुई है। पजाब राज्य मे निर्धनता रेखा से नीचे के ग्रामीण कृषक परिवारो की सख्या मे कमी हुई है, जिसका मुख्य कारण राज्य मे कृषि उत्पादन दर एव विकास मे निरन्तर द्रुत गति से वृद्धि होना है।

गरीबी उन्मूलन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही सरकार गरीबी उन्मूलन के प्रति सचेष्ट रही है। गरीबी उन्मूलन को राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप मे तृतीय पचवर्षीय योजना (1961–66) मे साम्मलित किया गया। ग्रामीण गरीबी की समस्या के समाधान हेतु पांचवी पचवर्षीय योजना-काल से विशेष प्रयास किये गये हैं। इसके लिए अनेक योजनाएँ शुरू की गई हैं। उपरोक्त कार्यक्रमो को निम्न तीन श्रेणी मे विभाजित किया जा सकता है—

(i) कृषि विकास के विशेष कार्यक्रम—जैसे-सघन कृषि कार्यक्रम, अधिक उपज देने वाले बीजो का विकास कार्यक्रम, हरित क्रान्ति आदि।

(ii) समस्याग्रस्त क्षेत्रा के लिए कार्यक्रम—जैसे-सूखे की सम्भावना वाले क्षेत्रो के लिए कार्यक्रम (डी पी ए पी), मरुस्थल विकास कार्यक्रम (Desert Development Programme) आदि।

(iii) कमजोर वर्ग के लिए विशेष कार्यक्रम—जैसे-लघु एव सीमान्त कृषक विकास कार्यक्रम, आदिवासी विकास कार्यक्रम (Tribal Development Programme), अन्त्योदया कार्यक्रम, ग्रामीण रोजगार का त्वरित कार्यक्रम (Crash Scheme for Rural Employment), समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Intengreted Rural Development Programme), राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कायक्रम (National Rural Employment Programme), भूमिहीन श्रमिको के लिए ग्रामीण रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (Rural Landless Employment Guarantee Programme) ग्रामीण युवा स्वरोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम (TRYSEM), ग्रामीण क्षेत्रो की महिलाओ एव बच्चो के विकास कार्यक्रम (Development of Women and Children in Rural Areas—DWCRA)।

उपरोक्त सभी कार्यक्रम रोजगार सृजन करने के साथ साथ आय मे वृद्धि भी करते हैं। वर्तमान मे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रो मे गरीबी उन्मूलन की दिशा मे सर्वाधिक प्रभावशाली कार्यक्रम है।

सातवी योजना के प्रारम्भ (1985–86) मे ग्रामीण-क्षेत्रो मे 39 4 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे स्तर पर जीवन बसर कर रहे थे। सरकार का इन कार्यक्रमो को सुदृढ बनाकर एव उनका विस्तार करके वर्ष 1994–95 तक गरीबी के अनुपात को 10 प्रतिशत से कम लाने का लक्ष्य है। यह उपलब्धि तभी प्राप्त होना सम्भव है, जब गरीब वर्गों को न केवल गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमो के अन्तर्गत ही सहायता दी जावे बल्कि उन्हे अन्य सम्बन्धित कार्यक्रमो के अन्तर्गत सहायक सेवाएँ भी उपलब्ध की जावें। इसी परिप्रक्ष्य मे छठी योजना मे जिला ग्रामीण विकास एजेन्सियाँ बनाई गई थी, जिससे गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमो पर समन्वित रूप से ध्यान दिया जा सके, योजनाबद्ध तरीको से विकास कार्यक्रमो का सचालन होवे और विभिन्न कार्यक्रमो के मध्य मे यह सस्था आपस मे तालमेल स्थापित करने का कार्य करे।

□□□

पारिभाषिक शब्दावली

(Glossary of Terms)

(इस शब्दावली मे अधिकाश हिन्दी पर्याय वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित कृषि एव अर्थशास्त्र शब्दावली से लिये गये हैं। अन्य शब्दो के चुनाव म निदेशालय द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तो का यथासम्भव पूरा ध्यान रखा गया है।

अ

अखाद्यान्न	Non-foodgrains
अग्रणी/लीड बैंक योजना	Lead Bank Schame
अचल/स्थायी पूंजी	Fixed capital
अन्तर्राज्यीय	Inter-state
अन्तर्क्षेत्रीय	Inter-regional
अन्तर्राष्ट्रीय	International
अन्तिम बाजार	Terminal market
अर्थ-व्यवस्था	Economy
अदक्ष श्रमिक	Unskilled labourer
अर्द्ध-विकसित/अल्प विकसित	Under-developed
अधिप्राप्ति/वसूली	Procurement
अधिप्राप्ति-कीमत	Procurement price
अधिग्रहणित-पूंजी	Acquisitive Capital
अधिदेश श्रेणीचयन/श्रेणीकरण	Mandatory grading
अधिभार	Surcharge
अधिशेष	Surplus
अधिक उपज देने वाली किस्मे	High yeilding varieties
अधोगामी कर/अवरोही कर	Regressive tax
अनन्त	Perpetual
अनुत्पादक ऋण	Unproduct ve cred t
अनुकूलतम/इष्टतम लाभ	Opt mum prof t
अनुकूलतम जोत	Opt mum hold ng
अनुकूलतम फसल योजना	Optimum cropping plan
अनुपाती	Proportionate
अनुपातिक परिवर्तन	Proportionate change
अनुपस्थित जमींदारी	Absentee land'ordisq

अनुबद्ध-भण्डारगृह	Bonded warehouse
अनुमति प्राप्त भण्डार गृह	Licensed warehouse
अनार्थिक जोत	Uneconomic holding
अनिवार्य उगाही/लेवी	Levy
अनियन्त्रित बाजार	Unregulated market
अनुज्ञात/ऐच्छिक श्रेणीचयन	Permissive or optional grading
अनुसूची	Schedule
अपमिश्रण/मिलावट	Adulteration
अपेक्षाकृत	Relatively
अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का बाजार	Imperfect competition market
आकलन मशीनें	Calculating machines
अदायगी क्षमता	Repayment capacity
अदायगी योजना	Repayment plan
अप्रत्यक्ष कर	Indirect tax
अभिकर्त्ता-मध्यस्थ	Agent middle-men
अभिकरण/ऐजेन्सी	Agency
अपसारी/विरुद्ध	Divergent
अभ्यारोपित-लागत	Imputed cost
अम्बार	Bulk
अमूर्त	Intangible
अरक्षित ऋण	Unsecured credit
अल्पकालीन ऋण	Short term credit
अल्पाधिकार-बाजार	Oligopoly market
अल्पक्रेताधिकार-बाजार	Oligopsony market
अवरोधक	Barriers
अवसर-लागत	Opportunity-cost
अवतल	Concave
अविकसित	Undeveloped
असमानताएं	Ineqalities
अस्फीतिकारी	Non-inflationary

आ

आकलन	Estimate
आकस्मिक श्रमिक	Temporary Casual labourer
आंचलिक/क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	Regional Rural Banks
आढ़त	Commission
आढ़तिया	Commission agent
आत्म-निर्भरता	Self-sufficiency
आर्थिक जोत	Economic holding
आर्थिक प्रगति	Economic progress
आर्थिक दक्षता/कार्यकुशलता	Economic efficiency
आर्थिक विकास	Economic development
आर्थिक स्थिरता	Economic stability
आधार-धारिक सरचना/आधार-ढांचा	Infra-structure
आधार जोत	Basic holding
आयातित	Imported
आयकर	Income tax
आय-स्थिरता	Income stability
आरोही-कर	Progressive tax
आरोपित लागत	Imputed cost
आवर्ती लागत	Recurring expenditure
आवटन	Allocation
आंशिक फार्म योजना	Partial farm planning

इ

इकाई Unit

इष्टतम लाभ Optimum profit

उ

उच्चतम सीमा Ceiling

उत्पादन शुल्क Excise duty

उतार-चढ़ाव Fluctuations

उत्पाद/उत्पत्ति Product/Output

उत्पत्ति के गुणांक Input-output coefficient

उत्पादन Production

उत्पादक Producer

उत्पादक कीमत *Producer's price*

उत्पादकता Productivity

उत्पादन-लागत Cost of production

उत्पादन-फलन Production function

उत्पादन-क्षमता *Production capacity*

उत्पादन-ऋण Production credit

उत्पादन-दक्षता Production efficiency

उत्पादन-अविशेष Producer's surplus

उत्पादन-साधनों की सूची Resource Inventory

उत्पादन-पूंजी Production capital

उदग्र एकीकरण Vertical integration

उदासीनता वक्र Indifference curve

उद्यम Enterprises

उद्यमकर्त्ता Enterprenuer

उद्यमों के संयोग का सिद्धान्त Principle *of enterprise combination*

उत्पाद-सुधार-पूंजी Product improving capital

उन्नतोदर Convex

उन्नत बीज Improved seeds

उपकर Cess

उपभोग-पूंजी Consumption capital

उपभोग व्यय Cousumption expenditure

उपभोक्ता Consumer

उपभोक्ता की माग Consumer demand

उपभोक्ता व्यय Consumer expendi ture

उपयोग Utilization

उपयोगिता Utility

उपसारी/अभिसारी Convergent

उपोत्पाद By-product

उपज Produce

उपदान/आर्थिक सहायता Subsidy

उप-विभाजन *Sub-division*

उर्वरता Fertility

ऋणदाता Creditor

ऋणी Debtor

ऋण-पत्र Debenture

ऋणात्मक Negative

ऋण-ग्रस्तता Indebtedness

ऋण की अधिकतम सीमा Maximum credit limit

ऋण चुकाने की क्षमता /Credit repay-
ऋण-भुगतान-क्षमता ment capacity

ए

एकीकरण Integration

एकीकृत प्रणाली Integrated system

एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम Integrated Rural Development Programme

एकीकृत विज्ञान Integrating science

एकत्रीकरण Assembling

एकाधिकारी बाजार Monopoly market

एकक्रेताधिकारी बाजार Monopsony market
एकाधिकारी बाजार Monopoly purchase
एकाधिकारात्मक बाजार Monoplolistic market
एजेन्ट'ग्रभिकर्ता मध्यस्थ Agent middlemen
ऐच्छिक भू-धारण पद्धति Tenancy at will

औ

औसत उत्पाद Average product
औसत लाभ Average profit
औसत लागत Average cost
औद्योगिक ग्रर्थव्यवस्था Industrial economy

क

कर्जदार/ऋणी Borrower
कीमत-तन्त्र Price mechanism
कीमत-सरचना/ढांचा Price structure
कीमत-विस्तार Price spread
कीमत-स्थिरीकरण Price stabilization
कीमत-निधारण Price determination
कीमत-नियतन Price fixation
कीमतो का उतार-चढाव Price fluctuation
कीमत परिवर्तन Price-movement
कीमत-विभेद Price discrimination
कीमत प्रवृत्ति Price elasticity
कीमत/आर्थिक दक्षता Pricing/ economic efficiency
क्रय-समझौते Purchase contracts
कार्यशील-पूंजी/ चल-पूंजी Working capital/ Circulating capital
कार्यात्मक-दृष्टि कोण Functional approach
कार्यात्मक विकास Functional approach
कार्यान्वयन/नियान्वयन Implementation
करदा Karda
कार्यशील जोतें Operational holdings
काम के बदले अनाज योजना Food For Work Plan
करदेय-क्षमता Taxable capacity
कर-भार Tax burden
कर-योग्य ग्राय Taxable income
कराधान के ग्रधिनियम Canons of taxation
कराधान जांच-ग्रायोग Taxation Enquiry Commission
कारक Factors
काश्तकारी सुधार Tenancy reforms
कल्पनाएँ/मान्यताएँ Assumptions
किस्म नियन्त्रण Quality control
कृषक सेवा समितियां Farmer Service Societies
कृषि-कर Agricultural-tax
कृषि-जोत Agricultural holding
कृषि-जोतकर Agricultural holding tax
कृषि-सम्पत्ति कर Agricultural Wealth-tax
कृषि-कराधान Agricultural taxation

कृषि-आयकर Agricultural Income tax
कृषि अर्थव्यवस्था Agricultural economy
कृषि-उत्पादकता Agricultural productivity
कृषि कीमत Agricultural prices
कृषि-कीमत आयोग Agricultural Prices Commission
कृषि-लागत एव कीमत आयोग Commission for Agricultural Costs and Prices
कृषि कीमत स्थिरीकरण Agricultural price stabilization
कृषि कीमत नीति Agricultural price policy
कृषि-कीमत निर्धारण *Determination*/Fixation of agricultural prices
राष्ट्रीय कृषि एव ग्रामीण विकास बैंक National Bank *for Agriculture* and Rural Development
कृषि-कीमतो के उतार-चढाव Fluctuations of agricultural prices
कृषि विपणन Agricultural marketing
कृषि वित्त Agricultural finance
कृषि वित्त निगम Agricultural Finance Corporation
कृषि पुनर्वित्त एव विकास निगम Agricul-*tural Refinance and Development* Corporation
कृषि ऋण Agricultural credit
कृषि ऋण निगम Agricultural Credit Corporation
कृषि ऋण को विपणन से जोडना Linking of agricultural credit with marketing
कृषि-श्रमिक Agricultural labourer
कृषि श्रमिको का प्रवसन Migration of agricultural labourers
कृषि-पूँजी Agricultural capital
फाम-पूँजी अधिग्रहण Acquiring farm capital
कृषि के रूप Types of farming
कृषि की प्रणालियाँ Systems of farming
कृषित क्षेत्र *Cultivated area*
कृषि-विकास Agricultural development
कृषि-व्यवसाय Agricultural business
कृषि-क्षेत्र *Agricultural sector*
कृष्य-भूमि Cultivable land
कृषि योग्य व्यर्थ भूमि Cultivable waste land
कुपोषण *Mal nutrition*
कावबॅव प्रमेय Cob Web theorem

ख

खण्ड Block/section
खाद्यानो का थोक व्यापार Wholesale trade in foodgrains
खाद्य क्षेत्र *Food zones*
खुदकाश्त Owner cultivation
खुदरा-बाजर Retail market
खुदरा व्यापारी Retailer
खुली नीलामी Open auction

ग

ग्राम्य ऋण-ग्रस्तता Rural indebtedness
ग्राम्य श्रमिक जाच समिति Rural Labour Enquiry Committee
ग्राम्य बेरोजगारी Rural unemployment
ग्राम-अभिकरण योजना Village Adoption Scheme
ग्रामीण क्षेत्र Rural sector
ग्रामीण विद्युतीकरण निगम Rural Electrification Corporation
ग्रामीण निर्माण कार्य Rural works
ग्रामोद्योग Rural industries
गुणाक Coefficient
गुणात्मक पहलू Qualitative aspect
गैर-मौरूसी काश्तकार Tenants-at will
गैर-संस्थागत, निजी अभिकरण Non-institutional agencies

घ

घरेलू उत्पाद Domestic product
घरेलू बचत Domestic saving
घाटे की वित्त-व्यवस्था Deficit financing
घुमक्कड सौदागर Itinerant Beopari

च

चकबन्दी Consolidation
चक्रवृद्धि Compounding
चक्रीय परिवर्तन Cyclical movements
चक्रीय-कीमत उतार-चढ़ाव Cyclical price fluctuations
चल-सम्पत्ति की प्रतिभूति Chattel security

छ

छूट की सीमा Exemption limit

ज

जमीदारी Zamindari
जल-निकास Drainage
जागीरदारी उन्मूलन Jagirdari abolition
जोत केन्द्रीयकरण अनुपात Holding Concentration ratio
जीवन-स्तर Living standard
ज्येष्ठाधिकार कानून Law of primogeniture
जोखिम-वहन Risk bearing
जोत का आकार Size of holding
जोत-उपविभाजन Sub-division of holdings
जोत-अपखण्डन Fragmentation of holdings
जोत-चकबन्दी Consolidation of holdings
जोत की उच्चतम सीमा Ceiling on holdings

ट

ट्रैक्टरीकरण Tractorisation

ढ

ढाल Slope

त

तकनीकी परिवर्तन Technological change
तकनीकी व्यवहार्यता Technical feasibility

तकनीकी या कार्यरत क्षमता — Technological Operational efficiency
तालिकाबद्ध नीलामी पद्धति — Roster bid system of auction
तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त — Principle of Comparative advantage
तुलनात्मक समय का सिद्धान्त — Principle of time Comparison
तुलाई — Weighing
तौलारा — Weighman

थ

थोक बाजार — Wholesale market
थोक विक्रेता — Wholesaler

द

दलाल — Broker
दलाली — Brokerage
द्वयाधिकार बाजार — Duopoly market
द्वय क्रेताधिकार बाजार — Duopsony market
दक्ष श्रमिक — Skilled labourer
दक्षता/कार्यकुशलता — Efficiency
दीर्घकालीन — Long term
दीर्घकालीन ऋण — Long term loan
दुर्लभ साधन — Scarce resources
दूरदर्शिता — Foresightedness
दोहराव — Duplication
दबी हुई स्फीति Suppressed inflation

ध

धलता — Dhalta
धनात्मक — Positive

न

नकद आय — Cash income
नतोदर — Concave
नाम मात्र के सदस्य Nominal members
निगम — Corporation
निगमीकरण — Incorporation
निगमित बचत — Corporate saving
निगमित कृषि — Corporate farming
निजी जोत — Ownership holding
निजी बचत — Private saving
निजी क्षेत्र — Private Sector
नियत लागत/स्थायी लागत Fixed cost
नियन्त्रित बाजार — Regulated market
निर्यात — Export
निरन्तरता — *Continuity*
निर्धनता का स्तर — Poverty level
निर्धनता-रेखा — *Poverty line*
निरीक्षण — Inspection
निरपेक्ष लाभ — Absolute margin
निवेश दर — Investment rate
न्यूनतम — Minimum
न्यूनतम मजदूरी — Minimum wages
न्यूनतम जोत — Minimum holding
न्यूनतम समर्थित कीमत — Minimum support price
न्यूनतम कीमत — Minimum/Floor price

प

पट्टीदार कृषि — Strip cropping
पट्टा — Lease
पट्टे पर दी गई भूमि — Lease holding

परती भूमि Fallow land
परम्परागत/प्रचलित कृषि Traditional rarming
परिवहन Transport
परिवर्ती लागत/परिवर्तत लागत Variable cost
परिष्करण/प्रोसेसिंग Processing
परिव्यय Outlay
प्रच्छन्न/छिपी हुई बेरोजगारी Disguised unemployment
परिवर्तनीय अनुपातो का सिद्धान्त Principle of Variable proportions
परिसमापन Liquidatiny
परिसमापन ऋण Liquidating loans
प्रगामी कर Progressixe tax
प्रचलित कीमत मापदण्ड Ruling price criterion
प्रतिफल का सिद्धान्त Principle of returns
प्रतिबन्ध Constraints/Restrictions
प्रतिभूति Security
प्रतिस्पर्धा Competition
प्रशीतन-युक्त मण्डार Refrigerated Warehouse
प्रतिस्पर्धात्मक उद्यम Competitive enterprises
प्रतिस्थापम Substitution
प्रतिस्थापन दर Substitution rate
प्रतिस्थापन्न वस्तुएँ Substitutab e goods
प्रतिशतता Percentage
प्रतिशत-लाभ Percentage margin
प्रसार Extension
प्रशासनिक पहलू Administrative aspect
पशुधन Livestock
पश्चायन विपणन-लाभ Lagged marketin8 margin
प्रक्षेपी Projected
प्रबन्ध Management
प्रबन्धक Manager
प्रभावी माँग Effective demand
पल्लेदार/हमाल Pallepar/Hamal
परिशोधित Amortised
परिशोधन-योजना Amortisation plan
परिशोधन अदायगी योजना Amortisation repayment plan
प्रत्यक्ष-कर Direct-tax
मार्गदर्शी योजनाएँ Pilot Projects
प्राथमिक मण्डी/बाजार Primary market
प्राथमिक थोक बाजार Primary wholesale market
पारिवारिक-फार्म Family-farm
पारिवारि जोत Family holding
पुनर्गठन Re-organization
पूंजी-निवेश Capital investment
पूंजी-अधिग्रहण Acquiring capital
पूंजी सचय Capital accumulation
पूंजी-उत्पादन-अनुपात Capital-output ratio
पूंजीगत आवश्यकताएं Capital requrements
पूंजी-आवर्त अनुपात Gapital turnover ratio
पूर्ण रोजगार Full cmployment

पूर्ण बेरोजगारी Full unemployment
पूर्ण प्रतिस्पर्धा वाला बाजार Perfect competition market
पूर्ति का नियम Law of supply
पूर्ति की लोच Elasticity of supply
पूर्वक्रय-अधिकार काम मे लेना Exercise of pre-emption powers
पूर्वधारणाएँ/मान्यताएँ Assumptions
पूरक उद्यम/सहायक उद्यम Complementry enterprises
पैकेजिंग/सवेष्टन Packaging
पैमाने के प्रतिफल का नियम Law of returns to scale
पैमाने का सीधा सम्बन्ध Pure scale relationship
प्रेरणाऐं Incentives
प्रेरणादायक कीमतें Incentive prices
पौध सरक्षण Plant protection

फ

फार्म Farm
फार्म अर्जन Farm earninges
फार्म आय Farm income
फार्म की शुद्ध आय Net farm income
फार्म की सकल आय Gross farm income
फार्म का आकार Farm size
फार्म क्रियाएँ Farm operations
फार्म बजट बनाना Farm budgeting
फार्म-योजना बनाना Farm planning
फार्म-योजना क्षितिज Farm planning horizon
फार्म-प्रबन्ध Farm management
फार्म-व्यवसाय आय Farm business income
फार्म-दक्षता/कार्यकुशलता के उपाय Farm efficiency measures
फसल-ऋण प्रणाली Crop loan system
फलो के बाग Orchards
फसल गहनता Cropping intensity
फसल योजना Cropping Scheme

ब

बकाया ऋण Outstanding laon
बचाव का रास्ता Loopho es
बट्टा Discount
बट्टा विधि Discounting
बन्द निविदा पद्धति से विक्रय Close tender system of sale
बन्दरगाह के समीप के बाजार Seaboard market
बन्धक मजदूर प्रथा Bonded labour system
बन्धक-ऋण Pledge loan
बफर-स्टॉक Buffer stock
बृहत् स्तर Macro-level
बागान फसलें Plantation crop
बाजार/मण्डी Market
बाजार-कीमत Market price
बाजार दृष्टिकोण सूचना सेवा Market outlook information service

बाजार समाचार सेवा Market news service
बाजार निष्पादन/कार्य Market Performance
बाजार संगठन Market organization
बाजार संरचना Market structure
बारानी क्षेत्र Dry area
बिचौलिया/मध्यस्थ Middlemen
बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण Social control on banks
बैंक-राष्ट्रीयकरण Bank nationalization
बेलोच माँग Inelastic demand
बहु अभिकरण दृष्टिकोण Multi agency approach
बहु फसलीय कार्यक्रम Multiple cropping programme
बहुसंख्यक उत्पादन-लागत विधि Bulk line cost of production method

भ

भण्डार-व्यवस्था Warehousing
भण्डार गृह/गोदाम Warehouse
भारतीय मानक संस्था Indian Standard Institutions
बन्धक/रेहन ऋण Hypothecation loan
भिन्न वस्तुएँ Heterogeneous goods
भूमि का उपयोग Land utilization
भूमि की उच्चतम सीमा Land ceiling
भू जोत Land holding
भू धृति/भू-धारण Land tenure
भू-धारण अधिनियम Land tenancy act
भू-धारण अधिकार Land tenancy right
भू-धारण पद्धति वंशागत Hereditary tenancy
भू-धारण आजीवन Life tenancy
भू धारण-पद्धति Land tenancy system
भू-धारी Land holder
भूमि-सुधार Land reforms
भू स्वामी Landlord/Land owner
भू-स्वामित्व Land ownership
भू-राजस्व Land revenue
भू-संरक्षण Soil conservation
भू-सम्पत्ति Landed property
भूमि विकास बैंक Land Development Bank
भूमि-कर Land tax
भू-समतल करना Land leveling
भारतीय ऋण प्रतिभूमि निगम Credit Guarantee Corporation of India
भौगोलिक विकास Geographical development

म

मध्यकालीन/मध्यावधि ऋण Medium term credit
मध्यवर्ती वस्तुएँ Intermediate goods

मानव-दिवस — Man-days
मानव-वर्ष — Man-years
मानकीकरण — Standardization
मान्यताएँ — Assumptions
माँग — Demand
माग का नियम — Law of demand
माग की लोच — Elasticity of demand
माँग उत्पन्न करना/माँग-सृजन करना — Demand creation
माध्यमिक थोक बाजार — Secondary wholesale market
मात्रात्मक पहलू — Quantitative aspect
मिश्रित कृषि — Mixed farming
मिश्रित बाजार — Mixed market
मितव्ययिता का अभिनियम — Canon of economy
मुआवजा — Compensation
मुद्रा — Money
मुद्रा-परिचलन/सचलन — Money circulation
मुद्रा-स्फीति — Money inflation
मूल्यांकन — Valuation/Evaluation
मूल्य-ह्रास — Depreciation
मौरूसी काश्तकार — Occupancy tenant

य

यन्त्र — Implements
यन्त्रीकरण — Mechanization
यान्त्रिक कृषि — Mechanized farming
यादृच्छिक नीलामी विधि — Random bid system of auction
यादृच्छिक प्रतिचयन — Random selection
योगात्मक — Additive
योजना आयोग — Planning Commission

र

रक्षित-ऋण — Secured loan
राजकीय फार्म — State farm
राजस्व — Revenue
राजकोषीय नीति — Fiscal policy
राष्ट्रीय उत्पाद — National product
राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण — National Sample Survey
रूप उपयोगिता — Form utility
रेखीय प्रोग्रामिंग — Linear programming
रोजगार-अवसर — Employment opportunities

ल

लगान — Rent
लघु-सिंचाई — Minor irrigation
लघु-कृषक-विकास अभिकरण — Small Farmers Development Agency
लम्बरूप/उदग्र — Vertical
लचीलापन — Flexibility
लागत — Cost
लागत का सिद्धान्त — Cost principle
लागत-लेखा-विधि — Cost accounting method
लागत-सरचना — Cost structure

लाभकारिता/लाभप्रदता Profitability
लीड बैंक योजना Lead Bank Scheme
लेवी लगाना Imposing levy
लोचदार Elastic
लोच का अभिनियम Canon of elasticity

व

वक्र Curve
वन-रोपण Afforestation
जन-जाति विकास योजना Tribal Development Project
वर्द्धित-मूल्य Mark-up
वर्द्धमान प्रतिफल का सिद्धान्त Principle of increasing returns
व्यक्तिगत कृषि Individual farming
व्यवहार-विधि दृष्टिकोण Behavioural system approach
वसूली Procurement
वस्तुगत दृष्टिकोण Commodity approach
वस्तुओं की माग उत्पन्न करना/माँग-सृजन करना Demand creation
वशानुगत कानून/उत्तराधिकार का नियम Law of inheritance
व्यय Expenditure
व्यापार-अधिग्रहण Taking over of trade
व्यापारी Trader
वायदा बाजार Forward market
वायदा-कीमत पद्धति Forward pricing system
वाणिज्यिक बैंक Commercial bank
विक्रीत-अधिशेष Marketed surplus
विक्रेय-अधिशेष (बिक्री योग्य) Marketable surplus
विक्रय-इकरार/सविदा Sale contract
विकल्प Alternative/choice
विकास Development
विमुद्रीकरण Demonetisation
विभेदक ब्याज दर नीति Differential rate of interest
विकासोन्मुख/विकासशील अर्थव्यवस्था Developing economy
विचरण-गुणाक Variability coefficient
वित्त Finance
वित्त-व्यवस्था Financing
वितरण Distribution
विद्युतीकरण Electrification
विनिमय कार्य Exchange functions
विपणन Marketing
विपणन-कार्य Marketing functions
विपणन-माध्यम Marketing-channel
विपणन मध्यस्थ Marketing middlemen
विपणन-दक्षता Marketing efficiency
विपणन लाभ Marketing margin
विपणन लागत Marketing cost
विपणन-सूचना Market information

विपणन अध्ययन के दृष्टिकोण — Approaches of the study of marketing
विभाज्यता — Divisibility
विविधीकृत कृषि — Diversified farming
विवेक सगत क्षेत्र — Rational zone
विवेकपूर्ण — Rational
विवेक शून्य क्षेत्र — Irrational zone
विस्तृत कृषि — Extensive farming
विशिष्ट कृषि — Specialised farming
विशिष्ट बाजार — Specialised market

स

सकल राष्ट्रीय उत्पाद — Gross national product
सग्रहण — Storage
सचयी — Cumulative
सचयी प्रक्रिया — Cumulative process
समरूप/सजातीय वस्तुएं — Homogeneous goods
सघन कृषि — Intensive agriculture
सरक्षण — Hedging
सट्टा — Speculation
सट्टा-मध्यस्थ — Speculative middlemen
स्थायी अधिकार — Perpetuity rights
स्थायी श्रमिक — Permanent labourer
स्थायी/स्थिर लागत — Fixed/overhead cost
स्थायी अचल पूंजी — Fixed capital
स्थानीय बाजार — Local market
स्थावर सम्पदा की प्रतभूति — Real estate security
स्थान उपयोगिता — Place utility
सन्तुलन बिन्दु — Equilibrium point
सशर्त विक्रयनामा दस्तावेज — Conditional sale deed
स्पर्शी — Tangent
सम्भावित आय — Potential income
समग्र/सकल — Aggregate/gross
समयान्तर — Time-lag
सम-लागत वक्र — Iso-cost curves
सम-सीमान्त प्रतिफल का सिद्धान्त — Principle of equi-marginal returns
समता — Parity
समता-कीमत — Parity price
समता-अनुपात — Parity ratio
समग्र कीमत निर्धारण — Aggregate price determination
समष्टि-मूलक दृष्टिकोण — Macro-economic approach
समष्टि-मूलक अर्थशास्त्र — Macro-economics
सकल कृषित क्षेत्र — Gross cultivated area
समन्वय — Co-ordination
समपूरक उद्यम — Supplementary enterprises

समान किश्त परिशोधन योजना Equal instalment amortised plan
समवर्ती विपणन लागत Concurrent marketing margin
समोत्पत्ति-वक्र Isoproduct curve
समानुपाती Proportional
सयुक्त उत्पाद Joint product
सयुक्त स्वामित्व Joint ownership
सयोग/सयोजन Combination
समायोजन Adjustment
सरचना/ढांचा Structure
सरचनात्मक बेरोजगारी Structural unemployment
सरचनात्मक परिवर्तन Structural change
स्वामित्व Ownership/posse sion
सर्वेक्षण विधि Survey method
स्वतन्त्र-उद्यम Independent enterprises
सस्थागत दृष्टिकोण Institutional approach
सस्थागत ऋण Institutional credit
सस्थागत ग्रमिकरण Institutional agencies
सहकारी-कृषि Co-operative farming
सहकारी ऋण समिति Co-operative credit society
सहकारी सयुक्त कृषि Co-operative joint farming
सहकारी सामूहिक कृषि Co-operative collective farming
सहकारी उन्नत कृषि Co-operative better farming
सहकारी विपणन Co-operative marketing
सहकारी विपणन-समितिया Co operative marketing societies
सहायक कार्य Facilitating functions
साधन Resources
साधन आवटन Resource allocation
सापेक्ष/लोचदार Elastic
सापेक्ष लाभ Relative advantage
सापेक्ष कीमत Relative price
सपार्श्विक प्रतिभूति Collateral security
सामुदायिक विकास Community Development
सामूहिक कृषि Collective farming
सारणी Table
सार्वजनिक क्षेत्र Public sector
साहूकार Money lender
साझे की कृषि/बटाई Share cropping
साहूकार कृषक Agricultural money lender
साहूकार पेशेवर या व्यावसायिक Professional money lender
सिंचित कृषि Irrigated farming
स्थिरीकरण Stabilization
स्थिरता Stability
स्निग्ध/चिकनाई के पदार्थ Lubricant

स्फीतिकारी — Inflationary
सीमान्त — Marginal
सीमान्त उत्पाद — Marginal product
सीमान्त कृषक — Marginal farmer
सीमान्त प्रतिफल — Marginal returns
सीमान्त भौतिक उत्पाद — Marginal physical product
सामान्य बाजार — General market
सीमान्त आय — Marginal income
सीमान्त लाभ — *Marginal return*
सीमान्त लागत — Marginal cost
सीमान्त समायोजन — *Marginal* adjustment
सीमितता — Finiteness
सीमित देयता दायित्व — Limited *liability*
सुदीर्घकालीन बाजार — Secular market
सुधार-कर — Betterment levy
सुरक्षित भण्डार बफर स्टॉक — Bufferstock
सूखा — Drought
सूखा-प्रवणता — Drought prone
सूखा प्रवण (प्रवृत्त) क्षेत्र कार्यक्रम — Drougnt Prone Area Programme
सूखा-अवरोधक — *Drought resistant*
सूचकाक — Index numbers
सूत्र — Formula
सौदागर-मध्यस्थ — Merchant middlemen

श

श्वेत क्रान्ति — White revolution
शीत सग्रहागार — *Cold storage*
शुद्ध उत्पाद — Net product
शुद्ध सम्पत्ति — Net worth
शुद्ध कृषित क्षेत्र — Net sown area/Net cropped area
शुष्क कृषि — Dry farming
शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद — Net national product
शुल्क क्षेत्र — Dry area
प्रशुल्क-नीति — Tariff policy

ह

हरित क्रान्ति — *Green revolution*
ह्रासमान प्रतिफल का सिद्धान्त — Principle of diminishing returns
ह्रासमान किश्त — Diminishing instalment
हाजिर बाजार — *Spot market*

श्र

श्रम अवशोषण — Labour absorption
श्रम-दिवस — *Labour-day*
श्रम-प्रधान — Labour oriented
श्रम शक्ति — Labour force
श्रम-प्रतिस्थापन — Labour substitution
श्रेणीकरण/श्रेणीचयन — Grading
श्रेणी-निर्देश — Grade specifications
क्षमता — Capacity
क्षमता-प्रतिस्थापित — *Installed* capacity
क्षमता-अनुमति प्राप्त — Licensed capacity
क्षेत्रीय/प्रादेशिक बाजार — Regional market
क्षैतिज — Horizontal
क्षैतिज एकीकरण — *Horizontal* integration
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक — Regional Rural Banks

□□□

नामानुक्रमणिका

'अ'

'ए'

'औ'

'क'

'फ'

'ब'

'ल'

'व'

'श'

'ऋ'

□□□